श्रीमद् भागवतपुराण का भौगोलिक विवेचन

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय झाँसी की भूगोल विषय में
'विद्या वाचस्पति' उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध प्रबन्ध

अनुसन्धित्सु,

चुन्ना

प्रवक्ता भूगोल

फुन्दी सिंह लौना राजकीय महाविद्यालय

जालौन (उत्तर प्रदेश)

पर्यवेक्षक

डा० रामलोटन त्रिपाठी

विभागाध्यक्ष भूगोल

अतर्रा स्नातकोत्तर महाविद्यालय अतर्रा

(बाँदा), उत्तर प्रदेश

१९८९
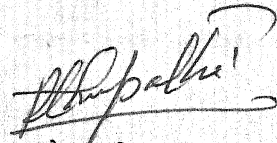
:: प्रमाण पत्र ::

प्रमाणित किया जाता है कि श्री चुन्ना, प्रवक्ता भूगोल, फुन्दी सिंह लौना राजकीय महाविद्यालय जालौन ने भूगोल विषय में "विद्या वाचस्पति" उपाधि हेतु मेरे निर्देशन में शोध अध्यादेश की धारा-7 में उल्लिखित समयावधि के अन्तर्गत "श्रीमद्भागवतपुराण का भौगोलिक विवेचन" नामक शीर्षक में शोध कार्य पूर्ण किया है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध अभ्यर्थी द्वारा स्वयं लिखा गया है तथा यह इनकी मौलिक कृति है।

मैं इनके उज्ज्वल भविष्य की कामना करता हूँ।

दिनांक : 11-9-89

{डॉ रामलोटन त्रिपाठी}
शोध पर्यवेक्षक
अध्यक्ष, भूगोल विभाग
अतर्रा कालेज अतर्रा {बाँदा}
उत्तर प्रदेश

डॉ0 धर्म प्रकाश सक्सेना ﴾कानपुर﴿, डॉ0 वेचन दुबे ﴾वाराणसी﴿ एवं डॉ0 विद्याबन्धु त्रिपाठी ﴾कानपुर﴿ के प्रति उनके अमूल्य सुझावों के लिये हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ। मैं उन समस्त विद्वानों का भी हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ जिनके द्वारा उद्भावित तथ्यों का मैंने इस ग्रंथ में उपयोग किया है। इसका निर्देश शोध प्रबन्ध में स्थान-स्थान पर सर्वत्र दिया गया है।

शोध कार्य में अपने सहयोगियों डॉ0 पूर्ण चन्द्र पाण्डेय ﴾काशीपुर﴿, श्री गिरिराज सिंह ﴾रुद्रपुर﴿, श्री उत्तम कुमार सिंह ﴾जालौन﴿, डॉ0 बसन्त बल्लभ लोहनी ﴾रामनगर﴿ व अन्य मित्रों को भी मैं हृदय से धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने किसी न किसी रूप में मेरी सहायता की।

अन्त में मैं अरोरा जॉब वर्क्स, नवाबगंज, कानपुर का अत्यन्त आभारी हूँ जिन्होंने अल्पावधि में शोध प्रबन्ध को शुद्ध एवं स्वच्छ टंकित कर अपना सहयोग प्रदान किया।

﴾ चुन्ना ﴿

मंगल गंगा दशहरा

13 जून 1989

:: अनुक्रमणिका ::

:: उद्धरण विधि ::

शोध प्रबन्ध का आधार ग्रन्थ भागवतपुराण स्कन्ध, अध्याय तथा श्लोकों में निबद्ध है। सन्दर्भ हेतु स्कन्ध, अध्याय और श्लोक को बिन्दु द्वारा पृथक् किया गया है। उदाहरणार्थ 5·15·20 के सन्दर्भ में प्रथम अंक (5) का तात्पर्य पंचम् स्कन्ध, द्वितीय अंक (15) से आशय अध्याय-पन्द्रह तथा अन्तिम अंक (20) का तात्पर्य श्लोक संख्या-20 से है। सन्दर्भ 10·3, दशम् स्कन्ध के अध्याय तीन को व्यक्त करता है। सन्दर्भ 6·7·2, 4, 9, 54-60 का तात्पर्य षष्ठ स्कन्ध, अध्याय सप्तम् के श्लोक संख्या-2, 4, 9 तथा 54 से 60 तक से है।

:: सांकेतिक शब्द सूची ::

अ0वे0	..अथर्ववेद	अ0पु0	..अग्निपुराण
आई0सी0डब्ल्यू0टी0सी0	..इण्डियाज काण्ट्रिब्यूशन टू वर्ल्ड थॉट एण्ड कल्चर	ऋ0	..ऋग्वेद
उ0भा0भू0प0	..उत्तर भारत भूगोल पत्रिका	एन0जी0एस0आई0	..नेशनल ज्यॉग्रफिकल सोसायटी ऑफ इण्डिया
का0सं0	..काठक संहिता	ग0पु0	..गरूड़ पुराण
छा0उ0	..छान्दोग्य उपनिषद्	तुल0	..तुलनीय
द्वि0सं0	..द्वितीय संस्करण	ना0पु0	..नारदपुराण
पृ0	..पृष्ठ	प्र0सं0	..प्रथम संस्करण
बृ0उ0	..बृहदारण्यक उपनिषद्	म0पु0	..मत्स्य पुराण
महा0	..महाभारत	मू0सं0	..मूल संस्करण
यजु0	..यजुर्वेद	रामा0	..रामायण (बाल्मीकि)
लि0पु0	..लिंग पुराण	वा0पु0	..वायु पुराण
वाम0पु0	..वामन पुराण	वि0पु0	..विष्णु पुराण
वि0ध0पु0	..विष्णु धर्मोत्तर पुराण	वि0शी0भू0पु0	..विकासशील भूगोल पत्रिका
सम्पा0	..सम्पादक	सं0	..सम्वत्
स्क0पु0	..स्कन्द पुराण	हि0अ0	..हिन्दी अनुवाद

:: मानचित्र एवं आरेख सूची ::

उपोद्घात

भूगोल की जड़ें पुरातन काल में भी प्रशस्त थीं परन्तु प्राचीन भारत में भूगोल विज्ञान का अध्ययन अन्तर्वैज्ञानिक विषय के रूप में विकसित था तथा इसके अन्तर्गत भौतिक एवं मानव विज्ञान के तत्वों, क्रियाओं तथा प्रभावों का अध्ययन होता था । प्राचीन भारतीय ज्ञान के आधार पर ही पाश्चात्य जगत् ने भूगोल को वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान किया। प्राचीन भारतीय संस्कृत साहित्य भौगोलिक सामग्री से परिपूर्ण है परन्तु उसके तार्किक अध्ययन एवं मूल्यांकन हेतु समुचित प्रयास नहीं किये गये । अधिकांश भूगोलविद् जो इस क्षेत्र में प्रविष्ट हुए हैं, केवल उन भौगोलिक तथ्यों का चयन किया है जो उनके विशिष्ट दृष्टिकोण को दर्शातें हैं। उल्लेख्य है कि प्राचीन भारतीय संस्कृत साहित्य में प्रत्यक्ष रूप से भौगोलिक तथ्य नहीं मिलते हैं अपितु इन तथ्यों का उल्लेख धार्मिक एवं सामाजिक क्रियाकलापों के साथ किया गया है। अतः प्राचीन भारतीय भूगोल के परिज्ञान हेतु संस्कृत के प्राचीन ग्रन्थों का वैज्ञानिक विधि से तार्किक विवेचन अपरिहार्य है ।

भूगोल का उद्देश्य पृथ्वी तल पर प्रतिरूप एवं प्रक्रम के आधार पर स्थानिक संगठन का अध्ययन करना है जिसमें (अ) क्षेत्रों का समाकलित अध्ययन, (ब) उनका कालिक परिवर्तन, (स) उनका सांस्कृतिक अवगम तथा (द) वातावरण की पारिस्थितिक व्याख्या भी सम्मिलित है (टाफी एवं अन्य, 1970, 6)। स्थानिक संगठन जो बहुआयामी है तथा काल जो प्रमुख आयाम है, किसी भी प्रदेश के व्यक्तित्व को निर्धारित करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है । किसी भी प्रदेश का विशद् अध्ययन तभी पूर्ण माना जायेगा जब सभी तथ्यों को क्रमबद्ध रूप से निवेशित एवं उचित रूप से सहसम्बन्धित किया जायेगा । इस सन्दर्भ में भारत के ऐतिहासिक भूगोल के अध्ययन से आशय अतीतकालीन भौगोलिक तथ्यों का वैज्ञानिक ढंग से तार्किक विवेचन कर भूगोल का पुनर्निर्माण करना है ।

प्राचीन भारतीय ग्रन्थ भौगोलिक सामग्री से परिपूर्ण है । वस्तुतः भौगोलिक अन्वेषण के अभाव में प्राचीन भारत के ग्रन्थों का भौगोलिक दृष्टि से तर्कसंगत एवं वैज्ञानिक विवेचन वर्तमान भूगोलविदों द्वारा बहुत कम किया गया है । "पुराण" शब्द से आशय "प्राचीन" से है । पुराणों की रचना का मुख्य उद्देश्य प्राचीन परम्पराओं को सुरक्षित रखना था तथा इनमें विभिन्न युगों में प्रचलित लोक कथाओं, तत्कालीन दर्शन, इतिहास ,भूगोल, धार्मिक

नियम आदि से सम्बन्धित सभी विचारों एवं नीतियों का संकेत मिलता है । अट्ठारह महापुराणों में श्रीमद्भागवतपुराण सर्वश्रेष्ठ माना गया है । इसमें ब्रह्माण्डोत्पत्ति,पृथ्वी की उत्पत्ति,पर्वत क्रम, खगोलीय भूगोल तथा विभिन्न प्रदेशों में अधिवासित जातियों के वर्णन उपलब्ध हैं। स्पष्टतः इस ग्रन्थ में भूगोल के सभी पक्षों का विशद् वर्णन किया गया है §5·16·4§।

पुराण शैली विशिष्ट है । पाठकों को सभी सूचनायें संवाद स्वरूप मिलती हैं। प्रश्नकर्ता शिष्य शौनक जी को विश्व के रहस्य जानने वाले रोमहर्षण §सूत जी§ उत्तर देते हैं । पुराणों की मुख्य विशेषता मिथक है । मानव इतिहास के आरम्भिक चरणों में यथार्थ ज्ञान,कलात्मक बिम्बों,नैतिक अनुदेशों और मानकों तथा धार्मिक धारणाओं का विचित्र अन्तर्गुम्फन हुआ । मिथक,समुदाय में स्वीकृत आचार नियमों,रीतियों और अनुष्ठानों की व्याख्या करते थे । मिथक मानव को जीवन की शिक्षा देते हैं । शोधकर्ताओं के लिये मिथक की अवधारणा बहुत ही व्यापक और गहन है । मिथक की रचना उन लोगों ने की जो विश्व का बोध पाने,उसे समझने, उसमें अन्योन्य सम्बन्ध देखपाने, कारण और कार्य खोज पाने की चेष्टा कर रहे थे । मिथक विश्व की प्रथम प्राग्वैज्ञानिक व्याख्या है जिसमें विश्व की भावनात्मक अनुभूति अभिन्न रूप में घुली मिली हुई है। विश्व की व्याख्या के नाते मिथक विज्ञान का पूर्ववर्ती था। विज्ञान के प्रथम अंकुर मिथक में ही फूटे । विश्व की भावनात्मक अनुभूति के नाते मिथक ने मानव पर प्रभाव डालने के कलात्मक साधन रचे, जिन्हें कला ने उनसे ग्रहण किया । अनेक विशेषज्ञों के मत में तो आरम्भ में कला मिथक का एक तत्व थी। सैकड़ों पीढ़ियों ने जीवन अनुभव संचित किया और उसे मिथकों में संजोये रखा। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में मिथकीय चिन्तन के साथ-साथ विश्व के यथार्थपरक संज्ञान और बोध का सहअस्तित्व रहा है । मिथकीय चिन्तन में जहाँ भावनात्मक और साहचर्य मूलक तत्व की प्रमुखता थी, वहीं यथार्थपरक संज्ञान में तार्किक तत्व की । प्राचीन मिथकों के अवशेष केवल धर्मों में ही नहीं पाये जाते अपितु मानव जाति की आधुनिक संस्कृति में भी इन मिथकों के बिम्ब गुंथे हुए हैं और मिथकों की सम्पदा से ही संस्कृति की नींव बनी ।

प्राचीन भारत में वस्तुओं की उत्पत्ति एवं वितरण के विचारों को पुराण सविश्वास प्रदर्शित करते हैं किन्तु कालान्तर में जो क्षेपक एवं अशोधन किये गये हैं, उससे आख्यान अत्यधिक असंगत एवं विरूपित हो गये हैं यथा-किसी विशिष्ट देवी या देवता की पूजा

का अन्तर्निवेशन, तत्व के स्वतन्त्र विकास में कर्ता का विसंगत संयोजन तथा रूपक का देवत्वारोपण एवं रहस्यवाद, जिसे निम्न उदाहरणों से स्पष्ट किया जा सकता है-

1- दक्ष की सोलह पुत्रियाँ थीं जिनमें श्रद्धा,मैत्री,दया,शान्ति,तुष्टि,पुष्टि,क्रिया,उन्नति,बुद्धि मेधा,तितिक्षा,ह्री और मूर्ति,जिनका आशय क्रमशः आस्था,सद्भाव,सहानुभूति,धैर्य,परितृप्ति, समृद्धि,आचरण,मर्यादा,प्रज्ञा,धारणा शक्ति,सहिष्णुता,लज्जा और सौन्दर्य हैं। ये तेरह पुत्रियाँ धर्म को व्याही गयीं । इन्होंने क्रमशः शुभ, प्रसाद, अभय, सुख, मोद, अहंकार, योग, दर्प, अर्थ, स्मृति,क्षेम, प्रश्रय (विनय) व ऋषियों को जन्म दिया । शेष तीन पुत्रियाँ स्वाहा,स्वधा और सती ,जिनका आशय क्रमशः आहुति,हवि व साध्वी हैं, क्रमशः अग्नि, पितर एवं महादेव जी को व्याही गयीं (4·1·47-66)। यह आख्यान स्पष्टतः यह प्रदर्शित करता है कि सभी व्यक्ति प्रतीकात्मक तथा गुणों एवं बुद्धि व धार्मिक क्रिया कलापों का मानवीय करण है और हिन्दू धर्मशास्त्र के तथ्यों को प्रतीकात्मक रूप से प्रदर्शित करते हैं।

2- भूतल पर मानव की उत्पत्ति स्वायम्भुव मनु से मानी गयी है तथा कालान्तर में सम्पूर्ण भूभाग इन्हीं की सन्तानों से अधिवासित हुआ । स्वायम्भुव मनु के दो पुत्र थे-प्रियव्रत एवं उत्तानपाद । प्रियव्रत ने सम्पूर्ण भूमण्डल को सात भागों (जम्बू, प्लक्ष, शाल्मली, कुश, क्रौंच, शक और पुष्कर) में विभक्त किया तथा उनका शासन अपने अनुगत सात पुत्रों (आग्नीध्र, इध्मजिह्व, यज्ञबाहु, हिरण्यरेता, घृतपृष्ठ, मेधातिथि और वीतिहोत्र) को दे दिया (5·1·32-33)। प्रियव्रत के प्रथम पुत्र आग्नीध्र के नौ पुत्र नाभि, किम्पुरुष, हरि, इलावृत, रम्यक, हिरण्मय, कुरू, भद्राश्व और केतुमाल थे। राजा आग्नीध्र ने जम्बू द्वीप के नौ उपविभाग करके उनका शासन उन्हीं नाम वाले अपने पुत्रों को दे दिया (5·2·19-21)। इस आख्यान से तीन तथ्य स्पष्ट होते हैं (अली,1966,9-11)-

क- मानव की साधारण उत्पत्ति भूतल के एक ही केन्द्र से हुई तथा यह आधुनिक विचारधारा एकोत्पत्ति सिद्धान्त के समरूप है।

ख- सात मानव समूह भूतल के सात विभिन्न द्वीपों में जाकर बसे तथा स्वतन्त्र रूप से सभी केन्द्रों में सभ्यता का आविर्भाव हुआ । यह तथ्य आधुनिक दृष्टिकोण के ही अनुरूप

है कि विश्व की प्राथमिक जातियाँ सात विभिन्न जलवायु प्रदेशों से सम्बन्धित हैं जहाँ पर वे विशिष्ट भौतिक पर्यावरण के प्रभाव से विविध स्वरूपों में विकसित हुए ।

ग- जम्बू द्वीप में नौ मानव समुदाय इसके नौ प्रदेशों में स्वतन्त्र रूप से अधिवासित हुए। उनमें से एक ने भारतवर्ष पर अपना आधिपत्य स्थापित किया।

3- सूर्य का संवत्सर नाम का एक चक्र है जिसमें बारह अरे, छः नेमियाँ और तीन नाभियाँ हैं §5·21·13§। यहाँ बारह अरों से आशय बारह मासों से,छः नेमियों का आशय छः ऋतुओं से तथा तीन नाभियों से आशय तीन चातुर्मासों से है।

4- कौरवों के विनाश के लिये बलराम ने अपने हल की नोक से हस्तिनापुर को उखाड़ लिया और उसे डुबोने के लिये गंगा नदी की ओर खींचने लगे जिससे हस्तिनापुर कम्पायमान हो गया, पश्चात् हस्तिनापुर गंगा की धारा से नष्ट हो गया था §9·22·40 तथा 10·68·40-42§। यह कथानक भूकम्प की घटना को प्रमाणित करता है जिससे नदी का मार्ग परिवर्तित हो गया ।

5- देवताओं और दैत्यों ने मिलकर समुद्रमंथन किया और चतुर्दश रत्न प्राप्त किये §8·6, 8·9§। इस रूपक §मिथक§ का अर्थ है-यूरेशिया रूपी विश्व समुद्र को आर्यो और अनार्यो ने मिलकर मथा §खोजा§। सुमेरू §सु+मेरू अर्थात् सुन्दर या उच्च शिखर वाले एवरेस्ट§ को मथानी बनाया तथा शेषनाग अर्थात् शेष नगों §पर्वतों§ को जो पूर्व और पश्चिम श्रृंखलाबद्ध रूप में चलेगये हैं, रज्जु बनाया। इस प्रकार आर्य और अनार्य पूर्वी और पश्चिमी हिमालय की पर्वत श्रृंखलाओं के सहारे विश्व की खोज के लिये निकले। आर्यो ने बाली, जावा,समुात्रा आदि द्वीप समूहों तक भ्रमण कर खोज की और उनमें अपनी संस्कृति की छाप भी सदैव के लिये छोड़ दी तो अनार्यो ने पश्चिम में अपना प्रभाव दिखाया। इस प्रकार समस्त विश्व की खोज से चौदह रत्न निकाले गये जो युद्ध, समाज, चिकित्सा एवं प्रकृति से सम्बन्धित थे §पाठक, 1987,32-33§।

पुराणों की विशिष्ट व्याख्या विधि के उक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि परम्परानुसार मूल्यों, गुणों एवं तथ्यों को सुरक्षित रखा गया है परन्तु ऐतिहासिक तथ्यों को प्रतीकात्मक एवं मिथक रूप में प्रदर्शित कर अधिक रोचक बनाने का प्रयास किया गया है जिससे आधारभूत तथ्यान्वेषण अत्यन्त दुष्कर है । वस्तुतः पुराणों की रचना भौगोलिक दृष्टि

से नहीं की गयी है और न ही भौगोलिक तथ्यों के संदर्भ क्रमबद्ध रूप में मिलते हैं । इन तथ्यों का उल्लेख धार्मिक एवं सामाजिक क्रियाकलापों के साथ किया गया है । यथार्थतः हमें पुराणों अथवा समकालीन ग्रन्थों में "भूगोल" शब्द का निश्चित अर्थ मिलता है। भागवतपुराण §5·16·4§ के अनुसार "भूगोलक विशेषं नाम रूप मान लक्षणतो व्याख्यास्याम:" में स्पष्ट किया गया है कि भूगोल विषय के अन्तर्गत सम्पूर्ण भूमण्डल के पर्वत, नदियों एवं स्थानों के नाम, उनकी स्थितियाँ, विस्तार तथा द्वीपों एवं उपद्वीपों की विविध विशेषताओं का अध्ययन किया जाता है। साथ ही इस §भूगोल§ के लिये भुवनकोष §Treasure of Terrestrial Mansions §,भुवन सागर §Ocean of Terrestrial Mansions or Inhabited Lands भुवन खण्ड § Section of the Earth §,त्रैलोक्य दर्पण §Mirror of the Worlds §, क्षेत्र समास § Combination of Countries § आदि शब्दों का भी प्रयोग किया गया है।

शोध विषय से सम्बन्धित साहित्य का संक्षिप्त परिचय-

भारतीय वांगमय में पुराणों का विशेष स्थान है । वेदों के बाद भारतीय परम्परानुसार पुराणों का ही स्थान आता है। पुराणों को पंचम् वेद भी कहा गया है §छा0उ0-7·1·2§। अथर्ववेद में तो पुराणों की उत्पत्ति अन्य वेदों के साथ ही बतलायी गयी है। प्राचीन भारतीय ज्ञान, विज्ञान, सभ्यता और संस्कृति के सर्वांगीण अध्ययन के लिये पुराणों का अतुल महत्व है । वैदिक काल के अध्ययन के लिये भी पुराणों का कम महत्व नहीं है। पुराणों का मूल भी वेदों में ही है । निस्सन्देह पुराणों से हम अति प्राचीन काल का ज्ञान प्राप्त करते हैं। ऐतिहासिक,समाजशास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक, धार्मिक व साहित्यिक दृष्टियों के साथ ही भौगोलिक दृष्टि से भी पुराणों का अत्यधिक महत्व है। पुराणों में तत्तत् विषयों से सम्बन्धित अनेक प्रकार की सामग्री संगृहीत है अस्तु पुराण एक प्रकार से विश्व कोष हैं।

समस्त पौराणिक साहित्य में भागवतपुराण का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। केवल भारतवर्ष में ही नहीं अपितु वैदेशिकों को भी अपनी ओर आकृष्ट करने वाला सर्वप्रथम पुराण भागवतपुराण ही है । यूरोप में सर्वप्रथम इसका अनुवाद बर्नाफ ने किया §शर्मा,1984,12§। भागवतपुराण में सभी वेदों व उपनिषदों का सार संगृहीत है। भागवतपुराण की प्रमुख विशिष्टता यह है कि यह श्रुतिमूलक होने पर भी स्वयं की मौलिक विशेषता लिये हुए है। वैदिक परम्परा

को भी भागवतपुराण ने इस प्रकार ग्रहण किया है कि उसकी विशिष्टता यथावत् अक्षुण्ण बनी रही। भागवतपुराण का महत्व इसकी "महापुराण" की संज्ञा से स्वयमेव सिद्ध है। भागवतपुराण में ऐतिहासिक, धार्मिक, दार्शनिक, राजनैतिक आदि तथ्यों के साथ भौगोलिक ज्ञान सम्बन्धी अनेक सन्दर्भ उपलब्ध हैं। "भुवन कोष" में विश्व का बृहद् वर्णन है।। सृष्टि वर्णन में ब्रह्माण्डोत्पत्ति तथा "शिशुमार संस्था" में नक्षत्र विज्ञान के तथ्य सविस्तार वर्णित हैं । स्पष्टतः महर्षि वेदव्यास न केवल ऋषि थे बल्कि भूगोलवेत्ता भी थे, जिन्होंने भागवतपुराण में धार्मिक रीति रिवाजों एवं मान्यताओं के वर्णनों के साथ ही साथ विविध भौगोलिक पक्षों के भी वर्णन किये हैं।

रचना काल-

भारतीय वांगमय में साक्ष्यों की अनुपलब्धता के कारण महापुराण के रचनाकाल में विविध विद्वानों में मतभेद है। मैक्डोनल, बर्नाफ, कोलब्रुक और विल्सन आदि विद्वानों ने इसका रचनाकाल 13वीं शताब्दी माना है। दीक्षितार इसकी रचना तृतीय शताब्दी मानते हैं। सी0बी0वैद्य, विण्टरनित्ज, नीलकण्ठ शास्त्री, पार्जिटर, फर्कुहर आदि विद्वान इसे 9वीं शताब्दी की रचना मानते हैं (शर्मा,1984,20-22)। बल्देव उपाध्याय इसको गौड़पाद से पूर्ववर्ती मानते हैं क्यों कि गौड़पाद के उत्तरगीता भाष्य में भागवतपुराण (10·14·4) का श्लोक उद्धृत है । इस मत के अनुसार भागवतपुराण का रचनाकाल छठी शती के लगभग होना चाहिये क्यों कि गौड़पाद का समय सप्तम शतक के आरम्भ में माना गया है (उपाध्याय, 1978,547-548)। भागवतपुराण में हूणों (2·4·18,2·7·46) का उल्लेख होने के कारण सिद्धेश्वर भट्टाचार्य इसके रचनाकाल की पूर्व सीमा 300 ई0 मानते हैं। (शर्मा,1984, 23)।

उपरोक्त तथ्यों का अवलोकन करने से स्पष्ट होता है कि भागवतपुराण के रचनाकाल की पूर्व सीमा छठी शताब्दी व उत्तरसीमा 10वीं शताब्दी तक माना जा सकता है। हरवंश लाल शर्मा (सं0 2020,85) ने पूर्ववर्ती विद्वानों के विचारों का अनुशीलन कर यह मत व्यक्त किया है कि इसकी निम्न सीमा ई0पू0 600 वर्ष है जिसका अंतिम रूप 9वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक प्रस्तुत हो चुका था।

संस्करण-

भागवतपुराण पाठ भेद सम्बन्धी कठिनताओं से रहित है । यद्यपि इसका

अनेक प्रान्तीय एवं विदेशी भाषाओं में प्रकाशन हुआ है तथापि पाठ्यवस्तु की दृष्टि से भागवतपुराण के स्कन्ध, अध्याय और श्लोक संख्या में कोई अन्तर दृष्टिगोचर नहीं होता है । मात्र प्रतिलिपिकारों के प्रमाद से यत्र-तत्र एक दो शब्दों का कहीं-कहीं पाठभेद अवश्य दृष्टिगोचर होता है। इस पुराण की कई टीकायें उपलब्ध हैं यथा-श्रीधर, सुदर्शन शूर और राघवाचार्य, मध्वाचार्य, शुकदेव, श्री बल्लभाचार्य आदि की टीकायें आदि, तथापि कुछ पाठभेद छोड़कर सर्वत्र भागवतपुराण की एकरूपता के दर्शन होते हैं । प्रस्तुत अध्ययन के लिये भागवतपुराण की गीताप्रेस टीका का चयन किया गया है जो गीता प्रेस,गोरखपुर से (सं0 2040 में) प्रकाशित है।

शोध विषय के अध्ययन की आवश्यकता एवं महत्व-

ऐतिहासिक भूगोल इतिहास तथा भूगोल का सन्धि बिन्दु है। वह न तो आर्थिक भूगोल अथवा राजनैतिक भूगोल की भाँति एक शाखा है और न इतिहास का भूगोल है वरन् वह एक सम्पूर्ण भूगोल है (हार्ट शोर्न,1984,118)। भूगोल तथा इतिहास दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध है तथा भूगोल का विकास इतिहास से घनिष्ठ सम्बन्धों की पृष्ठभूमि में हुआ है। इतिहास के तार्किक अध्ययन के लिये परिवर्तनशील भौतिक पृष्ठभूमि के श्रेष्ठ ज्ञान की आवश्यकता है। चूँकि इतिहासकारों को बहुधा ऐसा भौगोलिक ज्ञान अल्प होता है, संश्लेषण सम्बन्धी उनके प्रयास बहुत सफल नहीं होते। अतः भौगोलिक सामग्री के ऐतिहासिक अभिलेखों तथा तथ्यों की व्याख्या के लिये प्रशिक्षित भूगोलवेत्ता के ज्ञान एवं क्षमता की आवश्यकता होती है । संसार के विकसित देशों के ऐतिहासिक भूगोल की रूपरेखा तो स्पष्ट रूप से पाठकों के सम्मुख आ चुकी है परन्तु प्राचीन सभ्यता के देश जो संयोग से अविकसित एवं विकासोन्मुख हैं,इस दिशा में पिछड़े हुए हैं। भारतीय ऐतिहासिक काल वैज्ञानिक विकास की दृष्टि से अत्यन्त गौरवशाली रहा है । हमारे भारतीय मनीषी एवं महर्षि भूगोल के सूक्ष्म एवं गहनतम तथ्यों के विषय में आज से हजारों वर्ष पूर्व भलीभाँति परिचित थे। भारतीय इतिहास का यह काल भूगोल के शोधार्थियों हेतु एक विशिष्ट अध्ययन क्षेत्र प्रस्तुत करता है। ऐतिहासिक भूगोल के क्षेत्र में यद्यपि इतिहासकारों,पुरातत्व एवं वास्तुकला के विशेषज्ञों, संस्कृत के मनीषियों तथा अन्य अनुशासन (शास्त्र) के प्रबुद्ध विद्वानों ने परम्परागत रूप से अपने दृष्टिकोण से भारत के भौगोलिक ज्ञान के अन्वेषण एवं प्रस्तुतीकरण में सराहनीय प्रयास किये हैं परन्तु भूगोलवेत्ताओं का भौगोलिक परिप्रेक्ष्य में इस प्रकार के अध्ययनों में कोई महत्वपूर्ण योगदान नहीं रहा। प्राचीन भारत के साहित्यिक ग्रन्थों के व्यापक अध्ययन का अभाव स्पष्टतः विश्व के ऐतिहासिक भूगोल

में एक महत्वपूर्ण अन्तराल का सृजन करती है। प्रस्तुत अध्ययन द्वारा इस अन्तराल को पूर्ण करने का प्रयास किया गया है । इस अध्ययन में भागवतपुराण में उपलब्ध भौगोलिक तथ्यों एवं सन्दर्भों को वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में तार्किक रीति से विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है।

शीर्षक का चयन -

भौगोलिक ज्ञान की दृष्टि से प्राचीन भारतीय संस्कृत साहित्य महत्वपूर्ण धरोहर है तथा विभिन्न ग्रन्थों पर कुछ विद्वानों ने प्रंशसनीय कार्य किये हैं। धर्म प्रकाश सक्सेना ﴾1960﴿ का वैदिक साहित्य पर आधारित "प्राचीन भारतीय भूगोल", बेचन दुबे ﴾1967﴿ का वैदिक, महाकाव्य, पुराण और ज्योतिष संहिता पर आधारित "प्राचीन भारत में भौगोलिक संकल्पनायें", माया प्रसाद त्रिपाठी ﴾1969﴿ का"प्राचीन भारत में भौगोलिक ज्ञान का विकास" श्यामनारायण पाण्डेय ﴾1980﴿ का "महाभारत का भौगोलिक क्षितिज", सैयद मुजफ्फर अली ﴾1966﴿ का "पुराणों का भूगोल", रामकिशोर शुक्ल ﴾1984﴿ का "रामायणः- प्राचीन भारतीय भूगोल में एक अध्ययन"आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त प्राचीन भारतीय साहित्य में प्राप्त भौगोलिक स्थानों के प्रत्याभिज्ञान में एफ0ई0पार्जिटर﴾1894﴿,नोविन चन्द्र दास ﴾1896﴿, नन्दू लाल डे ﴾1899﴿, अलेक्जैण्डर कनिंघम ﴾1871﴿, विमल चरण लाहा ﴾1932,1936-37,1942-44,1954﴿, डी0सी0 सरकार ﴾1960﴿,वासुदेव शरण अग्रवाल ﴾1969﴿, मनोहर लाल भार्गव ﴾1964﴿, ए0बरूआ ﴾1977﴿, आर0सी0तिवारी एवं ए0पी0 जायसवाल ﴾1977,78,80﴿ आदि विद्वानों के कार्य श्लाघनीय हैं। जहाँ तक पुराणों का प्रश्न है,सैयद मुजफ्फर अली की "दि ज्यॉग्रफी ऑफ दि पुराणाज" के अतिरिक्त अन्य कोई महत्वपूर्ण शोध ग्रन्थ पुराणों के भूगोल पर उपलब्ध नहीं है। उक्त ग्रन्थ में भी समस्त पुराणों का अध्ययन सम्मिलित किये जाने से भूगोल के कई महत्वपूर्ण तथ्य अछूते रह गये हैं अथवा तथ्य सविस्तार विवेचित न होने से अस्पष्ट हैं । प्रमुखतः इसमें भौतिक भूगोल के पक्षों पर ही विवेचन किया गया है । अतः शोधार्थी द्वारा शोध अध्ययन हेतु पुराण साहित्य के इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ श्रीमद्भाग-वतपुराण का चयन इस आवश्यकता से किया गया है कि भूगोल के सभी पक्षों का समुचित विवेचन किया जा सके तथा तत्कालीन भौगोलिक ज्ञान को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में आकलन कर ऐतिहासिक तथ्यों को प्रस्तुत किया जा सके । यह अध्ययन ऐतिहासिक भूगोल के सन्दर्भ में एक नया आयाम जोड़ेगा।

उद्देश्य -

प्रस्तुत अध्ययन ऐतिहासिक भूगोल का एक भाग है । इस अध्ययन का प्रधान उद्देश्य भागवतपुराण में उपलब्ध सन्दर्भों के आधार पर भौगोलिक तथ्यों का तार्किक रीति से विवेचन करना है। मूलतः प्रस्तुत अध्ययन के निम्न उद्देश्य निर्धारित किये गये हैं-

1- भागवतपुराण में उपलब्ध सन्दर्भों के आधार पर ब्रह्माण्डोत्पत्ति एवं पृथ्वी से सम्बन्धित तथ्यों का वर्तमान वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में तार्किक विवेचन।

2- भौम्याकृति के विविध पक्षों का विश्लेषण, वायुमण्डल एवं जलमण्डल सम्बन्धी ज्ञान की विवेचना।

3- भागवतपुराण कालीन जीवीय, कृषि एवं खनिज संसाधनों की व्याख्या।

4- यातायात एवं संचार साधन तथा स्थल, जल एवं वायु परिवहन का वर्णन।

5- ग्रामीण एवं नगरीय अधिवासों का वर्णन तथा प्राचीन कालीन नियोजन सिद्धान्तों का आधुनिक नियोजन सिद्धान्तों से तुलना तथा प्रमुख नगरीय केन्द्रों का प्रत्याभिज्ञान।

6- जातियों एवं जनजातियों का क्षेत्रीय वितरण तथा धर्म पर वातावरण का प्रभाव व तत्कालीन भारतीय संस्कृति का विवेचन।

7- प्रादेशिक संकल्पना की अवधारणा की व्याख्या,तत्कालीन विश्व एवं भारतवर्ष का प्रादेशिक विभाजन तथा लघु स्तरीय प्रदेशों का प्रत्याभिज्ञान।

विधि तन्त्र-

प्राचीन भारतीय ग्रन्थों की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि उनमें प्रत्यक्ष रूप से भौगोलिक तथ्य स्पष्ट नहीं किये गये हैं अपितु धार्मिक एवं सामाजिक क्रियाकलापों में तिरोहित हैं । फलतः अनुसन्धित्सु की प्रथम महत्वपूर्ण कठिनाई भौगोलिक तथ्यों को वर्तमान वैज्ञानिक संकल्पनाओं के परिप्रेक्ष्य में तर्क संगत व्याख्या करने की है। श्रीमद् भागवतपुराण में भौगोलिक सन्दर्भ किसी एक निश्चित स्थान पर क्रमबद्ध रूप से नहीं उपलब्ध हैं अपितु सम्पूर्ण ग्रन्थ में यत्र-तत्र बिखरे हैं फलस्वरूप भौगोलिक वर्णनों में सभी तथ्यों को क्रमबद्धता प्रदान की गयी है।

प्रस्तुत अध्ययन में गुणात्मक विश्लेषण उपागम विधि तन्त्र को अपनाया गया है क्यों कि समंकों के अभाव में परिमाणात्मक विधि तन्त्र का अनुप्रयोग सम्भावना से परे है। इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन का प्राथमिक आधार श्रीमद्भागवतपुराण है तथा तार्किक व्याख्या हेतु अन्य स्रोतों की सहायता ली गयी है। भौगोलिक तथ्यों की तुलनात्मक व्याख्या वर्तमान वैज्ञानिक दृष्टिकोण के परिप्रेक्ष्य में की गयी है जिसमें आधुनिक भौगोलिक साहित्य का पर्याप्त सहयोग लिया गया है । मानचित्रों का निर्माण श्रीमद्भागवतपुराण में उल्लिखित वर्णनों एवं सूचनाओं के आधार पर किया गया है । उपसंहार आधुनिक संकल्पनात्मक तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में है।

कार्य का संगठन -

प्रस्तुत अध्ययन को सात अध्यायों में विभक्त किया गया है। प्रथम अध्याय "ब्रह्माण्ड एवं पृथ्वी की संकल्पना" को तीन भागों में विभक्त किया गया है- ब्रह्माण्डोत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्त, सौर्यमण्डल एवं पृथ्वी की संकल्पना तथासम्बन्धित तथ्य।

"भौम्याकृति" नामक द्वितीय अध्याय के तीन विभाग हैं- स्थल मण्डल, वायु मण्डल एवं जलमण्डल। स्थल मण्डल के अन्तर्गत स्थलमंच एवं महासागरीय द्रोण की उत्पत्ति, भू आकृतियाँ-पर्वत, पठार, मैदान एवं तज्जनित भू स्वरूप, अन्तर्जात एवं बहिर्जात बल। वायु मण्डल नामक उपविभाग में वायुमण्डलीय परतें, तापमान एवं पवनें , मेघ एवं अववर्षण, ऋतुयें एवं अन्य वायुमण्डलीय तत्वों का अध्ययन सम्मिलित है। जल मण्डल के अन्तर्गत महासागरों का प्रत्याभिज्ञान, तरंगें एवं ज्वार-भाँटा का अध्ययन किया गया है।

तृतीय अध्याय संसाधन एवं व्यवसाय तीन भागों में विभक्त है- जीवीय संसाधन एवं आर्थिक व्यवसाय, कृषि संसाधन एवं आर्थिक व्यवसाय तथा खनिज संसाधन एवं आर्थिक व्यवसाय । जीवीय संसाधन को प्राकृतिक वनस्पति एवं जीवजन्तु के अन्तर्गत वर्गीकृत कर उनके प्रकारों, वितरण एवं उपयोग का अध्ययन समाविष्ट है । कृषि संसाधन एवं आर्थिक व्यवसाय में भूमि उपयोग, कृषि तकनीक, कृषि यन्त्र, खाद्य फसलें एवं उनका वितरण, सिंचन सुविधायें, कृषि के सामाजिक आधार और कृषि सम्पन्नता तथा खनिज एवं आर्थिक व्यवसाय में खनिजों का ज्ञान तथा उनके वितरण एवं उपयोग का अध्ययन सम्मिलित है।

"यातायात एवं संचार के साधन" नामक चतुर्थ अध्याय को दो विभागों में विभक्त कर स्थल जल एवं वायु यातायात के महत्व पर प्रकाश डाला गया है । वाहनों के प्रकार, राजमार्ग, परिवहन अभियांत्रिकी, प्रमुख स्थल मार्ग, जलयानों के प्रकार, पोतनिर्माण कला, पत्तनों का प्रत्याभिज्ञान, विमान विमानों के प्रकार,विमान निर्माण कला, वायु मार्ग आदि तथ्यों के साथ परिवहन निगमों की सुस्पष्ट व्याख्या की गयी है । तत्कालीन संचार व्यवस्था की भी व्याख्या की गयी है।

"अधिवास भूगोल " के अन्तर्गत ग्रामीण व नगरीय अधिवास का वर्णन पंचम अध्याय में सम्मिलित है। ग्रामीण अधिवास में ग्रामों की उत्पत्ति एवं विकास,प्रकार एवं आकार तथा नगरीय अधिवास में नगरों की उत्पत्ति एवं विकास,चयित नगरीय केन्द्रों का वर्णन,नगर एवं नगर नियोजन व दुर्ग सन्निवेश आदि का अध्ययन सम्मिलित है।

षष्ठ अध्याय में "सांस्कृतिक भूगोल" के विविध पक्षों को सम्मिलित किया गया है । इसका अध्ययन दो उपविभागों में है। प्रथम भाग में जातियों एवं प्रजातियों का वर्गीकरण,वितरण,उनके सामाजिक एवं आर्थिक क्रियाकलाप तथा द्वितीय भाग में धर्म पर वातावरण का प्रभाव, देवी देवताओं का प्राकृतिक वातावरण से सम्बन्ध तथा धार्मिक संस्कार आदि तथ्यों का अध्ययन सम्मिलित है।

सप्तम् अध्याय "प्रादेशिक भूगोल" दो भागों में विभक्त है। प्रथम भाग में प्रादेशिक संकल्पना के विवेचन के साथ ही साथ प्रादेशिक संकल्पना का विकास,प्रदेशों के प्रकार एवं प्रादेशिक पदानुक्रम का अध्ययन सम्मिलित है। द्वितीय भाग में भूमण्डल का ज्ञान,द्वीप एवं वर्ष, भारतवर्ष एवं उसका प्रादेशिक विभाजन तथा जनपदों के अध्ययन का समावेश किया गया है। लघु स्तरीय प्रदेशों के अध्ययन में जनपदों का प्रत्याभिज्ञान भी सम्मिलित है।

उपरोक्त सातों अध्यायों के निष्कर्ष उपसंहार में विवेचित किये गये हैं।

सन्दर्भ

1- अली,एस0एम0 §1966§, दि ज्याँग्रफी ऑफ दि पुराणाज, नई दिल्ली।

2- उपाध्याय, बल्देव §1978§,पुराण विमर्श, वाराणसी।

3- टाफी,ई0जे0 एवं अन्य §1970§,ज्यॉग्रफीः दि बिहैवियोरल एण्ड सोशल साइंस सर्वे, प्रेंटिस हाल, न्यूजर्सी।

4- पाठक, एन0एल0 §1987§,"प्राचीन विश्व के चौदह अनुसन्धान", कादम्बिनी, वर्ष-27, अंक-4, नई दिल्ली।

5- भागवतपुराण §सं0 2044§, गीता प्रेस,गोरखपुर।

6- शर्मा,जे0एल0 §1984§,श्रीमद्भागवत का सांस्कृतिक अध्ययन,जयपुर।

7- शर्मा,एच0एल0 §सं-2020§, भागवतदर्शन, अलीगढ़।

8- हार्टशोर्न,आर0 §1984§,भूगोल की प्रकृति §हिन्दी अनुवाद§, लखनऊ ।

xxxxxxxxxx
xxxxxxxxxx
xxxxx
xxxxxxx

‖×‖ अध्याय- प्रथम ‖×‖

ब्रह्माण्ड एवं पृथ्वी की संकल्पना

ब्रह्माण्ड के ग्रहों, उपग्रहों, नक्षत्रों,धूमकेतुओं,नीहारिकाओं,आकाशगंगा आदि को देखकर मानवमन में जिज्ञासा सृष्टि के प्रारम्भ से ही चली आ रही है । अपनी इस जिज्ञासा के समाधान के लिये उसने विभिन्न उपायों और साधनों का प्रयोग किया । उनकी गतिविधियों का निरीक्षण एवं परीक्षा की तथा उनके सम्बन्ध में कुछ सिद्धान्तों की कल्पना की। भारत इस दिशा में प्रारम्भ से ही अग्रणी रहा है । यहाँ के ज्योतिर्विद,आचार्य और मनीषीगण बड़े श्रम साधना तथा समर्पण के साथ रात्रि के अन्धकार में आकाश में ज्योतिर्मान इन ज्योतिष पिण्डों के सम्बन्ध में सूक्ष्मातिसूक्ष्म तथ्यों की जानकारी प्राप्त की । भागवतपुराण यद्यपि ज्योतिष ग्रन्थ नहीं है तथापि ज्योतिष के सम्बन्ध में प्राप्त उल्लेखों के आधार पर यह प्रमाणित होता है कि महर्षि वेदव्यास एक विद्वान खगोलज्ञ व ज्योतिषाचार्य भी थे । उन्होंने इस ग्रन्थ में ब्रह्माण्ड,ब्रह्माण्डोत्पत्ति,विविध ग्रह, तारे, नक्षत्र, राशियाँ, ध्रुवतारा, सप्तर्षि,आकाशगंगा व ब्रह्माण्ड के अन्य महत्वपूर्ण तथ्यों का वैज्ञानिक एवं तर्क संगत विवेचन किया है । भागवतपुराण में खगोल विज्ञान के संदर्भ यत्र-तत्र भरे पड़े हैं तथा इस विज्ञान की महत्ता के सम्बन्ध में कुछ पृथक् से अध्याय भी उपलब्ध हैं।। इस अध्याय का प्रमुख उद्देश्य भागवतपुराण के पृष्ठों से ब्रह्माण्ड एवं ब्रह्माण्ड रचना के साथ ही सौर मण्डल का ज्ञान,पृथ्वी की संकल्पना-आकार, आकृति ,गतियाँ एवं तत्सम्बन्धित तथ्यों का वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में विवेचन करना है ।।

ब्रह्माण्ड सम्बन्धी ज्ञान-

पृथ्वी के चतुर्दिक विस्तृत तारों भरे आकाश को व्योम, नभ, दिव, ख आदि कहा गया है । आकाश एक, अपरिच्छिन्न तथा अनन्त विस्तार वाला है §2·6·35,-10·20·44§। इसलिये इसे "अनन्त" भी कहा गया है §6·16·37§ जिसे वर्तमान भाषा में अन्तरिक्ष कहा जाता है, जिसका आदि और अन्त अद्यतन न कोई जान पाया है और न जान पायेगा ।

आकाश में दृश्यमान समस्त तारागण ठोस, द्रव एवं गैसीय पदार्थों के बने हुए गोलाकार पिण्ड हैं । इन्हें हम आकाशीय पिण्ड कहते हैं जिन्हें भागवतपुराण में ज्योतिर्गण §5·20·37§ या भगण §5·23·3§ कहा गया है तथा ज्योतिर्गणों से युक्त आकाश को ज्योतिर्लोक §5·23·8§ कहा गया है । ये सब ज्योतिर्गण गतिशील हैं तथा आकाश में इनके घूर्णन के निश्चित मार्ग हैं §4·9·20-21,5·22·1-17,5·23·2-3§। इनको घूर्णित कराने वाली शक्ति अव्यक्त गति काल है । ये ज्योतिर्गण प्रकृति और पुरूष के संयोग वश

अन्तर्बहि: क्रम से कालचक्र में नियुक्त होकर ध्रुव लोक का आश्रय लेकर भ्रमण §परिक्रमण§ करते रहते हैं §5·23·2-3§। काल चक्र को ज्योतिष चक्र भी कहा गया है §4·9·20,12·12·16§। घूर्णन के साथ ही साथ प्रत्येक पिण्ड में गुरूत्वाकर्षण शक्ति है । इस शक्ति के कारण प्रत्येक पिण्ड अपने स्थान पर टिका हुआ है । भागवतपुराण §5·23·3§ में कहा गया है कि प्रकृति एवं पुरूष के संयोग से ही ये ज्योतिर्गण आकाश में चक्कर काटते रहते हैं, पृथ्वी पर गिरते नहीं हैं। गुरूत्वाकर्षण शक्ति को "संकर्षण" भी कहा गया है §5·25·1§।

अनन्त अन्तरिक्ष में फैले हुए आकाशीय पिण्डों में हमारी पृथ्वी अत्यन्त ही तुच्छ पिण्ड है। अनन्त नाग के मस्तक पर रखी हुई वह §पृथ्वी§ सरसों के दाने के समान §5·25·2,6·16·48§ अथवा अणु के समान §5·25·12§ दिखायी देती है । सूर्य एक स्वयं प्रकाशमान तारा है §2·6·16,5·21·3,11·16·17§। इस अनन्त आकाश में हमारे सूर्य जैसे अगणित तारे भरे पड़े हैं । इन अगणित तारों में यह परम तेजस्वी सूर्य बहुत छोटा तारा है। सूर्य से सहस्रों ,करोड़ों गुना बड़े और प्रकाशमान तारे विद्यमान हैं जिनका संकेत भागवतपुराण §8·6·1, 10·66·39,10·89·50§ में मिलता है।

अनन्त आकाश में सम्पूर्ण तारे दूर-दूर विस्तृत हैं । तारों के चतुर्दिक चक्कर लगाने वाले ग्रह तथा उपग्रह होते हैं । इस प्रकार प्रत्येक परिवार का अपना एक परिवार होता है जिसे सौर मण्डल कहा जाता है । इन सौर मण्डलों के अतिरिक्त दो-दो,चार-चार या इससे भी अधिक तारों के नक्षत्र समूह होते हैं और बृहदाकार तारक पुंज भी होते हैं । इन सबको मिलाकर नीहारिका या ब्रह्माण्ड कहा जाता है जिसे भागवतपुराण में अण्ड §2·5·34-35§,आण्ड §6·16·37§,अण्डकोश §2·8·16§, आण्ड कोश §6·16·37§ या आण्ड कटाह §5·17·1§ आदि कहा गया है । प्रत्येक नीहारिका में असंख्य तारे§5·23·7§ अर्थात्, सौर्यमण्डल होते हैं । ये नीहारिकायें या ब्रह्माण्ड §अण्ड§ भी अन्तरिक्ष में असंख्य हैं §6·16·37,10·14·11,11·16·39§। भागवतपुराण §6·16·37§ में उल्लेख है कि यह ब्रह्माण्डकोश अपने ही समान दूसरे करोड़ों ब्रह्माण्डों §अण्डों§ के सहित आप §अनन्त§ में एक परमाणु के समान घूमता रहता है और उसे आपकी सीमा का कुछ भी पता नहीं है । सात आवरणों से आवृत्त यह ब्रह्माण्ड §अण्ड§ ही ब्रह्मा का शरीर कहा गया है और

ऐसे अगणित ब्रह्माण्ड अनन्त में उड़ते रहते हैं §10·14·11§। वर्तमान वैज्ञानिकों का अनुमान है कि अन्तरिक्ष में कम से कम पन्द्रह अरब ब्रह्माण्ड §आकाश गंगा परिवार§ हैं §शर्मा,1983,442§। इन नीहारिकाओं में कुछ निर्माणाधीन होती हैं। ऐसी नीहारिकाओं में तारे नहीं होते अपितु अरबों खरबों किलोमीटर के मध्य धूल कणों का समूह मात्र होता है। कुछ नीहारिकायें पूर्ण होती हैं । इनमें तारे, ग्रह,उपग्रह आदि निर्मित हो चुके होते हैं यथा मन्दाकिनी विश्व या आकाश गंगा । कुछ नीहारिकायें नष्ट भी होती रहती हैं §2·4·6-7,2·6·30-31,5·23·5,11·22·12,12·7·17§।

हमारी पृथ्वी तथा सौर मण्डल जिस नीहारिका या ब्रह्माण्ड §अण्ड§ के अन्तर्गत आते हैं, उसे आकाशगंगा या मन्दाकिनी विश्व कहते हैं। यूरोप में इसे "दूधिया मार्ग" तथा ग्रीक भाषा में "गैलेक्सी" कहते हैं । यह अद्भुत ज्योतिर्माला नन्हें-नन्हें तारों का सघन पुंज है जो उत्तरी क्षितिज से दक्षिणी क्षितिज तक आकाश को दो भागों में विभक्त करती हुई मेखला की तरह स्थित है। भागवतपुराण §5·23·5§ में इसकी स्थिति शिशुमार चक्र के उदर में बतलायी गयी है । अन्यत्र यह इन्द्रपुरी अमरावती को चारों ओर से आवृत्त किये हुए परिखा के रूप में स्थित वर्णित है §8·15·14§। आकाशगंगा का आकार एक चौरस चकती सदृश है §चित्र 1·2§ जिसके केन्द्र में गाँठ के समान एक रचना है जिसे आकाशगंगा का केन्द्रक कहते हैं । असंख्य तारे इस केन्द्रक के चारों ओर चक्राकार भुजाओं में चक्कर लगा रहे हैं । हमारा सूर्य एक साधारण तारे के समान आकाश गंगा के एक भुजा पर स्थित है। विद्वानों का मत है कि सृष्टि में कोई स्थिर नहीं है । सूर्य आकाशगंगाके केन्द्रक के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है तथा स्वयं आकाशगंगा भी भ्रमण कर रही है । भागवतपुराण में भी विश्वनाभि §2·2·25§ का उल्लेख मिलता है । जो विश्व ब्रह्माण्ड के भ्रमण का केन्द्र माना गया है । भागवतपुराण में उल्लेख है कि सूर्य से दूर,त्रिलोकी को पार कर सप्तर्षिमण्डल से ऊपर स्वयं प्रकाशित,अगम्य विष्णुधाम है । यह गम्भीर वेग वाला ज्योतिश्चक्र §तारों का समूह§ उसी अविनाशी लोक §विष्णुधाम§ के आश्रय ही घूमता रहता है§4·12·25-39§। इसी केन्द्र को "ध्रुव" भी कहा गया है §5·23·3§।

उपरोक्त विवरण से हम अन्तरिक्ष की अनन्तता और विराटता का सहज

ही अनुमान लगा सकते हैं । यह सृष्टि जितनी विशाल है उतनी सूक्ष्म भी है । प्रत्येक परमाणु भी अपने आप में एक ब्रह्माण्ड कहा गया है §मामोरिया एवं न्याती,1982,7§। जिस प्रकार असीम अन्तरिक्ष में असंख्य सूर्य,ग्रहों एवं उपग्रहों को अपनी ओर आकर्षित करते हुए चक्कर लगा रहे हैं उसी प्रकार सूक्ष्म सृष्टि परमाणु §3·11·1-4§ में भी नाभिकण विद्युत कणों को आकर्षित करते हुए सतत् चक्कर काट रहे हैं । इस प्रकार स्पष्ट है कि अनन्त या विश्व किसी एक वस्तु का नाम नहीं है अपितु जो कुछ भी स्थूल अथवा सूक्ष्म पदार्थ इस विशाल शून्य में दृष्टिगोचर होते हैं उन सबके समुच्चय को ही सृष्टि,विश्व अथवा अनन्त की संज्ञा दी गयी है §3·5·22,28,47,3·6·5,7,10,3·8·10 तथा 6·16·37§। यह सृष्टि अत्यन्त आश्चर्ययुक्त है । इसको पूरी तरह से समझ पाना मानव बुद्धि से परे है §3·6·38-40,विराट पुरूष के सम्बन्ध में जिसके अन्तर्गत ही सम्पूर्ण विश्व स्थित है§, तथापि आज से कई सहस्र वर्ष पूर्व ऋग्वेद के दृष्टा ऋषियों ने सृष्टि के सम्बन्ध में यह कहकर "अरगोर रगीयान् महतो महीयान्" §अर्थात सृष्टि विशाल से विशाल और सूक्ष्म से सूक्ष्म है।§, इसके रहस्य का उद्घाटन कर दिया था । इसके आगे आज तक मानव कुछ कहने में असमर्थ रहा है । वैज्ञानिकों ने इस सृष्टि के विषय में ज्ञान प्राप्त करने के लिये अनेक प्रयास किये हैं किन्तु इसका आदि और अन्त बताने में असमर्थ ही रहे हैं । वस्तुतः यह सृष्टि अनादि,असीम और अनन्त है।

इस प्रकार यह स्वयमेव सिद्ध है कि अनन्त एवं ब्रह्माण्ड सम्बन्धी ज्ञान हेतु प्राचीन भारतीय साहित्य में प्राप्त सन्दर्भ अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं तथा ब्रह्माण्ड सम्बन्धी ज्ञान उत्कृष्ट,पूर्णतः वैज्ञानिक एवं तर्कसंगत हैं । आज के विकसित वैज्ञानिक युग में भी मानव ब्रह्माण्ड सम्बन्धी ज्ञान के लिये प्राचीन विचार धाराओं का आश्रय लेता है।

§अ§ ब्रह्माण्डोत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्त

§1§ ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति-

ब्रह्माण्ड क्या है? इस विषय का वर्णन ब्रह्माण्ड विज्ञान कहलाता है तथा ब्रह्माण्ड के सृजन की क्रिया का वर्णन ब्रह्माण्ड उत्पत्ति सिद्धान्त कहलाता है । ब्रह्माण्ड रचना मानव के लिये प्राचीन काल से ही एक प्रहेलिका रही है तथा अब भी रहस्यमय है।

यद्यपि वर्तमान वैज्ञानिक युग में मानव वैज्ञानिक उपकरणों एवं तकनीकी ज्ञान के माध्यम से ब्रह्माण्ड सृजन के विषय में जानने के लिये प्रयत्नशील हैं तथापि मानवीय ज्ञान अपूर्ण है। यह ध्रुव सत्य है कि प्राचीन विश्व के विविध सभ्यता केन्द्रों में विविध युगों में परिकल्पनात्मक विश्वास,दर्शन एवं वैज्ञानिक अवधारणाओं के आधार पर विश्व रचना की व्याख्या की गयी है। ग्रीक,मिश्र,चीन,फारस एवं भारतीय दार्शनिकों तथा विद्वानों ने विश्व रचना सम्बन्धी जो परिकल्पनायें प्रस्तुत की हैं वे अत्यन्त ऐतिहासिक महत्व की हैं । यद्यपि वैज्ञानिक दृष्टिकोण से ये परिकल्पनायें धार्मिक प्रतीत होती हैं तथापि वर्तमान वैज्ञानिक विचारधाराओं या परिकल्पनाओं की ठीक संगति में है तथा इनसे यह भी सुनिश्चित है कि ब्रह्माण्ड अत्यन्त प्राचीन है, इसकी उत्पत्ति एवं विनाश चक्रीय है एवं हमारी व्यवस्था (पद्धति या प्रणाली) के बाह्य रूप में है।

वेद भारतीय संस्कृति की निधि हैं । वेदों में विश्व रचना सम्बन्धी वर्णन क्रमबद्ध रूप में पृथक्-पृथक् ढंग से मिलता है परन्तु सबका अभिमत एक ही है । ब्राह्मण ग्रन्थों में विश्व रचना को धर्म कर्म की दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है जब कि उपनिषदों में पूर्णरूपेण दार्शनिक दृष्टि से । परन्तु वैदिक ऋषियों का ज्ञान अधिक वैज्ञानिक है। ऐतिहासिक काल में प्राकृतिक शक्तियाँ आर्यो के जीवन में अधिक प्रभावशाली रही हैं फलतः इन सभी शक्तियों का वर्णन देवताओं के रूप में प्रस्तुत किया गया है । अतः ये सभी संकल्पनायें प्रधानरूप से मिथक विद्या,दर्शन एवं ईश्वर मीमांसा या धर्मशास्त्र पर आधारित हैं । भागवतपुराण का मूल वेदों में ही निहित है अतः ऋग्वेद के प्रतिपादक धर्मग्रन्थ भागवतपुराण में भी ब्रह्माण्ड सृजन की क्रिया का वर्णन क्रमबद्ध रूप में मिलता है । भागवतपुराण में ब्रह्माण्ड उत्पत्ति क्रम का वर्णन प्रधानतया चार विधियों में वर्गीकृत किया जा सकता है जो कि रूपक अलंकार के कारण एक ही विधि के चार विभिन्न रूप हैं-

(क) वास्तु कलात्मक उत्पत्ति

(ख) यान्त्रिक उत्पत्ति

(ग) दार्शनिक उत्पत्ति

(घ) उपकरणिक उत्पत्ति।

§क§ वास्तु कलात्मक उत्पत्ति-

वैदिक साहित्य में देवताओं को प्रवीण वास्तु कलाकार कहा गया है जिन्होंने अपने बुद्धिकौशल से इस ब्रह्माण्ड की रचना की । विश्वधूलि ब्रह्माण्ड सृजन के लिये प्रमुख पदार्थ के रूप में माना गया है । विश्वकर्मा को प्रमुख वास्तुविद् §स्थापत्य विद्§ कहा गया है §सक्सेना,1960,3-6§। भागवतपुराण में भी ब्रह्मा वास्तुविद् के रूप में वर्णित है । विश्व सृजन का विज्ञान ब्रह्मा ने नारायण §ईश§ या नारायण स्वरूप कृष्ण से प्राप्त किया था तथा वे उन्हीं के व्दारा विश्व सृजन के कार्य में नियुक्त किये गये थे। उन्हीं की प्रेरणा से ही ब्रह्मा ने सृष्टि निर्माण किया था §2·5·17,2·6·30-31,3·9·26-44,3·13·7, 11·24·11§। भवन निर्माण की तरह विश्व निर्माण के लिये भी आधार, निर्माण सामग्री एवं निर्माता की कल्पना की गयी है । सृष्टि रचना का आधार-जल §3·8·10,3·18·8, 11·24·10§, निर्माण सामग्री-नारायण के नाभि सरोवर से प्रकट हुआ कमल,जल,आकाश, वायु और स्वयं §ब्रह्मा का§ शरीर §3·8·32-33§, ये सृष्टि के कारण रूप पाँच पदार्थ तथा निर्माता-स्वयं ब्रह्मा §2·5·17,2·6·30-31,11·24·11§ हुए । भगवान नारायण स्वरूप कृष्ण से विश्व सृजन का विज्ञान प्राप्त कर ब्रह्मा ने सर्व प्रथम राजोगुण व्दारा मानव निवास के लिये भू §पृथ्वी§,भूत-प्रेतादि के लिये भुवः §अन्तरिक्ष तथा देवताओं के लिये स्वः §स्वर्ग§,इन तीन लोकों की रचना की, तत्पश्चात् सिद्धों के निवास के लिये इनके ऊपर महर्लोक जनलोक,तपोलोक और सत्य लोक का निर्माण किया तथा पृथ्वी के नीचे अतल,वितल,सुतल,तलातल, महातल,रसातल,पाताल आदि सात अधोलोकों की रचना असुर एवं नागों के निवास के लिये किया §11·24·11-13§। सूर्य आदि तारे,पृथ्वी आदि ग्रह,चन्द्रमा आदि उपग्रह,आकाश,वायु, अग्नि ,जल आदि सब ब्रह्मा के ही रचक कहे गये हैं §3·12·11§। भागवतपुराण में वर्णित दस प्रकार की प्राकृत,प्राकृत-वैकृत एवं वैकृत सृष्टि भी ब्रह्मा ने ही की थी §3·10·13-29§।

§ख§ यान्त्रिक उत्पत्ति-

यान्त्रिक उत्पत्ति की संकल्पना का विकास ऋग्वेद के अंतिम चरण में हुआ जब आर्यो के जीवन एवं विचारों में बलिदान परम्परा प्रभावी रही। इस संकल्पना से यह ध्वनित होता है कि बलिदान की विराट् देह के विघटन से ही विश्व का निर्माण हुआ। उस विराट् पुरूष के विभिन्न अंगों से पृथ्वी,आकाश,पवन,चन्द्र,सूर्य तथा अन्य समस्त पार्थिव

तत्वों की उत्पत्ति हुई है §सक्सेना,1960,6-7 तथा दुबे,1967,2-3§। वैदिक कालीन इस विचारधारा को भागवतपुराण §2·1,2·10§ में विस्तृत रूप से इस प्रकार वर्णित किया गया है। विराट् पुरूष के तलवे पाताल,एड़ियाँ और पंजे रसातल,दोनों गुल्फ महातल,पैर के पिण्डे तलातल,दोनों घुटने सुतल,जाँघें वितल और अतल,पेडू भूतल,नाभि सरोवर आकाश,वक्षस्थल स्वर्ग लोक,गला महर्लोक,वदन जनलोक,ललाट तपोलोक,मस्तक समूह सत्य लोक,बाहुऐं इन्द्रादि देवता,कर्ण दिशायें,मुख अग्नि,नेत्र सूर्य ,तालु जल,जिह्वा रस,कोख समुद्र,अस्थियाँ पर्वत,नाड़ियाँ नदियाँ,रोमवृक्ष व श्वास वायु है। इनके अतिरिक्त अन्य पार्थिव तत्वों की भी उत्पत्ति उनके विविध अंगों से हुई है।

समस्त प्रकार के जीव जन्तु,ग्रह,नक्षत्र,केतु,तारे,बादल आदि सब विराट् पुरूष हैं । वह सम्पूर्ण विश्व को अभिव्याप्त किये हुए है और उसके अन्दर यह विश्व उसके केवल दस अंगुल परिमाण में ही स्थित है §2·6·12-15§। इस विराट् पुरूष को वैराज पुरूष विश्वमूर्ति,विष्णु,नारायण,ईश,पुरूष,आदिपुरूष,परंब्रह्म परमात्मा,पुराण पुरूष,प्रधान पुरूषेश्वर, अक्षर ब्रह्म ,महापुरूष,अनन्त,शेष,उत्तम पुरूष आदि भी कहा गया है । ये स्थूल से स्थूल सूक्ष्म से सूक्ष्म ,अव्यक्त एवं निर्विशेष कहे गये हैं । सृष्टि के आदि,मध्य और अन्त में ये सत्य रूप से विद्यमान रहते हैं अर्थात ये नित्य हैं §2·10·33-34,8·6·9-10§। सृष्टि के पूर्व मात्र यही स्थित थे, इसीलिये इन्हें "आदि पुरूष" या "पुराण पुरूष"§2·6·38, 3·9·25§ कहा गया है। आदि और अन्त से परे असीम होने के कारण अनन्त §6·16·37§, प्रलय के समय मात्र यही शेष रहने के कारण शेष §10·3·25§, समस्त विश्व का बीज होने के कारण उत्तम पुरूष §11·6·15§, प्रकृति और पुरूष का स्वामी होने के कारण प्रधान पुरूषेश्वर §3·9·44§ तथा नार §जल§ में स्थित होने के कारण नारायण §2·5·15§ भी कहे गये हैं । इन्हीं को वामन भी कहा गया है जिन्होंने तीन पगों से तीनों लोक नाप लिया था §8·20·21-29§।

§ग§ दार्शनिक उत्पत्ति-

भागवतपुराण §2·5,2·6,3·5,3·6,3·8,3·20, 11·14§ में दार्शनिक उत्पत्ति सम्बन्धी महत्वपूर्ण सन्दर्भ क्रमबद्ध रूप में मिलते हैं जो उल्लेखनीय हैं। इस विधि के अनुसार सृष्टि रचना के पूर्व एक मात्र परमात्मा या नारायण ही था। उस

समय न दृष्टा था न दृश्य। दृष्टा और दृश्य का अनुसन्धान करने वाली शक्ति माया ﴾प्रकृति﴿ है जिसके व्दारा भगवान ने सृष्टि रचना की। वे परमात्मा ﴾प्रकृति﴿ और उसमें प्रतिबिम्बित जीव के रूप में दृष्टा और दृश्य के रूप में दो भागों में विभक्त हो गया । उनमें से एक को "प्रकृति" तथा दूसरे को "पुरूष" कहते हैं। "प्रकृति" या "प्रधान" त्रिगुणात्मक﴾ सत्व,रज व तम﴿,अव्यक्त,नित्य और कार्य कारण रूपा है तथा स्वयं निर्विशेष होकर भी सम्पूर्ण धर्मो का आश्रय है । ज्ञान स्वरूप वस्तु को "पुरूष" कहते हैं । आदि देव नारायण ही पुरूष हैं जो अनादि,निर्गुण,प्रकृति से परे, अन्तःकरण में स्फुरित होने वाला तथा स्वयं प्रकाश है। पंचमहा-भूत ﴾पृथ्वी ,जल,तेज,वायु और आकाश﴿,पाँच तन्मात्रा ﴾गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और तन्मात्रा﴿, चार अन्तःकरण ﴾मन,बुद्धि,चित्त और अहंकार﴿,दस इन्द्रियाँ ﴾पाँच कर्मेन्द्रियाँ एवं पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ-श्रोत,त्वचा,चक्षु,रसना,नासिका,वाक्,पाणि,पाद,उपस्थ और पायु﴿, इन चौबीस तत्वों के समूह को प्रकृति का कार्य माना गया है । पच्चीसवाँ तत्व काल है जिसे पुरूष से भिन्न नहीं माना गया है । इसे ईश्वर की संहारकारिणी शक्ति कहा गया है जिनकी प्रेरणा से गुणों की साम्यावस्था रूप निर्विशेष प्रकृति में गति उत्पन्न होती है।

एक से बहुत होने की इच्छा रखने पर जब माया ﴾प्रकृति﴿ पति भगवान ने अपनी माया से अपने स्वरूप में प्राप्त काल,कर्म और स्वभाव को स्वीकार कर लिया तब उन्हीं की शक्ति से काल ने इन तीन गुणों ﴾सत्व रज व तम﴿ में क्षोभ उत्पन्न किया, स्वभाव ने उन्हें रूपान्तरित कर दिया तथा कर्म ने महत्तत्व को जन्म दिया । जगत् के अंकुर रूप इस महत्तत्व ने अपने में स्थित विश्व को प्रकट करने के लिये अपने स्वरूप को आच्छादित करने वाले प्रलयकालीन अन्धकार को अपने ही तेज से पी लिया। रजोगुण और तमोगुण की वृद्धि होने पर महत्तत्व का जो विकास हुआ उससे ज्ञान, क्रिया और द्रव्य रूप तमः प्रधान विकार हुआ जो अहंकार कहलाया। अहंकार विकार को प्राप्त कर वैकारिक,तैजस् और तामस् तीन प्रकार का हो गया । जब पंचमहाभूतों के कारणरूप तामस् अहंकार में विकार हुआ तब उससे आकाश की उत्पत्ति हुई जिसकी तन्मात्रा और गुण "शब्द" है। शब्द के व्दारा ही दृष्टा और दृश्य का बोध होता है । आकाश में विकार होने से "वायु" व इसी क्रम से तेज,जल,पृथ्वी आदि की उत्पत्ति हुई जिसके गुण क्रमशः स्पर्श,रूप,रस व गन्ध हैं। कार्य में अपने कारण का गुण आ जाने से वायु-शब्द से,तेज-शब्द और स्पर्श से, जल-शब्द,स्पर्श और रूप से तथा पृथ्वी-शब्द,स्पर्श,रूप और रस से भी युक्त है। वैकारिक अहंकार के विकार से मन की और

इन्द्रियों से दस अधिष्ठातृ देवताओं {दिशा, वायु, सूर्य, वरूण, अश्विनीकुमार, अग्नि, इन्द्र, विष्णु, मित्र और प्रजापति} की भी उत्पत्ति हुई । तैजस् अहंकार के विकार से पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रिय तत्वों की उत्पत्ति हुई । साथ ही ज्ञान शक्ति रूप बुद्धि और क्रिया शक्ति रूप प्राण भी तैजस् अहंकार से उत्पन्न हुऐ।

उपरोक्त सब महत्त्वादि शक्तियाँ परमात्मा के अंश हैं किन्तु पृथक्-पृथक् रहने के कारण अर्थात् आपस में संगठित न हो पाने के कारण विश्व रचना के कार्य में असमर्थ थीं तब नारायण ने एक साथ ही महत्तत्व, पंचभूत, पंच तन्मात्रा और मन सहित ग्यारह इन्द्रियों, इन तेइस तत्वों के समुदाय में प्रविष्ट होकर परस्पर विलग हुए उस तत्व समूह को अपनी क्रियाशक्ति के व्दारा आपस में मिला दिया जिससे इन सभी तत्वों का समुदाय मिलकर एक परिणाम को प्राप्त हुआ तथा ब्रह्माण्ड रूप हिरण्यमय अण्ड उत्पन्न किया। वह विश्व रचना करने वाले तत्वों का गर्भ था जिससे विराट् पुरूष निकला। यह विराट् पुरूष ही प्रथम जीव होने के कारण समस्त जीवों का आत्मा, जीव रूप होने के कारण परमात्मा का अंश और प्रथम अभिव्यक्त होने के कारण भगवान का आदि अवतार है।

इसी अण्ड के अन्तर्गत ही चतुर्दश भुवनों का विस्तार है । यह चारों ओर से क्रमशः एक दूसरे से दस गुने जल, अग्नि, वायु, अहंकार और महत्तत्व इन छः आवरणों से घिरा है । इन सब के बाह्य भाग में सातवां आवरण प्रकृति का है । कारणमय जल में स्थित उस तेजोमय अण्ड से उठकर उस विराट् पुरूष ने पुनः उसमें प्रवेश किया और फिर उसमें कई प्रकार के छिद्र किये जिनसे विभिन्न देवताओं के निवास स्थान प्रकट हुए यथा प्रथमतः विराट् पुरूष के मुख, नाक, नेत्र, कर्ण, त्वचा, लिंग, गुदा, पाणि, पाद, नाड़ियाँ, उदर, हृदय, बुद्धि, अहंकार व चित्त आदि प्रकट हुए जिनके अधिष्ठातृ देवता क्रमशः अग्नि, वायु, सूर्य, दिक्, औषधियाँ जल, मृत्यु, इन्द्र, विष्णु, नदियाँ, समुद्र, चन्द्रमा, ब्रह्मा रूद्र व क्षेत्रज्ञ प्रकट हुए। जब क्षेत्रज्ञ के अतिरिक्त सभी देवता उत्पन्न होकर भी विराट् पुरूष को उठाने में असमर्थ रहे तो उसे उठाने के लिये क्रमशः अपने उत्पत्ति स्थानों में पुनः प्रविष्ट होने लगे तब भी विराट् पुरूष न उठा किन्तु जब चित्त के अधिष्ठाता क्षेत्रज्ञ ने चित्त सहित हृदय में प्रवेश किया तो विराट् पुरूष उसी समय जल से उठकर खड़ा हो गया। इस विराट् पुरूष के जंघा, चरण, भुजायें, नेत्र, मुख, सिर आदि सहस्त्रों की संख्या में हैं और उसी के अंगों में समस्त लोकों और उनमें रहने वाली

या पाई जाने वाली वस्तुओं की कल्पना की गयी है।

अन्यत्र उल्लेख है कि सृष्टि के पूर्व यह समस्त विश्व जल में डूबा हुआ था। जब यह अण्ड एक सहस्र वर्षों तक कारणाब्धि जल में पड़ा रहा तब भगवान् ने उसमें प्रवेश किया। उसमें अधिष्ठित होने पर उसकी नाभि में सहस्र सूर्यों के समान देदीप्यमान एक कमल प्रकट हुआ जो सम्पूर्ण जीव समुदाय का एक आश्रय था। उसी से स्वयं ब्रह्मा जी उत्पन्न हुए। जब ब्रह्माण्ड के गर्भ में शयन करने वाले नारायण देव ने ब्रह्मा जी के अन्तः करण में प्रवेश किया तब वे पूर्व कल्पों में अपने ही द्वारा निश्चित की हुई नामरूपमयी व्यवस्था के अनुसार लोकों की रचना करने लगे §3·20·15-17§।

§घ§ **उपकरणिक उत्पत्ति :** इस विधि में प्रधान देह से विश्व रचना मानी गयी है। सूर्य को सृष्टि रचना का प्रधान कारक माना गया है। सूर्य प्रधान आत्मा है जिसका प्रत्याभिज्ञान ब्रह्मा, विष्णु, शिव, महेन्द्र, कुबेर, काल, यम, सोम, वरूण, प्रजापति, विश्वकर्मा, अव्यय एवं हिरण्यगर्भ में किया गया है। भागवत पुराण §2·5·3-4,3·6·6§ में उल्लेख है कि नारायण ने सर्वप्रथम हिरण्यमय अण्ड की उत्पत्ति की। उस हिरण्यमय अण्ड या ब्रह्माण्ड से प्रकट होने के कारण सूर्य को "हिरण्यगर्भ" तथा अचेतन अण्ड में वैराज रूप से विराजने के कारण "मार्त्तण्ड" कहा गया है §5·20·44§। ये ब्रह्माण्ड गोलक के मध्य में स्थित हैं §5·20·43§। ये ही विश्व के पालन कर्त्ता हैं इसीलिये इन्हें "पूषा" कहा गया है। §12·11·39§। ये ही सृष्टिकर्त्ता हैं। इन्हीं के द्वारा ही दिक्, आकाश, द्युलोक, भूलोक, स्वर्ग और मोक्ष तथा अन्य समस्त भागों का विभाग होता है §5·20·45-46§। ये ही प्रजाप्राण हैं तथा ऋतुओं को प्रकट करने वाले हैं §5·21·13§ और प्रभा के पुंज हैं। वे शम्भू §कल्याण के उद्गम स्थान§, मार्त्तण्डक §ब्रह्माण्ड को जीवन प्रदान करने वाले§ तथा अहस्कर §दिन रात करने वाले§ हैं। इनके गर्भ में सदैव विनाश की अग्नि रहती है। वे स्वयं प्रकाशित हैं तथा अन्य ग्रह एवं उपग्रह भी इन्हीं से प्रकाशित हैं §5·21·3,8·24·50§। इस विधि के अन्तर्गत यह माना गया है कि ब्रह्माण्ड बीज के रूप में सूर्य प्रधान कारक है जिससे विश्व रचना हुई है। इसी केन्द्रक को "हिरण्य गर्भ" कहा गया है जो सत् एवं असत् पदार्थों की उत्पत्ति का कारण है।

सृष्टि विनाश क्रम अथवा प्रलय -

जिस प्रकार सृष्टि रचना का क्रम है उसी प्रकार सृष्टि विनाश का भी क्रम है। इसे भागवत पुराण में "प्रलय" अथवा "लय" कहा गया है जिसको ब्रह्माण्डोत्पत्ति सिद्धान्त के सम्बन्ध में विवेचित करना युक्ति संगत एवं आवश्यक है।

भागवत पुराण में उल्लेख है कि पुराण पुरूष परमात्मा सत्वगुण स्वीकार करके ब्रह्मा के रूप में विश्व की सृष्टि, रजोगुण स्वीकार करके विष्णु के रूप में विश्व का पालन तथा तमोगुण स्वीकार करके रूद्र के रूप में विश्व का विनाश करते हैं ‧2·6·30-31,10·59·29, 11·22·12‧। विश्व ब्रह्माण्ड का स्वभाव से ही लय हो जाता है ‧12·7·17‧। प्रत्येक कल्प में जगत् की उत्पत्ति तथा प्रलय का क्रम है। कल्प के प्रारम्भ में उत्पत्ति तथा अन्त में प्रलय होती है। प्रलय चार प्रकार के बतलाये गये हैं ‧12·4·38,12·7·17‧-

‧क‧ नित्य प्रलय

‧ख‧ नैमित्तिक प्रलय

‧ग‧ प्राकृतिक प्रलय

‧घ‧ आत्यन्तिक प्रलय

कल्प के अन्त में होने वाला प्रलय नैमित्तिक प्रलय है जिसका समय कल्प के बराबर ही होता है तथा द्विपरार्द्ध ‧ब्रह्मा की सौ वर्ष की आयु समाप्त होने‧ के अन्त में प्राकृतिक प्रलय होता है ‧12·4·2-6‧। इस प्रकार चक्रानुरूप 4,29,40,80,000 वर्ष बाद नैमित्तिक प्रलय होता है जो इतने ही समय तक रहता है तथा 31,10,40,00,-00,00,000 वर्ष बाद प्राकृतिक प्रलय होता है। भागवत पुराण के अनुसार पृथ्वी की आयु ‧सं0 2045 तक‧ 1,97,19,61,663 वर्ष आंकी गयी है ‧पृथ्वी की आयु का आंकलन इसी अध्याय में आगे किया जायेगा‧। अतः नैमित्तिक प्रलय आज से 2,32,21,18,337 वर्ष बाद होगा तथा वर्तमान में द्वितीय परार्द्ध चल रहा है अतः प्राकृतिक प्रलय आज ‧सं0 2045‧ से 15,55,17,67,78,81,663 वर्ष बाद होगा। वर्तमान वैज्ञानिकों के अनुसार सृष्टि विनाश या प्रलय आज से 10 अरब वर्ष बाद होगा ‧शर्मा,1983,442‧।

प्रलय में सृष्टि विनाश का क्रम इस प्रकार से है ‧12·4·6-21‧। प्रलय का

समय आने पर सौ वर्ष तक मेघ पृथ्वी पर वर्षा नहीं करते हैं। प्रलयकालीन सांवर्त्तक सूर्य अपनी प्रचण्ड किरणों से समुद्र, प्राणियों के शरीर और पृथ्वी का सम्पूर्ण रस खींच लेता है। उस समय संकर्षण के मुख से प्रलयकालीन सांवर्त्तक अग्नि प्रकट होती है जो वायु के वेग से सातों पातालों को भस्म कर देती है। ऊपर से सूर्य की किरणों से तथा नीचे से सांवर्त्तक अग्नि से यह ब्रह्माण्ड चारों ओर से अंगारे के समान दहकने लगता है। तत्पश्चात् प्रलयकालीन सांवर्त्तक वायु चलती है। धुऐं व धूल से सम्पूर्ण आकाश आच्छादित हो जाता है, तदनन्तर भयंकर रंग बिरंगे बादल उपस्थित होकर मोटी-मोटी धाराओं में सैकड़ों वर्षों तक वर्षा करते रहते हैं जिससे ब्रह्माण्ड के अन्दर का सम्पूर्ण विश्व एक समुद्र अर्थात् जलमग्न हो जाता है ।

इस प्रकार जल प्रलय होने पर काल की महिमा से जल पृथ्वी के विशेष गुण गन्ध को ग्रस कर अपने में लीन कर लेता है। गन्ध गुण के जल में लीन हो जाने पर पृथ्वी का प्रलय हो जाता है, वह जल में घुलकर जलरूप बन जाती है। इसी क्रम से जल के गुण रस को तेज, तेज के गुण रूप को वायु, वायु के गुण स्पर्श को आकाश, आकाश के गुण शब्द को तामस् अहंकार अपने में लीन कर लेता है। तैजस् अहंकार इन्द्रियों को और वैकारिक अहंकार इन्द्रियाधिष्ठातृ देवता और इन्द्रिय वृत्तियों को अपने में लीन कर लेता है तत्पश्चात् महत्तत्व अहंकार को और सत्व आदि गुण महत्तत्व को ग्रस लेते हैं। अव्यक्त प्रकृति सत्वादि गुणों को ग्रस लेती है तब केवल प्रकृति ही शेष रह जाती है जो चराचर जगत् का मूल कारण, अव्यक्त, अनादि, अनन्त, नित्य एवं अविनाशी है।

इस प्रकार उपरोक्त वर्णनानुसार सूर्य की किरणों के अत्यधिक प्रचण्ड होने से प्राणियों का विनाश, तत्पश्चात् चट्टानों का पिघलना, तदुपरान्त ठण्डा होकर विनाश को प्राप्त करने का क्रम वर्तमान विज्ञान से पूर्णतया साम्य रखता है। वर्तमान वैज्ञानिकों का अनुमान है कि एक समय ऐसा आयेगा जब विश्व ब्रह्माण्ड का लय हो जायेगा क्यों कि तारों के परमाणु टूटते रहते हैं और उनमें अन्तर्निहित ऊर्जा शक्ति निकलती रहती है जिससे वे अन्त में ठण्डे पड़कर विनाश को प्राप्त जायेंगे। आज से लगभग 10 अरब वर्ष बाद हमारा सूर्य भी ठण्डा होकर नष्ट हो जायेगा तथा उसके साथ ही पृथ्वी आदि ग्रह एवं उपग्रह भी नष्ट हो जायेंगे। परन्तु खगोलीय पिण्डों के विषय में अर्जित नवीन ज्ञान के आधार पर वैज्ञानिकों ने यह निष्कर्ष

निकाला है कि सूर्य ठण्डा होने से पूर्व गर्म होगा जिससे समुद्रों का पानी वाष्प बन जायेगा। इसलिये पृथ्वी पर जीवन सूर्य के ठण्डा होने के अरबों वर्ष पूर्व ही समाप्त हो जायेगा। तत्पश्चात् सूर्य के विस्फोट से निसृत प्रचण्ड ताप से पृथ्वी एवं अन्य ग्रहों की चट्टानें पिघल जायेंगी, पृथ्वी का वायु मण्डल जल उठेगा और उसके बाद सूर्य व उसका परिवार सदा के लिये समाप्त हो जायेगा। वह स्वयं एक ऐसा ब्रह्माण्डी बादल बन जायेगा जिससे वह उत्पन्न हुआ था (शर्मा, 1983, 442, 454, 518)।

ब्रह्माण्डोत्पत्ति सम्बन्धी प्राचीन व अर्वाचीन संकल्पनाओं का तुलनात्मक विवेचन –

प्राचीन ब्रह्माण्डोत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्तों के अध्ययन के आधार पर स्पष्ट होता है कि प्राचीन विद्वानों ने इस विषय वस्तु के साथ मिथक सम्बन्धी (तत्व मीमांसा), दार्शनिक, खगोलीय तथा भूगोल सभी विषयों को अन्तर्सम्बन्धित कर दिया। इस कारण विधि तन्त्र वर्तमान वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में पूर्णतया स्पष्ट नहीं हो सकी तथापि वर्तमान गवेषणाओं के अनुसार यह स्पष्ट होता है कि भारतीयों ने इस विषय वस्तु को वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में ही रखा तथा अनुभवातीत संकल्पनाओं के आधार पर हम महत्वपूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

ब्रह्माण्डोत्पत्तिसम्बन्धी प्राचीन एवं अर्वाचीन संकल्पनाओं में समानता है, केवल विषय वस्तु को प्रस्तुत करने की विधि में अन्तर है। यथा दार्शनिक विधि द्वारा शून्य से केवल एक पदार्थ (परमात्मा या नारायण) के अस्तित्व के मानने की विचार धारा अठ्ठारहवीं शदी के विद्वान् काण्ट द्वारा माने गये पदार्थ से अथवा अन्य सिद्धान्तों में वर्णित ब्रह्माण्डी बादल से मिलती जुलती है जिससे ही सृष्टि की उत्पत्ति हुई।

काण्ट के अनुसार आद्य पदार्थ के कठोर कण प्रारम्भ से ही समस्त विश्व में फैले हुए थे जो गुरुत्वाकर्षण के कारण परस्पर टकराने लगे। टकराने से गति व ऊष्मा उत्पन्न हुई तदनन्तर वे आद्यपदार्थ परस्पर मिलकर भ्रमणशील, तप्त वायव्य नीहारिका में परिवर्तित हो गये। परिभ्रमण वेग बढ़ने से नीहारिका में कई गैसीय पदार्थों के वलय बने। कालान्तर में उनके गांठों के रूप में सघन हो जाने पर ग्रहों, उपग्रहों की उत्पत्ति हुई तथा नीहारिका

का अवशिष्ट भाग सूर्य जाना गया।

भागवतपुराण के अनुसार सृष्टि के पूर्व विश्व में एक आदि पदार्थ §नारायण या परमात्मा§ था जो उष्ण §स्वयं प्रकाशमान§ था। उस आदि पदार्थ के अभिन्न तत्व §प्रकृति§ में कालक्रम से गति §क्षोभ§ उत्पन्न हुई जिससे वह एक तत्व 24 तत्वों में परिवर्तित हो गया। वे तत्व पृथक्-पृथक् स्थित थे। तदनन्तर गुरूत्वाकर्षण शक्ति §परमात्मा की शक्ति या संकर्षण शक्ति§ से वे सभी तत्व मिलकर जाज्वल्यमान महापिण्ड या नीहारिका §हिरण्यमय अण्ड § बन गया जो विश्व रचना करने वाले तत्वों का गर्भ था। वह नीहारिका §हिरण्मय अण्ड§ वाष्पयुक्त, तप्त, गैसीय, धूलियुक्त एवं अन्य तत्वों §पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, अहंकार, महत्तत्व एवं प्रकृति आदि तत्वों के आवरणों§ से युक्त थी। गैस या वाष्प §जल§ से वह नीहारिका पर्याप्त समय §1000 वर्ष§ तक आवृत्त रही तत्पश्चात् उसमें §परमात्मा की शक्ति से§ गति होने से वलय के रूप में पदार्थ निकला §अर्थात् विराट् पुरुष निकला§,उसी वलय से निकलने वाले वलयों से ग्रहों, उपग्रहों आदि की उत्पत्ति हुई §अर्थात् विराट् पुरूष के विभिन्न अंग बने जिनसे ही ग्रहों,उपग्रहों, नक्षत्रों, आकाश व चतुर्दश भुवन की उत्पत्ति हुई§।

भागवतपुराण में यह भी उल्लेख मिलता है कि सूर्य को हिरण्यमय अण्ड के गर्भ से प्रकट होने के कारण हिरण्यगर्भ कहा गया है तथा वह ब्रह्माण्ड गोलक के मध्य में स्थित है जो भली भांति स्पष्ट करता है कि नीहारिका §अण्ड§ का शेष केन्द्रीय भाग सूर्य बना।

वर्तमान विज्ञान के अनुसार पृथ्वी पिण्ड के शनैः-शनैः ठण्डा होने के साथ-साथ क्रमशः वायु और जल बनते हैं। पृथ्वी पिण्ड का हल्का भाग बाहर की ओर है जिसे वायुमण्डल कहते हैं तथा भारी तरल पदार्थ जल रूप में है जिससे महासागरों का निर्माण हुआ। अधिक सघन पदार्थ से पृथ्वी का ठोस भाग बनता है तत्पश्चात् जल में जैव सृष्टि उत्पन्न होती है। भागवतपुराण §2·5·25-29§ के अनुसार भी सृष्टि रचना के क्रम में आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। पौराणिक मतानुसार भी सर्वप्रथम जल में ही सृष्टि का प्रादुर्भाव हुआ था §पाण्डेय,1963,663-667 तथा शर्मा,1983,519, 526§।

इस प्रकार स्पष्ट है कि भागवतपुराणकालीन ब्रह्माण्डोपत्ति विचारधारा वर्तमान विज्ञान से साम्य रखती है। यह ध्यातव्य है कि भागवतपुराण में वर्णित विश्व रचना या विनाश के समय जल ﴾जल वाष्प या गैस﴿ की उत्पत्ति ब्रह्माण्डोपत्ति सम्बन्धी संकल्पनाओं में विभिन्न देशों में महत्वपूर्ण मानी गयी है। अतः उपरोक्त पौराणिक विचारधारा से निम्न महत्वपूर्ण तथ्य स्पष्ट होते हैं -

1- सृष्टि का प्रारम्भ सत् से हुआ, असत् से नहीं।

2- सृष्टि रचना, अस्तित्व एवं विनाश चक्रानुरूप है।

3- प्रारम्भिक अवस्था में जल का अस्तित्व था।

4- अनन्त की रचना एवं ईश्वर की संहारकारिणी शक्ति काल की संकल्पना यथार्थता को प्रस्तुत करता है।

ब्रह्माण्ड का आकार एवं विस्तार -

भागवतपुरण ﴾5·23﴿ के अनुसार विश्व ब्रह्माण्ड के समस्त आकाशीय पिण्डों की स्थिति शिशुमार संस्था ﴾प्रकल्पित विश्व ब्रह्माण्ड﴿ में वर्णित की गयी है। शिशुमार ﴾लम्बाकार सूंस या डालफिन मछली﴿ लोक में दाहिनी ओर को सिकुड़कर कुण्डलाकार रूप में स्थित है और उसका मुख नीचे की ओर है। पूँछ केन्द्र में है जहाँ ध्रुव तारा स्थित है। इस वर्णन के आधार पर विश्व ब्रह्माण्ड का सर्पिल आकार वर्तमान वैज्ञानिकों द्वारा शोध निष्कर्षों व प्रेक्षण से प्राप्त मन्दाकिनी विश्व या आकाशगंगा के सर्पिल या "स्पाइरल" सदृश आकार से पूर्ण साम्य रखता है ﴾शर्मा,1983,449 तथा सुथार,1968,45,चित्र-1·2﴿। यह आकार नीहारिकाओं के अपने केन्द्र में तीव्र गति से भ्रमण के कारण बाहर छिटकी हुई गैसों का सर्पिल आकार में नीहारिका के चारों ओर भ्रमण करने से ही बनता है ﴾शर्मा,1983,440-441﴿। जिस प्रकार स्पाइरल सदृश आकाश गंगा के केन्द्रक के चारों ओर समस्त आकाशीय पिण्ड-तारे, नक्षत्र आदि भ्रमण करते रहते हैं, उसी प्रकार शिशुमार संस्था में भी पूँछ के सिरे पर स्थित ध्रुव ﴾कुण्डलाकार होने से पूँछ का सिरा शिशुमार संस्था के मध्य में पड़ता है﴿ का आश्रय लेकर समस्त ज्योतिर्गण भ्रमण करते रहते हैं।

भागवतपुराण §3·11·39-40§ में उल्लेख है कि विकारों से युक्त यह ब्रह्माण्डकोश §आण्डकोश§ अन्दर से 50 करोड़ योजन विस्तार वाला है तथा इसके बाहर चारों ओर उत्तरोत्तर दस-दस गुने सात आवरण हैं। इस वर्णन के अनुसार ब्रह्माण्डकोश का कुल विस्तार 50,000 खरब योजन अर्थात् 4,00,000 खरब मील होता है। यद्यपि यह मात्र कल्पना ही प्रतीत होती है परन्तु भौगोलिक संकल्पनाओं की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वर्तमान वैज्ञानिकों के अनुसार हमारी नीहारिका या ब्रह्माण्ड §आकाश गंगा या मन्दाकिनी विश्व§ का व्यास एक लाख प्रकाश वर्ष और मोटाई 15 हजार प्रकाश वर्ष तथा सूर्य के चारों ओर के तारा विश्व की मोटाई 2500 प्रकाश वर्ष §एक प्रकाश वर्ष का अर्थ है लगभग 9,460 अरब किमी0 का अन्तर,शर्मा,1983,442§ आंकी गयी है §सुथार,1968,44§।

ब्रह्माण्ड की आयु -

ब्रह्माण्ड का निर्माण ब्रह्मा ने किया था अतः ब्रह्मा की आयु ब्रह्माण्ड की आयु होगी। ब्रह्मा की आयु के आधे भाग को परार्द्ध कहते हैं। अब तक प्रथम परार्द्ध व्यतीत हो चुका है। द्वितीय परार्द्ध का प्रथम कल्प चल रहा है। काल के बृहद् विभाजन §3·11§ के अनुसार 2000 महायुग या चर्तुयुगी का ब्रह्मा का एक अहोरात्र, 30 ब्राह्म अहोरात्र का एक ब्राह्म मास, 12 ब्राह्म मास का एक ब्राह्म वर्ष तथा 50 ब्राह्म वर्ष का एक पर्राद्ध होता है। एक महायुग में 4,320 हजार मानव वर्ष होते हैं अतः एक परार्द्ध का समय निम्नांकित सारणी से ज्ञात हो जायेगा -

1 परार्द्ध = 50 ब्राह्म वर्ष

= 50 × 12 ब्राह्म मास

= 50×12×30 ब्राह्म अहोरात्र

= 50×12×30×2000 महायुग

= 50×12×30×2000×43,20,000 मानव वर्ष

= 15,55,20,000,000,000 मानव वर्ष

एक कल्प में 14 मन्वन्तर होते हैं। द्वितीय परार्द्ध का जो प्रथम कल्प चल रहा

है, उसके व्यतीत हो चुके समय का आकलन निम्न प्रकार है -

6 मन्वन्तर + 27 महायुग + सत्ययुग + त्रेतायुग + द्वापर युग + व्यतीत हुआ कलियुग §सं0 2045 तक§।

= 6 × 30,85,71,429 + 27 × 43,20,000 + 17,28,000 + 12,96,000 + 8,64,000 + 5089 वर्ष

= 1,85,14,28,574 + 11,66,40,000 + 38,88,000 वर्ष

= 1,97,19,61,663 वर्ष

यह पृथ्वी की आयु हुई § पृथ्वी की आयु गणना का सविस्तार विवेचन इसी अध्याय में आगे किया जायेगा§। अतः ब्रह्माण्ड की आयु 15,55,20,000,000,000 वर्ष + 1,97,19,61,663 वर्ष अर्थात् 15,55,21,97,19,61,663 वर्ष हुई। यद्यपि पृथ्वी की आयु गणना §लगभग 2 अरब वर्ष - होम्स, 1975,44 तथा मेहरोत्रा, 1967,66-67§ वर्तमान विज्ञान से साम्य रखती है परन्तु ब्रह्माण्ड की आयु नहीं। वर्तमान वैज्ञानिक ब्रह्माण्ड के जन्म का आकंलन आज से 10 अरब वर्ष पूर्व का मानते हैं §शर्मा,1983,442§।

ब्रह्माण्ड के विभाग -

विश्व विस्तार तीन लोकों - भूः §पृथ्वी§, भुवः §वायुमण्डल§ तथा स्वः §अन्तरिक्ष§ के रूप में कहा गया है §2·6·6, 11·24·11§। अन्यत्र अण्डकोश चतुर्दश भुवन के रूप में वर्णित है §2·5·36-42,5·24·5-31, "एतावानेवाण्ड कोशो यश्चतुर्दशधा पुराणेषु विकल्पित उपगीयते"- 5·26·38§। चतुर्दश भुवन में भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपोलोक और सत्यलोक, ये सात क्रमशः उच्च विभाग तथा अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल, ये सात क्रमशः निम्न विभाग कहे गये हैं जो प्रतिध्रुवस्थ प्रदेशों को प्रदर्शित करते हैं।

§2§ नक्षत्र एवं तारागण -

प्राचीन खगोलज्ञों द्वारा चमकने वाले आकाशीय पिण्डों को तीन वर्गों में विभक्त किया गया - §अ§ तारा अथवा तारकाः, §ब§ नक्षत्र तथा §स§ ग्रह।

तारा -

ऐतिहासिक काल से ही मानव की जिज्ञासा आकाश में चमकने वाले ग्रहों एवं तारों के विषय में थी। वैदिक काल में भारतीयों ने ग्रहों एवं नक्षत्रों का पर्याप्त प्रेक्षण किया तथा तारों की गणना की। तारा दृश्य पदार्थ हैं जो एक दूसरे के परिप्रेक्ष्य में स्थिर दिखायी देते हैं। इनको तारा:§2·6·14§, तारका: §2·5·11§ अथवा उडुगण §9·2·6§ कहा गया है। इनका "तारा" नाम इसलिये पड़ा क्योंकि इनकी प्रकृति प्लवमान है §तैत्तरीय ब्राह्मण-1·5·2, उद्धृत- दीक्षित,1975,74§। दिन में तारे दिखायी नहीं देते अपितु सूर्यास्त के बाद ही दृश्यमान होते हैं §10·34·22§। शरद् ऋतु की निर्मल रात्रियों में आकाश में तारे स्पष्ट रूप से दिखायी देते हैं §10·20·43§। अतः उसी समय इनका खगोलीय प्रेक्षण किया जाता था। स्पष्ट है कि भागवत पुराण काल में तारों के प्रेक्षण के लिये कोई वैज्ञानिक विधि नहीं थी तथापि उनकी प्रकृति एवं नक्षत्रों तथा ग्रहों के साथ उनके सम्बन्धों का अच्छा ज्ञान तत्कालीन भारतीयों को था।

सप्तर्षि मण्डल -

आकाश में सप्तर्षि का प्रलोभक अस्तित्व रात्रि में प्रत्येक प्रेक्षक को बलात् आकर्षित करता है और प्रेक्षण की यह क्रिया वैदिक काल से चली आ रही है। "सप्तर्षि" दो शब्दों से बना है - सप्त §सात§ एवं ऋषि §तारा§, जिनका आशय सप्तर्षि मण्डल §12·2·27§ में तारों की संख्या से हैं। संहिता काल तथा ब्राह्मण काल में सप्तर्षियों को "ऋक्ष" कहा जाता था §प्रसाद,1974,30-31§ जिसे अब भी पाश्चात्य ज्योतिष में उर्सा मेजर या ग्रेट बीयर §ऋक्ष=भालू§ कहा जाता था §"ऋक्ष" शब्द के संस्कृत में दो अर्थ हैं - तारा और रीछ या भालू। सम्भवतः कभी भूल से ऋक्ष रीछ का पर्याय समझ लिया गया होगा§।

भागवतपुराण §5·22·17§ में सप्तर्षि मण्डल की स्थिति शनि ग्रह से ग्यारह लाख योजन की दूरी पर बतलायी गयी है। ये सप्तर्षिगण निरन्तर ध्रुव की परिक्रमा करते रहते हैं §2·7·8,5·22·17§। जिस समय आकाश में सप्तर्षियों का उदय होता है उस समय पहले उनमें से दो ही तारे दिखलायी पड़ते हैं। उनके मध्य में दक्षिणोत्तर रेखा पर समभाग

में अश्विनी आदि नक्षत्रों में एक नक्षत्र दिखलायी पड़ता है। उस नक्षत्र के साथ सप्तर्षिगण सौ वर्ष तक रहते हैं। जिस समय सप्तर्षि मघा नक्षत्र पर विचरण करते हैं उसी समय कलियुग का प्रारम्भ होता है तथा जिस समय सप्तर्षि मघा से चलकर पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र में जा चुके होंगे, उस समय कलियुग की वृद्धि होगी (12·2·27-32)।

स्पष्ट है कि पुराणकालीन भारतीयों को सप्तर्षियों तथा सप्तर्षियों का ध्रुव एवं नक्षत्रों के साथ सम्बन्ध का भली भाँति ज्ञान था तथा इनका उन्होंने दीर्घकाल तक गहराई से प्रेक्षण किया।

ध्रुवतारा-

उत्तर ध्रुव में शिरोबिन्दु पर ध्रुव तारा देखा जा सकता है। ध्रुव तारे की सहायता से हम किसी स्थान से सत्य उत्तर ज्ञात कर सकते हैं। भागवतपुराण (4·9·20-21, 5·23·1-3) में ध्रुव की स्थिति सप्तर्षियों से 13 लाख योजन ऊपर बतलायी गयी है तथा यह माना गया है कि ध्रुव एक ही स्थान में रहकर शाश्वत प्रकाशित होता है। समस्त ग्रह, नक्षत्र, सप्तर्षि एवं तारे ध्रुव की परिक्रमा करते हैं तथा ध्रुव इनके मध्य में आधार स्तम्भ के रूप में स्थित है।

राशियाँ -

अन्तरिक्ष को 12 भागों में विभक्त किया गया है। ये विभाग सूर्य की गति के वे 12 बिन्दु हैं जिन पर सूर्य के संक्रमण के कारण पार्थिव संवत्सर भी प्रभावित होता रहता है। इन्हीं 12 भागों को राशियों की संज्ञा दी गयी है। ये 12 राशियाँ निम्न हैं (तालिका - 1·1, चित्र- 1·1) -

तालिका 1·1

द्वादश राशियाँ

क्रम संख्या	राशि का नाम	आँग्ल राशि का नाम	लैटिन राशि का नाम
1-	मेष	रैम	एरीस
2-	वृष	बुल	टौरस
3-	मिथुन	ट्विंस	जेमिनि
4-	कर्क	क्रैब	कैंसर
5-	सिंह	ल्वायन	लियो
6-	कन्या	वर्जिन	विर्गो
7-	तुला	बैलेंस स्केल	लिब्रा
8-	वृश्चिक	स्कार्पियन	स्कार्पियो
9-	धनु	आर्चर	सैगिट्टरियस
10-	मकर	गोट	कैप्रिकार्नस
11-	कुम्भ	वाटर कैरियर	एक्वारिअस
12-	मीन	फिशेज	पिस्केस

समस्त नभमण्डल के तारागणों को प्रचीन काल से ही विशेष समूह में विभक्त कर दिया गया था जिनको "तारा समूह" कहते हैं। इन तारा समूहों के नाम भी अति प्राचीन काल में ही रख दिये गये थे तथा नामकरण विशेषकर पशु पक्षियों के नामों के आधार पर किया गया। कुछ नाम देवी देवताओं और जड़ पदार्थों के भी हैं। भागवत पुराण काल में भारतीयों को राशियों के सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान था। उन्होंने सूर्य की स्थिति तथा गति का आकलन राशियों के आधार पर ही किया (5·21·36, 5·22·2)। भागवतपुराण (5·22·5) में उल्लेख है कि सूर्य, पृथ्वी और द्युलोक के मध्य में विस्तृत भुवर्लोक या अन्तरिक्ष के केन्द्र में कालचक्र में स्थित होकर बारहों मासों को भोगते हैं, जो संवत्सर के अवयव हैं तथा मेष आदि राशियों के नाम से प्रसिद्ध हैं। सूर्य के अतिरिक्त अन्य ग्रहों की गति का ज्ञान भी राशियों

सूर्य, क्रान्तिवृत्त एवं ऋतुयें
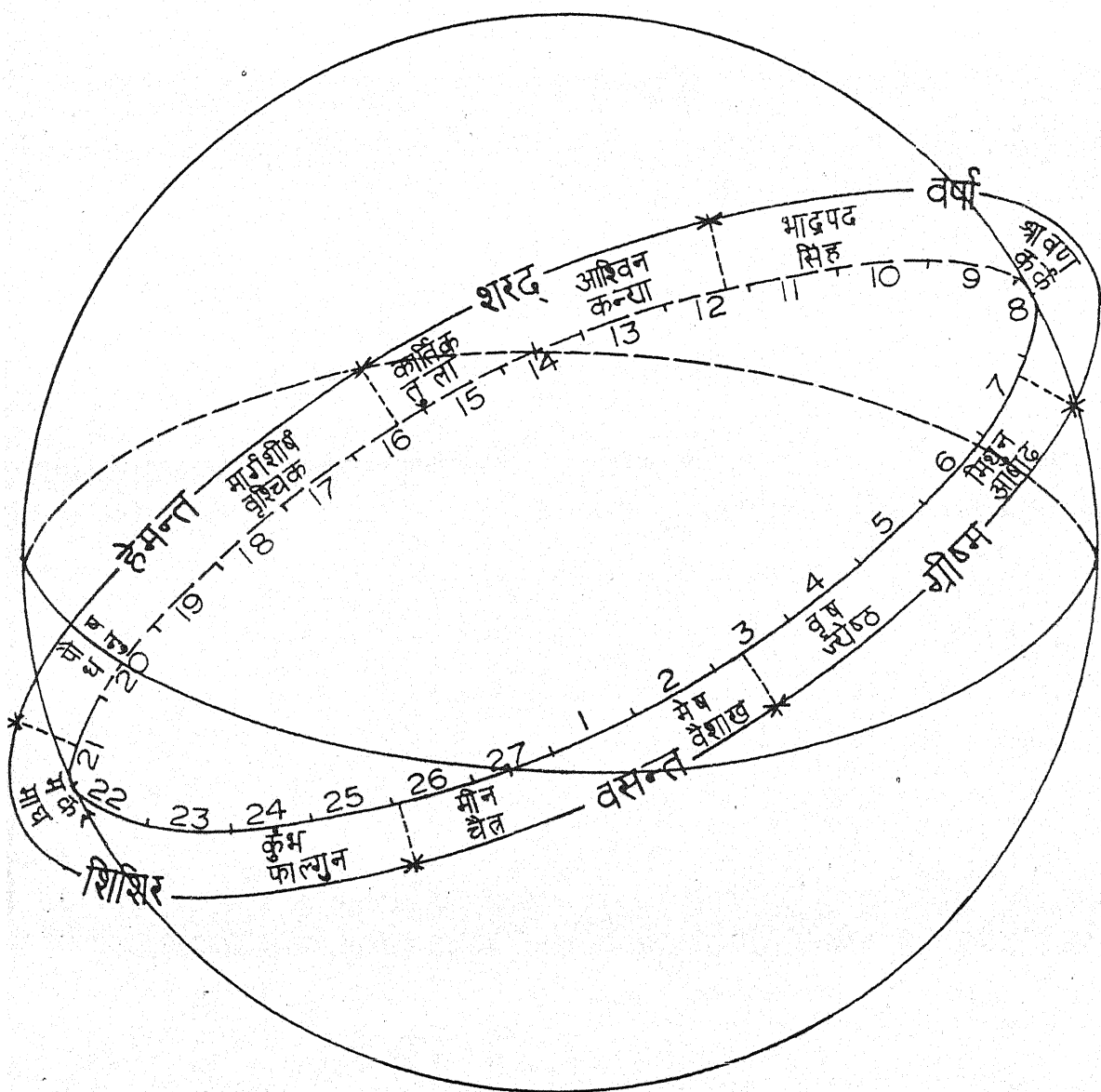
संख्यायें नक्षत्रों के क्षेत्र को प्रदर्शित करती हैं।

(चित्र-1.1)

के आधार पर किया जाता था (5·22·14-16)।

नक्षत्र -

नक्षत्रों के सम्बन्ध में खगोलीय प्रेक्षण ऋग्वेद के पूर्व ही प्रारम्भ हो गया था तथा वैदिक काल में नक्षत्रों के प्रेक्षण के लिये नक्षत्र विज्ञान या खगोलिकी का अध्ययन प्राचीन खगोलर्कों द्वारा पृथक् से किया जाता था। प्राचीन भारतीयों ने क्रान्ति वृत्त को बराबर चापों में विभक्त किया जिससे सूर्य की वार्षिक गतियों का स्पष्ट अध्ययन किया जा सके। प्राचीन खगोलकों ने क्रान्तिवृत्त को 12 राशियों के आधार पर 12 बराबर भागों में विभक्त किया तत्पश्चात् 27 नक्षत्रों के आधार पर 27 बराबर भागों में विभाजित किया। इस प्रकार प्रत्येक विभाग 13° 20′ अथवा 800 मिनट चाप के क्षेत्र को प्रदर्शित करता है और ये भाग नक्षत्र के नाम से जाने जाते हैं।

सम्पूर्ण प्राचीन साहित्य में नक्षत्रों की संख्या समान नहीं है। वैदिक साहित्य में कहीं पर 27 तथा कहीं पर 28 नक्षत्रों का उल्लेख मिलता है। भागवतपुराण (8·18·5, 11·16·27) में भी अट्ठाइसवें नक्षत्र "अभिजित्" का उल्लेख मिलता है जो उत्तराषाढ़ एवं श्रवण के मध्य रहता है तथा शुभकारी एवं सभी नक्षत्रों में श्रेष्ठ कहा गया है। खगोलकों ने खगोलीय प्रेक्षण हेतु केवल 27 नक्षत्रों का प्रयोग किया है। इन नक्षत्रों के नाम इस प्रकार हैं- अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, अश्लेषा, मघा, पूर्वा-फाल्गुनी, उत्तराफाल्गुनी, हस्त, चित्रा, स्वाति, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल, पर्वाषाढ़, उत्तराषाढ़, श्रवण, घनिष्ठा, शतभिषा, पूर्वभाद्रपद, उत्तरभाद्रपद तथा रेवती।

सभी नक्षत्रों के नाम महत्वपूर्ण (सार्थक) हैं तथा उनसे सम्बन्धित लोककथायें जुड़ी हैं (दुबे, 1967, 9)। उदाहरणार्थ आर्द्रा से तात्पर्य आर्द्र से है क्यों कि जब सूर्य इसके क्षेत्र में प्रवेश करता है तो वर्षा प्राप्त होती है। इसलिये इस नक्षत्र का नामकरण आर्द्रा किया गया है। "पुनर्वसु" का नामकरण नये धान्य के रूप में किया गया है जब वह (धान) भूमि से प्राप्त कर लिया जाता है। पुष्य इसलिये कहा जाता है कि नये धान्य क्रमशः बढ़ते हैं और मानव का पोषण करते हैं। "अश्लेषा" का नामकरण धान के पौधों के आधार पर

किया गया है क्यों कि ये पर्याप्त बढ़कर लोगों को आकर्षित करते हैं। "मघा" इसलिये कहा जाता है कि धान एवं दूसरी फसलें पककर क्षेत्रों §खेतों§ में खड़ी रहती हैं जो स्वयं अपने आप में एक धन है। "कृत्तिका" जिसके अन्तर्गत 6 या 7 तारा समूह हैं, जो दूर से चित्तीदार हरिण के रूप में दिखायी देता है तथा जिसका क्षेत्र 13° 20′ है, यह माना जाता है कि छात्र वैदिक अध्ययन हेतु हरिण के इस चमड़े पर बैठा है।

उल्लेखनीय है कि खगोलीय विचार नक्षत्रों से सम्बन्धित हैं। आकाशीय पिण्डों की स्थिति नक्षत्रों के परिप्रेक्ष्य में भूतल पर भौतिक एवं नैतिक प्रभावों को प्रदर्शित करते हैं। राशियां संख्या में 12 हैं जिसके अन्तर्गत 2,1/4 नक्षत्र अथवा 9 पद आते हैं §दुबे, 1967,9§, तथा इनका नामकरण सामान्य आकार के रूप में किया गया है। नक्षत्र अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं तथा ग्रहों की गतियों से अन्तर्सम्बन्धित हैं, फलतः जलवायु, मौसम और मासों की स्थिति पूर्णतया स्पष्ट होती है §5·22·1-16,8·18·5,10·30·1, चित्र-1·1§।

भागवतपुराण §5·22·11§ में चन्द्रमा से तीन लाख योजन ऊपर अभिजित् सहित 28 नक्षत्रों की स्थिति बतलायी गयी है जो काल चक्र में नियुक्त होकर मेरु को दायीं ओर रखकर भ्रमण करते रहते हैं। चन्द्रमा को नक्षत्रों का अधिपति कहा गया है §6·6·23, 9·5·3§। चन्द्रमा रोहिणी को आच्छादित करता है। इसी आधार पर उत्पन्न हुई यह कथा भागवतपुराण में है कि चन्द्रमा की रोहिणी पर विशेष प्रीति है §6·6·23§। नक्षत्रों का अन्य खगोलीय पिण्डों के साथ सम्बन्धों और उनका भूतल पर प्रभावों का भी उल्लेख मिलता है §5·22·2-16, 6·6·23-24,10·3·1, 10·7·11, 12·2·27-28§। अन्य खगोलीय पिण्डों के अन्तर्सम्बन्ध के आधार पर समय गणना तथा भविष्यवाणी की जाती थी §10·82·1-2, 12·2·27-32§।

भागवतपुराण में विविध नक्षत्रों की स्थिति अन्य आकाशीय पिण्डों सहित शिशुमार संस्था में बतलायी गयी है अतः यहाँ शिशुमार संस्था का विवेचन समीचीन है।

शिशुमार संस्था -

आकाशस्थ समस्त ज्यातिर्गणों की स्थिति शिशुमार §प्रकल्पित विश्व, जिसे पूर्व में स्पष्ट

मन्दाकिनी विश्व एवं शिशुमार संस्था
सूर्य
मन्दाकिनी विश्व
(ऊपर से देखने पर 'स्पाइरल' सदृश)
(स्रोत-विज्ञान प्रगति, पूर्णांक 363-365 1983, पृ०-449)
सूर्य
मन्दाकिनी विश्व (तिर्यक् देखने पर चौरस चकती सदृश)
मृगशिरा
रोहिणी
कृत्तिका
भरणी
अश्विनी
रेवती
उत्तरा भाद्रपदा
सूर्य
पूर्वा भाद्रपदा
शतभिषा
धनिष्ठा
श्रवण
अभिजित्
मघा
पूर्वाफाल्गुनी
उत्तरा फाल्गुनी
हस्त
चित्रा
स्वाति
विशाखा
अनुराधा
ज्येष्ठा
मूल
धाता
आश्लेषा
विधाता
ध्रुव
पुष्य
आर्द्रा
पुनर्वसु
बृहस्पति
पूर्वाषाढ़
उत्तराषाढ़
अगस्त्य
यम
शिशुमार संस्था
(भागवतपुराण के अनुसार)
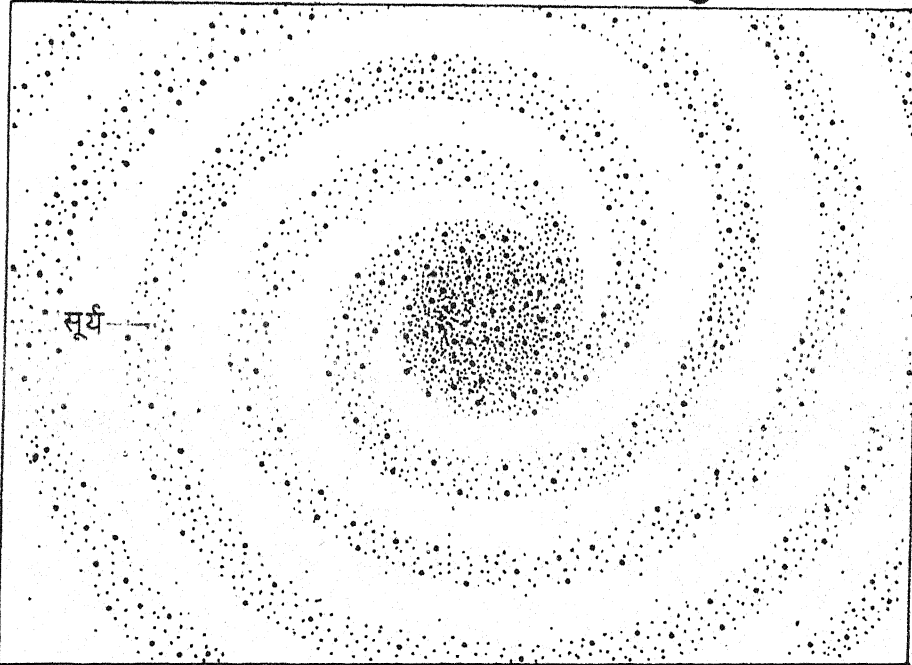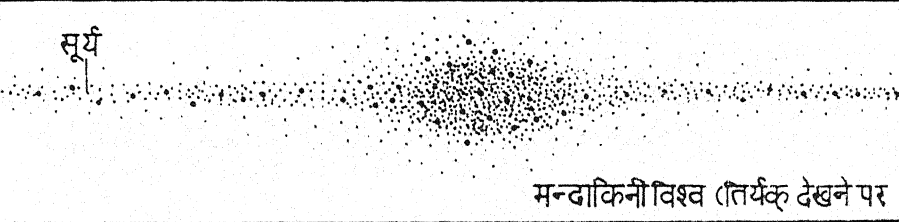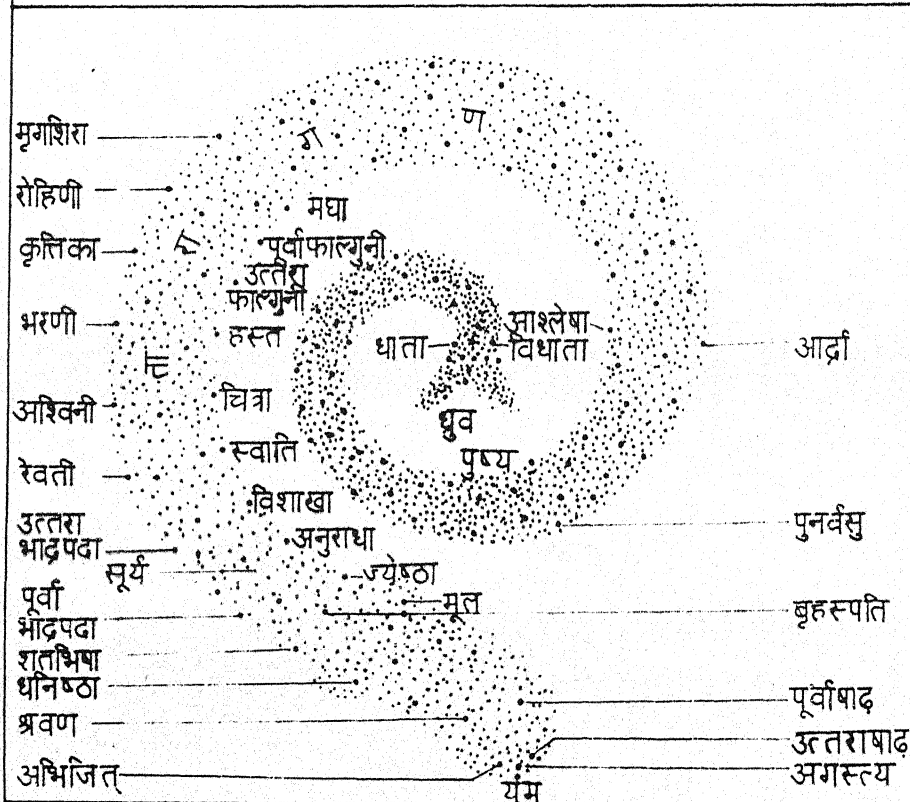
(चित्र-1.2)

किया जा चुका है§ के विभिन्न अंगों में प्रकल्पित है। शिशुमार दक्षिणावर्त कुण्डली रूप में है जिसका मुख नीचे की ओर है। इस शिशुमार के पुच्छाग्र पर ध्रुव , पुच्छ के मध्य भाग में प्रजापति, अग्नि, इन्द्र और धर्म, पुच्छ के मूल भाग में धाता और विधाता स्थित हैं। शिशुमार के कटि प्रदेश में सप्तर्षि स्थित हैं। अभिजित् से लेकर पुनर्वसु पर्यन्त उत्तरायण के चतुर्दश नक्षत्र दक्षिण भाग में तथा शेष दक्षिणायन के चर्तुदश नक्षत्र वाम भाग में स्थित हैं। पृष्ठ में अजवीथी तथा उदर में आकाश गंगा है। दक्षिण और वाम कटितटों में पुनर्वसु और पुष्य नक्षत्र हैं तथा दक्षिण और वाम नासिकाओं में क्रमशः अभिजित् और उत्तराषाढ़ नक्षत्र स्थित हैं। दक्षिण और वाम नेत्रों में श्रवण और पूर्वाषाढ़ तथा दक्षिण और वाम कर्णो में धनिष्ठा और मूल नक्षत्र स्थित हैं। मघा आदि दक्षिणायन के अष्ट नक्षत्र वाम पार्श्वो में स्थित हैं।शतभिषा और ज्येष्ठा ये दो नक्षत्र दक्षिण और वाम सकन्धों के स्थान पर हैं। उत्तराहन में अगस्त्य, अधराहन में यम, मुख में आंगार §मंगल§, उपस्थ में शनि, ककुदि में बृहस्पति,वक्ष में सूर्य, हृदय में नारायण, मन में चन्द्रमा, नाभि में उशना §शुक्र§, स्तनों में अश्विनी कुमार, प्राण और अपान में बुध, ग्रीवा में राहु, सम्पूर्ण अंगों में केतु तथा रोमों में समस्त तारागण स्थित हैं §5·23, चित्र-1·2§।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि भागवतपुराण काल तक खगोल विज्ञान का पर्याप्त विकास हो चुका था। प्राचीन भारत में यह विज्ञान मुख्यतः निरीक्षण एवं अध्ययन पर आधारित था जो बाद में वैज्ञानिक स्वरूप प्राप्त कर वर्तमान खगोल विज्ञान बना। परन्तु इस ग्रंथ के आकाशीय ज्योतियों एवं घटनाओं के उल्लेखों से इस विज्ञान के विकास क्रम की कड़ियाँ जोड़ी गयी हैं। नक्षत्र विज्ञान तो मूलतः भारतीयों की अपनी ही मूल खोज है। भागवतपुराण में प्राप्त संदर्भो से स्पष्ट होता है कि तत्कालीन भारतीय अनेक वर्षो तक ज्योतिर्गणों का निरीक्षण एवं परीक्षण करते थे। इस विज्ञान के विकसित होने पर ही ज्योतिष विज्ञान के ज्ञाता ज्योतिषी आकाशीय पिण्डों की गति विधियों के आधार पर यथार्थ भविष्यवाणी करते थे।

§ब§ सौर्य मण्डल -

सौर्य मण्डल से तात्पर्य सूर्य एवं उसके चतुर्दिक परिक्रमण करने वाले

ग्रहों से है। सूर्य एवं ग्रहों के अतिरिक्त उपग्रह, क्षुद्र ग्रह, उल्काओं, पुच्छल तारे आदि भी सौर्य मण्डल में सम्मिलित हैं जो सूर्य के चतुर्दिक चक्कर लगाते हैं। सूर्य इन सबका जनक, केन्द्र व सौर परिवार का प्रधान है जो इस सौर मण्डल को प्रभावित करता है। गुरुत्वाकर्षण के कारण ये सभी आकाशीय पिण्ड अपने परिवार से आबद्ध हैं।

1- सौर मण्डल का ज्ञान -

ऋग्वैदिक काल में आर्यों को सौर्यमण्डल का पर्याप्त ज्ञान नहीं था। ऋग्वेद में 34 आकाशीय पिण्डों का उल्लेख है जिसके अन्तर्गत सूर्य, चन्द्रमा, 5 ग्रह एवं 27 नक्षत्र सम्मिलित हैं (सक्सेना,1960,25)। परवर्ती साहित्य (बौद्धायन धर्मसूत्र) में सात ग्रहों-सूर्य, चन्द्र, अंगारक, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु एवं केतु के सन्दर्भ हैं (सक्सेना,1960,26)। उल्लेखनीय है कि पृथ्वी को कहीं भी ग्रह के रूप में वर्णित नहीं किया गया है। पौराणिक काल में सौर्य मण्डल के ज्ञान का पर्याप्त विकास हो चुका था। भागवतपुराण में सूर्य, चन्द्रमा, अंगारक (मंगल), बुध, बृहस्पति, उशना (शुक्र), शनैश्चर (शनि) एवं राहु ग्रह अर्थात् सौर्य मण्डल के सदस्य कहे गये हैं (5·22·2-16, 6·6·37,8·9·24)।

2- सूर्य एवं ग्रह -

वर्तमान खगोलीय प्रेक्षणों के आधार पर ज्ञात किया गया है कि सौर परिवार का जनक सूर्य, सौर्य मण्डल के केन्द्र में स्थित है। प्राचीन खगोलज्ञ भी इस तथ्य से भलीभाँति परिचित थे परन्तु खगोलीय प्रेक्षणों एवं धार्मिक क्रियाकलापों हेतु वे पृथ्वी को केन्द्र मानकर गणना करते थे।

भागवतपुराण में सूर्य के विविध पर्यायवाची शब्द कहे गये हैं जो विविध अर्थों को प्रदर्शित करते हैं यथा- रवि, अर्क, गोपति, आदित्य, भास्कर, दिवाकर, सविता, पतंग, मार्तण्ड, हिरण्यगर्भ, तपन्, विधाता, शक्र, उरुक्रम, इन, अर्हपति, अंशुकर, वसु, उष्णगुः, भानु, कालरूपधृक्, धाता, अर्यमा, मित्र, वरुण, इन्द्र, विवस्वान्, पूषा, पर्जन्य, अंशु, भग, त्वष्टा, विष्णु आदि। मृताण्ड में वैराज रूप से स्थित होने के कारण सूर्य को "मार्तण्ड" तथा

हिरण्मय (ज्योतिर्मय) ब्रह्माण्ड से प्रकट होने के कारण "हिरण्यगर्भ" कहा गया है ("मृते-अण्ड एष एतस्मिन् यदभूत्ततो मार्तण्ड इति व्यपदेशः। हिरण्यगर्भ इति यद्धिरण्याण्ड समुद्भवः।"- 5.20.44)। आकाश एवं भूमि में दिन व रात्रि करने एवं ग्रहों को प्रकाशित करने के कारण "आदित्य" (1.14.12) कहा गया है। भास्कर (3.29.5) का अर्थ चमकीला से है क्यों कि इसकी प्रकृति प्रकाशित करने की है। सविता (4.31.16) से आशय किरणों के फेंकने से है। पूषा (12.11.39) का तात्पर्य सबका पोषक है। सूर्य को सहस्र रश्मि भी कहा गया है। दिन का हेतु सूर्य है इसीलिये इसे दिवाकर (4.12.25) तथा समय का विभाजन सूर्य से होने के कारण इसे "कालरूपधृक्" (12.11.32) कहा गया है।

सूर्य सौर्य परिवार के सदस्यों के साथ अपनी कक्षा पर परिक्रमा करता है (4.12.25) तथा ग्रह, तारों एवं चन्द्रमा की गतिविधियों पर नियन्त्रण रखता है। वेदों का प्रतिपाद्य विवेच्य विषय धर्म है। यज्ञ धर्म का स्वरूप है जो समय के आधीन है। समय का विधायक (व्यवहार-व्यवस्था-नियामक) ज्योतिष शास्त्र है और यह ज्योतिष शास्त्र सूर्य के आधीन है। सूर्य को ही विश्व की सृष्टि, स्थिति एवं संहार का मूल कहा गया है। सूर्य स्वयं प्रकाशित पिण्ड है (8.24.50) तथा अन्य ग्रह एवं उपग्रह सूर्य के द्वारा ही प्रकाशित हैं (5.1.30, 5.21.3)। ऊष्मा प्रदान करने और जाज्वल्यमान पिण्डों में सूर्य को सर्वश्रेष्ठ बतलाया गया है (11.16.17)। सूर्य प्रातः काल उदयाचल में उदित होता है, मध्याह्न में लम्बवत् होता है तथा सायंकाल अस्ताचल में अस्त होता है (8.10.25,8.18.6, 10.38.24)। प्रकाशमान सूर्य से किरणें बार-बार निकलती एवं लीन होती रहती हैं (8.3.23)। सूर्य प्रभा के ह्रास (1.14.17) तथा वृद्धि (11.3.9) के साथ सूर्य की उच्चतम्, निम्नतम्, एवं समान स्थितियों (उत्तरायन्, दक्षिणायन् एवं वैषुवत्) का भी उल्लेख है (5.21.3) जिससे स्पष्ट होता है कि प्रकाश, विकरण एवं मौसमी गतिविधियों के अनुसार ऊष्मा का परिवर्तन किस प्रकार होता है।

सूर्य के सप्त अश्व (5.21.15 तथा शुक्ल, 1984,23) क्रमशः विविध रंगों के सात किरणों को प्रदर्शित करते हैं। ये किरणें रक्त, रक्तपीत, पीत, हरित, नीला, गहरानीला एवं बैगनी रंग के हैं। प्राचीन साहित्य में इन सप्त रश्मियों के नाम क्रमशः सुषुम्णा, सुरादना,

उदन्वसु, विश्वकर्मा, उदावसु, विश्वव्यचा एवं हरिकेश बतलाये गये हैं §वीतराग स्वामी नाराय-णाश्रम ,1979,48§। ये रश्मियाँ विभिन्न ग्रहों से सम्बन्धित हैं जो भिन्न-भिन्न कार्यों का प्रतिपादन करती हैं तथा ग्रह-नक्षत्र मण्डल की प्रतिष्ठा मानी गयी हैं।

भागवतपुराण में सूर्य के चतुर्दिक मण्डल निर्माण एवं सूर्यप्रभा के मन्द होने का उल्लेख है §1·14·15,17§। रामायण §6·23·9§ में सूर्य धब्बों का भी उल्लेख है। ये तथ्य अशुभकारी माने गये हैं तथा विविध प्रकार के अनिष्टों यथा- दुर्भिक्ष, महामारियों एवं उपद्रवों की भविष्यवाणी करते हैं और भूतलवासियों को प्रभावित करते हैं §1·14·10-24,3·17·8§।

भागवतपुराण में विविध मासों के लिये बारह आदित्यों की गणना की गयी है तथा उनके साथ ऋषि, गन्धर्व, नाग, अप्सरा, यक्ष और राक्षस का भी उल्लेख है जो सूर्य के छः गण कहलाते हैं। कालरूपधारी सूर्य लोकों का व्यवहार ठीक-ठीक चलाने के लिये भिन्न-भिन्न बारह महीनों में अपने विविध गणों के साथ परिक्रमा करते हैं तथा भिन्न-भिन्न मासों में विविध कार्यों का सम्पादन करते हैं §12·11·27-32§। भागवतपुराण §12·11·33-44§ के अनुसार इनका चक्रानुरूप तालिकाबद्ध स्वरूप निम्न प्रकार से है -

तालिका 1·2

द्वादश आदित्य

माह	आदित्य	ऋषि	अप्सरा	नाग	यक्ष	राक्षस्	गन्धर्व
चैत्र§मधु§	धाता	पुलस्त्य	कृतस्थली	वासुकि	रथकृत	हेति	तुम्बुरु
बैशाख§माधव§	अर्यमा	पुलह	पुंजिकस्थली	कच्छनीर	अथौजा	प्रहेति	नारद
ज्येष्ठ§शुक्र§	मित्र	अत्रि	मेनका	तक्षक	रथस्वन	पौरुषेय	हहा
आषाढ़§शुचि§	वरुण	वशिष्ठ	रम्भा	शुक्र	सहजन्य	चित्रस्वन	हुहू
श्रावण§नभः§	इन्द्र	अंगिरा	प्रम्लोचा	एलापत्र	श्रोता	वर्य	विश्वावसु
भाद्रपद§नभस्य§	विवस्वान्	भृगु	अनुम्लोचा	शंखपाल	आसारण	व्याघ्र	उग्रसेन

आश्विन {इष}	त्वष्टा	जमदग्नि	तिलोत्तमा	कम्बल	शतजित्	ब्रह्मापेत	धृतराष्ट्र
कार्तिक {ऊर्ज}	विष्णु	विश्वामित्र	रम्भा	अश्वतर	सत्यजित्	मखापेत	सूर्यवर्चा
मार्गशीर्ष {सह}	अंशु	कश्यप	उर्वशी	महाशंख	ताक्ष्र्य	विद्युच्छत्रु	ऋतसेन
पौष {पुष्य}	भग	आयु	पूर्वचित्ति	कर्कोटक	ऊर्ण	स्फूर्ज	अरिष्टनेमि
माघ {तपस्}	पूषा	गौतम	घृताची	धनंजय	सुरुचि	वात	सुषेण
फाल्गुन {तपस्य}	पर्जन्य	भरद्वाज	सेनजित्	ऐरावत	क्रतु	वर्चा	विश्व

सूर्य सम्बन्धी उपरोक्त तथ्य बहुत महत्वपूर्ण हैं। आदित्य, ऋषि, अप्सरा, यक्ष, राक्षस और गन्धर्व ये सात आयामी शक्तियों के प्रतीक हैं जो कि प्रत्येक महीने में परिवर्तित होते रहते हैं। आदित्य, ऋषि एवं गन्धर्व से वैज्ञानिक अर्थ में आशय एक्स किरणों की रासायनिक संरचना को निर्धारित करने की क्रिया शील प्रक्रिया से है। सर्प, यक्ष एवं राक्षस् ऊष्मा को प्रदर्शित करते हैं। अप्सरायें सूर्य की वायव्य गति को प्रदर्शित करती हैं। उपरोक्त सप्त स्तरीय देवी देवता अपनी उपस्थिति से विविध मासों में ऊष्मा, शीत एवं वर्षा को प्रभावित करते हैं।

सूर्य के अतिरिक्त अन्य निम्नलिखित ग्रहों की विशेषताओं का वर्णन भागवत पुराण में मिलता है -

बुध - यह सौर परिवार का सबसे छोटा ग्रह है। यह शुक्र से दो लाख योजन के अन्तर पर ऊपर की ओर स्थित है {5.22.13} अर्थात् पृथ्वी से 9 लाख या सूर्य से 8 लाख योजन की दूरी पर स्थित है {पृथ्वी से सूर्य की दूरी एक लाख योजन है, सूर्य से चन्द्र एक लाख योजन, चन्द्र से नक्षत्र 3 लाख योजन, नक्षत्रों से उशना 2 लाख योजन, उशना से बुध 2 लाख योजन, बुध से मंगल 2 लाख, मंगल से बृहस्पति 2 लाख तथा बृहस्पति से शनि 3 लाख योजन की दूरी पर क्रमशः ऊपर की ओर स्थित है- 5.22.9-15, अतः क्रमानुसार परिगणन के आधार पर पृथ्वी से बुध की दूरी 9 लाख तथा सूर्य से बुध की दूरी 8 लाख योजन होगी}। इसकी उत्पत्ति चन्द्रमा व तारा के संयोग से मानी गयी है {5.22.13 तथा 9.14.4-14}। यह प्रायः मंगल कारी होता है किन्तु जब सूर्य की गति का उल्लंघन करके चलता है तब अतिवात {आँधी}, मेघ एवं अनावृष्टि के भय की सूचना देता है {5.22.13}।

उशना (शुक्र) - इसकी स्थिति नक्षत्रों से ऊपर दो लाख योजन के अन्तर पर बतलाई गयी है (5·22·12), अर्थात् पृथ्वी से शुक्र की दूरी 7 लाख योजन तथा सूर्य से 6 लाख योजन होगी। यह सूर्य की तीव्र, मन्द एवं समान गतियों के अनुसार सूर्य के अग्र, पश्च एवं सम स्थिति में रहकर परिक्रमा करता है। यह अनावृष्टि कारक ग्रहों को शान्त करने वाला, वर्षा प्रदायक ग्रह है जो भूतल वासियों के लिये प्रायः शुभकारी एवं अनुकूल होता है (5·22·12)।

अंगारक (मंगल) - बुध से दो लाख योजन के अन्तर पर ऊपर की ओर मंगल की स्थिति है अर्थात् पृथ्वी से मंगल की दूरी 11 लाख योजन व सूर्य से 10 लाख योजन होगी। यह यह वक्र गति से परिक्रमण न करे तो एक-एक राशि को तीन-तीन पक्ष में भोगता हुआ बारह राशियों को पार करता है अर्थात् इसका परिक्रमण समय एक वर्ष छः माह है । यह अशुभ ग्रह है और प्रायः अमंगल की सूचना देता है (5·22·14)।

बृहस्पति - मंगल से दो लाख योजन के अन्तर पर ऊपर की ओर बृहस्पति की स्थिति है अर्थात् पृथ्वी से इसकी दूरी 13 लाख योजन व सूर्य से 12 लाख योजन होगी। यह यदि वक्र गति से परिक्रमण न करे तो एक-एक राशि को एक-एक वर्ष में पार करता है (5·22·15) अर्थात् 12 वर्षों में यह सूर्य की परिक्रमा पूर्ण करता है। यह गौरव की बात है कि प्राचीन भारतीयों का यह आकलन वर्तमान वैज्ञानिक गणनाओं से पूर्णतः साम्य रखता है। वर्तमान परिकलन के अनुसार भी बृहस्पति का परिक्रमण काल 12 वर्ष है। यह भूतलवासी ब्राह्मणों के लिये विशेष अनुकूल माना गया है।

शनि - बृहस्पति से दो लाख योजन ऊपर शनि की स्थिति मानी गयी है अर्थात् पृथ्वी से 15 लाख योजन व सूर्य से 14 लाख योजन की दूरी पर यह स्थित है। यह 30 माह में एक राशि पार करता है (5·22·16) अर्थात् इसका परिक्रमण समय 30 वर्ष है। यह तथ्य भी वर्तमान वैज्ञानिक गणनाओं से साम्य रखता है। वर्तमान में शनि का परिक्रमण काल 29,1/2 वर्ष आकलित किया गया है। यह प्रायः भूतलवासियों के लिये अशान्ति कारक माना गया है।

ध्यातव्य है कि भागवतपुरण में विविध ग्रहों की दूरियों का आकलन सूर्य को केन्द्र

न मानकर पृथ्वी को केन्द्र मानकर किया गया है। विविध पुराणों में सूर्य से पृथ्वी की दूरी एक लाख योजन बतलायी गयी है (दुबे, 1967, 15)। ग्रहों के उपरोक्त वर्णन तथा अन्यत्र प्राप्त सन्दर्भों के आधार पर पृथ्वी या सूर्य से विभिन्न ग्रहों की दूरियाँ तथा उनके परिक्रमण समय को निम्न तालिकाबद्ध रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है -

तालिका - 1.3

पृथ्वी या सूर्य से विविध ग्रहों की दूरी

ग्रह	पृथ्वी से दूरी (योजन में)	सूर्य से दूरी (योजन में)
पृथ्वी	केन्द्र	1 लाख
सूर्य	1 लाख	केन्द्र
चन्द्रमा	2 लाख	1 लाख
नक्षत्र	5 लाख	4 लाख
शुक्र	7 लाख	6 लाख
बुध	9 लाख	8 लाख
मंगल	11 लाख	10 लाख
बृहस्पति	13 लाख	12 लाख
शनि	15 लाख	14 लाख
सप्तर्षि	26 लाख	25 लाख
ध्रुव	39 लाख	38 लाख

तालिका 1·4

सूर्य से विविध ग्रहों की दूरी व परिक्रमण समय

ग्रह	दूरी		परिक्रमण समय	
	भागवत पुराण के अनुसार दूरी (किमी0)	वर्तमान वैज्ञानिक गणितीय दूरी (किमी0 में)	भागवत पुराण के अनुसार	वर्तमान वैज्ञानिक परिगणन के अनुसार
बुध	102·998068 लाख	529·24 लाख	—	88 दिन
शुक्र	77·248656 लाख	1078·03 लाख	लगभग एक वर्ष	224,1/2 दिन
पृथ्वी	12·874778 लाख	1488·00 लाख	360 दिन	365/366 दिन
मंगल	128·747760 लाख	266·63 लाख	1 वर्ष 6 माह	2 वर्ष 22 दिन
बृहस्पति	154·497298 लाख	77721·47 लाख	12 वर्ष	12 वर्ष
शनि	180·246864 लाख	1385349·00 लाख	30 वर्ष	29,1/2 वर्ष

उपरोक्त ग्रहों के अतिरिक्त राहु की गणना भी ग्रहों में की गयी है (6·6·37, 8·9·26), किन्तु अन्यत्र यह भी उल्लेख है कि राहु आकाशीय पिण्ड या ग्रह नहीं है (4·29·69)। यद्यपि सूर्य एवं चन्द्रमा को भी ग्रह माना गया है परन्तु सूर्य ग्रह न होकर एक प्रकाशमान तारा है तथा चन्द्रमा पृथ्वी का एक उपग्रह है।

ग्रहों की अनुदिश तथा प्रतिदिश (अग्रगमन व पश्च गमन) अर्थात् वक्र गतियों का भी उल्लेख मिलता है (3·17·14, 5·22·14-15)। वर्तमान में भी ग्रहों की वक्र गति अर्थात् अनुदिश एवं प्रतिदिश गतियों का प्रेक्षण किया गया है। उदाहरण के लिये सन् 1956 में लगभग 5 जुलाई से 9 अक्टूबर तक मंगल की गति वक्र थी (प्रसाद, 1974, 72)।

नक्षत्रों एवं तारों के मध्य कौन ग्रह कहाँ स्थित है, इसका भी ज्ञान तत्कालीन भारतीयों को थी (5·22, 5·23, 7·14·20-24, 8·18·5, 12·2·24)। आकाश में ग्रहों का

परस्पर संयोजन, टकराने तथा टूटकर गिरने के भी उल्लेख मिलते हैं §1·14·17, 3·17·14, 7·3·5§।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि पौराणिक काल में भारतीयों को ग्रहों की सापेक्ष स्थिति एवं गति का अच्छा ज्ञान था। स्पष्टतः प्राचीन काल में ग्रहों की स्थितियों का निरन्तर प्रेक्षण किया जाता था।

3- चन्द्रमा-उत्पत्ति,स्थिति एवं गति,कलायें तथा ग्रहण-

आकाशीय पिण्डों में चन्द्रमा सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं आकर्षण का केन्द्र है। आकाश में कभी यह अर्द्ध चापाकार, कभी पूर्ण चमकीला, कभी हँसिये के आकार का तथा कभी अर्द्ध चमकीले रूप में दृष्टिगोचर होता है। भागवतपुराण में चन्द्रमा के लिये कई पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग मिलता है यथा - उडुप, इन्दु, निशाकर, उडुराज, शशि, उडुपति, राकापति, रजनीकर, सोम, चन्द्र, ज्योतिषांपति, राकेश, शशांक, सोमराज, उडुराट् आदि।

चन्द्रमा की उत्पत्ति -

शतपथ ब्राह्मण §6·1·24 उद्धृत- दुबे, 1967,22§ में चन्द्रमा की उत्पत्ति प्रजापति अण्ड से मानी गयी है जो ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति का प्रमुख स्रोत है। भागवत पुराण §9·14·2-3§ में उल्लेख है कि विराट् पुरुष नारायण की नाभि सरोवर के कमल से ब्रह्मा, ब्रह्मा से अत्रि तथा अत्रि के नेत्रों से चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई। अन्यत्र स्पष्ट कहा गया है कि ब्रह्मा जी के अंश से चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई है §4·1·33§। इन तथ्यों के आधार पर चन्द्रमा की उत्पत्ति ब्रह्माण्डोत्पत्ति क्रम से मानी जा सकती है।

उपरोक्त के अतिरिक्त चन्द्रमा की उत्पत्ति को पृथ्वी से भी सम्बन्धित किया गया है। भागवतपुराण के अनुसार चन्द्रमा का निवास कभी समुद्र में था §3·2·8§। रामायण §7·23·22§ के अनुसार समुद्र मंथन के समय क्षीर सागर से चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई। चन्द्रमा का एक पर्यायवाची "अब्ज" भी है जिसका अर्थ "जल से उत्पन्न" है §शुक्ल,1984,

26§। इन उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि चन्द्रमा की उत्पत्ति पृथ्वी से हुई है तथा यह पृथ्वी के जल भाग §महासागर§ से सम्बन्धित है। वर्तमान वैज्ञानिकों का भी अनुमान है कि चन्द्र पृथ्वी से उद्भूत है और उसके कारण जो गर्त बना, उसमें पानी भरने से ही प्रशान्त महासागर का निर्माण हुआ §शर्मा,1983,459§।

चन्द्रमा की स्थिति एवं गति -

सूर्य की किरणों से एक लाख योजन ऊपर चन्द्रमा की स्थिति मानी गयी है। इसकी गति अत्यन्त तीव्र है जिससे वह सभी नक्षत्रों से आगे रहता है। वह सूर्य के एक वर्ष के मार्ग को एक मास में, एक मास के मार्ग में सवा दो दिन में और एक पक्ष के मार्ग को एक ही दिन में पूर्ण कर लेता है तथा तीस-तीस मुहूर्तो में एक-एक नक्षत्र को पार करता है §5·22·8-9§। स्पष्ट है कि चन्द्रमा पृथ्वी की परिक्रमा करता है और उसकी परिक्रमा की अवधि एक माह या दो पक्ष है। चन्द्रमा की परिक्रमा के अनुसार आकलित मास को चान्द्रमास कहा जाता है तथा नक्षत्र मान §नक्षत्रों को पार करने के समय§ के अनुसार 27 या 28 दिन का चान्द्रमास होगा क्यों कि भागवतपुराण में कहीं 27 तो कहीं 28 नक्षत्रों का उल्लेख है पर सामान्यतः चान्द्रमास दो पक्ष §30 दिन§ का माना गया है। कभी-कभी दिन क्षय §4·12·49§ आदि के द्वारा पक्ष में दिनों की संख्या 15 से कम हो जाने पर चान्द्रमास 30 दिन से कम भी हो सकता है। वर्तमान में चन्द्रमा का परिक्रमण समय 29,1/2 दिन आकलित किया गया है। स्पष्ट है कि भागवतपुराण कालीन भारतीयों को चन्द्रमा की गति का भली भाँति ज्ञान था।

चन्द्रकलायें -

भागवतपुराण कालीन भारतीयों को चन्द्रकलाओं एवं इनके रहस्यों का भली भाँति ज्ञान था। उल्लेखनीय है कि सूर्य के सापेक्ष विभिन्न स्थितियों के कारण चन्द्रमा का कुछ ही भाग दृष्टव्य होता है, शेष अदृश्य रहता है। यह कभी हंसिये के आकार, कभी अर्द्धवृत्ताकार तथा कभी वृत्ताकार रूप में प्रकाशित दृष्टिगोचर होता है। मास में एक बार अमावस्या के दिन पूर्णतः अदृश्य रहता है और तकनीकी दृष्टि से यह परिवर्तन ही चन्द्रकला के नाम से

जाना जाता है। विभिन्न प्रकार की ये चन्द्रकलायें सूर्य, पृथ्वी और चन्द्रमा की सापेक्ष स्थितियों पर निर्भर होती है।

भागवतपुराण में वर्णित चन्द्रकला के आधार पर मास में दो पक्ष (शुक्ल पक्ष व कृष्ण पक्ष) होते हैं। शुक्ल पक्ष में अमावस्या के पश्चात् दूसरे दिन से चन्द्रकला में वृद्धि होने लगती है। वर्द्धमान चन्द्रमा सप्तमी तक अर्द्ध व पूर्णिमा को पूर्णाकार में दृष्टिगोचर होता है (1·12·31, 10·65·18), तत्पश्चात् कृष्णपक्ष प्रारम्भ होता है जिसमें चन्द्रकला की ह्रासमान स्थिति होती है (6·6·23-24, 10·54·47) तथा चतुर्दश दिवस के पश्चात् अमावस्या को चन्द्रमा अदृश्य हो जाता है (4·29·72)। चन्द्रमा की सोलह कलायें मानी गयी हैं (5·22·10)। शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से लेकर चर्तुदशी तक वर्द्धमान चतुर्दश कलायें तथा कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी से लेकर प्रतिपदा तक की विपरीत क्रम की क्षयमाण चतुर्दश कलायें समानता रखती हैं। स्पष्टतः ये चतुर्दश कलायें हुई जिसमें पूर्णिमा और अमावस्या की कलाओं को सम्मिलित कर इनकी संख्या सोलह हो जाती है। इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि तत्कालीन भारतीयों द्वारा वर्णित चन्द्र कलायें वर्तमान विज्ञान से साम्यता रखती हैं। स्पष्टतः अन्य आकाशीय पिण्डों की तुलना में चन्द्रमा को अधिक महत्व दिया गया है तथा इसके खगोलिय वेध भी अधिक सूक्ष्मता से किये गये हैं।

ग्रहण -

ग्रहण आकाशीय अद्‌भुत चमत्कृति का अनोखा दृश्य है। इससे अश्रुतपूर्व, अद्‌भुत ज्योतिष्क ज्ञान और ग्रहों, उपग्रहों की गतिविधि एवं स्वरूप का परिस्फुट परिचय प्राप्त हुआ है। ग्रहों की दुनियाँ की यह घटना भारतीय मनीषियों को अत्यन्त प्राचीन काल से ही अभिज्ञात रही है और इस पर धार्मिक तथा वैज्ञानिक विवेचन धार्मिक और ज्योतिष ग्रंथों में होता चला आया है। वर्तमान में गणित के बल पर ग्रहण का पूर्ण पर्यविक्षण प्रायः पर्यवसित हो चुका है।

आकाशीय तेजस्वी ज्योतिष्क पिण्डों के सामने जब कोई अप्रकाशित अपारदर्शक पदार्थ (पिण्ड) आ जाता है तब उस तेजस्वी ज्योतिष्क पिण्ड का प्रकाश उस अपारदर्शक पदार्थ भाग

के कारण तिरोहित हो जाता है और दूसरे पार वाले के लिये छाया बन जाती है। यही छाया ग्रहण कहलाती है।

भागवतपुराण में ग्रहण की स्थिति को "उपराग" कहा गया है जिसका सम्बन्ध "राहु" नामक असुर से बतलाया गया है §5·24·1-3,7·14·20,10·82·1, 10·84·33§। राहु को "स्वर्भानु" भी कहा गया है जो पर्व §अमावस्या एवं पूर्णिमा§ के दिन सूर्य एवं चन्द्रमा को ग्रसता है §5·24·1-2,8·9·24-26§ अर्थात् अमावस्या एवं पूर्णमासी को ही ग्रहण लगता है। पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है कि राहु की गणना ग्रहों में की गयी है। यह सूर्य से 10 हजार योजनान्तर पर अधः स्थित होकर नक्षत्रों के साथ परिक्रमण करता है §5·24·1§ परन्तु यह भी वर्णित है कि आकाशमण्डल के नक्षत्रों में राहु दृश्यमान नहीं है। यह केवल प्रकाशात्मक पिण्डों §सूर्यादि§ के संसर्ग से ही दृश्यमान होता है §4·29·69§। स्पष्टतः राहु के ग्रह न होने का ज्ञान तत्कालीन भारतीयों को था पर सम्भवतया ग्रहों के समान गतिशील होने के कारण इसे ग्रह की संज्ञा दे दी गयी ।

भागवतपुराण में राहु के साथ केतु का भी उल्लेख मिलता है §6·6·37§। ज्योतिष विज्ञान के अनुसार राहु व केतु कोई असुर नहीं हैं। इनका वैज्ञानिक अर्थ है। आकाश में उत्तर की ओर अग्रसर चन्द्रमार्ग जब रविमार्ग को काटता है तब उस सम्पात बिन्दु को "राहु" तथा दक्षिण की ओर नीचे उतरते हुए जब चन्द्रमार्ग रविमार्ग को काटता है तब उस सम्पात बिन्दु को "केतु" कहते हैं। इन स्थितियों को "आरोहपात" एवं "अवरोहपात" भी कहा जाता है §प्रसाद, 1974, 22-23, जालान, 1979,374§।

ग्रहण के प्रकार -

ग्रहण दो प्रकार के होते हैं - चन्द्रग्रहण एवं सूर्यग्रहण, जो पर्व §पूर्णिमा एवं अमावस्या§ के समय लगा करते हैं §5·24·2,7·14·20§।

§क§ सूर्यग्रहण -

चन्द्रमा पृथ्वी का उपग्रह है और अपार दर्शक है जो स्वतः प्रकाशक न

होने के कारण अप्रकाशिक पिण्ड है। वह अपने अण्डाकार भ्रमण पथ पर घूर्णन करते हुए पृथ्वी की परिक्रमा के साथ ही सूर्य की भी परिक्रमा करता है तथा कभी वह पृथ्वी के समीप और कभी दूर रहता है। अपने परिक्रमण कक्ष पर भ्रमण करता हुआ चन्द्रमा अमावस्या के दिन सूर्य और पृथ्वी के मध्य क्रान्ति-वृत्त-तल पर आ जाता है तथा सूर्य के प्रकाश को आच्छादित कर लेता है। इसे "सूर्योपराग" कहते हैं §10·84·33§। उल्लेखनीय है कि सूर्यग्रहण प्रत्येक अमावस्या को नहीं लगता है।

जब चन्द्रमा पृथ्वी के समीप हो तथा राहु या केतु बिन्दु पर हो तब उसकी छाया पृथ्वी पर पड़ती है। पृथ्वी के समीप में स्थित होने के कारण उसका बिम्ब विस्तृत होता है जिससे भूतलवासियो के लिए सूर्य पूर्णतः आच्छादित हो जाता है। इस स्थिति को पूर्ण सूर्यग्रहण कहते हैं। उस समय चन्द्रमा का अप्रकाशित भाग पृथ्वी की ओर होता है तथा उसकी प्रच्छाया §घनी छाया§ एवं उपच्छाया §विरल छाया§ पृथ्वी पर पड़ती है। सूर्य पृथ्वी के जितने भाग पर प्रच्छाया रहने से दृष्टिगोचर नहीं होता उतने भाग पर सर्वग्रास §खग्रास§ सूर्यग्रहण होता है और जिस भाग पर उपच्छाया पड़ती है उस भाग पर सूर्य का खण्डग्रास होता है। तात्पर्य यह है कि जब सूर्य, चन्द्र एवं पृथ्वी एक सीध में नहीं होते अर्थात् चन्द्र ठीक राहु या केतु बिन्दु पर न होकर कुछ उच्च या निम्न स्थिति में होता है तब सूर्य का खण्ड ग्रहण होता है तथा चन्द्रमा जब दूर होता है तो वह छोटा दिखायी देता है और उसके बिम्ब के छोटा होने से सूर्य का मध्य भाग ही ढ़कता है जिससे चारों ओर कंकणाकार सूर्य प्रकाश दिखलायी पड़ता है। इस प्रकार के ग्रहण को कंकणाकार या वलयाकार सूर्यग्रहण कहते हैं। निदान सूर्यग्रहण के मुख्यतः तीन प्रकार होते हैं :-

1- <u>सर्वग्रास सूर्यग्रहण</u> - जो सम्पूर्ण सूर्य बिम्ब को ढ़कने वाला होता है। यह तभी होता हे जब अमावस्या हो, चन्द्रमा राहु या केतु बिन्दु पर हो तथा पृथ्वी समीप हो।

2- <u>वलयाकार सूर्यग्रहण</u> - जो सूर्य बिम्ब के मध्य का भाग आच्छादित करता है । यह तभी होता है जब अमावस्या हो, चन्द्रमा राहु या केतु बिन्दु पर हो तथा चन्द्रमा पृथ्वी से दूर हो।

3- <u>खण्डग्रास सूर्यग्रहण</u> - जो सूर्य बिम्ब के अंश को ही आच्छादित करता है। यह तभी होता है जब अमावस्या हो, चन्द्रमा राहु या केतु बिन्दु पर न होकर इनमें से किसी एक के समीप हो।

भागवतपुराण में एक विशिष्ट सूर्यग्रहण का उल्लेख है जो कल्प क्षय के समय लगा करता है (10·82·1)। इसका अर्थ विद्वानों ने सर्वग्रास सूर्य ग्रहण से लगाया है। इससे यह प्रमाणित होता है कि तत्कालीन भारतीयों को भिन्न-भिन्न प्रकार के सूर्य ग्रहणों का ज्ञान था।

(ख) चन्द्र ग्रहण -

चन्द्रग्रहण पूर्णिमा को होता हे परन्तु प्रत्येक पूर्णिमा को नहीं होता है। जब पृथ्वी, सूर्य और चन्द्रमा के मध्य में आ जाती है तथा तीनों क्रान्ति-वृत्त-तल में होते हैं और चन्द्रमा पृथ्वी की छाया में होकर अग्रसर होता है तब चन्द्रग्रहण होता है। पृथ्वी की वह छाया चन्द्रमण्डल को आच्छादित कर लेती है जिससे चन्द्रमा में काला मण्डल दृष्टिगोचर होता है, वही चन्द्र ग्रहण कहा जाता है।

सूर्य का बिम्ब अत्यधिक विस्तृत होने तथा पृथ्वी का लघु होने के कारण पृथ्वी की छाया काले ठोस शंकु के समान सूच्याकार होती है और चन्द्रकक्षा को पार कर बहुत दूर तक निकल जाती है। आकाश में विस्तृत पृथ्वी की यह छाया लगभग 8,57,000 मील लम्बी होती है। इसकी लम्बाई पृथ्वी और सूर्य के बीच की दूरी पर निर्भर करती है क्यों कि पृथ्वी अपने परिक्रमण कक्षा में एक बार दूर जाती है तथा एक बार समीप आती है अतः वह छाया घटती बढ़ती रहती है। इसलिये यह छाया कभी 8,71,000 मील और कभी केवल 8,43,000 मील लम्बी होती है। शंकु सदृश इस प्रच्छाया के साथ ही शंकु के आकार वाली उपच्छाया रहती है। चन्द्रमा अपने भ्रमण पथ पर चलते हुए जब पृथ्वी की उपच्छाया में पहुँचता है तब विशेष परिवर्तन दृष्टिगोचर नहीं होता है परन्तु ज्यों ही प्रच्छाया के समीप आता है त्यों ही उसके कुछ भाग पर ग्रहण प्रतीत होने लगता है जिसे खण्डग्रास चन्द्रग्रहण कहते हैं। जब उसका सम्पूर्ण मण्डल प्रच्छाया के अन्दर आ जाता है तब पूर्णग्रास चन्द्रग्रहण लग जाता है।

उल्लेखनीय है कि पृथ्वी की जो शंकु के आकार की लम्बी प्रच्छाया है उसी के अन्दर

चन्द्रमा के आने से ग्रहण लगता है। इस प्रच्छाया को भागवत पुराण में वर्णित "राहु" माना जा सकता है। वर्तमान वैज्ञानिकों के अनुसार पृथ्वी की इस प्रच्छाया की लम्बाई लगभग 8,57,000 मील है तथा भागवत पुराण में राहु का विस्तार 1300 योजन §10400 मील§ बतलाया गया है §5·24·2§ जो पृथ्वी की प्रच्छाया की लम्बाई को इंगित करता है।

ग्रहण काल की अवधि –

ग्रहणकाल की अवधि चन्द्रमा और पृथ्वी की दूरी के ऊपर निर्भर है। कभी पृथ्वी की छाया उस स्थल पर चन्द्रमा के व्यास से तिगुनी से भी अधिक हो सकती है जहाँ चन्द्रमा उसे पार करता है। छाया की चौड़ाई इस स्थान पर जितनी अधिक होगी उतनी ही अधिक अवधि तक चन्द्रग्रहण रहता है। पूर्ण चन्द्रग्रहण की अवधि प्रायः दोघण्टे तक और ग्रहण का सम्पूर्ण समय 4 घण्टे तक का हो सकता है। खग्रास सूर्यग्रहण दो घण्टे तक का होता है परन्तु पूरा सूर्य मण्डल 8-10 मिनट तक ही आवृत्त रहता है। भागवत पुराण में ग्रहण की अवधि मात्र मुहूर्त्त §48 मिनट§ बतलायी गयी है §5·24·3§।

खगोल शास्त्रियों ने गणित के द्वारा यह निश्चित किया है कि एक वर्ष में 5 सूर्य-ग्रहण तथा 2 चन्द्रग्रहण तक होते हैं। यदि किसी वर्ष दो ही ग्रहण हुए तो दोनों ही सूर्य ग्रहण होंगे। यद्यपि वर्ष में 7 ग्रहण सम्भाव्य हैं परन्तु चार से अधिक ग्रहण कम देखने में आता है §जालान, 1979,378§।

ध्यातव्य है कि पौराणिक काल में ज्योतिष विज्ञान का इतना अधिक विकास हो चुका था कि भविष्य में होने वाले विभिन्न ग्रहणों के समय का ठीक-ठीक आकलन किया जाने लगा था §10·82·2§।

ग्रहण के प्रभाव व धार्मिक कृत्य –

ग्रहणों का निरन्तर उपस्थित होना एक चक्रीय अवस्था है एवं प्राचीन खगोलज्ञों

द्वारा यह माना गया है कि इनसे दुर्भिक्ष, अकाल एवं विपत्तियाँ आती हैं §3·17·2-14§, अतः तत्कालीन भारतीय ग्रहण के अवसर पर स्नान, उपवास, दानादि विविध धार्मिक कृत्य करते थे §10·82·2-12§। वर्तमान में भी भारत के विभिन्न भागों में ग्रहण के अवसर पर विभिन्न धार्मिक कृत्य किये जाते हैं तथा ग्रहण काल में उपवास आदि रखने का वैज्ञानिक आधार भी प्रदान किया गया है।

उल्का एवं धूमकेतु -

रात्रि को प्रायः आकाश में तारे टूटते हुए दृष्टिगोचर होते हैं इन्हीं को उल्कायें या टूटते तारे कहते हैं किन्तु वास्तव में उल्काओं का तारों से कोई सम्बन्ध नहीं होता है। वैज्ञानिकों ने अनेक अवलोकनों के बाद यह स्पष्ट कर दिया है कि सौर मण्डल में ग्रहों तथा उपग्रहों की भांति असंख्य छोटे-छोटे ठोस आकाशीय पिण्ड पाये जाते हैं जो ग्रहों की भाँति ही आकर्षण पथों का अनुसरण करते हुए विचरण करते रहते हैं। इसीलिये अन्य पिण्डों की भांति इन्हें भी सौर मण्डल का अंग माना गया है। जब कभी पृथ्वी इन पिण्डों में से किसी पिण्ड के समीप आ जाती है या वह पिण्ड पृथ्वी के समीप आ जाता है तो वह पृथ्वी की आकर्षण शक्ति के कारण उसकी और आकर्षित हो जाता है, उसका वेग तब इतना अधिक बढ़ जाता है कि वायु के संघर्ष से उसकी सतह तप्त हो जाती है। गर्म हो जाने पर उसमें से गैसें निकल पड़ती हैं जो जल उठती हैं। इन्हीं जलती हुई गैसों के कारण उल्कायें दिखलायी पड़ती हैं। भागवतपुराण में आकाश से गिरती हुई उल्काओं का उल्लेख है और इन्हें अग्नि का एक भाग कहा गया है §6·12·3, 10·74·45§। "महोल्का" §8·10·43,10·77·13§ का प्रकाश अत्यन्त तीव्र होता है और दिशायें प्रकाशमान हो उठती हैं।

धूमकेतु §पुच्छल तारे§, जिन्हें "केतु" §2·6·14,6·8·27§ कहा गया है, एक विशेष प्रकार के आकाशीय पिण्ड हैं जिनका केन्द्रक ठोस एवं गैसीय पुच्छ चमकदार होती है तथा आकाश में यदाकदा ही दृष्टिगोचर होते हैं। इन्हें विराट् स्वरूप की विभूति कहा गया है §2·6·14§ जिसका तात्पर्य यही है कि ये भी सौर मण्डल के अभिन्न अंग हैं। ये भूतलवासियों के लिये अशुभ एवं भयोत्पादक माने गये हैं §6·8·27-28§।

§स§ पृथ्वी की संकल्पना एवं सम्बन्धित तथ्य -

मानव स्वभाव से ही जिज्ञासु है। अपनी इसी प्रवृत्ति के कारण उसने धरित्री के बारे में सतत् ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न किया। सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्य तो यह है कि मानव पृथ्वी पर जन्म लेकर अपने जीवन के समस्त क्रियाकलाप पृथ्वी पर पूर्ण करता है। ऐसी दशा में जब कि मानव का पृथ्वी से घनिष्ठतम सम्बन्ध हो, उसका पृथ्वी के विषय में जिज्ञासु होना स्वाभाविक है। जैसे-जैसे मानव सभ्य होता गया वैसे-वैसे उसके भौगोलिक ज्ञान में वृद्धि होती गयी। प्रारम्भ में मानव ने सूर्य, चन्द्र एवं नक्षत्रों के बारे में ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास किया पश्चात् पृथ्वी की आकृति, आकार, विस्तार एवं विभिन्न दिशाओं की परिकल्पना की। दिन-रात्रि कैसे होते हैं ? ऋतु परिवर्तन किस प्रकार होता है? आदि प्रश्नों का हल अपनी बुद्धि द्वारा खोजने का प्रयास किया।

प्राचीन भारतीय वांगमय में भूगोल के दो प्रमुख पक्ष रहे हैं। प्रथम पृथ्वी की उत्पत्ति, आकृति एवं ग्रहों-नक्षत्रों के साथ इसके अन्तर्सम्बन्ध का आकलन तथा द्वितीय ज्ञात भूतल विशेषतया बृहत्तर भारत के सन्दर्भ में विभिन्न प्रदेशों एवं स्थानों तथा सम्बन्धित भौगोलिक तथ्यों का निरूपण। भागवतपुराण में यद्यपि सूर्य, चन्द्र, अन्य ग्रह, नक्षत्र व तारागणों के संकलित वर्णन मिलते हैं परन्तु पृथ्वी के सम्बन्ध में नहीं। यत्र-तत्र बिखरे रूप में इसकी आकृति, आकार, गति आदि के विषय में लोक कथाओं पर आधारित विवरण मिलते हैं। अतः ऐसे भौगोलिक सन्दर्भों को क्रमबद्ध रूप से संकलित कर उनकी व्याख्या करने का प्रयास किया गया है जिससे यह ज्ञात हो सके कि प्राचीन आर्य पृथ्वी एवं उससे सम्बन्धित पक्षों का कहाँ तक ज्ञान रखते थे।

भागवतपुराण में पृथ्वी के विभिन्न पर्यायवाची शब्द मिलते हैं तथा प्रत्येक शब्द पृथ्वी की भिन्न-भिन्न विशेषताओं को स्पष्ट करता है यथा-मही, उर्वी, वसुधा, क्षिति, भू, पृथिवी, रोदसी, इला, धरित्री,अवनि, पृथ्वी, क्षमा, रोधसी, भूमन्, अवनि, भुवि, भूमि, मेदिनी, जगती, गां,क्षोणी आदि। सर्वप्रथम शासक पृथु ने असमतल पृथ्वी को समतल कर विविध धान्यों का उत्पादन किया तथा पृथ्वी का दोहन कर विभिन्न वस्तुओं की प्राप्ति की और पुरग्रामादि

निवास स्थान बसाये §4·18·12-32§। अतः पृथु के नाम पर ही पृथ्वी का नामकरण पृथ्वी या पृथिवी हुआ। यह समस्त जीवों का आधार है। इसे "गोरूपं धरित्री" कहा गया है §4·17·3§ तथा इससे गाय के समान अभीष्ट वस्तुओं की प्राप्ति होने से "सर्वकामदुघा" की संज्ञा दी गयी है §4·18·28§।

1- पृथ्वी की आकृति, आकार एवं गति -

पृथ्वी की आकृति -

पृथ्वी की गोलाभ आकृति का ज्ञान प्राचीन भारतीयों को वैदिक काल से ही था §सक्सेना,1960,21-23, त्रिपाठी,1969, 31-36, तामस्कर, 1968, 93-94, दीक्षित,1975,28-29§। उस समय बलि वेदी की स्थापना भूतल के प्रारम्भ, मध्य एवं अन्त में की जाती थी §ऋ0-3·5·9,9·86·8, यजु0-23·59·61-62, उद्धृत-सक्सेना,1960,22§। यह गोलाभ की ही अवस्था में सम्भव है जिसमें किसी भी बिन्दु से उसकी गणना कर सकते हैं। भागवतपुराण में पृथ्वी की गोलाभ आकृति के विषय में यत्र-तत्र बिखरे हुए सन्दर्भ मिलते हैं यथा -

1- पृथ्वी के लिये "भूगोल" शब्द प्रयुक्त हुआ है §5·20·38,10·8·37§ जो पृथ्वी की गोलाभ आकृति को स्पष्ट करता है ।

2- सूर्य को ऋतुकर्ता माना गया है §5·22·3§। सूर्य के द्वारा ही दिन रात होते हैं§5·21·3§। सूर्य की विभिन्न स्थितियों-उदगयन, दक्षिणायन एवं विषुवों का भी उल्लेख है §5·21·3-6§। ये तथ्य पृथ्वी की गोलाभ आकृति को स्पष्ट करते हैं।

3- सूर्य में दिन रात्रि का भेद नहीं होता है §10·14·26§। उदय या अस्त के कारण सूर्य के तेज में कमी या वृद्धि नहीं होती है §10·74·4§। वह निरन्तर जागता रहता है । इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि गोलाभ पृथ्वी अपने अक्ष पर परिभ्रमण करेगी तभी यह स्थिति सम्भव हो सकेगी ।

4- पृथ्वी के विभिन्न भागों में सूर्योदय, मध्याह्न, सायंकाल तथा अर्द्धरात्रि समय-समय पर होते रहते हैं {5·21·7}। जिस पुरी में सूर्य का उदय होता है उसके ठीक विपरीत पुरी में अस्त दृष्टिगोचर होते हैं तथा जहाँ मध्याह्न होगा उसके ठीक विपरीत अर्द्धरात्रि होगी {5·21·9}। इसका अर्थ यह है कि जैसे-जैसे सूर्य आकाश में ऊपर को जाता है वैसे-वैसे पृथ्वी के कुछ भागों में रात्रि होने लगती है और कुछ भागों में दिन । इससे पृथ्वी का गोलत्व व्यक्त होता है।

5- क्षितिमण्डल {1·13·9} या भूमण्डल {9·19·23} शब्दों का उल्लेख यह प्रमाणित करता है कि पृथ्वी मण्डलाकृति अर्थात् गोल है।

स्पष्टतः उपरोक्त तथ्यों से यह प्रमाणित होता है कि भागवत पुराण कालीन भारतीयों को पृथ्वी की गोलाभ आकृति का ज्ञान था ।

पृथ्वी का आकार -

भागवत पुराण में तत्कालीन भारतीयों द्वारा पृथ्वी की परिक्रमा सम्बन्धी उल्लेख मिलते हैं {3·21·53, 4·16·20, 5·1·30} जिससे हम यह अनुमान कर सकते हैं कि प्राचीन भारतीयों को पृथ्वी का विस्तार ज्ञात करने की उत्कट अभिलाषा थी। यद्यपि उनके द्वारा की गयी यात्राओं में लोक कथाओं एवं काल्पनिक कथाओं का पुट अधिक मिलता है तथापि विविध द्वीपों, देशों एवं महासागरों के वैज्ञानिक भौगोलिक वर्णनों से महत्वपूर्ण सूचनायें प्राप्त की जा सकती हैं। भागवतपुराण में पृथ्वी का विस्तार 50 {घनफुट या त्रिघात} करोड़ योजन माना गया है {5·20·38} जिसे विद्वानों ने लगभग 1068 ट्रिलियन {महाशंख} घनफल किलोमीटर या 256 ट्रिलियन घनफल मील बतलाया है {दुबे, 1967,30}। यह तथ्य वर्तमान वैज्ञानिक आंकड़ों से साम्य रखता है। पृथ्वी के विस्तार के साथ ही भू वलय या पृथ्वी की परिधि की लम्बाई का भी उल्लेख है जो 9 करोड़ 51 लाख योजन है {5·21·19}।

पृथ्वी का गुरुत्वाकर्षण -

प्राचीन भारत में गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त का स्पष्ट उल्लेख भास्कराचार्य के

"सिद्धान्त शिरोमणि" ग्रंथ में मिलता है। वे मानते थे कि पृथ्वी गोल है तथा अपने गुरुत्वाकर्षण के कारण सभी वस्तुओं को अपनी ओर आकर्षित करती है। भागवतपुराण कालीन भारतीयों को भी गुरुत्वाकर्षण शक्ति ज्ञात थी। उल्लेख है कि प्रभावशाली भगवान् अनन्त रसातल के मूल में अपनी ही महिमा में स्थित स्वतंत्र हैं और सम्पूर्ण लोकों की स्थिति हेतु लीला से ही पृथ्वी धारण किये हुए है §5·25·13§। इससे हमें यह अर्थ जानना चाहिए कि पृथ्वी गुरुत्वाकर्षण शक्ति द्वारा बिना किसी आधार के टिकी हुई है। पाताल लोक के नीचे 30 हजार योजन की दूरी पर "अनन्त" नाम से विख्यात भगवान की तामसी नित्य कला है जो अहंकाररूपा होने से दृष्टा और दृश्य को आकर्षित कर एक में संयुक्त कर देती हैं। इसलिये इसे "संकर्षण" कहते हैं §5·25·1§। यह वर्णन गुरुत्वाकर्षण को भलीभांति स्पष्ट करता है तथा इससे यह भीस्पष्ट होता है कि तत्कालीन भारतीय गुरुत्वाकर्षण को "संकर्षण" के नाम से जानते थे।

उपरोक्त विवेचन से यह प्रमाणित होता है कि न्यूटन के कई शताब्दी पूर्व ही भारतीय वैज्ञानिकों द्वारा गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जा चुका था।

पृथ्वी का अपने अक्ष पर झुकाव -

पृथ्वी अपने अक्ष पर 23,1/2 अंश झुकी हुई है तथा इसी स्थिति में वह अपने अक्ष पर परिभ्रमण तथा कक्ष पर परिक्रमण करती है जिसके कारण दिन व रात्रि का छोटा-बड़ा होना, उत्तरायन व दक्षिणायन, ध्रुवों पर छः-छः महीने के दिन व रात्रि का होना सम्भव होता है। भागवतपुराण में ध्रुवों पर पृथ्वी के झुकाव §4·8·79§ तथा इस झुकाव के कारण उत्तरायन व दक्षिणायन स्थितियों, दिन व रात्रि का छोटा-बड़ा होना §5·21·3§ आदि का उल्लेख है। अप्रकाशमय ध्रुवीय प्रदेशों §जहाँ अक्ष के झुकाव के कारण छः माह का दिन तथा छः माह की रात्रि होती है§ के भी सन्दर्भ हैं जहाँ की भूमि सुवर्णमयी है, जो दर्पण के समान स्वच्छ है §सम्भवतः स्वच्छ एवं चमकीले हिम के कारण§ तथा इसमें गिरी हुई कोई वस्तु §हिम के कारण§ पुनः नहीं मिलती है। इसलिये वहाँ देवताओं के अतिरिक्त कोई प्राणी निवास नहीं करता है §5·20·35§।

पृथ्वी की गतियाँ -

दिन व रात्रि का कारण पृथ्वी का अक्षभ्रमण है। यह तथ्य वैदिक ग्रंथों में मिलता है। सूर्य की उत्तरायन व दक्षिणायन स्थितियों के साथ ऋतु परिवर्तन की गणना भी वैदिक काल में होने लगी थी। वैदिक काल के पश्चात् रामायण व महाभारत काल से लेकर पुराण काल तक खगोलिकी का विकास तीव्र गति से होता रहा तथा भागवतपुराण काल तक भारतीयों ने पृथ्वी के अक्षभ्रमण तथा कक्ष भ्रमण के विषय में अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था।

§क§ अक्ष भ्रमण -

दिन व रात्रि का उल्लेख §5·21·4-9§ पृथ्वी के परिभ्रमण गति को स्पष्ट करता है। एक अहोरात्र में पृथ्वी अपना परिभ्रमण पूर्ण कर लेती है। भूवलय या पृथ्वी की परिधि की लम्बाई 951 लाख योजन बतलायी गयी है तथा सूर्य इस लम्बे घेरे में से प्रत्येक क्षण दो हजार दो योजन की दूरी पार कर लेता है §5·21·19§। इसका तात्पर्य यह है कि पृथ्वी एक क्षण §1·28 सेकण्ड§ में परिधि पर 2002 योजन §16016 मील§ घूम जाती है। यद्यपि यह तथ्य वर्तमान वैज्ञानिक आँकड़ों से साम्यता नहीं रखता परन्तु इससे पृथ्वी का अक्ष भ्रमण प्रमाणित होता है।

§ख§ कक्ष भ्रमण -

वेदों तथा आरण्यक ग्रंथों में यह स्पष्ट वर्णन है कि पृथ्वी अन्तरिक्ष में सूर्य की परिक्रमा करती है §यजु0- 3·6§। भागवतपुराण में यह तथ्य अन्य प्रकार से वर्णित है। कक्ष भ्रमण के साथ अयन चलन, विषुव स्थितियों, अयनान्त, दिन व रात्रि के ह्रस्व -दीर्घ होने तथा ऋतु परिवर्तन का भी उल्लेख मिलता है जो निम्नवत् है -

1- सूर्य जितने समय में अपनी मन्द, तीव्र एवं समान गतियों से स्वर्ग और पृथ्वी मण्डल सहित सम्पूर्ण आकाश की परिक्रमा पूर्ण करते हैं उसे अवान्तर भेद से संवत्सर, परिवत्सर, इडावत्सर, अनुवत्सर अथवा वत्सर कहते हैं §"अथ च याक्न्नभोमण्डलं सह द्यावा पृथिव्योर्मण्डलाभ्यां

कार्त्स्येन सह भुंजीत तं कालं संवत्सरं परिवत्सरमिडावत्सरमनुवत्सरं वत्सरमिति भानोर्मान्द्यशैघ्य समगतिभिः समामनन्ति"- 5·22·7)। इसका तात्पर्य यह है कि पृथ्वी अपने परिक्रमण कक्ष पर जितने समय में सूर्य की एक परिक्रमा पूर्ण करती है उसे वर्ष (संवत्सर) कहते हैं।

2- आकाश में सूर्य का जितना मार्ग है, उसका आधा वे जितने समय में पार कर लेते हैं उसे "अयन" कहते हैं ("अथ च यावतार्धेन नभोवीथ्यां प्रचरति तं कालमयनमाचक्षते"- 5·22·6)। इसका तात्पर्य यह है कि पृथ्वी अपने परिक्रमण कक्ष के आधे भाग को जितने समय में पार करती है उसे "अयन" कहते हैं।

3- जितने काल में सूर्य इस संवत्सर का छठा भाग भोगते हैं, उसका वह अवयव "ऋतु" कहा जाता है ("यावता षष्ठमंशं भुंजीत स वै ऋतुरित्युपदिश्यते संवत्सरावयवः"-5·22·5)। इसका तात्पर्य यह है कि पृथ्वी जितने समय में अपने परिक्रमण मार्ग का छठा भाग पार करती है उस समय को "ऋतु" कहते हैं।

उपरोक्त के अतिरिक्त उत्तरायनादि स्थितियों तथा दिन व रात्रि के ह्रस्वदीर्घादि होने का वर्णन अत्यन्त स्पष्ट रूप में मिलता है। उल्लेख है कि सूर्य उदगयन, दक्षिणायन व विषुवत् नामावली क्रमशः मन्द, शीघ्र और समान गतियों में चलते हुए समयानुसार मकरादि राशियों में उच्च, निम्न व समान स्थानों में जाकर दिवस व रात्रि को दीर्घ, ह्रस्व व सम करते हैं (5·21·3)। इस वर्णन से कक्ष भ्रमण के साथ पृथ्वी के सौर सम्बन्धों के विषय में निम्नांकित स्थितियाँ स्पष्ट होती हैं :-

1- <u>वैषुवत्</u> - जिस तिथि को पृथ्वी पर दिन व रात्रि समान होते हैं उस स्थिति को वैषुवत् की संज्ञा दी गयी है। यह स्थिति तभी होती है जब सूर्य मेष या तुला राशि में आते हैं ("यदामेषतुलयोर्वर्तते तदाहोरात्राणि समानानि भवन्ति"- 5·21·4)। भूगोल वेत्ता जानते हैं कि प्रतिवर्ष 21 मार्च व 22 सितम्बर को ऐसे विषुव दिवस होते हैं जब दिन व रात्रि की अवधि समान होती है और सूर्य की लम्बवत् किरणें विषुवत् रेखा पर पड़ती हैं। मार्च में बसन्त विषुत होता है तथा सितम्बर में शरद् विषुव।

2- <u>उदगयन-</u> - परिक्रमण करती हुई पृथ्वी में विषुवत् रेखा के उत्तर कर्क रेखा की ओर

जब सूर्य की किरणें लम्बवत् पड़ती हैं तो उस स्थिति को उदगयन कहा जाता है। इस स्थिति में दिन बड़े तथा रात्रियाँ छोटी होती हैं। ध्यातव्य है कि आर्य उत्तरी गोलार्द्ध में निवास करते थे अतः वे दिन व रात्रि के ह्रस्व-दीर्घादि की व्याख्या उत्तरी गोलार्द्ध के सम्बन्ध में करते थे। जब सूर्य कर्क राशि में होता है तथा कर्क रेखा में सूर्य की किरणें लम्बवत् पड़ती हैं तो उसे वर्तमान में कर्क संक्रान्ति कहा जाता है।

3- दक्षिणायन - जब सूर्य विषुवत रेखा के दक्षिण मकर रेखा की ओर सीधा चमकता है तो उस स्थिति को दक्षिणायन कहा जाता है। इस स्थिति में दिन ह्रस्व तथा रात्रियाँ दीर्घ होती हैं। जब सूर्य मकर राशि में होता है और मकर रेखा में किरणें लम्बवत् पड़ती हैं तो इस स्थिति को मकर संक्रान्ति कहा जाता है।

भागवत पुराण में उल्लेख है कि जब सूर्य वृषादि पाँच राशियों में चलते हैं तो रात्रियाँ प्रतिमास एक घटिका कम होती जाती हैं तथा दिन में उसी क्रम से वृद्धि होती जाती है तथा जब वृश्चिकादि पाँच राशियों में चलते हैं तब दिन और रात्रियों में इसके विपरीत परिवर्तन होते हैं। इस प्रकार दक्षिणायन आरम्भ होने तक दिन में वृद्धि होती है तथा उत्तरायन आरम्भ होने तक रात्रियों में। मेष तथा तुला राशि में दिन रात्रि समान होते हैं (5·21·4-6)। इस तथ्य को तालिका -1·5 द्वारा भली भाँति समझा जा सकता है।

तालिका - 1·5

दिवस व रात्रि के समय में वृद्धि व ह्रास

राशियाँ	मास	सूर्य की स्थितियाँ	दिन का समय (घटिका में)	रात्रि का समय (घटिका में)	
कुम्भ	फाल्गुन	दक्षिणायन	28	32	दिन में
मीन	चैत्र	दक्षिणायन	29	31	प्रतिमास
मेष	वैशाख	बसन्त विषुव	30	30	एक घटिका
वृष	ज्येष्ठ	उदगयन	31	29	में वृद्धि
मिथुन	आषाढ़	उदगयन	32	28	

तालिका-1·5 क्रमशः -----

राशियाँ	मास	सूर्य की स्थितियाँ	दिन का समय (घटिका में)	रात्रि का समय (घटिका में)	
कर्क	श्रावण	उदगयन-कर्क संक्रान्ति	33	27	दिन
सिंह	भाद्रपद	उदगयन	32	28	में प्रतिमास
कन्या	आश्विन	उदगयन	31	29	एक
तुला	कार्तिक	शरद् विषुव	30	30	घटिका
वृश्चिक	मार्गशीर्ष	दक्षिणायन	29	31	में
धनु	पौष	दक्षिणायन	28	32	कमी
मकर	माघ	दक्षिणायन-मकर संक्रान्ति	27	33	

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि भागवत पुराण कालीन भारतीयों को पृथ्वी की दोनों गतियों-अक्ष भ्रमण तथा कक्ष भ्रमण का यथार्थ ज्ञान था और पृथ्वी के सौर सम्बन्धों में विषुव स्थितियों, अयनान्तों तथा सूर्य की लम्बवत् किरणों के कोणों में परिवर्तन होने के साथ-साथ ऋतु परिवर्तन अर्थात् सूर्य के द्वारा नक्षत्र राशियों के परिवर्तन की जो आश्चर्यजनक शुद्धि पौराणिक भारतीयों की थी, वह उनके उच्च ज्ञान को प्रमाणित करती है।

2- काल एवं उसके विभाग तथा पृथ्वी की आयु गणना -

वैदिक काल के सभी धार्मिक क्रियाकलाप निश्चित समय से सम्पन्न होते थे क्यों कि वे काल के महत्व को समझते थे। संस्कृत में "काल" शब्द समय का द्योतक है। वैदिक काल में "काल" शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता था -

(क) आधुनिक भारतीय भाषाओं की तरह सामान्य अर्थ में एवं

(ख) विश्वकर्ता अथवा प्रधान पुरुष या परम तत्व के रूप में।

भागवत पुराण में द्वितीय अर्थ का प्रयोग सर्वसंहारक (5·14·29) प्रधानतः मिलता है। काल निर्विशेष, अनादि, अनन्त व अव्यक्तमूर्ति है (3·10·11-12) प्रकृति के अवयवों या विषयों (पदार्थों) का रूपान्तरण ही काल का आकार है (3·10·11)। काल

के सम्बन्ध में पौराणिक विद्वानों के ये विचार अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। यथार्थतः विश्व के सभी जड़ चेतन पदार्थ, चाहे वे भौतिक हों या सांस्कृतिक, काल क्रमानुसार परिवर्तित होते रहते हैं अर्थात् "परिवर्तन प्रकृति का नियम है"।

काल विभाग -

यद्यपि मूलतः भागवतपुराण एक खगोलीय रचना नहीं है तथापि इस ग्रंथ में काल विभाग एवं काल गणना का स्पष्ट एवं विस्तार से उल्लेख मिलता है (3.11)। स्पष्टतः भागवतपुराण कालीन भारतीय काल के महत्व एवं इसके सूक्ष्मतम् तथा बृहत्तम् विभागों से परिचित थे।

(क) काल के सूक्ष्म विभाग -

काल के जितने सूक्ष्मातिसूक्ष्म इकाई का उल्लेख भागवत पुराण में मिलता है वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है तथा अन्य ग्रंथों में कम मिलता है। भागवत पुराण (3.11.1-10) के अनुसार काल के सूक्ष्म विभाग तालिका - 1.6 से स्पष्ट है -

तालिका - 1.6

काल के सूक्ष्म विभाग

1 अहोरात्र	= 8 प्रहर	= 24 घण्टे	= 1440 मिनट	=86400सेकण्ड
1 दिवस या 1 रात्रि	= 4 प्रहर	= 12 घण्टे	= 720 मिनट	=43200सेकण्ड
1 प्रहर	= 3-1/4मूहूर्त	= 3 घण्टे	= 180 मिनट	=10800सेकण्ड
1 मूहूर्त	= 2 नाडिका	= 48 मिनट	= 2880 सेकण्ड	
1 नाडिका	= 15 लघु	= 24 मिनट	= 1440 सेकण्ड	
1 लघु	= 15 काष्ठा	= 96 सेकण्ड		
1 काष्ठा	= 5 क्षण	= 6.4 सेकण्ड		
1 क्षण	= 3 निमेष	= 1.28 सेकण्ड		

तालिका नं0- 1·6 क्रमशः.............

1 निमेष	= 3 लव	=	0·4266666 सेकण्ड
1 लव	= 3 वेध	=	0·1422222 सेकण्ड
1 वेध	= 100 त्रुटि	=	0·0474074 सेकण्ड
1 त्रुटि	= 3 त्रसरेणु	=	0·000474 सेकण्ड
1 त्रसरेणु	= 3 अणु	=	0·000158 सेकण्ड
1 अणु	= 2 परमाणु	=	0·0000526 सेकण्ड
1 परमाणु	=		0·0000236 सेकण्ड
1 सेकण्ड	=		37968·75 परमाणु

काल की सूक्ष्मतम इकाई परमाणु मानी गयी है जिसका विभाजन नहीं हो सकता तथा अन्य परमाणुओं के साथ संयोग नहीं हो सकता §3·11·1-4§। काल की सूक्ष्मतम ईकाइयों को ज्ञात करने की विधि भी वर्णित है। "त्रसरेणु" को वातायन §खिड़की§ में से होकर आयी हुई सूर्य की किरणों के प्रकाश में आकाश में उड़ता देखा जा सकता है §3·11·5§। ऐसे तीन त्रसरेणुओं को पार करने में जितना समय लगता है उसे "त्रुटि" कहते हैं §3·11·6§। नाडिका का मान इस प्रकार है - छः पल §अथवा 8 तोला§ तांबे के एक ऐसे पात्र, जिसमें एक प्रस्थ §दो सेर§ जल आ जाय, के पेंदे में चार मासे सोने की चार अंगुल लम्बी सलाई द्वारा छिद्र करके, उसे §पात्र को§ जल में डाल दिया जाय। पेंदे के छिद्र से जितने समय में एक प्रस्थ जल उस पात्र में भर जाय और वह पात्र जल में डूब जाय, उतने समय को एक "नडिका" या "दण्ड" कहते हैं।

दिवस तथा रात्रि प्रत्येक की अवधि के पन्द्रहवें भाग को मुहूर्त तथा चतुर्थांश को प्रहर कहा जाता था। चूँकि वर्ष भर दिवस तथा रात्रि की अवधि समान नहीं होती थी इसलिये दिवस काल में व्यतीत होने वाले मूहूर्त और प्रहर की अवधि रात्रिकालीन मुहूर्त और प्रहर की अवधि से भिन्न होती थी। विषुव सूर्य के समय दिवस और रात्रि की अवधि समान होती थी तब एक मुहूर्त की अवधि 2 घटी या 48 मिनट तथा एक प्रहर की अवधि 7 घटी 30 पल अर्थात् 3 घण्टे होती थी §प्रसाद, 1986, 90§।

उपरोक्त के अतिरिक्त भागवतपुराण में उल्लिखित घटिका §5·21·4 व 10§ क्रम के अनुसार प्राचीन भारत में कालमान निम्न प्रकार था §शर्मा, 1983, 445§ -

तालिका - 1·7

काल के सूक्ष्म विभाग

1 अहोरात्र	= 60 घटिका	= 86400 सेकण्ड
1 घटिका	= 60 पल	= 1440 सेकण्ड
1 पल	= 60 विपल	= 24 सेकण्ड
1 विपल	= 60 लीक्षक	= 0·4 सेकण्ड
1 लीक्षक	= 60 लव	= 0·00666666 सेकण्ड
1 लव	= 60 रेणु	= 0·00011111 सेकण्ड
1 रेणु	= 60 टिकाल	= 0·00000185 सेकण्ड
1 टिकाल	= 0·00000003 सेकण्ड	
1 सेकण्ड	= 32400000 टिकाल	

पृथ्वी एवं सूर्य सहित सौरमण्डल के ग्रहों एवं उपग्रहों की आकृतियाँ गोल हैं अतः उनके आकारों की माप वृत्त के अंशों में की जाती है जिसमें प्रत्येक अंश में 60 भाग{मिनट} तथा प्रत्येक भाग में 60 विभाग{सेकण्ड} होते हैं। इस प्रणाली के अनुसार प्राचीन भारतीयों ने काल को भी 60 के द्वारा विभाजित किया। पाश्चात्य देशों में एक दिन की अवधि को 24 समान भागों में विभाजित कर प्रत्येक को एक घण्टा कहा है। एक घण्टा के साठवें भाग को मिनट और एक मिनट के साठवें भाग को सेकण्ड कहा है। इस प्रकार एक दिन में 24 घण्टे या 1440 मिनट या 86400 सेकण्ड होते हैं। दिन के इस विभाजन में न एकरूपता है और न वैज्ञानिकता है। प्राचीन भारतीयों की विभाजन पद्धति में भूयशः षष्टि विभाजन में एकरूपता की झलक मिलती है तथा एक अहोरात्र के 2,16,000 विपल का वैज्ञानिक महत्व भी है। गरूड़ पुराण {प्रेतकल्प, 15·7} के अनुसार एक जीवित मनुष्य के शरीर में एक अहर्निश में 2,16,000 बार श्वसन क्रिया होती है, जिसे प्राण की संज्ञा दी गयी है अर्थात् दो लगातार श्वसन क्रिया के मध्य की अवधि का दशांश {1/10} ही

एक विपल है। इस प्रकार मानव शरीर की क्रिया विधि के साथ-साथ समय की सूक्ष्म इकाई का सम्बन्ध स्थापित करने का श्रेय हमारे पुराणकालीन ज्योतिषियों को जाता है (प्रसाद, 1986, 89-90)।

उपरोक्त से यह भी स्पष्ट है कि समय का जितना सूक्ष्मातिसूक्ष्म विभाग भारतीय पद्धति में है, इतना किसी अन्य देश की प्रणाली में नहीं है क्योंकि एक सेकण्ड में 37968·75 परमाणु अथवा 32400000 टिकाल होते हैं। निश्चित रूप से यह भी कहा जा सकता है कि काल के सूक्ष्म विभागों के परिगणन की भी उस समय विशिष्ट एवं संवेदनशील व्यवस्था रही होगी।

(ख) काल के मध्यम विभाग -

काल के मध्यम विभाग अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतुयें एवं वर्ष हैं (3·11·10-12) जो निम्न प्रकार हैं -

1 संवत्सर	= 2 अयन	= देवताओं का एक अहोरात्र
1 अयन	= 2 ऋतु	= देवताओं का एक दिवस या एक रात्रि
1 ऋतु	= 2 पक्ष	= 30 दिन = पितरों का एक अहोरात्र
1 पक्ष	= 15 दिन	= पितरों का एक दिवस या एक रात्रि

अहोरात्र -

मानव के लिये दैनिक आभासी गति बहुत महत्वपूर्ण है और अहोरात्र सूर्य द्वारा उत्पन्न एक दैनिक क्रिया या प्रक्रिया है। एक अहोरात्र के दो भाग होते हैं- दिवि एवं रात्रि। जब सूर्य भूमध्य रेखा पर लम्बवत् चमकता है तो विषुव अहोरात्र में प्रत्येक की अवधि 24 नडिका या 30 घटिका होती है जब कि उत्तरायन में क्रमशः 33 व 27 तथा दक्षिणायन में 27 व 33 घटिका होती है (3·21·3-6, तालिका - 1·5)। प्रत्येक अहोरात्र में

60 नडिका या 60 घटिका होती है। मुख्यतः दिन तीन भागों में विभक्त होता था- प्रातः, मध्यन्दिन एवं सायं। इन समयों में विशिष्ट दैनिक कार्य सम्पन्न होते थे। इसके अतिरिक्त विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति के लिये अहोरात्र के निम्न विभाग (तालिका - 1·8) किये गये हैं (6·8·20-22) जिनमें से प्रत्येक की अवधि दो घण्टे की होती है।

तालिका - 1·8

अहोरात्र के विभाग

अहोरात्र	विभाग	सम्बन्धित देवता	समय विवरण
	1- प्रातः	केशव	सूर्योदय का समय
(क)	2- संगव	गोविन्द	सूर्योदय के पश्चात् का समय
दिवस के	3- प्राह्ण	नारायण	मध्याह्न के पूर्व का समय
छः विभाग	4- मध्यन्दिन	विष्णु	मध्याह्न का समय
	5- अपराह्न	मधुसूदन	मध्याह्न से पश्चात् का समय
	6- सायं	माधव	सूर्यास्त का समय
	7- दोष	हृषीकेश	सूर्यास्त के पश्चात् का समय
(ख)	8- निशीथ	पद्मनाभ	अर्द्धरात्रि के पूर्व का समय
रात्रि के	9- अर्द्धरात्रि	पद्मनाभ	अर्द्धरात्रि का समय
छः विभाग	10- अपररात्र	श्री हरि	अर्द्धरात्रि के पश्चात् का समय
	11- उषः	जनार्दन	रात्रि के अन्तिम प्रहर का समय
	12- प्रभात	दामोदर	सूर्योदय के पूर्व का समय

उत्तरायन की अवधि में दिन में विभागों की अवधि में वृद्धि हो जाती थी जब कि दक्षिणायन में रात्रि में विभागों की अवधि में। इससे स्पष्ट होता है कि भागवतपुराण काल में अहोरात्र एवं उसके विभागों को क्रमवद्ध रूप में रखा गया है।

पक्ष, मास, अयन एवं वर्ष -

पक्ष का अर्थ अर्द्धमास से है। इसमें 15 अहोरात्र होते हैं। शुक्ल और कृष्ण भेद से यह दो प्रकार का होता है §3·11·10§। मास का पूर्व पक्ष कृष्ण पक्ष तथा अपरपक्ष शुक्ल पक्ष कहा जाता है। जिस पक्ष में चन्द्रमा क्रमशः बढ़ता हुआ शुक्लता §प्रकाश§ को प्राप्त करता है वह शुक्ल पक्ष तथा जिसमें घटता हुआ कृष्णता §अंधकार§ बढ़ाता है वह कृष्ण पक्ष कहा जाता है । पक्ष के पन्द्रह दिन प्रथमा, द्वितिया, तृतीया, चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी, सप्तमी, अष्टमी, नवमी, दशमी, एकादशी, द्वादशी, त्रयोदशी, चर्तुदशी, पूर्णिमा, या अमावस्या के नाम से प्रथित हैं §7·14·20-24§। यद्यपि पक्ष में 15 दिन होते थे परन्तु चन्द्रकलाओं के अनुसार दिन क्षय §7·14·20§ या वृद्धि द्वारा इससे कम या अधिक भी हो सकते थे। उदाहरण के लिये शके 1793 फाल्गुन कृष्ण पक्ष व शके 1800 ज्येष्ठ शुक्ल पक्ष 13 दिन का था §दिक्षित, 1975, 160-161§। इसे क्षय पक्ष कहा जाता था।

दो पक्ष मिलकर एक चान्द्रमास कहा जाता था जो 29-1/2 दिन का होता है। यह पितरों का अहोरात्र माना गया है §3·11·11§। भागवतपुराण काल में मास की गणना निम्न तीन प्रकार से की जाती थी §5·22·5§ -

1- चन्द्रमान से शुक्ल एवं कृष्ण दो पक्ष का,
2- पितृमान से एक अहोरात्र का तथा
3- सौरमान से सवा दो नक्षत्र का।

वर्ष में 12 माह होते थे §5·22·3§। सामान्यतः मास गणना चार विधियों से की जाती थी- सौर, चान्द्र, सावन एवं नाक्षत्र। इनमें सावन एवं नाक्षत्र मास विशेषतः वैदिक कार्यों में देखे जाते हैं। सौर एवं चान्द्र मासों का व्यवहार लोक में चलता है। इनमें भी सौर मास खगोल एवं भूगोल से सम्बन्ध रखने वाले हैं । ये क्षय-वृद्धि से रहित तथा गणना में सुगम हैं। इनका सम्बन्ध मेषादि बारह राशियों से हैं §5·22·5§ तथा इनके नाम भी आकाशीय नक्षत्रों के अनुसार हैं । आकाश में 27 नक्षत्र हैं तथा इन नक्षत्रों के

108 पाद§चरण होते हैं। इनमें से नौ पादों की आकृति के अनुसार 12 राशियों में 12 सौरमास होते हैं। जैसे सौरमास का सम्बन्ध सूर्य से है वैसे ही चान्द्रमास का सम्बन्ध चन्द्रमा से है यथा-अमावस्या के पश्चात् चन्द्रमा जब मेष राशि और आश्विनी नक्षत्र में प्रकट होकर एक-एक कला बढ़ता हुआ 15वें दिन चित्रा नक्षत्र में पूर्णता को प्राप्त करता है तब वह मास चित्रा नक्षत्र के कारण चैत्र कहा जाता है। स्पष्टतः मास का नाम उस नक्षत्र के आधार पर किया गया है जो मास भर सायंकाल से प्रातःकाल तक दिखालाई पड़े और जिसमें चन्द्रमा पूर्णता को प्राप्त करे। चित्रा, विशाखा, ज्येष्ठा, आषाढ़, श्रावण, भाद्रपद, अश्विनी, कृत्तिका, मृगशिरा, पुष्य, मघा, एवं फाल्गुनी नक्षत्रों के अनुसार ही 12 मास-चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ़, श्रावण, भाद्रपद, आश्विन, कार्तिक, मार्गशीर्ष, पौष, माघ तथा फाल्गुन नाम प्रथित हुए §7·14·20-24, 12·13·13§। द्वादश आदित्यों से सम्बन्धित क्रमशः मधु, माधव, शुक्र, शुचि, नभः, नभस्य, इष, ऊर्ज, सहः, पुष्य, तपस्, तपस्य आदि नामों का भी उल्लेख है §12·11·33-44§ जो अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं तथा विविध मासों की विशिष्ट विशेषताओं को व्यक्त करते हैं। तालिका-1·9 में भारतीय मासों को नक्षत्रों, राशियों एवं आंग्ल मासों के साथ प्रदर्शित किया गया है।

तालिका - 1·9

द्वदश मास

क्रम संख्या	मास का नाम	नक्षत्र का नाम	राशि का नाम	आंग्ल मास का नाम
1-	चैत्र §मधु§	चित्रा	मीन	मार्च
2-	वैशाख §माधव§	विशाखा	मेष	अप्रैल
3-	ज्येष्ठ §शुक्र§	ज्येष्ठा	वृष	मई
4-	आषाढ़ §शुचि§	आषाढ़	मिथुन	जून
5-	श्रावण §नभः§	श्रावण	कर्क	जुलाई
6-	भाद्रपद या पौष्ठपद§नभस्य§	भाद्रपद §पूर्व एवं उत्तर§	सिंह	अगस्त
7-	आश्विन §इष§	अश्विनी	कन्या	सितम्बर

तालिका - 1·9 क्रमशः ------

क्रम संख्या	मास का नाम	नक्षत्र का नाम	राशि का नाम	आंग्ल मास का नाम
8-	कार्तिक (उर्ज)	कृत्तिका	तुला	अक्टूबर
9-	मार्गशीर्ष (सहः)	मृगशिरा	वृश्चिक	नवम्बर
10-	पौष (पुष्य)	पुष्य	धनु	दिसम्बर
11-	माघ (तपस्)	मघा	मकर	जनवरी
12-	फाल्गुन (तपस्य)	फाल्गुनी (पूर्व एवं उत्तर)	कुम्भ	फरवरी

संवत्सर की उत्पत्ति वर्ष गणना के लिये हुई। पृथ्वी अपने परिक्रमण कक्ष में जितने समय में सूर्य की एक परिक्रमा पूर्ण करती है, उस समय को संवत्सर कहा जाता था। ऋतु, मास, तिथि आदि सब वर्ष के ही अंग हैं। ब्राह्म, पित्र्य देव, प्राजापत्य, गौरव या बार्हस्पत्य, सौर, सावन, चान्द्र और नाक्षत्र आदि भेदों से नौ प्रकार की वर्ष गणना होती थी। इनमें ब्राह्म, दैव, पित्र्य और प्राजापत्य ये चार वर्ष कल्प तथा युग सम्बन्धी लम्बी गणनाओं में प्रयुक्त होते थे। शेष बार्हस्पत्य, सौर, सावन, चान्द्र और नाक्षत्र वर्ष जो परिवत्सर, संवत्सर इडावत्सर या इदावत्सर, अनुवत्सर तथा वत्सर के नाम से जाने जाते थे (5·22·7), साधारण व्यवहार के लिये होते थे। इनका कालमान निम्न प्रकार था (खेडवाल, सं० 2006, 755 व 757) -

तालिका - 1·10

विविध वर्ष एवं उनके कालमान

वर्ष के नाम	कालमान				
	दिन	घटी	पल	विपल	प्रतिपल
संवत्सर - सौर वर्ष	365	15	31	31	24
परिवत्सर - बार्हस्पत्य वर्ष	361	01	36	11	00
इडावत्सर - सावन वर्ष	360	00	00	00	00
अनुवत्सर - चान्द्र वर्ष	354	22	01	23	00
वत्सर या इद्वत्सर-नाक्षत्र वर्ष	371	03	52	30	00

पुराणकालीन भारतीय उपरोक्त पांचों प्रकार की लौकिक वर्ष गणना का सामंजस्य सौरवर्ष में क्षय वृद्धि करके बनाये रखते थे। लौकिक वर्ष गणना सौर वर्ष से होती थी।

"वर्ष" §3·20·15§ शब्द का अभिप्राय एक वर्षा काल के आरम्भ से दूसरी वर्षा के आरम्भ होने तक अन्तर्निहित काल है क्योंकि अति प्राचीन भारत में काल गणना वर्ष से न कर ऋतु चक्र द्वारा की जाती थी। इसी प्रकार एक शरद् ऋतु के आरम्भ से दूसरी शरद् ऋतु के आरम्भ होने तक का समय शरद् कहलाता था। ऋग्वेद में शरद्, बसन्त और हेमन्त शब्दों का प्रयोग वर्ष या संवत्सर के अर्थ में हुआ है। वैदिक भाषा में ऋतु चक्र को यज्ञ और प्रजापति कहा गया है। ऋतुयें सूर्य से उत्पन्न होती हैं, इसलिये सूर्य को ऋतुजनक या सविता कहा गया है और उस सविता का पुत्र उक्त ऋतु चक्र वत्स, वत्सर या संवत्सर कहा गया जिनके उपरोक्त पाँच भेद बतलाये गये §शर्मा, 1987, 21§।

सूर्य का 12 राशियों में उपभोग की अवधि संवत्सर या बृहस्पति का एक राशि से दूसरी राशि में प्रयोग की अवधि "परिवत्सर" कहा जाता था। सवन या सावन संज्ञा यज्ञों के सम्बन्ध से उत्पन्न हुई है। एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय तक के काल को सावन या सवन दिन कहते थे §5·21·3 तथा दीक्षित, 1975, 43§। सावन वर्ष या इडावत्सर में 360 दिन होते थे §3·21·18§। अनुवत्सर का सम्बन्ध चन्द्रमा से है। चान्द्रवर्ष सौर वर्ष से 11 दिन 3 घटी 48 पल कम होता है। सौरवर्ष से चान्द्रवर्ष का सामंजस्य रखने के लिये 32 मास, 16 दिन, 4 घटी पर एक चान्द्रमास की वृद्धि मानी जाती है। इस पर भी पूर्ण सामंजस्य न होने पर लगभग 140 या 190 वर्ष के पश्चात् एक चान्द्रमास का क्षय माना जाता है किन्तु जिस वर्ष में क्षय मास होता है उस वर्ष में क्षयमास से 3 मास पूर्व और 3 मास पश्चात् के दोनों चान्द्रमासों की वृद्धि होती है। इस प्रकार उस वर्ष दो अधिमास भी होते हैं। क्षय मास कार्तिक, मार्गशीर्ष और पौष इन तीन मासों में से हीं कोई होता है क्योंकि इन्हीं मासों में सौरमास चान्द्रमास से न्यून हो सकता है। जब दो अमावस्या के मध्य सूर्य की संक्रान्ति न पड़ती हो तब वह चान्द्रमास बढ़ जायेगा तथा जब दो अमावस्याओं के मध्य सूर्य की दो संक्रान्तियाँ पड़ जाँय तब वह चान्द्रमास क्षय माना जाता है। अधिमास,

अर्थात् वर्ष में 13 मासों का उल्लेख (3.21.18) स्पष्ट करता है कि भागवतपुराण काल में चान्द्रवर्षों को सौरवर्षों के साथ समायोजित करने की तकनीक का ज्ञान खगोल विदों को था। समस्त पुण्यकर्म (धार्मिक क्रियाकलाप) तिथियों के अनुसार ही सम्पन्न होते हैं अतः भारत में प्राचीन काल से धार्मिक कृत्यों में चान्द्रमास या चान्द्रवर्ष का ही उपयोग होता चला आ रहा है जबकि तिथियों के क्षय की बात न होने से सौर मास या सौर वर्ष का उपयोग राजनीतिक कार्यों में होता रहा है।

ऋतुयें -

प्राचीन भारतीय तत्कालीन भारत की जलवायु दशाओं एवं मौसमी परिवर्तन से भली भाँति परिचित थे। उनके सामाजिक एवं धार्मिक क्रियाकलाप मौसमों से सम्बन्धित होते थे। भागवतपुराण में वर्षान्तर्गत छः ऋतुओं का उल्लेख है (5.21.13)। जितनी अवधि में सूर्य संवत्सर का छठा भाग भोगते हैं वह अवयव ऋतु कहलाता है (5.22.5)। ऋतुयें सूर्य की उत्तरायन एवं दक्षिणायन स्थितियों के अनुसार परिवर्तित होती रहती हैं। मासों एवं ऋतुओं का अन्तर्सम्बन्ध निम्नवत् है।

तालिका - 1.11

ऋतुयें

ऋतुयें	मास	आँग्ल मास
बसन्त	चैत्र, वैशाख	मार्च, अप्रैल
ग्रीष्म	ज्येष्ठ, आषाढ़	मई, जून
वर्षा	श्रावण, भाद्रपद	जुलाई, अगस्त
शरद्	आश्विन, कार्तिक	सितम्बर, अक्टूबर
हेमन्त	मार्गशीर्ष, पौष	नवम्बर, दिसम्बर
शिशिर	माघ, फाल्गुन	जनवरी, फरवरी

इनकी स्पष्ट व्याख्या चित्र 1.1 के माध्यम से की गयी है तथा ऋतुओं का विस्तृत विवरण जलवायु दशाओं के साथ अध्याय द्वितीय में दिया गया है।

§ग§ काल के बृहद् विभाग -

काल के बृहद् विभाग जैसे- कल्प, मन्वन्तर, चतुर्युगी इत्यादि भौगोलिक युगों को एवं ईश्वर के विभिन्न अवतार भूतल पर विभिन्न प्राणियों के विकास §पाण्डेय,1963, 660-733§ को प्रदर्शित करते हैं। भागवतपुराण में काल के बृहद् विभागों का वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है।

सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि में चारों युग अपनी संध्या और सन्ध्यांशों सहित देवताओं के 12000 वर्ष तक रहते हैं। सत्य आदि इन चारों युगों में क्रमशः चार, तीन, दो और एक सहस्र दिव्य वर्ष होते हैं। युग के आदि में सन्ध्या होती है और अन्त में सन्ध्यांश। इनके मध्य का जो काल होता है उसी को कालवेत्ता युग कहते हैं। प्रत्येक युग में जितने सहस्र वर्ष होते हैं उससे दुगुने सौ वर्ष उसकी सन्ध्या और सन्ध्यांशों में होते हैं। प्रत्येक युग में एक विशेष धर्म का विधान पाया जाता है §3.11.18-21§। मानवीय एक वर्ष देवताओं का एक अहोरात्र होता है §3.11.12§। अतः देवताओं का एक वर्ष मनुष्य के 360 वर्ष के समान हुआ। इस प्रकार उपरोक्त वर्णन के अनुसार दिव्य एवं मानवीय मान से विभिन्न युगों में वर्षो की संख्या निम्न प्रकार से होगी -

तालिका - 1.12

चतुर्युग एवं उनमें वर्षों की संख्या

युग	दिव्य मान से वर्षो की संख्या				मानवीय मान से वर्षो की संख्या
	संध्या	+मुख्य भाग	+ संध्यांश	= युग	
सत्ययुग	400	+4000	+ 400	= 4800	4800 × 360 = 17,28,000
त्रेतायुग	300	+3000	+ 300	= 3600	3600 × 360 = 12,96,000
द्वापर युग	200	+2000	+ 200	= 2400	2400 × 360 = 8,64,000
कलि युग	100	+1000	+ 100	= 1200	1200 × 360 = 4,32,000
महायुग §चतुर्युगी§				12000 दिव्य वर्ष	43,20,000 वर्ष

सत्य आदि चारों युगों को मिलाकर एक चतुर्युगी §महायुग§ कहा जाता है। एक सहस्र महायुगों का कल्प या ब्रह्मा का एक दिन होता है तथा इतनी ही बड़ी प्रलय या ब्रह्मा की रात्रि होती है। एक कल्प में चौदह मनु§मन्वन्तर§ होते हैं। प्रत्येक मनु 71 चतुर्युगी से कुछ अधिक काल §71·428 महायुग§ का होता है। ब्रह्मा जी के दिवस काल में सृष्टि होती है जबकि रात्रि में प्रलय। ब्रह्मा जी की आयु 100 वर्ष मानी गयी है §3·11·22-32§। ब्रह्मा जी की आयु के अर्द्ध भाग §50 वर्ष§ को परार्द्ध कहते हैं। वर्तमान में द्वितीय परार्द्ध का प्रारम्भिक कल्प §वराह कल्प§ चल रहा है। यह दो परार्द्ध का काल अव्यक्त, अनन्त, अनादि विश्वात्मा श्री हरि का एक निमेष मात्र है §3·11·33-37§। वराह कल्प के गत छः मन्वन्तर स्वायम्भुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत व चाक्षुष हैं। सप्तम् मन्वन्तर श्राद्धदेव है जो चल रहा है तथा आगत सप्त मन्वन्तर सावर्णि, दक्ष सावर्णि, ब्रह्म सावर्णि, धर्म सावर्णि, रूद्र सावर्णि व इन्द्र सावर्णि नामों से प्रथित हैं §1·3·15, 2·7·20, 4·1·35, 8·1·4, 8·5·1, 8·13·1-36, 8·22·31§। ये चतुर्दश मन्वन्तर भूत, वर्तमान व भविष्य तीनों कालों में चलते रहते हैं। इन्हीं के द्वारा एक सहस्र चतुर्युगी वाले कल्प के समय की गणना की जाती है §8·13·36§।

युगों में सत्ययुग §कृत युग§ श्रेष्ठ माना गया है। जिस समय सूर्य, चन्द्रमा तथा बृहस्पति एक साथ एक ही समय पुष्य नक्षत्र के प्रथम पल में प्रवेश करते हैं, एक ही राशि में आते हैं उसी समय सत्ययुग प्रारम्भ हो जाता है §11·17·10, 12·2·24§। पुरातत्व ऐतिहासिक विद्वानों का कथन है कि जिस दिन श्रीकृष्ण ने अपने परमधाम को प्राप्त किया था उसी समय से कलियुग प्रारम्भ हो गया था §12·2·33§। जब 1000 दिव्य वर्ष व्यतीत होंगेतो कलियुगान्तर में कल्कि भगवान की कृपा से मनुष्यों के मन में सात्विकता का संचार होगा तभी से आठवें मन्वन्तर का सत्ययुग प्रारम्भ होगा §12·2·34§।

उपरोक्त वर्णनानुसार काल के बृहद विभागों को निम्नरूप में तालिका बद्ध कर प्रस्तुत किया जा सकता है -

तालिका - 1·13

काल के बृहद् विभाग

1 मानवीय वर्ष	= 1 दिव्य अहोरात्र	= 360 मानवीय दिन
30 दिव्य अहोरात्र	= 1 दिव्य मास	= 30 मानवीय वर्ष
12 दिव्य मास=	= 1 दिव्य वर्ष	= 360 मानवीय वर्ष
12000 दिव्य वर्ष	= 1 चतुर्युगी (महायुग या दिव्य युग)	= 4320 हजार मानवीय वर्ष
71·428 महायुग	= 1 मन्वन्तर	= 30,85,71,429 मानवीय वर्ष
14 मन्वन्तर	= 1 कल्प = 1000 महायुग	= 432 करोड़ मानवीय वर्ष
2000 महायुग	= 1 ब्राह्म अहोरात्र	= 364 करोड़ मानवीय वर्ष
30 ब्राह्म अहोरात्र	= 1 ब्राह्म मास	= 25,920 करोड़ मानवीय वर्ष
12 ब्राह्म मास	= 1 ब्राह्म वर्ष	= 3,11,040 करोड़ मानवीय वर्ष
50 ब्राह्म वर्ष	= 1 परार्द्ध	= 15,55,20 अरब मानवीय वर्ष
100 ब्राह्म वर्ष	= 1 ब्राह्म युग	= 3,11,040 अरब मानवीर वर्ष
1000 ब्राह्म युग	= 1 विश्वेश्वर युग	= 31,104 नील मानवीय वर्ष

स्पष्ट है कि काल गणना चक्रीय क्रम से की जाती थी जो महत्वपूर्ण है।

पृथ्वी की आयु -

पूर्व विवरणानुसार चार युगों के चक्र को चतुर्युगी तथा 71·428 चतुर्युगी के चक्र को मन्वन्तर कहा जाता है। प्रत्येक मन्वन्तर के अन्त में प्रलय होती है (1·3·15) जिसकी अवधि 1728 हजार वर्ष है। प्रलय काल में पृथ्वी पर जीवन का विनाश हो जाता

है। प्रलयोपरान्त पुनः मन्वन्तर अर्थात् युगों का चक्र प्रारम्भ हो जाता है। 14 मन्वन्तरों अर्थात् 432 करोड़ वर्ष के उपरान्त कल्पान्त में महाप्रलय होती है जिसमें सम्पूर्ण जीवन का लोप हो जाता है तथा नये सिरे से प्रकृति की रचना प्रारम्भ होती है। पुनः मन्वन्तर और युगों का चक्र चलता है। यह क्रम अनादि से चलता आ रहा है तथा अनन्तकाल तक चलता रहेगा। भागवत पुराण के अनुसार मात्र एक ही महाप्रलय हुआ है जिसके पश्चात् ही इस पृथ्वी का आरम्भ हुआ है। गत महाप्रलय के पश्चात् 6 मन्वन्तर व्यतीत हो चुके हैं, सातवां चल रहा है §12·8·14§। इसके 27 चतुर्युग व्यतीत हो चुके हैं §9·3·33§, 28वां चल रहा है। 28वें चतुर्युग में भी सत्य, त्रेता व द्वापर व्यतीत हो चुके हैं और कलियुग चल रहा है। कलियुग की अवधि 4,32,000 वर्ष है। इस अवधि में अभी तक §सम्वत्-2045 तक§ मात्र 5089 वर्ष व्यतीत हुए हैं। इस प्रकार व्यतीत हुआ काल -

= 6 मन्वन्तर + 27 चतुर्युगी + सत्ययुग + त्रेतायुग + द्वापरयुग + व्यतीत हुआ कलियुग

= 6×30,85,71,429+27×43,20,000+17,28,000+12,96,000+8,64,000+5089वर्ष

= 1,85,14,28,574 + 11,66,40,000 + 38,88,000 वर्ष

= 1,97,19,61,663 वर्ष

यही हमारी पृथ्वी की आयु हुई। वैज्ञानिक विधियों से भी पृथ्वी की आयु लगभग 2 अरब वर्ष ज्ञात हुई है §होम्स, 1975, 44 तथा मेहरोत्रा, 1967, 66-67§। अतः भागवतपुराण कालीन विचारधारा वर्तमान वैज्ञानिक आंकड़ों से पूर्णतः साम्य रखती है।

दिशायें §दिक्§ -

पौराणिक साहित्य में चार, आठ या दस दिशाओं का उल्लेख है। प्राची, प्रतीची, उदीची एवं दक्षिण §9·11·2, 9·16·21§, ये चार प्रधान दिशायें दिश् §9·11·2§ या दिक्षु §6·8·34§ तथा ईशान, आग्नेय, नैऋत्य एवं वायव्य, ये चार अवान्तर दिशायें §9·16·22§ या विदिक्षु §6·8·34§ कही जाती थीं। चार प्रधान दिशाओं में चार अवान्तर दिशायें मिलाकर आठ दिशायें तथा ऊर्ध्व एवं अधः §6·8·34§ अर्थात् शिरोबिन्दु एवं अधोबिन्दु दिशायें सम्मिलित कर दस §10·12·33§ दिशायें मानी गयीं।

सर्वप्रथम आर्यो ने सूर्योदय से पूर्व दिशा और सूर्यास्त से पश्चिम दिशा ज्ञात की। इसी प्रकार अन्य विधियों से अन्य दिशायें भी ज्ञात कीं। भागवतपुराण में स्पष्ट कहा गया है कि सूर्य के द्वारा ही दिशादि का विभाजन होता है§सूर्येण हि विभज्यन्ते दिशः"-5·20·45§। उन्होंने ध्रुव तारे की सहायता से सत्य उत्तर का भी ज्ञान प्राप्त किया। चारों दिशाओं में चार दिग्गज §5·20·39§ यह स्पष्ट करते हैं कि उत्तर के सापेक्ष में किसी स्थान की क्या स्थिति है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्स्टीन के अनुसार न तो कोई दिशायें हैं और न उनकी कोई सीमायें हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से दिग्गज अन्तरिक्ष में सूर्य की महत्ता को स्थापित करती है §काण्ड सुब्रमनियन, 1983,6§। स्पष्टतः तत्कालीन भारत में घड़ी की सुई के अनुरूप दिशा में क्रमशः पूर्व, दक्षिण, पश्चिम व उत्तर दिशाओं की गणना की जाती थी।

भागवत पुराण में दिशाओं से सम्बन्धित देवताओं का वर्णन मिलता है §5·21·7§ जो अत्यन्त महत्वपूर्ण है। पूर्व दिशा का सम्बन्ध इन्द्र से है जो पवन एवं वर्षा का जनक है अतः यह कलपना की गयी कि पूर्व दिशा वर्षा के देवता इन्द्र द्वारा सुरक्षित है। इसी भाँति पश्चिम दिशा जल देवता वरूण से सुरक्षित है जो पश्चिम दिशा में महासागरों के विस्तार को प्रदर्शित करता है। उत्तर दिशा चन्द्रमा द्वारा रक्षित है तथा दक्षिण दिशा यम §मृत्यु देवता§ से। सूर्य की विभिन्न स्थितियों के अन्तर्गत दोनों गोलार्द्धों की स्थिति ध्यान देने योग्य है। उत्तरायन के समय दिन बड़े होते हैं जिससे आर्यो को धार्मिक क्रियाकलापों हेतु पर्याप्त अवधि मिलती थी जब कि दक्षिणायन के समय स्थितियाँ इसके विपरीत होती हैं अतः यह माना जाता था कि मृतात्मायें दक्षिण दिशा में निवास करती हैं §सक्सेना, 1960,44§। भागवतपुराण काल में यज्ञादि धार्मिक कार्यो हेतु दिशाओं को अत्यधिक महत्व दिया जाता था §6·8·4,8·24·40,9·16·21§ और इन्हीं दिशाओं के आधार पर वास्तुकार योजना बनाते थे।

उपरोक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि भागवतपुराण कालीन भारतीय ब्रह्माण्डोत्पत्ति, सौर्य मण्डल कम एवं तत्सम्बन्धित तथ्य, पृथ्वी की आकृति एवं गतियों से भली भाँति परिचित थे। उन्होंने वैज्ञानिक प्रेक्षण विधि के आधार पर कालगणना की तथा दिशाओं का निर्धारण किया। सम्पूर्ण अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि भागवत पुराण काल में खगोलिकी का अध्ययन वैज्ञानिक गवेषणात्मक विधियों पर आधारित था।

:: सन्दर्भ ::

1- काण्डसुब्रमनियन, वी0 आर0 (1983), "साइन्स इन दि वेदाज", विवेकानन्द केन्द्र पत्रिका, वाल्यूम-12, नम्बर-1, मद्रास।

2- खेडवाल, डी0एन0 (सं0 2006), "हिन्दू सम्वत्, वर्ष, मास और वार", कल्याण-हिन्दू संस्कृति अंक, वर्ष-24, अंक-1, गोरखपुर।

3- जालान, मोतीलाल (सम्पा0, 1979), "सूर्य चन्द्र ग्रहण विमर्श", कल्याण-सूर्यांक, वर्ष-53, संख्या-1, गोरखपुर।

4- तामस्कर, बी0जी0 (1968), "उपनिषदों में भौगोलिक ज्ञान", उ0भा0 भू0प0, अंक-4, संख्या-2, गोरखपुर।

5- त्रिपाठी, एम0पी0 (1969), डेवलपमेण्ट ऑफ ज्यॉग्रफिक नॉलेज इन ऐन्शियंट इण्डिया, वाराणसी।

6- दीक्षित, एस0बी0 (1975), भारतीय ज्योतिष (हिन्दी अनुवाद), लखनऊ।

7- दुबे, बेचन (1967), जयॉग्रफिकल कान्सेप्ट इन ऐन्शियंट इण्डिया, वाराणसी।

8- पाण्डेय, कपिलदेव (1963), मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, वाराणसी।

9- प्रसाद, गोरख (1974), भारतीय ज्योतिष का इतिहास, लखनऊ।

10- प्रसाद, नर्वदेश्वर (1986), "समय और उसकी विभिन्न इकाइयाँ", भूविज्ञान, अंक-1, भाग-2, वाराणसी।

11- मामोरिया, सी0बी0 एवं न्याती, जे0एल0 (1982), भूविज्ञान, दिल्ली।

12- मेहरोत्रा, एम0एन0 (1967), पृथ्वी की आयु, लखनऊ।

13- वीतरागस्वामी नारायणाश्रम (1979), "भगवान सूर्य की सर्व व्यापकता", कल्याण-सूर्यांक, वर्ष-53, संख्या-1, गोरखपुर।

14- शर्मा, ओमप्रकाश (लेखक एवं सम्पा0, 1983), "ब्रह्माण्ड का जन्म", "प्राचीन भारतीय कालमान", "आकाश गंगा", "सौर परिवार पर परिसंवाद", जीवन और मृत्यु", अखिल ब्रह्माण्ड में जीवन", "पृथ्वी पर जीव का उद्भव", विज्ञान प्रगति, अंक-10-12, पूर्णांक-363-365, नई दिल्ली।

15- शर्मा, वाई0डी0 §1987§ "एक वर्ष में कितने वर्ष", कादम्बिनी, वर्ष-27, अंक-3, नई दिल्ली।

16- शुक्ल, आर0के0 §1984§, रामायणः ए स्टडी इन ऐन्शियण्ट इण्डियन ज्यॉग्रफी §शोध प्रबन्ध§, झाँसी।

17- सक्सेना, डी0पी0 §1960§, ऐन्शियंट इण्डियन ज्यॉग्रफी §शोध प्रबन्ध§, आगरा।

18- सुथार, सी0बी0 §1968§, ब्रह्माण्ड दर्शन, बल्लभ विद्यानगर।

19- होम्स, ए0 §1975§, प्रिन्सिपल्स ऑफ फिजिकल ज्यॉलॉजी, लन्दन।

अध्याय - द्वितीय

भौम्याकृति

प्राचीन भारत में अन्य विज्ञानों की भाँति भौम्याकृति विज्ञान का अध्ययन किया जाता था। इसके लिये अंग्रेजी भाषा के शब्द "फिजियोग्राफी" का प्रयोग किया गया है जिसके अन्तर्गत भूमण्डल के तीन भौतिक विभागों-स्थलमण्डल, वायुमण्डल एवं जलमण्डल के अध्ययनों का समावेश है। भूमण्डल पर भौतिक परिवर्तन यद्यपि क्रमिक एवं शनैः शनैः होते हैं परन्तु मानव को ये परिवर्तन अदृश्य से लगते हैं। वर्तमान घटनाओं में चक्रीय तथा उच्चावचीय परिवर्तन ही नहीं अपितु संचयी परिवर्तन भी होते हैं। फलतः वर्तमान प्रवृत्तियों को निर्धारित करने में भूतकाल का निरीक्षण आवश्यक होता है। भौम्याकृतियाँ सर्वाधिक प्रेक्षणीय, असाधारण रूप से जटिलतम दृश्य घटनायें हैं। अतः वर्तमान भौम्याकृतिक स्वरूपों की विशेषताओं की प्रकृति तथा उपस्थिति की व्याख्या करने के लिये भूगोल में ऐतिहासिक सामग्री का प्रयोग अनिवार्य है। इन तथ्यों को ध्यान में रखकर प्रस्तुत अध्याय में भागवतपुराण में उपलब्ध सन्दर्भों के आधार पर स्थलमंच एवं सागर द्रोण की उत्पत्ति, अन्तर्जात और बहिर्जात बलों तथा तज्जनित स्थलाकृतियों एवं अन्य भौतिक स्वरूपों का अध्ययन किया गया है। इसके साथ ही वायुमण्डलीय परतें, तापमान, ऋतुयें, पवन, मेघ, वर्षा, महासागर, सागरीय सम्पदा, तरंगें एवं ज्वार-भाँटा का अध्ययन सम्मिलित हैं जिनका मानव जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

(अ) स्थल मण्डल -

स्थलमण्डल पृथ्वी का वह भाग है जिस पर मानव क्रीड़ा सबसे अधिक होती है। यह मानव निवास स्थान भी कहा जाना चाहिये। भौगोलिक दृष्टि से यही वह क्षेत्र है जिसका गूढ़ अध्ययन आवश्यक है और भारत में इस अध्ययन के प्रति रुचि प्राचीन काल से ही रही है। भागवतपुराण में जल-थल वितरण, महाद्वीप एवं महासागरीय नितल की उत्पत्ति, अन्तर्जात एवं बहिर्जात बल, ज्वालामुखी एवं भूकम्प आदि के साथ पर्वतश्रृंग, पर्वतकूट, मैदानों, पठारों एवं विविध भौतिक स्थल रूपों के वर्णन मिलते हैं, जिनसे स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय स्थलमण्डल में होने वाले कालिक परिवर्तनों के अध्ययन में गहन रुचि रखते थे, परन्तु उस काल में स्थल रूपों का ज्ञान धरातल के अवलोक्य लक्षणों पर ही आधारित था, जब कि आधुनिक युग में यह ज्ञान धरातल के अवलोक्य एवं अनवलोक्य तथ्यों के गुणात्मक एवं

संख्यात्मक विश्लेषण द्वारा प्राप्त किया जाता है ।

जल थल वितरण -

भूपटल का लगभग तीन चौथाई §70·8 प्रतिशत§ भाग जल एवं एक चौथाई §29·2 प्रतिशत§ भाग स्थल है। इस तथ्य की जानकारी के लिये प्राचीन भारतीयों ने तर्कसंगत प्रमाण दिये। बृहदारण्यक उपनिषद् में स्थल एवं समुद्र का अनुपात 1:2 कहा गया है जो आधुनिक आँकड़ों के सदृश्य है परन्तु भागवतपुराण में यह अनुपात समान बतलाया गया है §5·1·33§, जो असंगत है, यद्यपि अन्यत्र ऐसे विवरण मिलते हैं जिनसे थल भाग की अपेक्षा जल भाग अधिक विस्तार में होना प्रमाणित होता है। उल्लेखहै कि पृथ्वी महासमुद्र में मग्न है §3·13·15 एवं 17§। सम्भवतः यहाँ पृथ्वी से आशय महाद्वीपों से है जो कि विशाल जल भागों से चतुर्दिक आवृत्त है।

स्थल मंच एवं सागर द्रोण की उत्पत्ति -

सागर द्रोण प्रथम क्रम की स्थल रूपरेखीय आकृतियाँ हैं जिनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में कोई निश्चित ज्ञान प्राप्त नहीं है। प्रकृति में परिवर्तन की विश्व व्यापकता ऐतिहासिक काल से ही है। अतः स्थलमंच एवं महासागरीय द्रोणियों की उत्पत्ति की व्याख्या के विषय में भी विद्वान एक मत नहीं हैं। भागवतपुराण के अनुसार इस सम्बन्ध में दो भिन्न विचारधारायें हैं -

1- चक्रवर्ती सम्राट सगर के पुत्रों ने पृथ्वी का उत्खनन कर समुद्र का निर्माण किया §9·8·5§। यह तथ्य सागर द्रोण की उत्पत्ति के सम्बन्ध में नितान्त काल्पनिक एवं अवैज्ञानिक है। यह तथ्य सामान्यतया पृथ्वी की आन्तरिक संरचना एवं भौमिकी को स्पष्ट करता है।

2- राजा प्रियव्रत ने ज्योतिर्मय रथ पर सवार होकर सूर्य का अनुगमन करते हुये पृथ्वी की सात परिक्रमायें कीं। उस समय इनके रथ के चक्रों की नेमि से परिखायें §लीकें§ निर्मित हुयीं, वे परिखायें ही सप्त समुद्र कहलाये §5·1·30-31§। यह परिकल्पना अप्रत्यक्ष रूप

से पृथ्वी के परिभ्रमण व सूर्य की आकर्षण शक्ति तथा महाद्वीपों के प्रवाह से सम्बन्धित है और वर्तमान वैज्ञानिक विचारधाराओं (महाद्वीपीय प्रवाह सिद्धान्त) से साम्य रखती हैं। वेगनर के अनुसार आरम्भिक अवस्था में सम्पूर्ण स्थलखण्ड आपस में संलग्न थे जिसे उन्होंने "पैन्जिया" नाम दिया तथा इसके चतुर्दिक पृथ्वी के शेष भाग पर एक ही महासागर विस्तृत था जिसे "पैन्थालासा" नाम दिया। भागवतपुराण में भी "एकार्णव" (एक मात्र महासागर) का उल्लेख मिलता है (8·24·35)। यह उल्लेख पैन्जिया और पैन्थालासा की संकल्पना को समग्र रूप से स्पष्ट करता है। जल पर पृथ्वी (महाद्वीप) के प्लवन का भी उल्लेख है (3·13·46)। वेगनर के अनुसार कालान्तर में पैन्जिया के विभिन्न भाग विदीर्ण होकर गुरूत्वाकर्षण बल व प्लवनशीलता बल के कारण उत्तर दक्षिण तथा सूर्य की ज्वारीय शक्ति के कारण पूर्व पश्चिम विस्थापित हुये। आरम्भिक काल में पर्वतों का पक्षियों की तरह वायुमण्डल में विचरण (6·12·26, 8·11·34) भी महाद्वीपीय विस्थापन की संकल्पना की पुष्टि करता है (शुक्ल, 1984,50)।

आरम्भिक काल में पृथ्वी पर चतुर्दिक एकमात्र महासागरीय जल का विस्तार था। स्थल भाग समुद्र मग्न था (3·13·15–17)। ध्यातव्य है कि इस सन्दर्भ में "जल में निमग्न पृथ्वी" का आशय जलमग्न स्थल भाग से है। सूकर रूप वराह भगवान ने जलमग्न स्थल भाग (पृथ्वी) को उत्थित कर जल के ऊपर स्थापित किया (3·13·15, 17, 46 व 47)। इस प्रकार स्थलमंच की उत्पत्ति हुयी। यद्यपि यह वर्णन पौराणिक आख्यान है परन्तु इतना तो भली भाँति स्पष्ट है कि पृथ्वी की उत्पत्ति के समय ही स्थलमंच एवं सागर द्रोण की उत्पत्ति नहीं हुयी अपितु कालान्तर में हुयी, जिसको आधुनिक वैज्ञानिक भी एकमत से स्वीकारते हैं।

शैलें –

पृथ्वी के जिस भाग में सभी प्रकार के जीव जन्तुओं का निवास है उसे "भूपृष्ठ" की संज्ञा दी गयी है (10·44·23)। जिन पदार्थों से इस भूपृष्ठ की रचना हुयी है उसे शैल कहा जाता है। भूगोल में शैल से आशय खनिज पदार्थों के योग से है। पुराणकाल में भारतीयों को शैलों एवं उनकी संरचना का ज्ञान था। भागवतपुराण में विविध प्रकार की शैलों

यथा-कठोर §ग्रेनाइट, 10·56·23§, मृदा §10·8·32,34§, वालुका या सैकत §10·13·5, 11·27·12§, अश्मशर्करा §पत्थर के रोड़े, कंकड़ आदि, 10·50·27§, रज या रेणु §11·4·2 व 10·7·21§, क्षारीय भूमि §इरिण, 6·9·7§, प्रवाल शैलों §विद्रुम, 8·15·16§ इत्यादि के उल्लेख मिलते हैं। साथ ही विविध रंग की शैलों के भी सन्दर्भ पाये जाते हैं जैसे श्यामल, हरित् §8·2·4§, रक्ताभ §10·67·19 व 20§ आदि। खनिजोत्पत्ति, आग्नेय एवं जलीय क्रिया तथा सम्बन्धित भौगोलिक प्रक्रियाओं के वर्णन भी उपलब्ध हैं §5·16·20, 5·24·17§, जो अवैज्ञानिक है। स्पष्टतः ये वर्णन संस्पर्श रूपान्तरण प्रक्रिया का बोध कराते हैं।

भू आकृतियाँ-पर्वत, पठार एवं मैदान तथा सम्बन्धित भूस्वरूप -

पृथ्वी के प्रमुख स्थल रूपों का उनकी रचना के आधार पर अध्ययन भूगोल की रूचिकर विषयवस्तु है। जिस रीति से इन स्थलरूपों का विकास हुआ है वह उनके वर्गीकरण का ठोस आधार प्रदान करती है। स्थलरूपों का वर्गीकरण और भूपटल पर उनका वितरण, पृथ्वी पर मानव का वितरण और वातावरण के साथ उसके अन्तर्सम्बन्धों को समझने में सहायक है।

पृथ्वी का धरातल एक सा नहीं है। वह उच्च, निम्न, समतल और असमतल रूपों में दृष्टिगत है। कहीं पर गहरी घाटियाँ एवं दरारें हैं, तो कहीं पर ज्वालामुखी, उत्तुंग शिखर एवं पठार हैं। स्पष्टतः द्वितीय श्रेणी के उच्चावच एवं तज्जनित स्थलरूपों का मानव जीवन पर प्रत्यक्षतः प्रभाव परिलक्षित होता है।

§अ§ पर्वत -

पर्वत उच्चस्थलीय भूभाग हैं। पृथ्वी के स्थलरूपों में इनका विशिष्ट स्थान है। ये न केवल मानव के लिये मनोरंजक एवं स्वास्थ्यवर्द्धक स्थल प्रस्तुत करते हैं अपितु उसके आर्थिक व्यवसाय, व्यापार, परिवहन मार्ग और जनसंख्या आदि पर जिस प्रकार प्रभाव डालते हैं इसके फलस्वरूप इन भूस्वरूपों का अध्ययन भूगोल का एक अपरिहार्य एवं अभिन्न अंग बन

गया है। भागवतपुराण में पर्वतोत्पत्ति, प्रकार एवं पर्वतीय भूस्वरूपों के स्पष्ट वर्णन मिलते हैं।

पर्वत निर्माणकारी क्रिया -

वर्तमान पर्वत निर्माणकारी संकल्पनायें, निर्माण प्रक्रिया का स्पष्ट वर्णन नहीं करती हैं तथापि पर्वतों की रचना में सम्पीड्न ही प्रमुख शक्ति मानी गयी है। भागवतपुराण में इन्द्र के वज्राहत से विघूर्णित पर्वत का उल्लेख §6·11·11§ अप्रत्यक्ष रूप से पर्वत निर्माण से सम्बन्धित सम्पीड्न बल को स्पष्ट करता है। दो पर्वतों का उपर्यधः §ऊपर-नीचे§ रूप में स्थित होने का उल्लेख §8·7·12-13§ प्रतिवलन की स्थिति को स्पष्ट करता है। उल्लेख है कि पूर्व युग में पर्वत पक्षियों के समान आकाश में उड्ते थे। जिससे सभी जीव जन्तु भयभीत रहते थे। फलतः इन्द्र ने विद्युत वज्र से इन पर्वतों के पंख काट दिये थे §8·11·34§। भागवतपुराण की इस लोक कथा के अनुवीक्षण से महाद्वीपीय विस्थापन सिद्धान्त एवं पर्वत निर्माणकारी प्रक्रियाओं की संकल्पना की पुष्टि होती है। प्राचीनकाल से ही पर्वत विवर्तनिक हलचलों के कारण अस्थिर माने गये हैं §6·11·11, 6·12·28-29, 7·8·33§। विवर्तनिक गतियों के द्वारा पर्वत का निमज्जन §8·7·6, 10·59·11§, उन्मज्जन §8·7·8§ एवं क्षैतिज संचलन §6·12·29§ आदि के भी सन्दर्भ पाये जाते हैं। स्पष्टतः जब भूपर्पटी में क्षैतिजीय अथवा लम्बवत् हलचलों के कारण पर्याप्त दबाव पड्ता है तो भूपटल पर तरंगानुरूप गतिशीलता आती है।

पर्वत क्षरण क्रिया -

वर्षा के जल द्वारा पर्वत का अपरदन, यान्त्रिक अपरदन के अन्तर्गत ताप के कारण शैलों का बड़े-बड़े टुकड़ों में विघटन, शैलपात §गण्डशैल§, गिरिपात, शैल स्खलन तथा अन्त में समप्राय मैदान के निर्माण के वर्णन भी प्राप्त हैं §4·16·22, 8·6·37, 8·10·46, 8·11·20, 10·6·15, 10·54·3, 10·59·4, 10·62·9, 10·67·20§। रासायनिक क्षरण की क्रिया का भी उल्लेख है §10·67·19§। इन्द्र के द्वारा वज्र से गिरिश्रृंगो

का छेदन §10·11·47,10·59·11, 10·66·21§, वज्राहत से पर्वत का पृथ्वी पर गिरने §10·18·29§ आदि के उल्लेख यह स्पष्ट करते हैं कि पर्वत पूर्व में पर्याप्त ऊँचे थे तथा अनाच्छादन की क्रिया के कारण उनकी ऊँचाई में ह्रास होता गया।

पर्वत के प्रकार -

पुराण में "पर्वत" एवं "गिरि" §1·10·5, 8·11·20§ शब्दों का प्रयोग पर्वत एवं पहाड़ी को प्रदर्शित करने के लिये किया गया है। अन्य पर्यायवाची शब्द अद्रि §1·8·40§, महीध्र §2·7·32§, भूधर §3·13·40§, धरणीधर §10·18·26§, भूभृत §10·85·7§, क्षितिधर §10·90·22§, स्थावर §11·21·5§, अचल §3·13·41§, शैल §5·18·32§, नग §10·7·36§ आदि पर्वतोत्पत्ति, प्रकारों, उनके भौतिक स्वरूपों तथा अन्य विशेषताओं की व्याख्या करते हैं।

"पर्वत" शब्द का आशय गाँठ या सन्धि है। पर्वत गँठीला, ऊबड़-खाबड़ व कई भागों से युक्त होता है §म0पु0 - 123·36, वा0पु0 - 8·11, लि0पु0 - 70·133§। इस प्रकार भौगोलिक दृष्टि से संस्कृत के "पर्वत" शब्द का आशय पर्वत श्रृंखला से है, चाहे वह श्रृंखला एकाकी हो, मिश्रित §जटिल§ हो अथवा क्रमबद्ध श्रृंखलाओं के रूप में हो §दुबे, 1967, 49§। पर्वत जड़वत् स्थिर रहते हैं इसलिये इन्हें स्थावर, अचल §अ + चल§, नग §न + गच्छति§ कहा गया है। पृथ्वी को धारण करने के कारण भूधर, धरणीधर, भूभृत, क्षितिधर , महीधर आदि तथा शिला §चट्टानें§ निर्मित होने के कारण शैल कहा गया है। अत्युच्च एवं अतिविस्तार वाले पर्वतों को महाद्रि §10·12·16§, अद्रिपति §3·17·16§, अद्रिप्रवर §4·6·8§, पर्वतराज §5·20·18§, गिरिराट् §6·12·29§, शैलेन्द्र §10·44·8§, गिरिवर §8·2·1§ आदि कहा गया है। स्पष्टतः ये शब्द जो पर्वतों के लिंगभेद प्रकट करने के लिये प्रयुक्त हैं, अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

पुराणकालीन विद्वानों को विभिन्न प्रकार के पर्वतों का, जो कि स्थानीय घटकों पर आधारित थे, सम्यक् ज्ञान था। भागवतपुराण के अनुसार सभी पर्वत श्रेणियाँ मेरू पर्वत को

केन्द्र मानकर विसरित हैं। मेरु पर्वत की स्थिति इलावृत वर्ष के मध्य में मानी गयी है। स्थानीय कारकों के आधार पर भारतीयों ने पर्वतों का निम्न वर्गीकरण किया है-

1- <u>अवष्टम्भगिरि</u> (5·16·11) - अवष्टम्भ का अर्थ आधार या स्तम्भ है (आप्टे, 1981, 113)। इस प्रकार अवष्टम्भ पर्वत वे पर्वत हैं जोकि धुर पर्वत (मेरु) के आधारभूत स्तम्भों का कार्य करते हैं। जम्बू द्वीप में मेरु के पूर्व में स्थित मन्दर, पश्चिम में स्थित विपुल, दक्षिण में स्थित गन्धमादन तथा उत्तर में स्थित सुपार्श्व अवष्टम्भ पर्वत कहे गये हैं (5·16·11)। अन्य पुराणों में इन्हें विष्कम्भ पर्वत कहा गया है।

2-<u>वर्ष गिरि</u> (5·20·10 व 21) - ये उपमहाद्वीपीय पर्वत श्रेणियाँ हैं जो वर्षों में विभेद कर उनकी स्थिति निर्धारित करते हैं। जम्बू द्वीप में कुरु और हिरण्मय वर्षों के मध्य श्रृंगवान पर्वत (तर्बगताई), हिरण्मय और रम्यक वर्षों के मध्य श्वेत पर्वत (त्येनशान), रम्यक एवं केतुमाल-इलावृत- भद्राश्व वर्ष के मध्य नील पर्वत (अल्टाई ताग), हरि वर्ष एवं केतुमाल-इलावृत-भद्राश्व वर्ष के मध्य निषध पर्वत, हरिवर्ष एवं किम्पुरुष वर्ष के मध्य हेमकूट पर्वत (क्युनलुन), किम्पुरुष एवं भारतवर्ष के मध्य हिमवान् पर्वत की स्थिति बतलायी गयी है (5·16·8-10) जो वर्ष पर्वत माने जाते थे (त्रिपाठी, 1969, 186)।

3- <u>मर्यादा गिरि</u> (5·20·26) - "मर्यादा" शब्द का अर्थ सीमा, सीमान्त या सीमा चिह्न है (आप्टे, 1981, 779)। इसलिये मर्यादा पर्वत सीमान्त पर्वत श्रेणी को प्रकट करता है। मर्यादा पर्वत को "सीमागिरि" या "सेतुशैल" (यहाँ "सेतु" का अर्थ सीमा या सीमा चिह्न है, आप्टे, 1981, 1124) भी कहा गया है (5·20·4,15)। ये वर्ष पर्वत के समान हैं तथा वर्षों की सीमायें निश्चित करते हैं। जम्बू द्वीप में मेरु के पूर्व में इलावृत वर्ष एवं भद्राश्व वर्ष को सीमांकित करने वाले जठर एवं देवकूट, इलावृत वर्ष एवं केतुमाल वर्ष को विभक्त करने वाले पवन एवं पारियात्र, इलावृत एवं भारतवर्ष की सीमा पर कैलाश एवं करवीर तथा उत्तर की ओर त्रिश्रृंग एवं मकर पर्वत जिनका उल्लेख भागवतपुराण (5·16·27) में है, मर्यादा पर्वत माने जाते थे (त्रिपाठी, 1969, 186-87)।

उपरोक्त वर्णन से मर्यादा पर्वत एवं वर्ष पर्वत के मध्य कुछ भ्रम उत्पन्न होता है। इस सम्बन्ध में रायचौधरी का मत है कि मर्यादा पर्वत एवं वर्ष पर्वत के मध्य विभेद सरलता से नहीं समझा जा सकता है। उल्लेख है कि मेरू के चतुर्दिक विस्तृत पर्वत श्रृंखलाओं को मर्यादा पर्वत कहा गया है जो मध्यवर्ती वर्ष §इलावृत वर्ष§ अथवा वर्षो को विभक्त करते हैं। आन्तरिक वर्ष पर्वत यथा-नील एवं निषध, जिनकी उपस्थिति मेरू के उत्तर एवं दक्षिण मानी गयी है, दो अन्य पर्वत श्रृंखलाओं, माल्यवत् एवं गन्धमादन से मिलती हैं। ये क्रमशः पूर्वी एवं पश्चिमी मर्यादा पर्वतों से सम्बन्धित हैं जो इलावृत वर्ष को विश्व की अन्य पर्वत श्रृंखलाओं से रोकती है §त्रिपाठी, 1969, 186-87§।

4- <u>केसराचल</u> §5·17·6§ - ये महाद्वीप के मध्य में स्थित होते हैं यथा-कमलकर्णिका के चतुर्दिक केसर होता है, उसी प्रकार ये स्थित होते हैं। इसी कारण इन्हें केसराचल कहा गया। जम्बू द्वीप में कमल की कर्णिका के केसर के समान मेरू के मूल देश में चतुर्दिक विस्तृत पर्वत श्रृंखलाओं में पूर्व की ओर स्थित कुरंग, कुरर, कुसुम्भ, वैकंक, दक्षिण की ओर स्थित त्रिकूट, शिशिर, पतंग, रूचक, निषध, पश्चिम की ओर स्थित शिनीवास, कपिल, शंख, वैदूर्य, जारूधि तथा उत्तर की ओर स्थित हंस, ऋषभ, नाग, कालन्जर, नारद आदि केसराचल कहे गये हैं §5·16·26§।

6- <u>कुलगिरि</u> §4·1·17, 5·16·7§ - एक सम्पूर्ण क्षेत्र के समस्त मुख्य पर्वत भागों, जो कि प्रत्येक खण्ड में विद्यमान माने जाते हैं, को कुल पर्वत कहते हैं। भारत में सात कुलपर्वत बतलाये गये हैं जिनके नाम महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्तिमान्, ऋक्ष, विन्ध्य एवं पारियात्र हैं §4·1·17 आप्टे, 1981, 287§। जम्बू द्वीप के मध्य में स्थित मेरू पर्वत को कुलपर्वतों का राजा कहा गया है §5·16·7, 6·17·3§।

पर्वतीय भ्वाकृतिक स्वरूप -

पुराणकाल में भारतीयों को पर्वतों से सम्बन्धित विविध भ्वाकृतिक स्वरूपों का ज्ञान था। इन भ्वाकृतिक स्वरूपों की स्पष्ट व्याख्या करने हेतु निश्चित तकनीकी शब्दों का प्रयोग

होता था। उदाहरणार्थ- द्रोणी §4·10·5§, श्रृंग §4·30·5§, सानु §4·23·24§, कूट §3·13·29§, अद्रिशिर §10·13·29§, श्रृंगालय §10·12·21§, शिखर §8·10·46§, मूर्धन् §10·76·22§, गुहा§2·2·5§, बिल §2·7·31§, विवर §3·17·8§; दरी §6·9·16§, कन्दर §8·2·5§,दर्या §10·12·17§, नगोदर §10·12·21§, गह्वर §10·12·36§, पाद §6·4·20§, मूल §5·16·7§, उत्संग §5·16·16§, अधः §9·1·25§, अद्रिपार्श्व §12·8·17§, गिरितट §10·35·8§, गिरिगर्त §10·25·20§, अन्तरा §10·12·22§, अद्रिपृष्ठ §10·56·18§, गिरिदुर्ग §10·59·3§, अन्तर्भूमि §5·16·7§ इत्यादि ।

पर्वत एवं भूसन्तुलन -

पर्वत पृथ्वी को धारण किये हुये हैं, इसीलिये इन्हें क्षितिधर §10·90·22§, भूधर §3·13·40§, धरणीधर §10·18·26§ आदि कहा गया है। पर्वतों के मूल §आधार§ का भी उल्लेख है। कुलगिरिराज मेरु शिखर भाग पर 32000 योजन तथा मूल §आधार§ भाग पर 16000 योजन विस्तृत है और 16000 योजन भूमि के अन्दर प्रविष्ट है §5·16·7§ । उपरोक्त सन्दर्भों से भूसन्तुलन सिद्धान्त की कल्पना की जा सकती है ।

पर्वतों का मानव जीवन पर प्रभाव -

अनिश्चित बनावट, संकीर्ण घाटियां, अनुर्वर मृदा, परिवहन के साधनों की कठिनता, जलवायु की विषमता, असमतल भूमि आदि तथ्योंके कारण पर्वत निवास स्थान की दृष्टि से कम उपयोगी हैं, परन्तु अटूट प्राकृतिक सम्पदाओं के कारण मानव जीवन हेतु वरदान स्वरूप हैं। फलतः पर्वतों का मानव जीवन पर अप्रत्यक्षतः गहरा प्रभाव होता है।

पर्वत उच्चावच के दो महत्वपूर्ण प्रभावों §अ§ सरंचनातमक एवं §ब§ प्रतिबन्धात्मक के सन्दर्भ भागवतपुराण में हैं। प्राचीन काल में पर्वत विविध प्रदेशों या राष्ट्रों के मध्य सीमा निर्धारित करते थे §5·16·6-10, 5·20·15, 21 व 26§ । परिणामतः तत्कालीन

शासक पर्वत दुर्गों का निर्माण कराते थे §10·59·3§। पर्वतीय शैलों से बहुमूल्य खनिजों का उत्खनन ऐतिहासिक काल से ही होता रहा है §1·6·12, 3·8·24, 4·18·25, 5·16·7, 20, 8·2·2-3, 10·27·26§। पर्वतीय भाग सघन वनों से आच्छादित रहते थे §8·2·3-20, 4·1·18, 4·6·10-19§, जिनसे ईंधन, उपयोगी काष्ठ तथा अन्य उपयोगी वस्तुयें प्राप्त होती थीं। इन वनों में विविध प्रकार के जीव जन्तु भी निवास करते थे, जिन पर आखेट व्यावसाय निर्भर था। पर्वतीय ढालों पर विस्तीर्ण चरागाहों में पशुपालन व्यवसाय होता था §10·21·18§।

तत्कालीन भारत में अनेक मानव जातियाँ पर्वतीय क्षेत्रों में भी निवास करती थीं §4·10·5, 4·14·46§। गिरिकन्दरायें प्राकृतिक निवास गृह थे §8·2·5, 10·21·18, 10·56·19-21§। पर्वत पराजित जातियों के लिये शरणगृह का भी कार्य करते थे। मैदानी जीवन के संघर्ष से पराजित होकर कई जातियाँ पर्वतों में शरण ले लेती थीं §4·14·46, 12·2·9§। यक्ष §4·10·5§ एक ऐसी ही पराजित जाति थी जिसने लंका त्यागकर हिमालय में शरण ली थी। हिमालय पर्वतीय भाग के दुर्गम होने §11·16·21§ से यहाँ के निवासियों पर बाह्य आक्रमणों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। फलतः हिमालय को आश्रय §शरण§ योग्य बतलाया गया है §1·12·22§। वर्तमान में भी मैदानी जीवन से सामंजस्य स्थापित न कर पाने के कारण भील, संथाल, नागा, टोडा आदि जातियाँ हिमालय के दुर्गम क्षेत्रों में निवास करती हैं।

पर्वत ऋषियों के केन्द्रस्थल थे जहाँ उन्होंने अपने आश्रम स्थापित कर तपस्यायें कीं §1·13·50, 12·8·17-18§। पर्वत नदियों के उद्गम स्रोत हैं §10·40·10§। ये अपने हिममण्डित शिखरों, सुरम्य घाटियों, मनोरम प्रपातों, शीतल जल से भरे सरोवरों या झीलों, रंग बिरंगे पुष्पों तथा हरे-भरे सघन वनों के कारण बहुत ही आकर्षक दृश्य प्रस्तुत करते हैं §4·6·10-32, 8·2·2-19, 10·20·27, 12·8·17-21§। इसलिये पर्यटन एवं विहार की दृष्टि से भी पर्वतों को अत्यधिक महत्व दिया गया §3·23·39-40, 5·2·2, 6·17·2-3, 8·2·5§।

§ब§ पठार - समतल अथवा क्षयित धरातलीय उच्च भूमि को पठार कहते हैं। संस्कृत में पठार को "शैलप्रस्थ" या "गिरिप्रस्थ" के नाम से जाना जाता है। भागवतपुराण में इसका विवरण नहीं मिलता है।

§स§ मैदान - मैदान भूतल के महत्वपूर्ण निम्न भूआकार हैं। ये आदिकाल से ही मानव आकर्षण के केन्द्र रहे हैं। विश्व की भिन्न-भिन्न संस्कृतियों को अपने अंचल में प्रश्रय देकर मानव सभ्यता के अभ्युदय में मैदानों ने अमूल्य योग दिया है। आज भी विश्व की घनी जनसंख्या के केन्द्रस्थल मैदान ही हैं। भागवतपुराण में मैदान के लिये "सम" शब्द का प्रयोग किया गया है §4·16·22, 4·17·4§। इनकी रचना जलोढ़ निक्षेपों द्वारा हुई है तथा कृषि की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण कहे गये हैं §4·18·11§।

मरुभूमि के लिये "मरुधन्व" या "धन्व" §राजस्थान के मारवाड़ या बीकानेर जनपदों में विस्तृत§ शब्द की संज्ञा दी गई है §6·8·38,9·4·22§। प्राचीन साहित्य में "धन्व" शब्द जलाभाव वाले क्षेत्रों के लिये प्रयुक्त होता था।

§3§ अन्तर्जात एवं बहिर्जात बल -

पृथ्वी के भूगर्भ में अदृश्य रूप से क्रियाशील शक्तियों को अन्तर्जात या भूगर्भिक शक्तियां कहा जाता है। इनके द्वारा भूतल पर असमानता का सूत्रपात होता है। बहिर्जात बल भूतल पर कार्यरत शक्तियाँ हैं जो अन्तर्जात बल द्वारा उत्पन्न विषमताओं को दूर करने का प्रयास करती हैं। पुराणकालीन भारतीयों को अन्तर्जात बल एवं बहिर्जात बल तथा तज्जनित भूस्वरूपों का पर्याप्त ज्ञान था।

अन्तर्जात बल -

प्राचीन भारतीयों को ज्वालामुखी, उनके उद्गार, सम्बन्धित दृश्यों एवं भूकम्पों का ज्ञान था। यद्यपि उद्गार के कारणों के अन्तर्गत प्राचीन साहित्य में काल्पनिक कथायें प्रस्तुत की गयी हैं, तथापि इन काल्पनिक कथाओं में वैज्ञानिकता की खोज आवश्यक है। उल्लेख्य

है कि इस काल में जैव वर्ग, वानस्पतिक वर्ग एवं वायुमण्डलीय दशाओं में त्वरित परिवर्तन ही अन्तर्जात बलों के संकेतक माने जाते थे यथा-पशु एवं पक्षियों द्वारा विकृत स्वर में चीत्कार, पवन की रूक्षता के कारण वृक्षों का पतन, पृथ्वी एवं पर्वतों में प्रकम्पन, अन्तरिक्ष से भयावह वज्रपात, आसामयिक विद्युत चमक, दिशाओं का धूमिल एवं प्रज्वलित दिखाई देना, दिशाओं का आकस्मिक रूप से अंधकारमय हो जाना, पवन का घूर्णित होना, उल्कापात, सूर्य एवं चन्द्रमा के चतुर्दिक मण्डल का निर्माण, आसामयिक ग्रहण, मेघ गर्जन, रक्त वर्षा §इससे तात्पर्य उस वर्षा से है जिस वर्षा के जल का पी0एच0 मान 5·6 या इससे कम हो जाता है। पी0एच0 मान किसी घोल की अम्लीयता तथा क्षारीयता को दर्शाता है।§, धूलि वर्षा, बड़े एवं छोटे शिलाखण्डों की वृष्टि, सागरीय जल का अप्राकृतिक ढ़ंग से क्षुब्ध होना, उसमें ऊँची-ऊँची तरंगे उठना, नदी एवं जलाशयों के जल में भी अकस्मात् अप्राकृतिक ढ़ंग से प्रकम्पित होना इत्यादि §1·14·10-21, 3·17·3-15,4·10·23-25§।

ज्वालामुखी -

सभी प्राकृतिक घटनाओं में ज्वालामुखी एक अति विचित्र घटना है जिसके भयानक रूप को अवलोकित कर मानव ने अति प्राचीन काल से ही इसे दैवी प्रकोप माना तथा इसकी पूजा की। भागवतपुराण में उल्लिखित संवर्तक अग्नि §12·4·9§ आन्तरिक ऊष्मा या ज्वालामुखी को स्पष्ट करती है। संवर्तक अग्नि §आन्तरिक ऊष्मा व ज्वालामुखी का तप्त लावा आदि पदार्थ§ संकर्षण के मुख §ज्वालामुखी की नली या क्रेटर§ से ऊपर को निकलती है §12·4·9§। वायु के वेग §आन्तरिक गैसों के वेग§ से वह अग्नि भूविवरों को तप्त कर भस्म कर देती है §12·4·10§। अधोभाग §भूगर्भ§ से अग्नि की ज्वालायें §ज्वालामुखी से निसृत तप्त पदार्थ, लावा,जाज्वल्यमान गैसें आदि§ ऊपर को निकलती हैं तथा ऊपर §वायुमण्डल§, नीचे §भूगर्भ§ और चतुर्दिक §पृथ्वी की सतह§ यह विश्व जलने लगता है §12·4·10-11§। संवर्तक अग्नि §ज्वालामुखी§ से निकलने वाले पदार्थ धूम्र, धूल एवं जलवाष्प हैं। संवर्तक वायु §आन्तरिक गैसें§ इन पदार्थों को आकाश में उछालकर चतुर्दिक फैला देती हैं, तदनन्तर जलवाष्प से रंग विरंगे मेघों का निमार्ण प्रारम्भ हो जाता है और वे आकाश में

छा जाते हैं तथा भयंकर मेघगर्जन के साथ वर्षा करते हैं ॥12·4·12-13॥।

भागवतपुराण का उपरोक्त वर्णन ज्वालामुखी, ज्वालामुखी क्रिया, ज्वालामुखी नली, ज्वालामुखी से निसृत पदार्थ तथा ज्वालामुखी क्रिया द्वारा उत्पन्न दृश्य को भली भाँति स्पष्ट करता है। प्लक्ष द्वीप में सात जिह्वाओं वाले अग्निदेव की उपस्थिति ॥5·20·2॥ सात ज्वालामुखी नलिकाओं या क्रेटर से युक्त क्रियाशील ज्वालामुखी को स्पष्ट करता है। प्लक्ष द्वीप का प्रत्याभिज्ञान अली महोदय ने भूमध्यसागर तटवर्ती भूभाग से किया है। वर्तमान में भी भूमध्यसागर के द्वीपों व तटवर्ती भूभागों में अनेक क्रियाशील ज्वालामुखी स्थित हैं। प्राचीन भारत में यद्यपि ज्वालामुखी के उद्‌गार का कारण "सत्व" माना जाता था ॥शुक्ल, 1984, 53॥, परन्तु भागवतपुराण में इस शब्द का उल्लेख प्रकृति के संघटक तीन गुणों ॥सत्व, रज एवं तम॥ अथवा स्थावर जंगम जीव के अर्थ के रूप में मिलता है ॥2·5·18 तथा 3·13·15॥, तथापि "सत्व" का एक अर्थ "अन्तर्हित शक्ति" भी है ॥आप्टे, 1981, 1063 तथा विलियम्स 1981, 1261-1262॥।

भूकम्प -

पुराण काल में भूकम्प विज्ञान का अध्ययन दो दृष्टियों से किया जाता था - ॥अ॥लौकिक एवं ॥ब॥ वैज्ञानिक। इन दोनों दृष्टियों से किये गये अध्ययन अन्तर्सम्बन्धित थे। फलतः सभी तथ्य स्वभावतः काल्पनिक हो गये। भागवतपुराण में भूकम्प उत्पत्ति के दो मुख्य कारण स्पष्ट किये गये हैं-

॥क॥ जैसा कि ज्वालामुखी उद्‌गार में कहा गया है, उसी भाँति पृथ्वी के आन्तरिक भाग में उपस्थित बल ॥सत्व॥के कारण। तथा

॥ख॥ पृथ्वी के आन्तरिक भाग में जलवाष्प तथा तप्त गैसें विद्यमान हैं। अतः भूगर्भ में गैसीय उपद्रव के कारण ॥7·8·33, 12·4·10॥।

"भूकम्प", जैसा कि नाम से स्पष्ट है, भूपपड़ी का कम्पन है ॥1·14·15॥, शब्द का प्रयोग भूयशः हुआ है तथा अधिकांशतया पर्वतीय क्षेत्रों के सम्बन्ध में ॥1·14·15,

3·17·4, 10·6·12, 10·15·29)। स्पष्ट है कि अधिकांश भूकम्प उत्तर, पश्चिम एवं पूर्व में विस्तीर्ण पर्वत श्रृंखलाओं में आते थे। पुराणों में हिमालय पर्वत पेटी में कई भूकम्पों के सन्दर्भ मिलते हैं जो या तो उस अवधि में अथवा उससे पूर्व घटित हुए और यह आज भी निर्बल मेखला है तथा अभी स्थायित्व को नहीं प्राप्त कर सका है (वाडिया, 1975, 38)। भूकम्पसे सामान्य प्रभावित द्वितीय क्षेत्र भारत का उत्तरी विशाल मैदान है। भारतीय भूगर्भ-शास्त्रियों के अनुसार इस भाग में एक तो तलछट की पुनः व्यवस्था के कारण और दूसरे भूस्खलन के कारण भूकम्प आया करते हैं। भागवतपुराण में कुरु क्षेत्र (3·3·12), वृन्दावन (10·37·2), करूष (10·78·2), इन्द्रप्रस्थ (10·75·12), द्वारका (10·66·34) आदि मैदानी क्षेत्रों में स्थित केन्द्रस्थलों में भूकम्पों के सन्दर्भ उपलब्ध हैं। प्रायद्वीपीय भारत के पठारी क्षेत्र में भूकम्प के उल्लेख नहीं हैं जिससे स्पष्ट है कि यह क्षेत्र भूकम्प से अप्रभावित रहा। आधुनिक भूगर्भवेत्ताओं की दृष्टि से भी यह क्षेत्र निम्नतम प्रभावित क्षेत्र है। यह भारत का सर्वाधिक प्राचीन और कठोर स्थल खण्ड है तथा भूसन्तुलन की दृष्टि से स्थिर भाग है, जिसके कारण भूकम्प कम तथा साधारण प्रभाव वाले आते हैं, यद्यपि ई0 1967 का कोयना का भयंकर भूकम्प इसका अपवाद है।

उपरोक्त के अतिरिक्त महासागरीय भागों में भी भूकम्प के उल्लेख मिलते हैं। समुद्र तली का फटना और उसमें मेघगर्जन के समान भीषण शब्द होना तथा उत्ताल तरंगों के उत्पन्न होने का उल्लेख (3·13·29) महासागरीय भाग में भूकम्प की उत्पत्ति को स्पष्ट करता है।

बहिर्जात बल -

बहिर्जात बलों का प्रमुख कार्य भूतल पर अनाच्छादन है जिसमें अपक्षय तथा अपरदन कारकों की क्रियायें यथा-नदी, हिमनद, पवन, भूमिगत जल तथा सागरीय लहरों के कार्य सम्मिलित हैं। भागवतपुराण में विविध भ्वाकृतिक प्रतिरूपों तथा बदलते स्वरूपों के स्पष्ट सन्दर्भ उपलब्ध हैं।

प्रवाही जल §नदी§ -

नदियाँ भूपटल की अति व्यापक एवं विशिष्ट भौतिक रूप हैं। भागवतपुराण में नदी के लिये नदी §1·6·15§, नद §1·14·18§, सरित् §3·28·22§, कुल्या § 1·3·26§, ह्रदिनी §4·23·22§, स्रोतस्§5·8·5§,निम्नगा §10·23·19§, आपगा §10·47·33§, सिन्धु पत्नी §10·90·23§, स्रोत §12·4·36§ आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है जिनसे इसकी भौतिक विशेषताओं का परिचय प्राप्त होता है। नदियों की उत्पत्ति पर्वतों से कही गयी हैं तथा वे सागर में गिरती हैं §10·40·10§। नदियों की उत्पत्ति स्थान नग§पर्वत§ हैं इसीलिये उन्हें "नगदुहिता" §पर्वत पुत्री§ कहा जाता था §10·7·36§। इन्हें जल की प्राप्ति वर्षा द्वारा होती है §10·40·10§। जल स्वभावतः नीचे की ओर प्रवाहित होता है §4·9·47§। फलतः पर्वतों से निकलकर ढ़ाल के अनुसार नीचे की ओर प्रवाहित होने के कारण नदियों को "निम्नगा" कहा जाता था §10·23·19§। सभी प्रकार के जल §नदी, भूमिगत जल आदि§ का आश्रय समुद्र है § 8·3·15§। अप्रत्यक्ष रूप से समुद्र के जल से ही नदियों को पानी प्राप्त होता है। इस कारण से नदियों को "सिन्धु पत्नी" कहा गया है §10·90·23§। यद्यपि नदियों के उद्‌गम पर्वतीय क्षेत्र हैं परन्तु "ह्रद" भी उद्‌गम स्थान बतलाया गया है §1·3·26,10·79·9§। इसीलिये इन्हें "ह्रदिनी" कहा जाता था §4·23·22§। दो नदियों के मिलन स्थल को संगम कहा जाता था।

नदियों के प्रकार -

"नदी" और "नद" शब्द का प्रयोग प्राचीन साहित्य में प्राकृतिक जल बहाव को प्रदर्शित करने के लिये भूयशः मिलता है। भागवत पुराण में चन्द्रवसा, ताम्रपर्णी, अवटोदा, कृतमाला, वैहायसी, कावेरी, वेणी, पयस्विनी, शर्करावर्ता, तुंगभद्रा, कृष्णा, वेण्या, भीमरथी, गोदावरी, निर्विन्ध्या, पयोष्णी , तापी, रेवा, सुरसा, नर्मदा, चर्मण्वती, सिन्धु, अन्ध, सोन आदि चौबीस नदियों को "नद" तथा महानदी, वेदस्मृति, ऋषिकुल्या, त्रिसामा, कौशिकी, मन्दाकिनी, यमुना,सरस्वती, दृषद्वती, गोमती, सरयू, रोधस्वती, सप्तवती, सुषोमा, शतद्रू, चन्द्रभागा, मरुद्‌वृधा, वितस्ता, असिक्नी, विश्वा आदि बीस नदियों को नदी या महानदी कहा गया है

§5·19·18§। इस प्रकार दक्षिणी भारत में प्रवाहित होने वाली सभी नदियों तथा सिन्धु नदीको"नद" तथा उत्तरी भारत की सभी नदियों को नदी या महानदी से सम्बोधित किया गया है। स्पष्टतः "नद" का आशय प्राचीन नदियों से है तथा "नदी" का आशय नूतन काल में निर्मित नदियों से है। "कुल्या" §1·3·26§ तथा "क्षुद्र नदी" §10·20·10§ का प्रयोग नालों को प्रदर्शित करने के लिये किया गया है।

पौराणिक विद्वानों ने नदियों को उनके आयाम के अनुसार वर्गीकृत करने का प्रयास किया है यथा- कुल्या, क्षुद्र नदी, नदी और महानदी §1·3·26, 10·20·10, 1·6·15, 5·19·18 यथाक्रम§। कुल्या की लम्बाई 6 योजन, क्षुद्र नदी की लम्बाई 12 योजन, नदी की लम्बाई 24 योजन तथा महानदी की लम्बाई इससे अधिक बतलायी गयी है §स्क0पु0, रेवा खण्ड, उद्घृत दुबे, 1967,54-55§। कुल्या सबसे छाटी नदी है §विलियम्स,1981, 296§। परन्तु वर्गीकरण की यह विधि भूगोल में कोई महत्व नहीं रखती है तथा इसमें कोई वैज्ञानिक आधार भी नहीं प्रतीत होता है।

प्रवाह के आधार पर नदियों के तीन प्रकारों का उल्लेख मिलता है -

1- सर्वकाल वहा - ये सदावाही नदियाँ हैं जो वर्ष भर अनवरत रूप से प्रवाहित होती रहती हैं §1·8·42, 3·29·11 तथा वाम0पु0·34·9§। ऐसी नदियां अधिकतर झीलों अथवा हिमक्षेत्रों से निकलती हैं जिससे उन्हें निरन्तर जल की पूर्ति होती रहती है।

2- प्राविट्काल वहा - ये मौसमी नदियाँ हैं जो केवल वर्षा ऋतु में प्रवाहित होती हैं तथा अन्य ऋतुओं में शुष्क प्राय हो जाती हैं §10·20·10§।

3- वितोया या व्युदक स्रोता - ये जलविहीन नदियाँ हैं §5·13·6, 5·14·13§।

नदी के कार्य -

भूमि पर प्रवाहित जल मुख्यतः तीन प्रकार के कार्य करता है :- अपरदन, परिवहन एवं निक्षेपण। भागवपुराण में नदियों द्वारा इन तीनों प्रकार के कार्यो का उल्लेख मिलता है। वर्षा ऋतु में नदियों द्वारा बाढ़ों का प्रसंग मिलता है §10·3·50,11·8·6§। वर्षा ऋतु

में जल प्रवाह अधिक हो जाता है जिससे नदियाँ तीव्रगामी रहती हैं, फलतः वे तलहटियों एवं पार्श्वभागों में अपरदन का कार्य करती हैं (10·3·50)। वर्षा ऋतु में नदी जल का मटमैलापन (10·20·34) भारी मात्रा में मिट्टी क्षरण को स्पष्ट करता है। वर्षा ऋतु में नदी उत्पथवाहिनी (10·20·10) कही गयी है अर्थात् नदी अपनी घाटी का अतिक्रमण कर प्रवाहित होती हैं और बाढ़ का जल चतुर्दिक फैल जाता है जिससे बाढ़ के उपजाऊ मैदान का निर्माण होता है। वेगवती गंगा का महीतल पर पतन तथा भूतल भेदन का उल्लेख (9·9·4) गंगा नदी द्वारा पर्वतीय क्षेत्र में लम्बवत् अपरदन को स्पष्ट करता है। नदी जल के अपरदनात्मक यन्त्रों में कंकड़, पत्थर, शैलचूर्ण (6·15·3, 10·50·27) आदि का उल्लेख मिलता है जिनसे नदी की घाटी तथा पर्श्वों में अपरदन का कार्य होता है। क्षैतिज कटाव द्वारा घाटी के अत्यधिक विस्तृत होने तथा नदी द्वारा मार्ग परिवर्तन का भी उल्लेख मिलता है (10·65·23, 31)। पुलहाश्रम (पर्वतीय क्षेत्र) में चक्र नदी द्वारा निर्मित नाभि के समान चिह्न (5·7·10-11) स्पष्ट रूप से जलजगर्तिकाओं को इंगित करता है। चक्र नदी द्वारा चक्राकार रूप में पुलहाश्रम के सभी ओर (चतुर्दिक) प्रवाहित होने का उल्लेख (5·7·10) गुम्बदनुमा पर्वत पर अनाच्छादन एवं अपरदन से निर्मित वलयाकार या चक्राकार प्रवाह प्रणाली को स्पष्ट करता है। वलयाकार प्रवाह प्रणाली मुख्य रूप से प्रौढ़ एवं घर्षित गुम्बदीय पर्वतों में विकसित होती है। इन गुम्बदों पर नदियाँ उनकी परिक्रमा करती हुयी प्रवाहित होती हैं। चक्र नदी (5·7·10) नाम सम्भवतः इसी कारण पड़ा होगा। यदि गुम्बदनुमा पर्वत कठोर एवं नर्म शैलों से निर्मित है तो उस पर अनाच्छादन से वलयाकार सन्धियों या अवनालिकाओं का पूर्णतया विकास हो जाता है।

नदियाँ बालू, कंकड़, पत्थर (6·15·3, 10·50·27) आदि पदार्थों का परिवहन करती हैं एवं दूर ले जाकर निक्षेपण करती हैं। भागवतपुराण में नदी से सम्बन्धित विविध भ्वाकृतिक स्वरूपों हेतु कई तकनीकी शब्दों का प्रयोग मिलता है यथा - धारा (3·8·24), निर्झर (8·2·3), प्रस्रवण (10·18·5), सरित्तट (4·14·36), कूल (2·4·42), ह्रद (कुण्ड-10·17·8), पुलिन (रेतीला किनारा, 10·11·36), पुलिनारोह (गार्ज, 10·6·16), निम्नकूल (गहरा किनारा, 10·80·37), द्रोणी (4·10·5), दरी (10·13·14),

विवर §5·17·8§, बिल §2·7·31§, गह्वर §10·12·36§ आदि। धारा, निर्झर एवं प्रस्रवण जलप्रपात हैं जो क्रमशः छोटे-बड़े रूप हैं। §दुबे, 1967-57§।

नदियों का मानव जीवन पर प्रभाव-

नदी मात्र सुविधा नहीं है। वह एक निधि है। मानव आदिकाल से ही इस प्राकृतिक निधि का उपयोग करता आ रहा है और आज भी यह उतनी ही महत्वपूर्ण है। नदियाँ वस्तुतः मानव जीवन के लिये वरदान सिद्ध हुई हैं। पुराणकालीन भारतीय जनजीवन पर भी नदियों का पर्याप्त प्रभाव था। उल्लेख है कि नदियों से अभीष्ट वस्तुओं की प्राप्ति होती है §1·10·5, 9·10·53§। नदियों की बालू से स्वर्ण एवं बहुमूल्य मणियाँ प्राप्त की जाती थीं §5·16·19-21, 8·2·8§। तत्कालीन भारतीय सफल कृषि व्यवस्था इन्हीं नदियों की सिंचाई पर आधारित थी। नदियों के बाढ़ द्वारा उपजाऊ मैदानों का निर्माण होता है। फलतः सर्वाधिक कृषि विकास इन्हीं मैदानों में हुआ था। प्राचीन भारत में जब परिवहन के साधनों का आज की भाँति विकास नहीं हुआ था तो नदियाँ ही एक सुलभ तथा प्राकृतिक साधन थीं। नदियाँ पेय जल का सबसे बड़ा साधन थीं §10·16·60§। पेय जल के अतिरिक्त नदियों से औद्योगिक कार्यों के लिये भी जल प्राप्त किया जाता था। इसीलिये पुराणकालीन भारत में बड़े नगरों की स्थापना नदियों के किनारे ही हुयी थी यथा-मथुरा, हास्तिनपुर, काशी, अयोध्या, माहिष्मतीपुर आदि। नदियाँ मत्स्य भण्डार थीं जिससे खाद्य पदार्थ की भी आपूर्ति होती थी §9·6·39, 10·17·8-11§।

भागवतपुराण काल में नदी, नदीजल, नदी तट एवं समीपस्थ भागों को पवित्र माना जाता था। इसीलिये नदियों के किनारे ऋषि अपने आश्रम बनाकर तपस्या करते थे §3·24·9, 5·7·10§ तथा यज्ञ सम्पन्न किये जाते थे §4·16·24, 9·20·25§। प्रधान तीर्थों की स्थापना नदियों के किनारे ही की गयी थी §6·5·3, 10·78·18-20§। गंगा एवं गंगाजल के महत्ता की तो भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है §9·8·9, 9·9·9, 11·16·20§। नदियों के महत्व को स्वीकारते हुये यहाँ तक कह दिया गया है कि नदियाँ अपने नामों से ही जीवों को पवित्र कर देती हैं §5·19·17§।

अपरदन के अन्य साधन §पवन,हिम,भूमिगत जल तथा सागरीय लहरें§ -

नदी के अतिरिक्त अन्य अपरदन के साधनों में पवन §10·7·23-24§, हिम §7·5·44§, भूमिगत जल §10·6·16, 10·67·20§, सागरीय जल §8·2·4§ आदि का उल्लेख मिलता है, परन्तु इनके कार्यो के सम्बन्ध में विस्तृत विवरण नहीं मिलते हैं। सागर तट पर सागरीय लहरों द्वारा अपरदन कार्य §8·2·4§, लहरों द्वारा परिवहन एवं निक्षेपण कार्य §11·2·21-22§ तथा पवन के अपरदन, परिवहन एवं निक्षेपण कार्य §10·7·23-25§ स्पष्टतया वर्णित हैं।

§ब§ वायु मण्डल -

प्राणीमात्र के जीवित रहने के लिये जिन तत्वों एवं वस्तुओं की आवश्यकता होती है, उनमें वायु सर्वप्रमुख है जो पूर्णतया मानव नियन्त्रण से बाहर है। वायु एक या एक से अधिक गैसों का सम्मिश्रण है। पृथ्वी के चतुर्दिक रंगहीन, गन्धहीन और स्वादहीन गैसों का एक विशाल आवरण है, इस आवरण को ही वायुमण्डल कहते हैं जो पृथ्वी की एक प्रमुख विशिष्टता है। पृथ्वी पर थलचर, जलचर और नभचर कोई भी वायुमण्डल के प्रभाव से मुक्त नहीं है। वायुमण्डल मानवीय क्रियाकलापों को अनेक प्रकार से प्रभावित करता है। वायुमण्डल के बिना पृथ्वी पर बादल, वर्षा, जलप्रवाह, वायु आदि का अस्तित्व सम्भव नहीं है। मनुष्य थलचर है परन्तु प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से उसके जीवन को प्रभावित करने में वायुमण्डल का, अन्य कोई तत्व समता नहीं रखता। वायुमण्डल के परिवर्तनों का तत्काल प्रभाव मानव जीवन पर पड़ता है। निश्चय ही उन सम्पूर्ण तत्वों में, जो किसी प्रदेश की भौतिक अवस्था §जलवायु, वनस्पति, भूआकार, खनिज और मिट्टी§ का निर्माण करते हैं, जलवायु सर्वाधिक महत्वशाली है क्योंकि जलवायु ही किसी प्रदेश की उपादेयता को निर्धारित करती है। विभिन्न प्रदेशों के मध्य भिन्नता भी जलवायु पर आधारित है। स्पष्टतः जलवायु एक प्रदेश की भौतिक अवस्था का निर्माण करने वाला प्रमुख अवयव ही नहीं वरन् प्रत्यक्ष रूप से इसका प्रभाव वनस्पति, मृदा, अपवाह प्रणाली और प्राकृतिक स्वरूपों पर पड़ता है। अतः भूगोल में वायुमण्डल का ज्ञान नितांत आवश्यक है।

वायुमण्डलीय परतें-

पृथ्वी एक आवरण द्वारा आवृत्त है जिसे भुवः या अन्तरिक्ष कहा गया है §2·2·6, 5·21·2§। इसे ही आधुनिक भाषा में वायुमण्डल कहा जाता है§दुबे,1967-59§। भुवः या अन्तरिक्ष की स्थिति भूः §भूगोल या पृथ्वी§ तथा स्वः §स्वर्ग या द्युलोक§ के मध्य बतलायी गयी है । भुवः इन दोनों के मध्य का सन्धि स्थान है । इसी के मध्य गृहनक्षत्राधिपति सूर्य विद्यमान है §5·21·2-3§। भूः,भुवः तथा स्वः के विभाजन का आधार सूर्य ही है §5·20·45§। अन्तरिक्ष §वायुमण्डल§ की सीमा का निर्धारण वायु §गैसों§ की विद्यमानता के आधार पर किया गया है §5·24·5§ जो यथार्थ एवं वैज्ञानिक है। रामायण में विविध पक्षियों की ऊँचाई पर उड़ान के अनुसार वायुमण्डल के सात प्रदेश बतलाये गये हैं§शुक्ल,1984,58-59§, जिन्हें पुराणकाल में प्रवह,आवह,उद्वह,संवह, विवह,परिवह और परावह के नाम से जाना गया §वा0पु0-49·163,म0पु0-163,22-33, ना·पु·-60·13-35§ भागवतपुराण में यद्यपि इनका उल्लेख नहीं है परन्तु उस काल में मेघ एवं प्रधान पक्षियों की ऊँचाई पर उड़ान आदि का अवलोकन कर वायुमण्डलीय आयाम को ज्ञात करने का प्रयास किया गया §5·24·5-6§।

इस प्रकार से स्पष्ट है कि ये विचार यद्यपि काल्पनिक हैं तथापि हम कल्पना कर सकते हैं कि क्षोभ मण्डल,क्षोभ सीमा,समताप मण्डल,आयन मण्डल एवं अन्य वायुमण्डलीय परतों, जो मानव निर्मित उपग्रहों एवं स्पुतनिक द्वारा ज्ञात की गयी हैं,प्राचीन काल में भी इसी भाँति वायुमण्डलीय आयाम का ज्ञान प्राप्त किया गया था §त्रिपाठी,1969,58§।

वायुमण्डल की संरचना-

भागवतपुराण में वायुमण्डल की अशुद्धता का प्रत्यक्ष उल्लेख मिलता है जहाँ पर धूल के कण §10·87·41§, आर्द्रता §11·28·26§ एवं धूम्र §12·4·12§ इसकी प्रमुख विषय वस्तु कहे गये हैं।

तापमान -

ऊष्मा का प्रधान स्रोत सूर्य है। ऊष्मा के कारण ही धरातल पर पवन सँचार, समुद्री धाराओं का सँचार तथा मौसम एवं जलवायु का आविर्भाव होता है। सूर्य से प्राप्त ऊष्मा से ही भूतल पर सभी प्रकार के जीवों का अस्तित्व सम्भव है। भागवतपुराण में सूर्य को ऊष्मा प्रदान करने वाला कहा गया है §5·21·3§। मौसम में परिवर्तन सूर्य के कारण ही होता है §5·22·3§, जिसके आधार पर किसी स्थान विशेष §अक्षांस§ में तापमान ऋतु के अनुसार उच्च एवं निम्न होता रहता है §10·22·30, 11·18·4, 12·2·10§। सूर्य की तिर्यक् किरणों की अपेक्षा लम्बवत् किरणें अधिक उष्मा प्रदान करती हैं। दिन के विविध भागों-प्रातः,मध्याह्न व सायं में ऊष्मा की अधिक्ता या कमी सूर्य की लम्बवत् किरणों पर आधारित है। मध्याह्न में सूर्य की किरणें भूतल पर लम्बवत् पड़ती हैं जिससे अधिक ऊष्मा की प्राप्ति होती है §6·9·14§। प्रातः व सायं सूर्य का ताप क्रमशः घटता बढ़ता रहता है §10·74·4§। सौर्य ताप से थल भाग की अपेक्षा जल भाग देर में गर्म होता है। अतः जिस समय तक थल भाग गर्म होता है उस समय तक जल भाग अपेक्षाकृत ठण्डा रहता है और उसके सम्पर्क से प्रवाहित होने वाली वायु भी ठण्डी रहती है §8·7·15, 10·18·5§। सूर्य प्रकाश का विसरण, विकरण, सूर्याभिताप और परावर्तन के सन्दर्भ भी असंगत रूप में मिलते हैं। इसके अतिरिक्त सौर्य ताप से कुहरे का विचलन §1·12·10, 6·1·15, 6·13·20§, मेघों की उत्पत्ति §12·4·32§, मेघ विचलन §12·4·33§, वाष्पीकरण §4·22·56, 4·31·15, 11·8·6§ आदि के संकेत मिलते हैं।

ऋतुयें -

जलवायु विषमताओं का अध्ययन विद्वानों द्वारा ऐतिहासिक काल से ही किया जाता रहा है तथा इसी आधार पर वर्ष को छः ऋतुओं में विभक्त किया गया है §5·21·13§। यह विभाजन सूर्य के उत्तरायण, दक्षिणायन एवं विषुव स्थितियों पर आधारित है §5·21·3-6§। इन ऋतुओं के वर्णन से विविध ऋतुओं में तापमान एवं अन्य वायुमण्डलीय दशाओं

का ज्ञान होता है। अन्यत्र वर्ष को तीन मौसमों में विभाजित किया गया है- शीत, ग्रीष्म एवं वर्षा §5·21·13§। इस विभाजन में प्रत्येक ऋतु चार मास की होती है §10·63·1§। प्रत्येक ऋतु की अपनी-अपनी पृथक् महत्ता है। विविध वनस्पतियाँ एवं धान्यादि ऋतुओं के अनुसार ही फूलती फलती हैं §1·10·5§। विविध ऋतुओं का गुणात्मक विश्लेषण भागवतपुराण के आधार पर निम्नवत् है-

1- <u>वसन्त ऋतु</u> - यह ऋतु मधु §चैत्र§ एवं माधव §वैशाख§ मासों से सम्बन्धित है §10·65·17§, इसीलिये इसे "मधुमाधव" भी कहा गया है §11·16·27§। यह अपने सुन्दर दृश्यों, मनोहर, सुखकर एवं स्वास्थ्यकर जलवायु के लिये प्रसिद्ध है §10·65·17-18, 11·4·7-8§। पुराण काल में प्रसिद्ध, सर्वाधिक सुखद मलयानिल इसी ऋतु से सम्बन्धित है §12·8·16§। इस ऋतु में वृक्ष हरे भरे तथा पुष्पों से युक्त हो जाते हैं। भ्रमरों की संगीतमय मधुर गुंजार तथा कोकिल कूजन इसी ऋतु में सुनायी देती है §12·8·16-19§। यह सभी ऋतुओं में सर्वश्रेष्ठ ऋतु मानी गयी है §11·16·27§।

2- <u>ग्रीष्म ऋतु</u> - इस ऋतु को "निदाघ" भी कहा जाता था §10·15·48, 10·22·30§। यह ऋतु ज्येष्ठ और आषाढ़ मास से सम्बन्धित है। उच्च ताप के कारण भयंकर गर्मी इस ऋतु की प्रमुख विशेषता है। इस ऋतु में सूर्य की किरणें बहुत प्रखर होती हैं जो भूतल को गर्म कर देती हैं §10·15·48 तथा 10·22·30§ तथा उसके सम्पर्क से वायु भी अत्यधिक गर्म हो जाती है जिसे "खरवात" कहा जाता था §10·12·23§। ग्रीष्म ऋतु में वाष्पीकरण अधिक होता है §4·22·56, 4·31·15§, वनस्पतियाँ शुष्क हो जाती हैं §10·18·6, 10·20·7§ तथा नदियों में पानी घट जाता है §10·90·23, 11·8·6§। अत्यधिक गर्मी के कारण यह ऋतु सभी प्राणियों के लिये अप्रिय कही गयी है §10·18·2§।

3- <u>वर्षा ऋतु</u> - यह ऋतु "प्रावृष् §1·5·23 व 28§ व "प्रावृट्" §10·20·3§ के नाम से भी जानी जाती थी। श्रावण और भाद्रपद मासों को सम्मिलित कर वर्षा ऋतु का

कृषि की दृष्टि से अत्यन्त महत्व है। यह ऋतु मेघ, वर्षा, विद्युत चमक, मेघ गर्जन, चक्रवात तथा अन्य वायुमण्डलीय तत्वों से सम्बन्धित है। आकाश पूर्णतया मेघाच्छन्न रहता है। सूर्य और चन्द्रमा में भूयशः प्रकाश मण्डल का निर्माण होता है, इन्द्रधनुष भी यदाकदा दृष्टिगत होता है। नदियाँ जलाधिक्य के कारण अपनी घाटी से बाहर होकर प्रवाहित होने लगती हैं। वर्षा काल में भूतल पंक युक्त तथा जल मटमैला हो जाता है जो अत्यधिक मिट्टीक्षरण को स्पष्ट करता है। जल प्राप्ति से पर्वतों के स्रोतों से जल निरन्तर प्रवाहित होता रहता है। पवन वेग से समुद्र भी उत्ताल तरंगों से युक्त रहता है। वर्षा ऋतु में वर्षा जल से सिंचित होकर वनस्पतियाँ हरी भरी हो जाती हैं तथा विविध नवीन वनस्पतियाँ उत्पन्न होती हैं। वर्षा ऋतु के प्रारम्भ में कृषि क्षेत्रों ॥खेतों॥ में बीज बोये जाते हैं जो वर्षा के अन्त में फसल के रूप में तैयार हो जाते हैं। इस ऋतु में खर्जूर और जम्बू के फल पक जाते हैं ॥10·20·3-31॥।

4- <u>शरद् ऋतु</u> - आश्विन और कार्तिक मास शरद् ऋतु के नाम से जाने जाते हैं जो प्राकृतिक सुन्दरता के लिये महत्वपूर्ण हैं ॥10·33·26॥। वर्षा के बाद शरद् ऋतु के आगमन पर यद्यपि आकाश विद्युत चमक एवं मेघों से मुक्त हो जाता है तथापि यदाकदा वर्षा होती रहती है। मेघ, वर्षा द्वारा जल को समाप्त कर स्वच्छ श्वेत रंग के दिखाई देने लगते हैं। नदियाँ एवं जलाशय निर्मल जल से युक्त हो जाते हैं। वर्षा काल में पूरित छोटे-छोटे जलाशयों का जल सूखने लगता है। शरद् ऋतु में दिन के समय बड़ी कड़ी धूप होती है परन्तु चन्द्रमा से युक्त रात्रियाँ बड़ी सुहावनी होती हैं। वायुमण्डल में आर्द्रता रहती हैं। पवनें जलवाष्प के भार से धीमी गति से प्रवाहित होती हैं। समुद्र का जल स्थिर एवं शान्त हो जाता है। इस ऋतु में खेतों में धान की फसल पक जाती है। अतःनवीन धान्यों की प्राप्ति के फलस्वरूप इस ऋतु के अन्त में "आग्रयण" नामक उत्सव नगरों व ग्रामों में मनाया जाता था ॥10·20·32-49॥।

5- <u>हेमन्त ऋतु</u> - हेमन्त ऋतु मार्गशीर्ष और पौष मास में होती है। इस ऋतु में सूर्य के दक्षिणी गोलार्द्ध में चमकने के कारण उत्तरी गोलार्द्ध में ठण्डी पवनें चलती हैं। हिमालय

जो वर्ष भर हिम से ढका रहता है, हिमवान् नाम इन तथ्यों से सार्थक जान पड़ता है। सूर्य की किरणों द्वारा दिन में सामान्य ताप होता है परन्तु रात्रियाँ अधिक ठण्डी हो जाती हैं। शीतल पश्चिमी पवनों का इस ऋतु में सम्पूर्ण देश में प्रभाव रहता है। स्वच्छ मौसम के कारण पर्याप्त खाद्यान्न उगाये जाते हैं। सामान्यतया हिमपात, धुन्ध, कुहरा, ओला आदि वायुमण्डलीय दृश्य उपस्थित होते हैं।

6- शिशिर ऋतु - शिशिर ऋतु माघ एवं फाल्गुन मास से सम्बन्धित है। इस ऋतु में रबी की फसलें पूर्ण विकास पर होती हैं। शीत का प्रभाव कम हो जाता है। तथा मौसम शनैः-शनैः सुखकर होने लगता है।

भागवतपुराण में मौसमों का उपरोक्त वर्णन प्राचीन भारतीयों द्वारा वर्ष §सम्वत्सर§ को छः ऋतुओं में विभक्त कर क्रमबद्ध वैज्ञानिक वर्गीकरण के विचार को प्रस्तुत करता है एवं भारत की जलवायु दशाओं का सही चित्रांकन करता है जो आधुनिक अन्तरिक्षविज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। भारतीयों का यह प्रयास तथा सूक्ष्मतम् अध्ययन आधुनिक वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

पवनें -

जलवायु के सभी तत्वों के अन्तर्गत भागवतपुराण में पवनों का विशेष उल्लेख है। वायु पृथ्वी को चारों ओर से घेरे हुए है। पृथ्वी के निकट ऐसा कोई स्थान नहीं है जिसे वायुरहित कहा जा सके। वायु में गति होती है §3·25·42§। वायु की वृत्तियों के छः लक्षण बतलाये गये हैं- चालन §वृक्षादि की शाखाओं का हिलाना§, व्यूहन §तृणादि को इकट्ठा करना§, सर्वत्रगमन, गन्धादि द्रव्य को घ्राणादि इन्द्रियों के समीप ले जाना, शब्दों को श्रोत्रेन्द्रिय के समीप ले जाना तथा समस्त इन्द्रियों को कार्य शक्ति देना §3·26·37§। वायु का विशेष गुण "स्पर्श" है जो त्वगिन्द्रिय से सम्बन्धित है §3·26·47§। सृष्टि क्रम में जल और अग्नि के बाद वायु की उत्पत्ति मानी गयी है §3·26·53-55§। धरातल पर पवनों के चलने का मुख्य कारण तापमान का

असमान वितरण है। वायु पृथ्वी की सतह के ताप द्वारा गर्म होती है तथा भूमि सतह के ठण्डी हो जाने से ठण्डी हो जाती है ﴾10·12·23, 10·18·5, 10·20·45, 10·29·2।﴿। वायु के गर्म व ठण्डा होने से पवन प्रवाह का घनिष्ठ सम्बन्ध है। ताप से प्रत्येक वस्तु फैलती है तथा ठण्ड से सिकुड़ती है। वायु भी भौतिक वस्तु होने से ताप द्वारा उसमें प्रसार होता है जिस कारण उस ﴾वायु﴿ का दबाव कम हो जाता है। ठण्डी होने से वायु संकुचित होती है और उसके दबाव में वृद्धि होती है। अतः जब कभी वायुमण्डल के किसी भाग में दबाव की वृद्धि हो जाती है तो वहाँ से कम दबाव वाले स्थान की ओर वायु प्रवाहित होने लगती है। इसी प्रवाहित वायु को ही पवन कहा जाता है।

पुराण में पवन उत्पत्ति के दार्शनिक कारण का उल्लेख मिलता है। उल्लेख है कि विराट पुरुष के घ्राण ﴾सूँघने﴿ की इच्छा से उनकी नासिका से वायु की उत्पत्ति हुयी है ﴾3·26·54-55﴿। अन्यत्र वायु कृष्ण भगवान् की प्राण शक्ति के रूप में उपासना के लिये कल्पित हुयी मानी गयी है ﴾10·40·13﴿। वस्तुतः इन कल्पनाओं में वैज्ञानिकता का आभाव है। वायु अवकाश के स्थान में अनायास प्रवेश कर जाती है ﴾12·10·10﴿। यह उल्लेख स्पष्ट करता है कि रिक्त स्थान पर समीप की वायु बड़े वेग से प्रवेश कर जाती है। यह स्थिति तब उत्पन्न होती है जब किसी स्थान पर उच्च तापमान के कारण वायु गर्म होकर ऊपर उठ जाती है तथा वहाँ निम्न दाब उपस्थित हो जाता है । उस निम्नदाब या रिक्त स्थान की पूर्ति के लिये ही समीप की उच्चदाब वाले स्थानों की ठण्डी वायु उस स्थान को बड़े वेग से चलती है।

भागवतपुराण काल में भारतीयों ने पवनों का अध्ययन एवं नामकरण उनकी शक्ति एवं तत्सम्बन्धित जलवायु के दृश्यों के आधार पर किया। यद्यपि आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान के आलोक में उनके वर्णन पूर्णतया साम्यता नहीं रखते है तथापि प्राचीन भारतीयों को पवन गति एवं दिशा का शुद्ध ज्ञान था। भूगोलवेत्ताओं ने पवन की गति के अनुसार उसके पृथक्-पृथक् नाम दिये हैं। प्रत्येक प्रकार की पवन अपना विशेष महत्व रखती है और वायुमण्डल पर इनका विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है। भागवतपुराण कालीन

पवनों के विविध नामों की उनके गुणों के अनुसार ब्यूफोर्ट तालिका से तुलना तालिका 2·1 से स्पष्ट है।

भागवतपुराण में उल्लिखित कुछ प्रमुख पवनों का विवरण निम्नवत् है-

1- वायु - "वायु" शब्द का प्रयोग विभिन्न गति वाली पवनों के लिये किया गया है। कहीं पर मन्द-मन्द प्रवाहित होने वाली धूलरहित सुखदायी पवन को वायु कहा गया है (10·3·4, 10·18·5, 10·29·45, 10·65·18, 20) तो कहीं पर धूल युक्त पूर्ण झंझा के लिये किया गया है जिससे वृक्ष उखड़ जाते हैं, भयंकर धूल उड़ती है तथा भयंकर आवाज करती हुयी प्रवाहित होती है (3·17·5, 10·60·24)।

2-वात्- वात् शब्द का प्रयोग अधिकतर वर्षा युक्त झंझा पवन के लिये किया गया है (10·25·21, 25, 26, 10·30·20, 10·43·27)। अन्य पवनों के लिये भी इसका प्रयोग मिलता है।

3- नभस्वत् - अत्यन्त तीव्र वेग वाली पवनों को नभस्वत् कहा गया है जिसके वेग से वृक्ष उखड़ जाते हैं तथा जल में उत्ताल तरंगे उत्पन्न होती हैं (3·19·26, 10·89·53)। यह वाष्पयुक्त, धुन्ध वाली, मेघाच्छन्न वायु है (आप्टे, 1981, 509)।

4- मारूत् - मरूत् का ज्ञान भारतीयों को ऐतिहासिक काल से था। भागवतपुराण में इन पवनों का मानवीयकरण किया गया है। इनकी संख्या 49 है तथा इन्हें दिति के पुत्र एवं इन्द्र के भ्राता कहा गया है (6·18·61-67)। मरूत् का वर्णन आधुनिक मानसून पवनों से साम्य रखता है। भागवतपुराण में "मरूत्" शब्द का प्रयोग अधिकांशतः वर्षायुक्त आँधी के लिये किया गया है (10·25·9, 10·31·3, 11·4·11)। स्पष्ट है कि ये पवनें बादलों को ले जाकर वर्षा प्रदान करती हैं।

5- चक्रवात - चक्रवात (10·7·20) को चक्रानिल (3·14·24), पवन चक्र (10·7·24),

तालिका - 2·1

पवन प्रकार

ब्यूफोर्ट संख्या	भागवतपुण के अनुसार पवन प्रकार	ब्यूफोर्ट के अनुसार पवन प्रकार	भागवतपुराण के अनुसार पवन की विशेषतायें
1-	आमोद वायु	मन्द वायु	अत्यन्त मन्द, शीतल, सुखदायी पवन, धूम्र ऊपर उठकर पवन की दिशा में प्रवाहित होता है §10·60·5§।
2-	मन्द वायु	मन्द समीर	मन्द-मन्द चलने वाली शीतल अनुकूल पवन §10·35·21§।
3-	अनिल, शिव वायु	धीर समीर	शीतल, मन्द, सुगन्धित, सुखदायक पवन, वृक्षों के पत्र मन्द-मन्द गति से कम्पित होते हैं §3·15·38, 3·23·39, 10·29·21, 10·20·45, 10·66·22§।
4-	पवन,मरुत,वात	अल्पबल समीर या मृदु समीर या मध्यम समीर	पवन कुछ तीव्र होती है धूल उड़ने लगती है, आँधी के साथ वर्षा होती है §8·10·49, 10·7·25, 10·31·3, 10·80·36, 11·4·11§।
5-	खर पवन,खर वात	सबल समीर या ताजा समीर	तीव्र गति से पवन चलती है, धूल पर्याप्त मात्रा में उड़ती है, वायु के झोंकों से जल में गति उत्पन्न होती है §10·1·43,10·7·24,10·12·13§।
6-	समीर,अतिवात	प्रबल समीर या प्रवात	तीव्र गति की वायु है। बाँस के वृक्ष तीव्रगति से हिलकर परस्पर घर्षण करते हैं जिससे दावाग्नि उत्पन्न हो जाती है। तीव्रगति की वायु मेघों को तितर-बितर कर देती है §5·6·8,10·25·15,12·12·47§।
7-	बलीयस् समीर, महावात, श्वसन	अल्पबल झंझा या मृदु झंझा या मध्यम झंझा	आँधी या तूफान का रूप धारण कर पवन प्रवाहित होती है, सम्पूर्ण वृक्ष कम्पायमान हो जाता है, पवन के झोंकों से जल में तीव्र तरंगें उठती हैं, नाव डगमगाने लगती है §8·24·36, 10·15·34, 10·20·14§।
8-	भीम वायु, चण्ड श्वसन्	सबल झंझा ताजा झंझा	भयानक तूफान, धूल अत्यधिक मात्रा में उड़ती है §10·20·6, 10·79·1§।
9-	महानिल	प्रबल झंझा	तीव्र तूफान, जो लघु प्रलय का दृश्य उपस्थित कर देता है §10·80·38§।

तालिका - 2·1 क्रमशः -------

ब्यूफोर्ट संख्या	भागवतपुराण के अनुसार पवन प्रकार	ब्यूफोर्ट के अनुसार पवन प्रकार	भागवतपुराण के अनुसार पवन की विशेषतायें
10-	प्रचण्ड वात, प्रचण्ड पवन, नभस्वत्	प्रचण्ड वात या पूर्ण झंझा या अति प्रबल झंझा	अति प्रबल आँधी के वेग से वृक्ष व स्तम्भ उखड़ जाते हैं, वायु भयंकर आवाज के साथ प्रवाहित होती है, समुद्र में उत्ताल तरंगें उत्पन्न होती हैं तथा भयानक भंवर उत्पन्न होते हैं {3·11·30, 3·17·5, 3·19·26, 8·10·51, 10·44·25, 10·60·24, 10·89·53, 12·9·16}।
11-	सांवर्तक वाति	तूफान या झझांवात	प्रलयकालीन वायु है, अत्यन्त कम आती है परन्तु अत्यधिक विनाशकारी होती है {12·4·12}।
12-	प्रभंजन	प्रभंजन या हरीकेन	प्रलयकालीन वायु है, इसके वेग से समुद्र में भयंकर ऊँची लहरें उत्पन्न होती हैं जिन्हें वर्तमान भौगोलिक भाषा में सुनामिस कहा जा सकता है। यह अत्यन्त कम आती है परन्तु उत्पन्न होने पर सर्वनाश होता है {12·9·14}।

वात्या §10·7·26§ आदि नामों से भी जाना जाता था। तत्कालीन भारतीयों को इसकी पूर्ण ज्ञानकारी थी जिससे सामान्य जनजीवन पर्याप्त प्रभावित होता था। "तृणावर्त" अत्यन्त तीव्र चक्रवात था जिसने पर्याप्त मात्रा में धूल उड़ाकर गोकुल को चारों ओर से ढक दिया, जिससे दृश्यता समाप्त हो गयी। उसके वेग से भयंकर शब्द हो रहा था §10·7·20-25§। गोकुल में ही सात दिन तक असामयिक घनघोर वर्षा का उल्लेख मिलता है जो चक्रवातीय वर्षा को स्पष्ट करता है। उल्लेख है कि गोकुल में असमय ही सांवर्तक मेघ §कपासी वर्षा मेघ§ आकर घनघोर वर्षा करने लगे। विद्युत चमक, मेघ गर्जन तथा प्रचण्ड आँधी के साथ ओले भी गिरने लगे तथा तापमान अचानक निम्न हो गया §10·25·2-15§। स्पष्ट रूप से शीतोष्ण कटिबन्धीय चक्रवात में वर्षा तथा मौसम, भागवतपुराण के उपरोक्त वर्णन से पूर्णतया साम्य रखता है। शीतोष्ण कटिबन्धीय चक्रवात जब आते हैं तो उष्ण वाताग्र में वर्षी मेघों का निर्माण होता है जिससे भारी वर्षा होती है और कभी-कभी हिमपात होता है। शीत वाताग्र में कपासी वर्षी मेघ बनते हैं जिनसे भी भारी वर्षा होती है। वर्षा के साथ मेघ गर्जन तथा विद्युत चमक भी होती है, कभी-कभी ओले भी गिरते हैं। ठण्डी हवाओं के कारण तापमान निरन्तर गिरता जाता है। यद्यपि शीतोष्ण कटिबन्धीय चक्रवात दीर्घ समय के लिये एक स्थान पर स्थिर नहीं रहते, उष्ण कटिबन्धीय चक्रवात ही स्थिर रहते हैं परन्तु गोकुल का उक्त चक्रवात सातदिनों तक गोकुल में स्थित रहा तथा सात दिनों तक निरन्तर वर्षा होती रही §10·25·23-25§। शीतोष्ण कटिबन्धीय चक्रवात में शीत वाताग्र के निकल जाने पर मौसम परिवर्तित होने लगता है। आकाश मेघ रहित होकर स्वच्छ हो जाता है। चक्रवात के विलीन हो जाने पर उस स्थान पर चक्रवात आने से पूर्व की दशायें पुनः स्थापित हो जाती हैं। भागवतपुराण में भी इसी प्रकार से वर्णन है कि सात दिनों तक निरन्तर वर्षा के पश्चात् मेघों ने अकस्मात् वर्षा करना बन्द कर दिया, आँधी भी बन्द हो गयी। आकाश मेघों से मुक्त हो गया जिससे सूर्य दिखाई देने लगा तथा मौसम पूर्ववत् हो गया §10·25·24-33§।

मेघों का निर्माण एवं वर्गीकरण –

धरातल से कुछ ऊँचाई पर लटकती हुयी जलवाष्प की द्रवीभूत

राशि ही मेघ कहलाती है । यथार्थतः मेघ धूलकणों पर रुके सूक्ष्म जलकणों या हिमकणों के समूह मात्र होते हैं। ये कण उठती हुयी पवन द्वारा ग्रहण किये जाते हैं तथा जब तक वे पर्याप्त बड़े नहीं हो जाते, नीचे नहीं गिरते हैं। मेघों के सम्बन्ध में पुराणों का आँकलन अधिक समीचीन है क्योंकि उन्होंने मेघों के प्रकार एवं उत्पत्ति का वर्णन करने का प्रयास किया है (दुबे, 1967, 26)। व्यास जी ने चैतन्य पर्यवेक्षण के आधार पर मेघों एवं तत्सम्बन्धित तत्वों का वर्णन वैज्ञानिक दृष्टि से किया है। मेघ निर्माण, संघनन, ओस और जलवृष्टि का भूयशः उल्लेख मिलता है जो मौसम सम्बन्धी दशाओं के यथार्थ संकेतक कहे गये हैं, अतः ये भौगोलिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। मेघों की रचना एवं वर्षा का कारण सूर्य कहा गया है (12·4·32-33)। सूर्य अष्टमास भूमि जल का शोषण करता है तथा वर्षा काल में पर्जन्य (मेघों) से वर्षा के रूप में भूमि तल पर गिरा देता है (10·20·5)। सूर्याभिताप के कारण जल वाष्प बनता है फलस्वरूप आर्द्रता में वृद्धि होती है और इसी प्रक्रिया से मेघों का निर्माण होता है जो (मेघ) पवनों के आश्रय या आधीन होकर अमृतमयी जल की वृष्टि करते हैं (1·9·14, 3·30·1, 4·31·15, 10·20·5)। मेघों के लिये अभ्र, घन, अम्बुद, बलाहक, पर्जन्य, सांवर्तक, जलौघ, जलद, महामेघ, जलधर, अम्भोद, पयोद, तोयद, अम्बुवाहन आदि कई पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग मिलता है। प्रत्येक शब्द पृथक्-पृथक् अर्थ के द्योतक हैं यथा-

1- <u>अभ्र</u> (2·9·12) - जिन मेघों से वृष्टि नहीं होती है उन्हें अभ्र कहते हैं। वर्तमान भौगोलिक भाषा में इन्हें पक्षाभ मेघ के नाम से जाना जाता है। ये श्वेत रेशम के समान होते हैं तथा हिम के लघु कणों से युक्त होते हैं। इनसे होकर सूर्य और चन्द्रमा की किरणें चमकती हैं। सूर्यास्त के समय ये चमकदार रंग के बन जाते हैं (6·9·13)।

2- <u>मेघ</u> (6·1·37, 10·20·17, 20, 43, 10·25·8) - इन मेघों से वर्षा की प्राप्ति बौछारों के रूप में होती है। आधुनिक सन्दर्भ में इनको स्तरी मेघ या वर्षा स्तरी मेघ के नाम से जाना जाता है। वसन्त ऋतु में ये अल्प वर्षा प्रदान करने वाले, आकाश में परत के रूप में छाये रहते हैं तथा पर्वतों के ऊँचे भागों में पाये जाते हैं।

3- अम्बुद §1·18·26, 10·20·4§ - अम्बुवाहन §2·1·34§, घन §10·12·20§, जलौघ §10·25·10§, जलद §10·20·35§, जलधर §10·3·7§, तोयद §8·11·23§, अम्भोद §3·17·6§, पयोद §10·3·9§, बलाहक §12·9·11§ आदि अम्बुद के ही पर्यायवाची कहे गये हैं। इनके नाम से ही स्पष्ट है कि ये वर्षा ऋतु में वर्षा प्रदान करने वाले मेघ हैं। इन मेघों के साथ विद्युत चमक तथा भयंकर गर्जन होती है। आधुनिक सन्दर्भ में ये कपासी वर्षा मेघ के नाम से जाने जाते हैं। घन श्याम रंग के होते हैं §10·13·46, 10·39·46§ परन्तु सूर्य की किरणों से रक्तवर्ण के दृष्टिगत होते हैं §10·12·20§। अम्बुद का रंग नीला बतलाया गया है §10·20·4, 10·37·2§। जलद वर्षा काल के पश्चात् शरद् ऋतु में श्वच्छ श्वेत रंग के दिखाई देते हैं §10·20·35§।

4- पर्जन्य §10·81·34, 12·4·7§ - ये भी कपासी वर्षा मेघ की ही भाँति वर्षा ऋतु में वर्षा प्रदान करने वाले मेघ हैं। "पर्जन्य" नामकरण इसलिये हुआ है कि ये समस्त प्राणियों को तृप्त करने वाला एवं जीवनदान देने वाला जल बरसाते हैं §10·24·8§।

5- जीमूत §8·6·16§ - जीमूत को भी जीवन दायिनी माना गया है। इनको गहरे नीले रंग का माना गया है।

अन्य वर्गीकरण में मेघों के चार प्रकार बतलाये गये हैं जिनका स्वरूप निम्नवत् है §द्विवेदी, 1969, 284§ -

§अ§ आवर्तक - बड़े-बड़े भंवरों वाला, बहुत सी परतों वाला मेघ।

§ब§ सांवर्तक - जल संचय करने वाला, तूफान व गर्जन के साथ घोर वृष्टिकारी।

§स§ पुष्कर - चित्र-विचित्र वृष्टि करने वाला, ओला व तूफान से युक्त।

§द§ द्रोण - अपरिमेय जल राशि से युक्त मेघ।

उपरोक्त चारों मेघों में से आर्वतक, पुष्कर एवं सांवर्तक मेघों का ज्ञान पौराणिक विद्वानों को था परन्तु भागवतपुराण में केवल सांवर्तक मेघों का उल्लेख मिलता है जो बड़े वेग से आते हैं तथा घनघोर वृष्टि करते हैं §10·25·11, 11·3·11§। रंगों के

आधार पर भी मेघों का वर्गीकरण किया जा सकता है। भागवतपुराण में विभिन्न रंगों वाले मेघों का उल्लेख मिलता है यथा- पीत §3·8·24§, रक्त §10·12·20§, श्याम §4·24·45§, नीले §10·37·2§ तथा अन्य विविध रंगों के मेघ §12·4·12§ आदि।

वर्षा -

वर्षा वायुमण्डल का सबसे महत्वपूर्ण प्राकृतिक दृश्य है। भागवतपुराण में विविध स्थलों पर वर्षा प्रक्रिया के वर्णन उपलब्ध हैं। प्राचीन भारतीयों को यह ज्ञात था कि वर्षा सूर्य एवं पृथ्वी जल अथवा महासागरीय जल के अन्तर्सम्बन्धों का प्रतिफल है §10·20·5§। यह पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है कि मारुत् या मरूद्‌गण मानसूनी पवनें हैं तथा वर्षा से सम्बन्धित हैं। आर्य उत्तरी भारत के जलोढ़ उर्वर मैदानों में निवास करते थे फलतः मरुत् पवनों को अधिक महत्व दिया। प्राचीन भारतीयों को पूर्वी मानसून §पूर्वी मरुत्§ तथा पश्चिमी मानसून §पश्चिमी मरुत्§ पवनों का सम्यक् ज्ञान था और यह भी जानकारी थी कि पूर्वी मरुत् §दक्षिणी पश्चिमी मानसून§ द्वारा वर्षा अधिक होती है §शुक्ल, 1984, 64§। वर्षा ऋतु के आने पर सूर्य और चन्द्रमा में भूयशः प्रकाशमय मण्डल दिखाई देते हैं। वायु, मेघ, विद्युत चमक, मेघ गर्जन आदि से आकाश क्षुब्ध रहता है। मेघाच्छन्न आकाश के कारण सूर्य, चन्द्र एवं तारे अदृश्य रहते हैं तथा घनघोर वर्षा होती है §10·20·3, 4, 23§।

वर्षा के मुख्यतः तीन प्रकार होते हैं - पर्वतकृत वर्षा, संवहनीय वर्षा एवं चक्रवातीय वर्षा। भागवतपुराण में इन तीनों प्रकार की वर्षा के संकेत मिलते हैं। उष्णार्द्र पवन के मार्ग में जब कोई ऊँचा भाग §पर्वत§अवरोधक के रूप में आ जाता है तो पवन को बाध्य होकर ऊपर उठना पड़ता है फलतः वह ठण्डी होकर वर्षा कर देती है। इस प्रकार की वर्षा को पर्वतकृत वर्षा कहते हैं। भागवतपुराण में स्पष्ट उल्लेख है कि मेघ, पवन एवं वर्षा का घनिष्ट सम्बन्ध है। पर्वतीय अवरोध के फलस्वरूप गतिशील मेघों का

पर्वत पर रूकना §10·36·4§ तथा पर्वतों पर निरन्तर घनघोर वर्षा करने §8·11·20, 10·20·15,10·52·10§ के उल्लेख पर्वतकृत वर्षा को स्पष्ट करते हैं।

सूर्याभि ताप के कारण उष्णार्द्र पवनें ऊर्ध्वमुखी होकर प्रवाहित होती हैं, ऊपर जाकर वे पवनें ठण्डी हो जाती हैं और संघनन प्रारम्भ हो जाता है तथाघनघोर वर्षा होती है । ग्रीष्म ऋतु की सभी प्रकार की वर्षा में न्यूनाधिक अंश संवहनीय वर्षा का अवश्य रहता है । अत्यधिक ऊँचाई में मेघों की स्थिति,वायु प्रवाह तथा वर्षा के उल्लेख भागवत पुराण में हैं §5·24·5,8·21·30§। इसके अतिरिक्त समुद्र §12·9·14§ तथा मैदानी भागों में होने वाली वर्षा §1·10·4§ भी संवहनीय वर्षा को स्पष्ट करती है। चक्रवातीय वर्षा का उल्लेख पूर्व में ही §चक्रवात पवनों के सम्बन्ध में§ किया जा चुका है।

भारतीय वर्षा अनिश्चित है। कभी मानसून के बिलम्ब से आने,कभी मानसून काल के पूर्व ही वर्षा हो जाने, अल्पवृष्टि,अतिवृष्टि,अनावृष्टि आदि के कारण ऐतिहासिक काल से ही भारतवासियों को दुर्भिक्षों का सामना करना पड़ता है §9·22·14-15, 9·23·8-9,10·57·32,12·2·10§। ऐसे अवसरों पर जल देवता, वर्षा या मेघों के स्वामी की पूजा करने की परम्परा थी §9·23·9,10·24·8-10§।

अन्य वायुमण्डलीय तत्व-

विद्युत व मेघ गर्जन-

विद्युत,विद्युत चमक,विद्युत वज्र आदि वायुमण्डलीय विघ्न के परिणाम हैं। विद्युत 10·55·26§ को तड़ित §2·6·14§ भी कहा गया है । बड़ी-बड़ी जलबूंदों के टूटने के कारण तड़ित उत्पन्न होती है। प्रत्येक बूंद में धनात्मक और ऋणात्मक विद्युत होती है जो समान मात्रा में होने पर तटस्थ अवस्था में रहती है । बूंदों के टूटने से कहीं धन आवेश तो कहीं ऋण आवेश अधिक हो जाता है । इस अन्तर के कारण तनाव होने से तथा विसर्जन होने से प्रकाश रेखायें चमक उठती हैं जिन्हें विद्युत चमक कहते हैं। भागवत पुराण में इन प्रकाश रेखाओं को तड़ित सौदामनी §8·8·8§

या विद्युत सौदामनी §10·49·27§ कहा गया है, जिनसे दिशायें क्षणमात्र के लिये प्रकाशमान हो जाती हैं। विद्युत की ऊष्मा मेघों को विदीर्ण कर देती हैं §7·10·60§। विद्युत वज्र को "वज्र" §10·55·19, 10·72·36§ या "अशनि" §10·59·6§ कहा गया है।

विद्युत चमकते ही ऊष्मा उत्पन्न हो जाती है जिस कारण तापमान यकायक बढ़ जाता है और वायु तीव्रता से अचानक फैलती है फलतः भयंकर आवाज उत्पन्न होती है। इसे ही "स्तनयित्नु" §8·20·30§ या मेघ गर्जन कहा गया है। विद्युत चमक और मेघ गर्जन का सम्बन्ध अविच्छिन्न रहता है। विद्युत चमक जब होती है तभी मेघ गर्जन भी होती है परन्तु विद्युत चमक और मेघ गर्जन में सदैव अन्तर रहता है। इसका कारण यह है कि प्रकाश का वेग शब्द के वेग की अपेक्षा दस लाख गुना अधिक है अतः सदैव पूर्व में विद्युत चमक दिखलाई देती है तत्पश्चात् कुछ देर से मेघ गर्जन सुनायी देती है। इसीलिये भागवतपुराण में तड़ित के पश्चात् ही "स्तनयित्नु" शब्द का प्रयोग मिलता है §2·6·14, 10·25·9§।

कुहरा -

लघु सीकरों से परिपूर्ण कुहरा एक प्रकार का मेघ होता है जो सामान्य मेघों के विपरीत धरातल के समीप पाया जाता है और धरातल की दृश्यता पर इसका गहरा प्रभाव होता है। कुहरे के अधिक घना हो जाने पर अदृश्यता बढ़ जाती है और अन्धकार छा जाता है। इसीलिये इसका दूसरा नाम "तम" भी है §3·12·33, 10·13·45§। "हिम" शब्द भी कुहरे के लिये प्रयुक्त हुआ है §10·84·33, आप्टे, 1981, 1174§। कुहरे की रचना बहुत अधिक आर्द्रवायु राशि का धरातल के समीप ठण्डा होने से होती है। उष्णार्द्र पवन का तापमान ओसांक बिन्दु से नीचे प्रायः रात्रि में, विशेषकर अन्तिम प्रहर में ही पहुँचता है §10·13·45§ तथा सूर्योदय होने पर सूर्य ताप द्वारा कुहरा विलीन हो जाता है §6·1·15, 6·13·20§।

उपरोक्त के अतिरिक्त आकाश में उपस्थित हिमकण या पाला ﴾10·14·7﴿, ओस या तुषार ﴾10·65·22﴿, हिम ﴾7·5·44﴿, उपलवृष्टि ﴾10·25·9,14, 10·26·25﴿, सूर्य प्रभा ﴾4·31·16﴿, इन्द्र धनुष ﴾1·11·27, 10·20·18﴿, सौर परिवेष तथा चन्द्र परिवेष ﴾1·14·15, 10·20·3﴿, निर्घात ﴾1·14·15﴿, धूल का बवण्डर ﴾3·14·24, 5·13·4﴿, स्वच्छ आकाश ﴾10·20·32﴿, पूर्ण मेघाच्छन्न आकाश ﴾3·17·6, 10·20·4, 8﴿ आदि के सन्दर्भ भी मिलते हैं।

मौसम भविष्यवाणी -

यद्यपि भागवतपुराण में प्रत्यक्ष रूप से मौसम भविष्यवाणी की विधियों का उल्लेख नहीं मिलता है तथापि विविध मौसमों के वर्णन के आधार पर हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि प्राचीन भारतीयों ने मौसम भविष्यवाणी तकनीक का विकास प्राकृतिक विधियों पर किया था। मौसम भविष्यवाणी कृषि के साथ-साथ अन्य सम्बन्धित क्रियाकलापों हेतु अत्यन्त महत्व की रही। ऋतुओं के गहन अध्ययन से यह कहा जा सकता है कि पौराणिक काल में मौसम भविष्यवाणी की निम्न विधियाँ प्रचलन में थीं-

1- पवन की गति एवं दिशा प्रेक्षण के आधार पर मौसम भविष्यवाणी।

2- वृक्षों तथापादप लताओं के परिवर्तन के प्रेक्षण के आधार पर मौसम भविष्यवाणी ।

3- विविध जीव जन्तुओं, पक्षियों, स्तनपायी, मछलियों एवं कीड़ों-मकोड़ों के क्रियाकलापों के प्रेक्षण के आधार पर मौसम भविष्यवाणी।

4- वायुमण्डल में भौतिक परिवर्तनों के प्रेक्षण के आधार पर यथा- सौर परिवेष एवं चन्द्र परिवेष के आधार पर मौसम भविष्यवाणी।

5- विविध ग्रहों, नक्षत्रों एवं तारों की स्थिति, गति, संयोजन इत्यादि के आधार पर मौसम भविष्यवाणी।

6- विविध आकाशीय स्वरूपों यथा- मेघ प्रकार, विद्युत चमक, वायु प्रभंजन, इन्द्र धनुष इत्यादि के अध्ययन के आधार पर मौसम भविष्यवाणी।

अतः स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीयों को जलवायु दशाओं एवं मौसमी दशाओं का पूर्ण ज्ञान था और शुद्ध प्रेक्षण के आधार पर ही उन्होंने भविष्यवाणी करने की तकनीक विकसित की तथा उनका दृष्टिकोण वैज्ञानिक था क्योंकि पृथ्वी एवं वायुमण्डल उनकी प्रयोगशालायें थीं जबकि जीव जन्तु, पेड़-पौधे एवं अन्य प्राकृतिक साधन उपकरण के रूप में प्रयुक्त होते थे।

§स§ जल मण्डल -

पृथ्वी का तीन चौथाई भाग जल से आवृत्त है। धरातल का यह जलवेष्ठित भाग ही जलमण्डल कहलाता है। यद्यपि जल और थल का यह विन्यास देखकर भ्रम हो सकता है कि धरातल पर स्थल की अपेक्षा जल अधिक है, किन्तु भूतल पर समस्त प्राणी वर्ग एवं वनस्पति के विकास के लिये जल थल का यह विन्यास आवश्यक है। समस्त प्राणियों और वनस्पति में भी जल का यथेष्ट अंश देखा जाता है। मानव शरीर में 60 से 80 प्रतिशत, पशुओं में 40 से 50 प्रतिशत, पक्षियों में 75 प्रतिशत, जलजीवों में 80 प्रतिशत तथा वनस्पतियों में 60 से 98 प्रतिशत तक जल का अंश पाया जाता है। इससे स्पष्ट है कि पृथ्वी पर प्रत्येक प्रकार के जीवन का आधार ही जल है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुये भागवतपुराण में जल की आठ वृत्तियों का उल्लेख किया गया है- आर्द्र करना, मृत्तिकादि को पिण्डाकार बना देना, तृप्त करना, जीवित रखना, पिपासा को शान्त करना, पदार्थों को मृदु कर देना, ताप की निवृत्ति करना तथा कूपादि में से निकाल लिये जाने पर पुनः-पुनः प्रकट होना §3·26·43§। पृथ्वी के स्थल भागों में स्थित सभी जल स्रोतों- नदी, कूप, स्रोत, ह्रद आदि का आधार महासागर है §8·3·15§। स्थल पर सर्वत्र जल का वितरण महासागरों से होता है क्योंकि मेघों का निर्माण महासागरीय जल तथा सूर्यताप के अन्तर्सम्बन्धों का ही प्रतिफल है जिसे जलवायु के अध्ययन में स्पष्ट किया जा चुका है। सागर का साहित्यिक अर्थ जलसंग्रह है। यह समुद्र §1·10·5§, अर्णव §1·1·22§, उदधि §1·3·16§, अम्भोद §7·8·32§, सिन्धु §1·6·35§, उदन्वत् §1·8·40§, अब्धि §4·9·11§, पयोनिधि §8·2·§, पयोधि §8·5·10§, नदीपति§5·7·5§ आदि अभिधानों से उल्लिखित हुआ है जिससे इसके भौतिक स्वरूप

तथा अन्य विशेषताओं का परिचय प्राप्त होता है।

समुद्र अपार जलराशि धारण करता है जिसे वह नदियों से प्राप्त करता है §5·17·5-7, 11·8·6, 11·12·12§। सागरीय जल का परिमाण स्थिर है अर्थात् वह वृद्धि क्षय को नहीं प्राप्त करता है§11·8·6§। लवणोदधि या क्षारोदधि §5·20·2§ शब्द सागर की क्षारीयता या लवणता को स्पष्ट करता है। समस्त जलीय रूपों में समुद्र सर्वाधिक विशाल एवं महत्वपूर्ण माना गया है §11·16·20§। "महोदधि" §7·7·45§ तथा "महार्णव" §10·45·37§ शब्द समुद्र की विशालता को स्पष्ट करते हैं। समुद्र सीमा रहित एवं अत्यन्त गहरा है §11·8·5, 11·21·36§। इसलिये वह दुर्गम एवं भयावह है §10·50·29§।

जल मण्डल की उत्पत्ति -

महासागरीय जलराशि का प्रादुर्भाव सृष्टि के प्रारम्भ से ही हुआ माना जाता है। इसका स्पष्ट उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है §ऋ0-10·190·1 तथा द्विवेदी, 1985,167§। भागवतपुराण भी इसी मत का अनुयायी है §3·26·53,60§। सागरों की संरचना के विषय में भूगोलविदों का विचार है कि प्रारम्भ में दृश्यमान जल गैस §वाष्प§ रूप में पर्यावरण में व्याप्त था। शीतल होने पर इस वाष्पीय जल से मेघों का निर्माण हुआ और जलवृष्टि होने से तरलता तथा आकर्षण शक्ति के प्रभाव से यह जल पृथ्वी के निम्न भागों में भर गया जो वर्तमान सागर के रूप में दिखाई देता है। भागवतपुराण में भी प्रलयकाल में पृथ्वी के अतितप्त होने, जलवाष्प का पृथ्वी के चतुर्दिक विद्यमान होने, जलवाष्प द्वारा मेघों का निर्माण व मेघ वर्षण से समुद्र के पूरित होने का स्पष्ट उल्लेख है §12·4·8-13§।

सागरीय तट तथा किनारा -

समुद्र तट तथा किनारे के लिये भागवतपुराण में क्रमशः "वेला" तथा "कूल"

शब्दों का प्रयोग मिलता है §10·67·5§। समुद्र एवं स्थल के मध्य संगम स्थल को समुद्र तट कहा जाता है। समुद्र तट §वेला§ एवं किनारे §कूल§ में अन्तर है। किनारा सागर के उस भाग को कहा जाता है जो निम्नतम तथा अधिकतम ज्वारीय जल की सीमा के मध्य होता है। सागरीय किनारे की रेखा उसे कहते हैं जो किसी भी समय जल तल की सीमा को निर्धारित करती है अर्थात् किनारे की रेखा उच्च तथा निम्न ज्वार के मध्य सागरीय जल की स्थल की ओर की अन्तिम सीमा को प्रदर्शित करती है। सागरीय किनारे से स्थल की ओर का भाग तट कहा जाता है। वस्तुतः तट रेखा उसे कहते हैं जो तट की सागर की ओर की अन्तिम सीमा निर्धारित करती है तथा इस रेखा से स्थल की ओरका भागसामान्य परिस्थितियों में सदैव सागरीय जल से अप्रभावित रहता है। भागवत पुराण के अनुसार समुद्र की सीमा उसकी वेला है §8·24·41, 10·78·3, 11·6·29§। वह अपनी सीमा का अतिक्रमण यदाकदा §भूकम्प, ज्वालामुखी, प्रभंजन आदि कारणों से§ ही करता है §10·67·5§।

महासागरों के प्रकार -

महासागर मानव जाति के पर्यावरण निर्माण में प्रमुख इकाई के रूप में कार्यरत है। महासागरीय विस्तार ज्ञान केवल आधुनिक वैज्ञानिक प्रगति का परिणाम नहीं है अपितु ऐतिहासिक काल में भी व्यापारिक क्रियाकलापों द्वारा यात्रियों को विविध महासागरों के विस्तार का ज्ञान था §मुकर्जी, 1912,53-57, सक्सेना 1960,135-138, भार्गव, 1964, 4-23, राव, 1970,83-107, दास, 1971,69-92§। भागवतपुराण में विविध प्रकार के महासागरों का नामकरण प्रधानतया जल में उपस्थित विविध प्रकार के निक्षेपों एवं पंकों के आधार पर निर्मित रंगानुसार किया गया। अतः लवण या क्षार सागर, इक्षुरसोद सागर, घृतोद सागर, सुरोद सागर, क्षीरोद सागर, दधिमण्डोद सागर एवं स्वादु सागर या शुद्धोद सागर §5·1·33§ से आशय यह नहीं लेना चाहिये कि वे दुग्ध, घृत या सुरा के हैं। स्पष्ट है कि महासागरीय जल स्थान-स्थान पर रंग, लवणता, घनत्व एवं तलीय निक्षेपों के कारण विभेद उत्पन्न करता है।

महासागरों का प्रत्याभिज्ञान -

भागवतपुराण काल तक भारतीयों के सात महासागरों का ज्ञान हो गया था §5·1·31, 10·89·48§। वे महासागर क्षारोद, इक्षुरसोद, सुरोद, घृतोद, क्षीरोद, दधिमण्डोद व शुद्घोद हैं जिनका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है। ये सातों समुद्र सात द्वीपों की परिखा के समान स्थित हैं तथा परिमाण में अपने अन्तर्भाग में स्थित द्वीपों के समान हैं। इनमें से एक-एक क्रमशः पृथक्-पृथक् सात द्वीपों को आवृत्त कर स्थित हैं §5·1·32-33§। क्षारोद सागर जम्बू द्वीप को आवृत्त कर स्थित है जम्बू, प्लक्ष, शाल्मली, कुश, क्रौंच, शक और पुष्कर द्वीपों का प्रत्याभिज्ञान क्रमशः §1§ भारत प्रायद्वीप, चीन, रूस का दक्षिणी एवं पश्चिमी भाग, §2§ भूमध्य सागर तटवर्ती भाग, §3§ कोरिया, मँचूरिया व समीपवर्ती भूभाग, §4§ मध्यपूर्व या अरब देश, §5§ यूरोप, §6§ मानसून एशिया के देशों थाईलैण्ड, वियतनाम, लाओसा, दक्षिणी पूर्वी चीन, मलाया और वर्मा तथा §7§ पूर्वी साइबेरिया से किया गया है §द्वीपों का प्रत्याभिज्ञान सविस्तार प्रादेशिक भूगोल नामक सप्तम् अध्याय में किया जायेगा§। इस आधार पर उपरोक्त महासागरों का प्रत्याभिज्ञान तालिका 2·2 से स्पष्ट है §चित्र-7·7§ -

तालिका - 2·2

सागरों का प्रत्याभिज्ञान

क्रम संख्या	सागर का नाम	अर्थ	निकट-वर्ती द्वीप	प्रत्याभिज्ञान
1-	क्षारोद	लवण सागर §अधिक खारे पानी वाला सागर§	जम्बू	हिन्द महासागर
2-	इक्षुरसोद	गन्ने के रस जैसा गहरे रंग वाला सागर §इसमें शैवाल अधिक मात्रा में रहे होंगे§	प्लक्ष	भूमध्य सागर
3-	सुरोद	सुरा की भाँति रक्त, रक्त पीत या पीत वर्णी सागर	शाल्मली	पीत सागर एवं जापान सागर

तालिका-2·2 क्रमशः -------

क्रम संख्या	सागर का नाम	अर्थ	निकट-वर्ती द्वीप	प्रत्याभिज्ञान
4-	घृतोद	घृत की भाँति §जो सागर पिघले घृत की भाँति दिखता हो, जिसकी सतह पर श्वेत परत मिलती हो अथवा खारापन ऊँचा हो, घृत की परत की भाँति शान्त रहने वाला§	कुश	लाल सागर एवं फारस की खाड़ी
5-	क्षीरोद	दुग्ध की भाँति श्वेत एवं स्वच्छ सागर	क्रौंच	उत्तरी सागर, बाल्टिक सागर, इंग्लिश चैनल एवं बिस्के की खाड़ी
6-	दधिमण्डोद	दही का तोड़, छाछ या मट्ठा, दधि के झाग या रस §आप्टे, 1981, 447, 762§ की भाँति §सम्भवतः टाइफून के कारण यहाँ का पानी छाछ की तरह मथ जाता है§।	शाक	बर्मा की खाड़ी एवं दक्षिणी चीन सागर
7-	स्वादु या शुद्धोद	शुद्ध जल वाला §जो सागर या तो मीठे जल वाला हो या खारापन नगण्य हो§	पुष्कर	ओखोटस्क सागर एवं बेरिंग सागर

कुछ विद्वानों §कृष्णामाचर्लू एवं अली§ ने सुरा सागर या सुरोद सागर का प्रत्याभिज्ञान अफ्रीका के पूर्वी तट पर स्थित हिन्द महासागर के पश्चिमी भाग से किया है किन्तु यथार्थतः सुरा सागर पीत सागर है जिसमें जापान सागर भी सम्मिलित है। रामायण में इसे लोहित सागर कहा गया है। ह्वांग हो §पीली§ नदी 1852 ई0 के पूर्व शाण्टुंग प्रान्त के दक्षिणी सागर में गिरती थी और अपने साथ चीन के मैदानों की टनों पीली मिट्टी सागर में उड़ेलती रहती थी जिसके कारण सागर का जल दूर-दूर तक पीत या रक्त पीत दृष्टिगोचर होता था। इसी कारण किसी देश के निवासियों ने उसको लोहित सागर के नाम से पुकारा

तो किसी ने पीत सागर के नाम से। पुराणकारों ने इसे सुरा, सुरोद या मदिरा सागर का नाम दिया क्योंकि सुरा या मदिरा का रंग लोक परम्परा में रक्तवर्णी ही समझा जाता था §जायसवाल, 1983, 26§। शुक्ल §1984, चित्र - 8·3§ ने भी पीत सागर को ही लोहित सागर माना है।

उपरोक्त महासागरों के अतिरिक्त यत्र-तत्र चार सागरों का उल्लेख मिलता है §9·10·49§। इनमें से पशिचम की ओर स्थित सागर §4·31·2§ अरब सागर, पूर्व की ओर स्थित सागर बंगाल की खाड़ी तथा दक्षिण की ओर स्थित सागर §5·17·9, 10·79·15, 17§ वर्तमान हिन्द महासागर है। उत्तर दिशा में स्थित सागर का प्रत्याभिज्ञान उत्तरी ध्रुव महासागर से किया गया है §5·17·8 तथा शुक्ल, 1984, 69§।

महासागरीय जीव जन्तु -

महासागर मनुष्य के खाद्यपदार्थ का प्रमुख स्रोत है। इस दृष्टि से महासागरों का अत्यधिक महत्व है। सभ्यता के विकास के साथ ही साथ मानव महासागरीय जैववर्ग पर अधिकाधिक निर्भर होता जा रहा है। भागवतपुराण के अनुसार समुद्र जलजीवों के भण्डार हैं §8·10·15§। महासागरीय जैववर्ग के अन्तर्गत तिमि §ह्वेल§, तिमिगिंल §तिमि से भी बड़ी मछली जो तिमि को निगल जाती है, आप्टे, 1981, 429§, द्विप §समुद्री गज§, ग्राह, कच्छप, अहि §समुद्री सर्प§, मकर, मीन, नक्र, गोधा आदि के उल्लेख हैं§2·7·24, 3·10·23, 8·7·18§। सागर तटीय प्रदेशों में मत्स्य व्यवसाय आर्थिक क्रियाकलापों के अन्तर्गत ऐतिहासिक काल से ही महत्वपूर्ण रहा है। भागवतपुराण में उल्लेख है कि समुद्र तटवर्ती क्षेत्रों में मत्स्य आखेट पूर्ण विकसित था तथा मानव समुदाय का एक विशेष वर्ग इस व्यवसाय में संलग्न रहता था §10·55·4, 11·1·23§।

महासागरीय सम्पदा -

समुद्र अक्षय सम्पदा के अनुपम आगार हैं, इसीलिये प्राचीन साहित्य में समुद्र को "रत्नाकार" कहा गया है। भागवतपुराण में कहा गया है कि समुद्र से अभिष्ट वस्तुओं की प्राप्ति होती

है §1·10·5§। समुद्र में शंख §10·45·40-42§, विद्रुम §8·15·16§ मुक्ता §10·41·21§, समुद्र फेन §8·11·39§, विभिन्न प्रकार की मणियाँ §8·8·5§ आदि उपयोगी वस्तुयें अपरिमित राशि में भरी पड़ी हैं, परन्तु ये राशियाँ समुद्र तल में अन्तर्हित अवस्था में हैं §4·22·59§। अतः इन वस्तुओं की प्राप्ति हेतु जल देवता वरूण की उपासना विहित है §2·3·7§। समुद्र के गर्भ में अन्तर्हित अपरिमित राशियों की प्राप्ति के लिये देवताओं एवं दैत्यों द्वारा समुद्र मंथन का उल्लेख है §8·6,8·7, 8·8§।

महासागरीय गतियाँ §तरंगे एवं ज्वार भाँटा §-

सामान्यतः सागर जल कभी शान्त नहीं रहता है, पवनादि उपकरणों या अन्य शक्तियों द्वारा समुद्र तल में अतिशीघ्र उद्वेलन हो उठताहै । अतएव उसकी प्रायः तीन गतियाँ दृष्टिगोचर होती हैं- तरंगें, धारायें एवं ज्वार भाँटा। समुद्र की ये गतियाँ प्राचीन भारतीयों को भली भाँति ज्ञात थी। ऋग्वेद में तरंगों एवं धाराओं का उल्लेख मिलता है §द्विवेदी, 1985, 168-69§ तथा भागवतपुराण में तरंगों एवं ज्वार भाँटा के संदर्भ मिलते हैं ।

तरंगें- पवन के सतत् प्रवाह एवं प्रहार के कारण सागर की ऊपरी सतह के जल में गति उत्पन्न होती है, इस गति के फलस्वरूप मात्र जल का दोलन होता है, परिभ्रमण नहीं। जल का परिभ्रमण उस समय होता है जब पवन जल को धकेल कर एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाती है । प्रायः समुद्र की सतह पर पवन के सम्पर्क में जल का प्रकम्पित होकर अग्रगमन तथा पश्चगमन की क्रिया ही लहर अथवा तरंग कहलाती है जो जल के आन्तरिक भाग की अपेक्षा ऊपरी जल तल पर ही अधिक सीमित रहती है। भागवत पुराण में सागरीय तरंगों के सन्दर्भ मिलते हैं§8·10·51, 10·20·14§ जो पवन गति एवं घूर्णन के अन्तर्सम्बन्धों के परिणाम हैं। भूकम्पीय तरंगों एवं तूफानी तरंगों के सन्दर्भ भी पाये जाते हैं जो सागरतटीय क्षेत्रों में अत्यन्त विनाशकारी प्रभाव दिखाती रहती हैं §3·17·4-7,10·67·5,12·9·12,14§। तीव्र गति से चलने वाली उत्ताल तरंगों सेभयंकर गर्जनहोती है§12·9·12§।समुद्र की लहरेंतभी तक चलतीहैं

जब तक तूफान चलता है। तूफान के शान्त हो जाने पर लहरें भी शान्त हो जाती हैं §12·10·5§। भूकम्प अथवा तीव्र चक्रवातों द्वारा उत्पन्न आवर्त्त §विशाल जल भंवर§ का भी उल्लेख है §12·9·12§।

ज्वार-भाँटा - ज्वार भाँटा समुद्र की अस्थिर गतियों में से एक है। यह गति सागर तल को निरन्तर उच्च-निम्न व अग्र-पश्च करती रहती हैं। सागरीय जल की यह गति अत्यन्त महत्वपूर्ण है तथा मानव जीवन पर इसका गहरा प्रभाव पड़ता है। ज्वार-भाँटे की उपस्थिति ऐतिहासिक काल से ही अध्ययन की प्रमुख विषय रही है। भागवतपुराण में इसका अध्ययन तर्कसंगत एवं वैज्ञानिक है। भागवतपुराण में, ज्वार-भाँटा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दो भिन्न विचार धाराओं का उल्लेख है -

§क§ प्रथम विचार धारा - कच्छप भगवान की श्वासवायु से समुद्र जल को जो धक्का लगा, उसका संस्कार समुद्र में आज भी विद्यमान है तथा उसी श्वास वायु के थपेड़ों के फलस्वरूप समुद्र ज्वार-भाँटे के रूप में दिन रात चढ़ता उतरता रहता है, उसे अब तक विश्राम न मिला §12·13·2§ परन्तु यह विचारधारा नितान्त काल्पनिक है तथा इसमें वैज्ञानिक सत्यता का आभाव है।

§ख§ द्वितीय विचारधारा - यह विचारधारा वैज्ञानिक एवं तर्कसंगत है। महासागरों के किनारे रहने वाले लोग प्राचीन काल से ही ज्वार-भाँटा और चन्द्रमा में सम्बन्ध स्थापित करते रहे हैं। यथार्थतः ज्वार-भाँटा की उत्पत्ति सूर्य और चन्द्रमा की आकर्षण शक्ति से सम्बन्धित है। चन्द्रमा की आकर्षण शक्ति से समुद्र में ज्वार उठने का स्पष्ट उल्लेख भागवतपुराण में मिलता है §10·61·31§। ज्वार-भाँटा यद्यपि अहोरात्र निरन्तर आते हैं §12·13·2§ परन्तु पूर्णिमा या आमावस्या को समुद्र में सर्वाधिक ऊँचाई का ज्वार उठता है §10·61·31, 10·86·11§।

महासागरीय शक्ति -

समुद्र में अग्नि का वास है §8·5·35§। यह ऋग्वैदिक काल से ही भारतीयों

को ज्ञात था §ऋ0-8·102·5 तथा द्विवेदी, 1985,180-81§। विद्वानों के मतानुसार जल के मंथन रूप विद्युत में इस अग्नि का बल है §ऋ0-4·58·11, शर्मा, प्र0सं0,696§। प्राचीन भारतीय प्रबुद्ध आर्य इस तथ्य से पूर्ण अवगत थे किन्तु निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता है कि वे समुद्रों द्वारा जल शक्ति §विद्युत§ सामान्यतः प्राप्त करते थे। वर्तमान वैज्ञानिकों के अनुसार विश्व के भिन्न-भिन्न समुद्रों में उसकी गति §ज्वार§ से लगभग 20 अरब अश्व शक्ति विद्युत् उत्पन्न की जा सकती है तथा अमेरिका, हालैण्ड, फ्रान्स आदि देशों में तो इसका प्रयोग भी किया जाने लगा है। द्वितीया महायुद्ध के पूर्व उत्तरी अमेरिका के केलिफोर्निया प्रान्त में वर्कले नामक नगर में समुद्री लहरों की शक्ति संचित कर लगभग दो करोड़ अश्व शक्ति विद्युत उत्पन्न की गयी । यदि प्राचीन भारत में सामयिक परिस्थितियों में भी समुद्र में विद्युत् §अग्नि§ शक्ति प्राप्त की जाती रही तो निस्सन्देह प्राचीन भारतीय ऋषियों ने चरम वैज्ञानिक उत्कर्ष प्राप्त कर लिया था।

जलमण्डल का उपरोक्त अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि तत्कालीन भारतीयों को समुद्रों के ज्ञान प्राप्ति में रुचि थी। इसके लिये उन्होंने लम्बी महासागरीय यात्रायें की तथा विविध महासागरों के आयाम, रंग, विशेषता, सम्पदा, ज्वार-भाँटा आदि के विषय में अधिकाधिक तथ्यों को एकत्रित किया एवं वैज्ञानिक विश्लेषण किया। वस्तुतः तत्कालीन भारत में समुद्र विज्ञान एक स्वतन्त्र विषय के रूप में विकसित था तथा उसका अध्ययन तत्कालीन विकसित विधियों के अन्तर्गत स्वतन्त्र रूप में किया जाता था।

:: संदर्भ ::

1- आप्टे,वी0एस0 §1981§,संस्कृत-हिन्दी कोश, वाराणसी ।

2- उपाध्याय, बल्देव §1978§,पुराण विमर्श, वाराणसी ।

3- जायसवाल, ए0पी0 §1983§, "रामायण कालीन कोरिया", भूसंगम, अंक-1,इलाहाबाद ।

4- त्रिपाठी, एम0पी0 §1969§,डेवलपमेण्ट ऑफ ज्यॉग्रफिक नालेज इन ऐन्शियंट इण्डिया, वाराणसी ।

5- दास एन0सी0,§1971§,ए नोट ऑन दि ऐन्शियंट ज्यॉग्रफी ऑफ एशिया वाराणसी ।

6- दुबे, बेचन §1967§,ज्यॉग्रफिकल कन्सेप्ट्स इन ऐन्शियंट इण्डिया,वाराणसी।

7- द्विवेदी, के0एन0 §1969§,कालिदास की कृतियों में भौगोलिक स्थलों का प्रत्याभिज्ञान, कानपुर ।

8- द्विवेदी,के0एन0 §1985§,ऋग्वैदिक भूगोल, कानपुर ।

9- भार्गव,एम0एल0 §1964§,दि ज्यॉग्रफी ऑफ ऋग्वैदिक इण्डिया,लखनऊ ।

10- मुकर्जी,आर0के0 §1912§,ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन शिपिंग एण्ड मैरिटाइम एक्टिविटी फ्रॉम अर्लियस्ट टाइम्स, लन्दन ।

11- राव,एस0आर0 §1970§, "शिपिंग इन ऐन्शियंट इण्डिया", इन चन्द्र लोकेश §सम्पा0§,आई0सी0 डब्ल्यू0टी0सी0,मद्रास।

12- वाडिया0 डी0एन0 §1975§ज्यॉलॉजी ऑफ इण्डिया,नई दिल्ली ।

13- विलियम्स, एम0एम0§1981§,ए संस्कृत-इंगिलश डिक्शनरी, वाराणसी ।

14- शुक्ल,आर0के0 §1984§,रामायण-ए स्टडी इन ऐन्शियंट इण्डियन ज्यॉग्रफी §शोध प्रबन्ध § झाँसी ।

15- शर्मा,श्रीराम §सम्पा0,प्र0सं0§,ऋग्वेद,द्वितीय भाग, बरेली ।

16- सक्सेना,डी0पी0 §1960§,ऐन्शियंट इण्डियन ज्यॉग्रफी §शोध प्रबन्ध§,आगरा।

अध्याय - तृतीय

संसाधन एवं व्यवसाय

मानव के विभिन्न उद्देश्यों एवं आवश्यकताओं की पूर्ति अथवा किसी कठिनाई का निवारण करने वाले या निवारण में योग देने वाले आश्रय या स्रोत को संसाधन की संज्ञा दी जाती है। संसाधन के अर्थ को सुस्पष्ट ढंग से समझने के लिये मनुष्य के आन्तरिक ज्ञान और प्रवृत्ति तथा उनकी कुल प्राविधिक सांस्कृतिक क्षमता को एक ओर तथा बाह्यतर पदार्थ जगत् अर्थात् तटस्थ प्राकृतिक तत्वों को दूसरी ओर रखते हुये उन्हें समष्टि रूप में एक ही परिप्रेक्ष्य में रखकर उनके अन्योन्य अन्तर्सम्बन्ध का सम्यक् अध्ययन अपेक्षित है। प्राकृतिक वातावरण में दो शक्तियाँ होती हैं- एक प्राकृतिक साधन या वे प्राकृतिक पदार्थ, तत्व या शक्तियाँ, जिनसे आदिम मानव अपनी आवश्यकतायें पूर्ण करता है और जिन पर सुसंस्कृत या प्राविधिक मानव की छाप नहीं पड़ी है तथा दूसरी ओर प्राकृतिक प्रतिरोधक शक्तियाँ, जो मनुष्य को हानि पहुँचाती हैं और उसकी प्रगति में बाधक होती हैं। निश्चय ही मनुष्य की प्रगति या आवश्यकता पूर्ति की सम्भावना उक्त दोनों शक्तियों द्वारा प्रभावित होती है। आदिम या प्रविधिरहित मानव तटस्थ प्राकृतिक तत्वों से घिरा रहता है जिसे वह किसी भी रूप में प्रभावित नहीं कर पाता। वह किसी तरह अपने निकटवर्ती क्षेत्र से पशुओं की तरह प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति मात्र कर लेता है। वह सक्रिय रूप से प्राकृतिक वातावरण के साथ संघर्ष की स्थिति में नहीं रहता है।

उक्त अवस्था में प्राकृतिक जगत् मनुष्य के लिये प्रतिरोधपूर्ण प्रतीत होता है जिसका कारण मनुष्य की प्राविधिक अक्षमता और अज्ञान है। ऐतिहासिक दृष्टि से मनुष्य लाखों वर्षो तक इस अज्ञान का शिकार रहा। फलतः प्राकृतिक वातावरण से उनके लिये वे साधन प्राप्त नहीं थे जो बाद में सुसंस्कृत मनुष्य को प्राप्त हुये। लगभग 50 हजार वर्ष पूर्व वह पशुओं से कुछ आगे बढ़ा और धीरे-धीरे अपनी प्राविधिक क्षमता बढ़ायी तथा प्राकृतिक वातावरण के साथ सक्रिय समज्जन करने लगा। क्रमशः सक्रिय समज्जन की हर चेष्टा के साथ प्रगति की गति में तीव्रता आती गयी और मनुष्य शनैः शनैः पशु, पौधों एवं खनिजों का अपनी भलाई के लिये उपयोग करने लगा। प्राकृतिक वातावरण में छिटपुट जहाँ तक भी मनुष्य की गति थी, उसकी कृतियाँ उभड़ती गई। जंगली पौधों के स्थान पर फसलें और बगीचे, वन्य पशुओं के स्थान पर पालतू पशु तथा खेत, खलिहान, घर आदि भूदृश्य धीर-धीरे उभड़ते गये।

फलतः प्राकृतिक भूदृश्य के स्थान पर विभिन्न क्षेत्रों में मानवीय भूदृश्य का क्रमशः विकास हुआ।

स्पष्ट है कि प्राकृतिक वातावरण आदिकाल से ही मानव के जीवनयापन एवं सांस्कृतिक विकास के लिये संसाधन आधार रहा है। किसी भी देश काल में किसी भी स्तर की व्यावसायिकी उन प्राकृतिक साधनों पर पूर्णतः निर्भर करती है जिसका उपयोग उन व्यवसायों के द्वारा होता है। स्वयं व्यावसायिकी मानव संस्कृति का एक पक्ष है और विशिष्ट संसाधनों की व्याख्या उस संस्कृति के परिवेश से बाहर रखकर नहीं की जा सकती है। वैदिक एवं सिन्धु सभ्यता के पूर्व के असंस्कृत मानव समाज में ज्ञान, विशेषतः प्राविधिक ज्ञान के निम्न स्तर या अभाव के कारण प्राकृतिक वातावरण के अपेक्षाकृत बहुत कम तत्व या पदार्थ संसाधन थे, परन्तु वैदिक, महाकाव्यकाल एवं पुराणकालीन आर्य प्रबुद्ध आर्य थे। उन्हें प्राकृतिक संसाधन §वायु, शैल, मृदा, खनिज, धरातल, जल, वनस्पति, पशु आदि§ का पूर्ण ज्ञान था तथा मानव संसाधन के महत्व से भी परिचित थे क्योंकि मानव इतिहास के प्रत्येक चरण में मानव सक्रियता के भिन्न-भिन्न प्रतिरूप दृष्टिगोचर होते हैं जिसके द्वारा पदार्थ जगत् की संसाधनता भी निर्दिष्ट होती है।

उपरोक्त तथ्यों को ध्यान में रखकर प्रस्तुत अध्याय में जैविक §प्राकृतिक वनस्पति एवं जीव जन्तु§, कृषि एवं खनिज संसाधनों के विविध पक्षों यथा-प्राकृतिक वनस्पति एवं जीव जन्तु का वर्गीकरण, वितरण एवं उपयोग, भूमि उपयोग, कृषि तकनीक, कृषि यन्त्र, खाद्य फसलें, सिंचन सुविधायें, कृषि के सामाजिक आधार, कृषि सम्पन्नता, खनिजों का ज्ञान, वितरण एवं उपयोग आदि पर प्रकाश डाला गया है। इन संसाधनों का मानव के सामाजिक एवं आर्थिक क्रियाकलापों में महत्वपूर्ण स्थान रहा है। भारत प्राकृतिक साधनों में सम्पन्न देश प्रारम्भ से ही रहा है तथा संसाधन सम्पन्नता के कारण ही प्राचीन काल में भारत सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं विकसित देश था।

§अ§ जीवीय संसाधन एवं उपयोग -

जीवीय संसाधन के अन्तर्गत प्राकृतिक वनस्पति तथा जीव जन्तु सम्मिलित हैं। जीवीय संसाधनों के आधार पर ही मानव का अस्तित्व निर्भर है। प्रस्तुत अध्ययन में प्राकृतिक वनस्पति

एवं जन्तुवर्ग का वर्गीकरण, वितरण तथा उपयोग सम्मिलित है। प्राकृतिक वनस्पति एवं वन्य पशुओं का विशेष साहचर्य मिलता है अतः इनका अध्ययन एक साथ अपेक्षित है।

1- प्राकृतिक वनस्पति -

प्राकृतिक वनस्पति का थलीय संसाधनों में अत्यधिक महत्व है। प्राकृतिक वनस्पति एक महत्वपूर्ण संसाधन ही नहीं, अपितु पर्यावरण की प्रत्यक्ष सूचक या संकेतक भी होती है। वनस्पति जलवायु को अधिक समरूप रखती है, मृदा की उर्वरता में सहायक है एवं किसी भी राष्ट्र के राजस्व का मुख्य स्रोत है। देश की परिस्थितिकी व्यवस्था या जैव सम्मिश्र में इस प्राकृतिक वनस्पति का महत्वपूर्ण योगदान है तथा प्राकृतिक वातावरण के पौष्टिक चक्र में भी इसका केन्द्रीय स्थान है। प्राकृतिक वनस्पति का प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष उपयोग स्वयं सिद्ध है।

प्राचीन काल में देश का अधिकांश भाग वनाच्छादित था तथा इनक वितरण प्रदेश की धरातलीय संरचना या जलवायु पर आधारित था। आर्यो की सभ्यता की प्रमुख विशेषता वनों का वैज्ञानिक संरक्षण रहा है। ऐतिहासिक साक्ष्यों से स्पष्ट है कि आर्यो के जीवन में वनों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। आरण्यकों एवं उपनिषदों का दर्शन सघन वनों में ही विकसित हुआ था। वनों में ही आर्थिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियाँ तथा धार्मिक कार्य किये जाते थे। आदि काव्य रामायण की रचना अरण्य में हुयी। नैमिषारण्य में ही महाभारत तथा कई पुराणों की रचना हुई। अतः यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि भारतीय संस्कृति का प्रादुर्भाव ही वनों में हुआ था। भागवतपुराण काल में भारत का अधिकांश भाग सघन वनों से आपूरित था यथा-नैमिषारण्य, कुरु जांगल, दण्डक वन, वृन्दावन, खाण्डव वन, कैलाश वन आदि।

प्राकृतिक वनस्पति का वर्गीकरण -

वह वनस्पति जो मानव के हस्तक्षेप के बिना पृथ्वी पर प्रसारित है, प्राकृतिक वनस्पति कहलाती है। प्रकृति ने पृथ्वी के विविध भागों में अनेक प्रकार की प्राकृतिक वनस्पति प्रदान की है। भागवतपुराण (3.10.19) में प्राकृतिक वनस्पति को वैज्ञानिक ढंग से वर्गीकृत किया गया है जो निम्नवत् है-

1- <u>वनस्पति</u> - वे विशाल वृक्ष जो बिना मौर आये ही फलते हैं यथा अश्वत्थ,न्यग्रोध आदि।

2- <u>ओषधि</u> - जो फलों के पक जाने पर नष्ट हो जाते हैं, यथा-धान, यव आदि।

3- <u>लता</u> - जो किसी का आश्रय लेकर बढ़ते हैं यथा-ब्राह्मी, गिलोय आदि।

4- <u>त्वक्सार</u> - जिनकी छाल बहुत कठोर होती है यथा-बाँस।

5- <u>वीरूध</u> - जो लता कठोर होने के कारण ऊपर नहीं चढ़ती है बल्कि पृथ्वी पर ही फैलती है यथा-खरबूजा, तरबूजा आदि।

6- <u>द्रुम</u> - जिनमें प्रथम पुष्प आकर फल लगते हैं यथा-आम, जामुन आदि।

भागवतपुराण में प्राप्त सन्दर्भों के आधार पर तत्कालीन भारत में पायी जाने वाली प्राकृतिक वनस्पति को भौगोलिक दृष्टि से निम्न प्रकार से वर्गीकृत कर सकते हैं-

(क) स्थलीय प्राकृतिक वनस्पति - (1) वन समुदाय,
(2) पौधे एवं गुल्म लतायें या झाड़ी समुदाय,
(3) तृण या घास समुदाय।

(ख) जलीय प्राकृतिक वनस्पति।

स्थलीय प्राकृतिक वनस्पति में तीनों प्रकार (वृक्ष समुदाय, झाड़ी समुदाय एवं घास समुदाय) की प्राकृतिक वनस्पतियों का विशुद्ध क्षेत्र तो कदाचित् ही कोई हो। वस्तुतः घास, पेड़-पौधे एवं झाड़ियाँ न्यूनाधिक मात्रा में सर्वत्र मिलती हैं परन्तु जहाँ जिस प्रकार की प्राकृतिक वनस्पति का बाहुल्य हो, उस क्षेत्र को उस वर्ग में सम्मिलित किया जाता है। वृक्ष समुदाय के अन्तर्गत अश्वत्थ, प्लक्ष, न्यग्रोध , उदुम्बर, मन्दार, पारिजात, तमाल, साल, कोविदार, असन, अर्जुन, पनस, हिंग, भूर्ज, पूग या क्रमुक, राजपूग, आम्र, प्रियाल, मधूक, इंगुद, वेणु या वंश, कीचक, कदम्ब, नालिकेर, खर्जूर, बीजपूरक, अरिष्ठ, बदर, अक्ष, अभय, आमलक, बिल्व, कपित्थ, जम्बीर, भल्लातक, शिरीष, कुटज, अशोक, चम्पक, नीप, नाग, पुन्नाग, बकुल, वन्जुलक, पिचुमन्द, सरल, सुरदारु, अर्ण, हरिचन्दन, कर्णिकार, अरणि, शाक, शाल्मलि,शिंशपा, कुम्भ, विद्रुम, कारस्कर, काकतुण्ड, किंशुक, चन्दन, शमी आदि वृक्षों का उल्लेख मिलता है (3·15·19, 4·6·14-18, 30, 4·7·20, 4·16·11, 5·14·12, 5·20·24, 5·26·21, 8·2·10-20, 9·10·30, 10·18·14, 12·9·23, 12·12·15)।

प्राकृतिक वनस्पति के सन्दर्भ में अनेक स्थलों में पुष्पित, फलित विविध गुल्म लताओं तथा पौधों का उल्लेख मिलता है जिनमें रम्भा या कदली, कर्कन्धू, अर्क, तुलसी, करंज , हरिद्रा, शिलीन्ध्र, पाटल, कुरबक, कुन्द, बिम्ब, वररेणुक, कुब्जक, मल्लिका, माधवी, यूथिका या यूथी, स्वर्णयूथी, जाति, जालक, मालती, द्राक्षा, ताम्बूल, कर्कटिका, गुंजा, वेत्र, सोम आदि महत्वपूर्ण हैं §2·7·32, 3·8·27, 3·14·9, 3·21·42, 3·31·2, 4·6·15-16, 5·25·7, 8·2·13, 18-19, 8·16·41, 10·14·1, 10·30·8-9, 10·37·9, 10·75·15, 11·16·16§।

तृण या घास समुदाय में विभिन्न प्रकार की घासों को सम्मिलित किया गया है जिनमें नल, कुश, इषीक §मुन्ज या शर§, दूर्वा, काश, वीरण, दर्भ आदि का उल्लेख है §3·22·31, 4·4·6, 5·3·6, 5·20·13, 8·2·17, 9·21·36, 10·19·2, 5, 10·11·51§। जलीय प्राकृतिक वनस्पति में कमल §श्वेत, रक्त, नीला एवं शतपत्र कमल§, कुमुद §रात्रि में खिलने वाला कमल§ तथा एरका §समुद्री घास§ का उल्लेख है §3·21·9, 5·24·10, 10·90·6, 11·30·20§।

वन प्रकार व वितरण -

सामान्यतः वन प्रकार व वितरण वर्षा वितरण प्रारूप, मृदा के भौतिक एवं रासायनिक विशेषताओं तथा मौसम सम्बन्धी दशाओं पर निर्भर है। इसके अतिरिक्त वनों के वितरण पर ऊँचाई का भी प्रभाव पड़ता है। भारतीय जलवायु की विषमता देश में विभिन्न प्रकार के वृक्षों के विकास के लिये उत्तरदायी है। वर्षा की मात्रा और वितरण के आधार पर प्राकृतिक वनस्पति झाड़ियों, घास के मैदानों अथवा वनों का रूप धारण कर लेती है। अधिक वर्षा वाले प्रदेशों में सघन सदाबहार वन पाये जाते हैं, मध्यम वर्षा वाले प्रदेशों में कंटीली झाड़ियों और छोटे वृक्षों वाले वन पाये जाते हैं। इस आधार पर भागवतपुराणकालीन प्राकृतिक वनस्पति को निम्न वर्गों में विभक्त किया जा सकता है §चित्र-3·1§-

§क§ उष्णार्द्र सदाबहार वन -

अधिक वर्षा वाले भागों में इस प्रकार की वनस्पति पायी जाती है। सामान्यतया

अधिक वर्षा के कारण ये वन चिरहरित §8·2·19§ एवं सघन होते हैं तथा वर्षा की मात्रा में कमी होने से अर्द्ध चिरहरित होते हैं। इस प्रकार के वनों में मुख्य रूप से वंश, चम्पक, बकुल, अशोक, नालिकेर आदि वृक्षों का उल्लेख मिलता है जो हिमालय की तराई §4·6·10-21§ या त्रिकूट पर्वत की तराई §8·2·1-22, त्रिकूट पर्वत का प्रत्याभिज्ञान सह्याद्रि से सम्बन्धित पहाड़ी एवं दक्षिणी पूर्वी श्रीलंका में स्थित पर्वत, दोनों से किया गया है, क-जायसवाल, 1983, 59, ख-द्विवेदी, 1969, 57-59, ग-लाहा, 1972, 35§ में पाये जाते थे। वर्षा की मात्रा के अनुसार न्यग्रोध भी चिरहरित एवं अर्द्ध चिरहरित होता है। वनस्पति की विविधता और अधिकता इन वनों की विशेषता है तथा विभिन्न प्रकार की लताओं, गुल्मों, झाड़ियों एवं छोटे-छोटे पौधों की अधिकता से ये वन दुर्गम होते हैं §1·6·13, 4·6·10, 8·2·3 व· 20§। इन सदाबहार वनों की तलाओं में वेतस् §वेंत§ तथा सोम व झाड़, गुल्मों में नल §नरकुल§ उल्लेखनीय है §8·2·17, 20, 11·16·16§। इन वनों की कुछ प्रमुख प्राकृतिक वनस्पतियों का विवरण निम्नवत है-

1- <u>बाँस</u> - बाँस वृक्षवत् ऊँची घासें हैं जो ग्रैमिनी कुल की एक शाखा बैम्बूसी के अन्तर्गत रखी गयी हैं। इसके लगभग 30 वंश और 550 जातियाँ हैं जो आर्द्र, उष्ण एवं बहिरूष्ण कटिबन्धी क्षेत्रों में पायी जाती हैं। इनकी 136 जातियाँ भारत में पायी जाती हैं जिनमें अधिकतर का मूल स्थान भारत ही है। भागवतपुराण में इसकी चार जातियों का संकेत मिलता है §4·6·18, 8·2·20, 11·8·33§ - वेणु §कण्टक हीन ठोस बाँस§, वंश §सकंटक ठोस बाँस§, कीचक §कण्टक हीन पोला बाँस§, तथा सकण्टक कीचक §कण्टक युक्त पोला बाँस§। यह झाड़ में उगता है §6·1·14, 11·1·4§। तत्कालीन भारत में हिमालय की तराई में बाँसों की सघन पट्टियाँ पायी जाती थीं §4·6·18§। सह्याद्रि या श्रीलंका में भी बाँस के वनों का विस्तार था §8·2·20§। इन वनों की मुख्य समस्या संरक्षण की होती है क्योंकि प्रायः वनों के परस्पर घर्षण से दावानल उत्पन्न हो जाती है जिससे वन जलकर नष्ट हो जाता है §3·1·21, 3·4·2, 5·6·8§।

बाँस मजबूत, चिकने, हल्के और कठोर होते हैं। खोखलेपन, चीरे जाने की सरलता,

आकार में विशाल परिसर आदि गुणों के कारण यह अनेक कार्यो में उपयोग में लाया जाता था। प्रमुखतः झोपड़ी या मकान निर्माण §11·8·33§, अन्य इमारती कार्यों में, सीढ़ी, बाड़, पुल आदि बनाने, चारपाई, लाठियाँ, डण्डे व छड़ियाँ §12·8·33§, पंखे, खिलौने, संगीत वाद्य §10·21·11§, भाले, बर्छियों के डण्डे, धनुष वाण, टोकरियाँ आदि बनाने में इसका प्रयोग होता था।

2- चम्पक - साधारणतया 30 मीटर ऊँचा, बेलनाकार तने, सुगन्धित पुष्पों तथा सुन्दर पर्णावली वाला यह सदाबहार वृक्ष हिमालय, गंगा यमुना दोआब तथा सह्याद्रि अथा लंका में पाया जाता था §4·6·15, 8·2·10, 10·30·6§। आर्द्र जलवायु में यह सर्वोत्तम पनपता है।

3- नकुल - नकुल या मौलश्री हिमालय, गंगा यमुना दोआब तथा सह्याद्रि या श्रीलंका में पाया जाने वाला यह छोटे से बड़े आकार का सदाबहार पुष्प वृक्ष है। पश्चिमी घाट के आर्द्र सदाबहार वनों में इसके वृक्ष बृहद् आकार के होते हैं। यह औषधीय वृक्ष हैं। पुष्प सुगन्धित होते हैं जिनसे इत्र निकाला जाता है, बीज की गिरी से तेल निकाला जाता है। लकड़ी अति कठोर, मजबूत, भारी तथा टिकाऊ होती है §प्रकाश, 1979, पंचम भाग, 246§।

4- अशोक - यह सीधे तने वाला ऊँचा सदाबहार सुन्दर वृक्ष है जो श्रीलंका के अपेक्षाकृत शुष्क क्षेत्रों का देशज है §चड्ढा, 1976, चतुर्थ भाग, 129§। तत्कालीन श्रीलंका में अशोक बृक्षों की बहुलता थी §9·10·30§। इसके अतिरिक्त दक्षिणी प्रायद्वीपीय भाग §ऋक्ष पर्वत 4·1·17-18, त्रिकूट पर्वत-8·2·10-18§, हिमालय §4·6·15§ तथा गंगा यमुना दोआब §10·23·21§ में अशोक के विस्तृत वन थे। आर्द्र तथा उष्ण क्षेत्रों में इसका विकास अधिकतम होता है। लकड़ी नरम तथा हल्की होती है।

5- वेतस् या वेत्र - यह ताड़ की लगभग 390 जातियों का वंश है जो उष्ण कटिबन्धीय तथा उपोष्ण प्रदेशों के प्राकृत तत्वों में पाया जाता है। इसकी लगभग 30 भारतीय जातियाँ हैं जिनमें से प्राचीन भारतीय वेत्र की पहचान कैलामस रोटैंग से की गयी है जिसका तना पतला किन्तु मजबूत होता है तथा जो मध्य एवं दक्षिणी भारत में पाया जाता है §प्रकाश,

1972, द्वितीय भाग, 230-232)। तत्कालीन भारत में भी वेत्र की प्राप्ति का उल्लेख दक्षिणी भारत (त्रिकूट) में मिलता है (8·2·17, 20, 8·4·17)। इसकी अनेक जातियों के तने 90 मीटर तक लम्बे, सामान्यतः बेलनाकार, एक समान मोटे, ठोस, लचीले, प्रत्यास्थ व दृढ़ होते हैं। बाहर की सतह कड़ी, चिकनी तथा मजबूत होती है जिसका उपयोग बुनाई, टोकरी वँ पात्र बनाने, विशेष फर्नीचर उद्योग में व्यापक रूप से होता है। तत्कालीन भारत में इसका उपयोग दण्ड के रूप में होता था (7·5·16, 10·12·2, 10·13·11)।

6- <u>नल</u> - नरकुल हिमालय एवं त्रिकूट पर्वत में दलदलों, झीलों अथवा सरिताओं के किनारे पाया जाता था (1·6·13, 8·2·17)। यह मोटे विसर्पी प्रकन्द से युक्त, तना ऊर्ध्व, 6 मीटर तक ऊँचे, दृढ़, खोखले, पास-पास गांठों वाले, पत्तियाँ रेखीय भालाकार, पुष्प गुच्छ लम्बे, भूरे तथा दाने दीर्घायत होते हैं। वर्तमान भारत में इसका उपयोग छप्पर, चटाइयाँ, डोलचियाँ, कुर्सियाँ, बाड़, मछली के जाल, झाड़ू, रस्सी आदि बनाने के लिये होता है (प्रकाश, 1979, पंचम भाग, 99-100)।

(ख) उष्णकटिबन्धीय मानसूनी पतझड़ वन -

ये वन मध्यम वर्षा वाले प्रदेशों में पाये जाते हैं। ग्रीष्म ऋतु के आते ही इन वनों के वृक्षों की पत्तियाँ झड़ जाती हैं जिससे उनकी नमी नष्ट न हो सके। इस भाग में वर्षा इतनी अधिक नहीं होती कि वृक्ष दुर्गम हो जाँय। वृक्षों के नीचे पर्याप्त सूर्य का प्रकाश पहुंचता रहता है अतः मुँज, काश, कुश, दूर्वा, यवस्, वीरण आदि घासें उग आती हैं। इन वनों के प्रमुख वृक्ष अश्वत्थ , न्यग्रोध, प्लक्ष, उदुम्बर, आम्र, चन्दन, प्रियाल, मधूक, पनस, साल, ताल, तमाल, असन, अर्जुन, आम्रातक, बीजपूरक , आमलक , जम्बू, अक्ष, अभय, बिल्व, कपित्थ, जम्बीर, भल्लातक, कोविदार, अरिष्ट, शिरीष, शिंशपा, पिचुमन्द, वेणु, अर्ण, शाल्मली आदि हैं। इस प्रकार के वन मुख्य रूप से हिमालय पर्वतीय निम्नभाग या तराई, उत्तरी भारत का मैदानी भाग, सह्याद्रि अथवा श्रीलंका तथा दण्डकारण्य में पाये जाते थे (4·6·10-21, 8·2·1-22, 10·30·5-9)। इन वनों के कुछ प्रमुख वृक्षों का विवरण निम्नवत् है-

1- <u>अश्वत्थ</u> - यह क्षीरी एवं विशाल पर्णपाती वृक्ष छोटी आयु में अधिपादपी होता है। बीज अन्य वृक्ष की खोड़रों में भी उग आता है (9·14·44) तथा अति तीव्र गति से वृद्धि को प्राप्त करता है। शाखायें फैली हुई, पत्र अण्डाकार, हृदयाकार, गोल व सुडौल होते हैं। प्राचीन भारत में यह वृक्ष बहुत पवित्र माना जाता था तथा आज भी इसे हिन्दू व बौद्ध धर्म में पवित्र माना जाता है। इसके नीचे आसन लगाकर प्राचीन भारतीय मनीषी अध्यात्म चिन्तन किया करते थे (1·6·16, 11·30·42)। वनस्पतियों में इसे सर्वश्रेष्ठ माना जाता था (11·16·21)। काष्ठ सामान्य कठोर व पानी में टिकाऊ होता है।

2- <u>न्यग्रोध या वट</u> - यह क्षीरी वृक्ष है (4·18·25)। वायवीय जड़ें (जटायें) निम्नगा होती हैं (5·16·24) जो नीचे की ओर फैलकर सहायक तनों में विकसित होकर पार्श्वीय तनों के विस्तार में योग देने वाली होती हैं। इसीलिये इसका नाम न्यग्रोध अर्थात् नीचे की ओर फैलने वाला है। यह वृक्ष बहुत विशालकाय और दीर्घायु होता है। कैलाश (हिमालय) में स्थित ऐसे विशालकाय सघन वट वृक्ष का उल्लेख है जिसके चतुर्दिक सदा अविचल छाया बनी रहती थी (4·6·31-32)। यद्यपि कैलाश में ऐसे वट वृक्ष की स्थिति असम्भव प्रतीत होती है किन्तु अति विशाल वट वृक्ष आज भी भारत में यत्र तत्र विद्यमान हैं। यह वृक्ष तत्कालीन भारत के वन प्रदेशों में उपहिमालयी क्षेत्र, उत्तरी मैदान तथा सह्याद्रि या श्रीलंका में सर्वत्र मिलता था (4·6·17, 8·2·12, 10·30·5)। यह वृक्ष शुष्क स्थानों में कुछ समय के लिये पर्णपाती होता है तथा अन्यत्र सदापर्णी होता है। वृक्ष का काष्ठ इमारती दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण तथा जल में चिरस्थायी होता है।

3- <u>प्लक्ष</u> (4·6·17, 8·2·12)- यह विशाल फैलने वाला क्षीरी वृक्ष प्रारम्भिक अवस्था में अधिपादपीय होता है और कभी-कभी इसकी कुछ वायवीय जड़ें नीचे लटक आती हैं। वृक्ष कई प्रकार का होता है जो सम्पूर्ण भारत में पाया जाता है। लकड़ी धूसर और सामान्य कठोर होती है।

4- <u>ताल</u> - इसे "तृणराज" भी कहते थे (10·15·32, 37)। इसे उष्ण अफ्रीका का देशज कहा जाता है (प्रकाश, 1979, पंचम भाग, 174)। यह अपेक्षाकृत शुष्क क्षेत्रों में

पाया जाता है परन्तु तत्कालीन भारत में गंगा यमुना दोआब §वृन्दावन§ में ताड़ वृक्षों की अधिक्ता की §10·15·21-27§। इसके अतिरिक्त हिमालय की तराई व सह्याद्रि अथवा श्रीलंका में ताड़ के वृक्ष पाये जाते थे §4·6·14, 8·2·12§। यह 12 से 18 मीटर ऊँचा होता है तथा कभी-कभी 30 मीटर तक ऊँचा हो जाता है और ऊपरी भाग विशाल हो जाता है §10·15·33§। पंखे जैसी पत्तियों का शीर्ष होता है। पत्तियाँ लम्बी व नुकीली §5·26·15§ तथा रेशेदार होती हैं तना कठोर, श्याम रंग का, अनुदैर्ध्य कड़े रेशों से निर्मित होता है। शाखायें नहीं होती हैं। यह सीधा लम्बाई में होता है §10·66·34§। पुष्प नवम्बर दिसम्बर में आते हैं। फल बड़ा, रसयुक्त, सुगन्धित व खाद्य होता है §10·15·25§।

5- चन्दन - इसके वन मलय पर्वत §नीलगिरी से कन्याकुमारी तक विस्तृत पश्चिमी घाट का एक भाग, लाहा, 1972, 291§ में पाये जाते थे §1·8·32§। इसे मलय पर्वत का मूल निवासी बतलाया गया है। इसीलिये इसका नाम "मलयज" भी था §10·35·21§। यह अपनी सुगन्ध व शीतलता के लिये प्रसिद्ध था §1·8·32, 10·90·19§। यह चिरहरित वृक्षहै पर परजीवी होता है। इसकी पौध परजीवन के बिना मात्र दो वर्ष तक रह सकती है। इसकी जड़ें हास्टोरिया के सहारे दूसरे वृक्षों की जड़ों में जुड़ जाती हैं और यह गठबन्धन आजीवन रहता है §राय, 1982, 17§। इसीलिये भागवतपुराण में इसे "अव्यक्तमूल" §3·8·29§ कहा गया है जो पूर्णतः वैज्ञानिक एवं यथार्थ है। इस परजीवी वृक्ष के मुख्य परिपोषक असन, खदिर, सिरिस, अमलतास, हरड़, नागफनी, नीम, मदार व अन्य वृक्ष हैं। यह वृक्ष मध्यम आकार का होता है जिसमें नवीन कोपलें, फूल तथा फल वर्ष में दो बार आते हैं। वृक्ष का पका काष्ठ ही इसका बहुमूल्य भाग होता है जिसे सुगन्धित चन्दन कहते हैं। इसके काष्ठ से शरीर में लगाने का लेप बनाया जाता था §4·26·12, 11·27·32, 11·30·7§। नक्काशी लिये भी इसका काष्ठ बहुत उपयुक्त होता है अतः इसकी मूर्तियाँ बनायी जाती थीं §10·27·12§। धार्मिक कार्यों में इसका विशेष महत्व था §9·4·31, 11·6·46§।

6- मधूक - यह मध्यम से विशाल आकार का पर्णपाती वृक्ष है। मार्च-अप्रैल में पीत श्वेत पुष्प लगते हैं जो खाद्य होते हैं। मई-जून में फल पकते हैं। बीज तेल देने वाले होते हैं। काष्ठ भारी व टिकाऊ होता है।

भागवतपुराणकालीन भारत
प्राकृतिक वनस्पति
वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय सीमायें
किलोमीटर
100 0 100 200 300 400 500
संकेत
उष्णार्द्र सदाबहार वनस्पति
उष्ण कटिबन्धीय मानसूनी वनस्पति
अर्द्ध उष्ण कटिबन्धीय शुष्क मानसूनी वन
उष्ण कटिबन्धीय शुष्क मरुस्थलीय वनस्पति
पर्वतीय क्षेत्रों की प्राकृतिक वनस्पति
समुद्रतटीय प्राकृतिक वनस्पति
द क्षि ण सा ग र (क्षा र सा ग र)
68° पू०
72°
76°
80°
88°
92° पू०
96°
उ०
36°
32°
28°
24°
20°
16°
12°
8°
84°
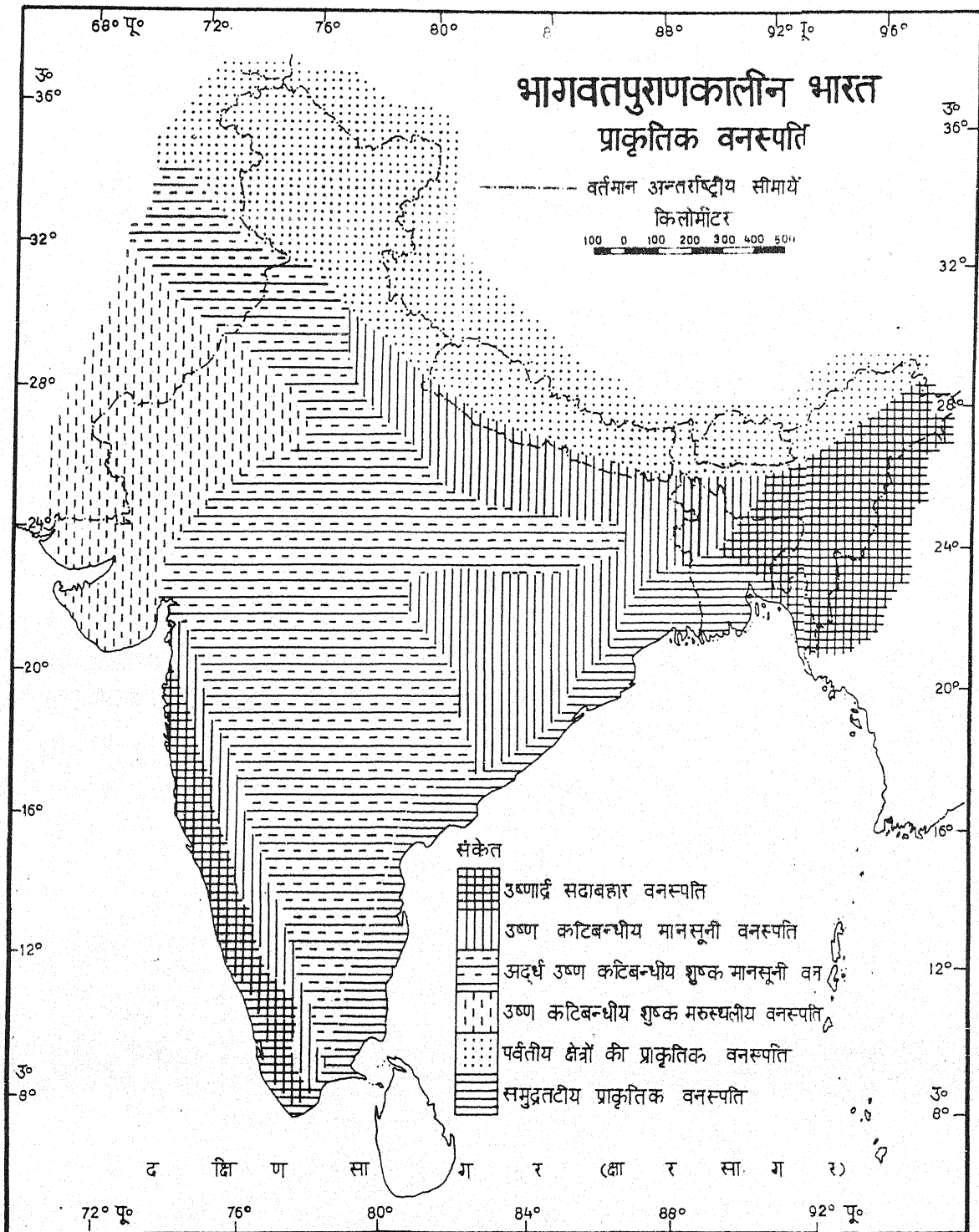
(चित्र-3.1)

7- <u>आम्र</u> - यह भारत का सर्वाधिक लोकप्रिय एवं उत्कृष्टतम फल है जिसका लगभग 4000 वर्ष पूर्व भारत में उगाये जाने वाले फलों में नाम आता है (चड्ढा, 1981, षष्ठ भाग, 58)। यह 10 से 45 मीटर तक ऊँचा, विशाल गुम्बदाकार छत्र और सुदृढ़ तने वाला वृक्ष है। भारत में इसके 1200 से अधिक प्रकार उगाये जाते हैं। प्राचीन काल में इसकी सुगन्धित मंजरी से इत्र बनाया जाता था।

8- <u>कपित्थ</u> - यह भारत तथा श्रीलंका का देशज है और भारत के मैदानों में सर्वत्र मुख्यतः शुष्क परिस्थितियों में पाया जाता है। तत्कालीन भारत में उत्तरी भारत के जलोढ़ मैदान में इस वृक्ष की बहुलता थी (4·8·72, 10·11·43, 10·26·9)। इसका फल खाद्य पदार्थ के रूप में उपयोग में लाया जाता था (4·8·72)। काष्ठ कठोर, भारी एवं टिकाऊ होता है।

9- <u>बिल्व</u> - यह औषधीय पतझड़ वृक्ष है जिसमें कक्षीय कांटे सीधे, नुकीले, पत्तियाँ त्रिपर्णी एवं गन्धयुक्त होती हैं। यह उत्तरी भारत तथा सह्याद्रि अथवा श्रीलंका में पाया जाता था (8·2·14, 10·30·9)।

(ग) अर्द्ध उष्ण कटिबन्धीय शुष्क मानसूनी वनस्पति -

इस प्रकार की प्राकृतिक वनस्पति मुख्य रूप से सिन्धु बेसिन, गंगा घाटी का पश्चिमी भाग व मध्य भारत में पायी जाती थी जिनमें दर्भ, कुश, शर, काश आदि घासें प्रमुख थीं, जिन्हें सवाना तुल्य घास के वर्ग में रखा जा सकता है। इस वर्ग की प्राकृतिक वनस्पति के मुख्य वृक्ष किंशुक, बदरी, कर्कन्धू, शिंशपा , पिचुमन्द आदि हैं।

1- <u>किंशुक</u> - यह प्राचीन काल में अति प्रसिद्ध तथा उपयोगी वृक्ष रहा है जिसके पत्र एवं काष्ठ आदि का उपयोग धार्मिक कृत्यों में होता था। यज्ञ आदि में पलाश आदि की समिधायें प्रयुक्त होती थीं। इसके विस्तृत वन ऋक्ष पर्वत (नर्मदा के उत्तर में स्थित वर्तमान विन्ध्य श्रेणी का मध्यवर्ती क्षेत्र) में स्थित थे (4·1·17-18)।

2- <u>बदरी</u> - यद्यपि यह प्राचीन भारत में समस्त उत्तरी एवं उत्तरी पश्चिमी भारत में पाया जाता था परन्तु भागवतपुराण में इसके विस्तृत वन का उल्लेख विशेषतया सरस्वती नदी के पश्चिम में मिलता है §1·7·2-3§। इसका फल खाद्य पदार्थ के रूप में उपयोग में लाया जाता था §4·8·72§।

3- <u>शिंशपा</u> - यह झुके तने वाला तथा हल्के छत्र वाला पर्णपाती वृक्ष है जो सूखा प्रतिरोधी तथा तुषार सह होता है। लकड़ी भूरे रंग की, कठोर, टिकाऊ तथा उत्तम होती है।

§घ§ उष्ण कटिबन्धीय शुष्क मरुस्थलीय वनस्पति -

ये वन उन क्षेत्रों में पाये जाते थे जहाँ वर्षा अत्यन्त कम होती थी। यहाँ विशेषतः ऐसे वृक्ष एवं झाड़ियों की अधिकता होती है जो जल की कमी को सहन करने में सक्षम होते हैं। वृक्षों की जड़ें लम्बी, पत्तियाँ कम तथा कांटे अधिक होते हैं। इन वनों में खर्जूर §4·6·18§, अर्क §10·30·9§ तथा कण्टकद्रुम §सम्भवतः बबूल या कीकर, 9·11·19§ आदि का उल्लेख है- .

1- <u>खर्जूर</u> - यह सम्पूर्ण भारत में 1500 मीटर की ऊँचाई तक पाया जाने वाला, विशाल छत्र वाला शानदार ताड़ है जो 10 से 16 मीटर तक ऊँचा होता है। यह ग्रीष्म के प्रारम्भ में पुष्पित होता है तथा वर्षा ऋतु में पकता है §10·20·25§। फल खाद्य होता है। तत्कालीन भारत में यह हिमालय की तराई, उत्तरी जलोढ़ मैदान तथा सह्याद्रि अथवा श्रीलंका में पाया जाता था।

2- <u>अर्क</u> - यह 2·4 से 3·0 मीटर तक ऊँची झाड़ी या लघु वृक्ष है जिसमें गन्धरहित पीत, नील, लोहित या श्वेत रंग के पुष्प लगते हैं। यह सम्पूर्ण भारत में पाया जाता है। बीजों पर उत्कृष्ट, कोमल व चमकीला रेशमी तन्तु होता है। यह औषधीय वनस्पति है।

§ङ० § पर्वतीय क्षेत्रों की प्राकृतिक वनस्पति -

पुराणकालीन भारत में पर्वतीय क्षेत्र §विशेषतः हिमालय§ सघन वनों से आच्छादित

थे। हिमालय पर्वतीय क्षेत्र में ऊँचाई के अनुसार प्राकृतिक वनस्पति में विविधता पायी जाती थी। सबसे निम्न भाग में अर्द्धउष्ण कटिबन्धीय वन पाये जाते थे जिनमें अश्वत्थ, प्लक्ष, न्यग्रोध, पारिजात, असन, अर्जुन, आम्र, मधूक, जम्बू, प्रियाल, वेणु आदि वृक्ष तथा इससे भी अधिक ऊँचाई पर पर्वतीय वनस्पति में भूर्ज वृक्ष (4·6·10-21) की प्राप्ति का उल्लेख है -

1- सरल (चीड़) - लम्बे, शाखाहीन तने वाला यह वृक्ष सीधा ऊपर को बढ़ता है इसीलिये इसका नाम सरल पड़ा। अनुकूल परिस्थितियों में यह 54 मीटर तक ऊँचा हो जाता है। हिमालय में यह 2400 मीटर की ऊँचाई तक पाया जाता है। सामान्यतः यह सदाबहार वृक्ष है लेकिन शुष्क परिस्थितियों में अंशतः या पूर्णतः पर्णपाती हो जाता है। लकड़ी लोहित, कठोर व उपयोगी होती है। वर्तमान समय में इससे तारपीन का तेल व बिरोजा प्राप्त किया जाता है। तत्कालीन भारत में यह हिमालय व त्रिकूट पर्वत में पाया जाता था (4·6·14, 8·2·13)।

2- सुरदारु (देवदार) - त्रिकूट पर्वत में अधिक ऊँचाई पर इसकी प्राप्ति का उल्लेख मिलता है। (8·2·13)। यह वृक्ष साधारणतया 30 मीटर ऊँचा तथा 10 मीटर मोटा होता है। लकड़ी कठोर, भूरी, पीत, सुगन्धियुक्त, टिकाऊ तथा उपयोगी होती है।

3- भूर्ज - यह वृक्षों और झाड़ियों की लगभग 38 जातियों का वंशज है जो हिमालय श्रेणी में मिलता है। यह औषधीय जाति का वृक्ष है। प्राचीनकाल में कागज के आविष्कार से पूर्व इसकी छाल को लेखन कार्य के लिये प्रयुक्त किया जाता था। इसकी छाल कागज के समान पतली कई पत्रों वाली होती हैं। भागवतपुराण कालीन भारत में यह केवल हिमालय में अधिक ऊँचाई पर पाया जाता था (4·6·17)।

(च) समुद्रतटीय प्राकृतिक वनस्पति -

ये वृक्ष सदाबहार होते हैं जो चौड़े बालूदार समुद्र तटों में पाये जाते हैं। इन वनों में नालिकेर (नारियल) व पूग (सुपारी) का उल्लेख मिलता है-

1- नालिकेर - यह एक ऊँचा और शानदार ताड़ है जो पूर्णतः प्रौढ़ होने पर 24 मीटर तक ऊँचा हो जाता है। तना मजबूत, शाखाहीन, सीधा, कुछ-कुछ तिर्यक् होता है तथा शीर्ष पर पिच्छाकार पत्तियों का मुकुट होता है। फल अण्डाभ, लम्बा और एक बीज वाला होता है। भारत में यह अधिकांशतः दक्षिणी भारत के समुद्र तटीय भागों और नदियों के मुहानों में पाया जाता है। तत्कालीन भारत में भी इसकी प्राप्ति का उल्लेख केवल समुद्रतटीय भाग में है (8·2·11)।

2- पूग या क्रमुक - यह एक ऊँचा पतला ताड़ है। तने के ऊपर पक्षवत् पत्तियों का मुकुट होता है। पके फलों का रंग चटकीला नारंगी होता है। फलावरण कठोर व रेशेदार होता है। इसकी गिरी सुपारी कहलाती है। इसका मूल स्थान मलाया बतलाया जाता है। यह एक समुद्री जाति है जो तट से 400 किमी० की दूरी तक तथा 900 मीटर की ऊँचाई तक पनपता है (प्रकाश, 1979, पंचम भाग, 151), किन्तु तत्कालीन भारत में समुद्रतटीय भागों (8·2·11) के अतिरिक्त सम्पूर्ण उत्तरी भारत तथा हिमालय में भी इसकी प्राप्ति का उल्लेख है (4·6·17, 4·9·54, 4·21·3, 9·11·28, 10·41·23, 10·54·57)।

यह आर्द्र उष्ण कटिबन्धीय जलवायु का वृक्ष है। सूखा हानिकर है। प्राचीन भारत में यह ताम्बूल के साथ खाने में प्रयोग होता था। इसे केले के साथ बोया जाता है इसीलिये भागवतपुराण में अधिकतर केले के साथ इसका उल्लेख मिलता है (9·11·28, 10·41·23, 10·54·57)। इसका फल धार्मिक कार्यों में प्रयुक्त होता था तथा हरा वृक्ष केले के साथ द्वार या राजपथ के किनारे मांगलिक कार्यों के अवसर पर सजाये जाते थे (4·9·54, 4·21·3, 9·11·28, 10·41·23, 10·54·57)।

भागवतपुराणकालीन भारत के प्रमुख वनों में कैलाश वन (हिमालय पर्वत श्रेणी में स्थित), चैत्ररथ वन (यमुना के स्रोत के उत्तर तथा भागीरथी के पश्चिम देहरादून और मसूरी के चतुर्दिक का वन), नन्दन वन (हिमालय पर्वत श्रेणी में स्थित), नैमिषारण्य (लखनऊ से 45 मील उत्तर पश्चिम में स्थित वन), कुरूजांगल (गंगा एवं उत्तर पांचाल का मध्यवर्ती क्षेत्र), खाण्डव वन (मेरठ से दिल्ली तक का प्रदेश), बदरीवन (सरस्वती नदी के पश्चिम

में स्थित वन), वृन्दावन (यमुना तट पर मथुरा के समीप स्थित वन), दण्डकारण्य (बुन्देलखण्ड से कृष्णा नदी तक का क्षेत्र), पलाशाशोक वन (ऋक्ष पर्वत, नर्मदा के उत्तर स्थित विन्ध्य श्रेणी का मध्यवर्ती भाग), त्रिकूट वन (सह्याद्रि या श्रीलंका) आदि उल्लेखनीय हैं (1·1·4, 1·7·2-3, 1·10·34, 3·23·40, 4·1·17-18, 4·6·10-21, 8·2·1-22, 8·15·12, 9·11·19, 10·11·35-36)।

वनों एवं घासों का उपयोग -

ऐतिहासिक काल से ही मानव ने वनों से अपनी आधारभूत आवश्यकताओं यथा- ईंधन, आश्रय एवं भोजन प्राप्त किया। भागवतपुराण काल में वन मानव के लिये बहुत लाभकारी थे तथा वनों के उपयोग का ज्ञान तत्कालीन भारतीयों को था। वनों पर शासकों का आधिपत्य होता था तथा समाज की आर्थिक सम्पन्नता के लिये ये प्रमुख स्रोत थे। भागवतपुराण काल में वनों से प्राप्त होने वाले लाभों को निम्न प्रकार से स्पष्ट किया गया है-

1- वनों का उपयोग चरागाहों के रूप में होता था (10·11·28-38, 10·13·6-12, 10·15·1-2, 40, 10·19·1-2, 10·35·8)।

2- वन ईंधन के प्रमुख स्रोत थे तथा वनवासी इनको साफ किया करते थे (7·5·17, 10·22·34)। कोयले (10·22·34) का उल्लेख स्पष्ट करता है कि तत्कालीन भारतीय लकड़ी से कोयला बनाते थे तथा कोयले से ताप शक्ति प्राप्त करते थे।

3- भवन (11·8·33), शकट (10·7·8), रथ (10·58·13) पर्यंक (3·31·26), पीठक (10·11·8) दधि मथने की मथानी (10·9·4), पादुक (10·11·8), शिविका (5·10·1), नावें (1·5·14), पोत (10·2·30), हल (10·68·40), धान कूटने का मुसल (10·79·4), काष्ठपात्र (4·4·6), भाण्ड (टोकरी, 10·11·11), खिलौने व मूर्तियाँ (6·12·10, 10·11·7, 10·58·46, 11·27·12), यज्ञ के यूप व चाषाल (4·19·19) तथा विभिन्न प्रकार के वाद्य यन्त्र यथा- वेणु (10·21·2), तुरही, मृदंग, नगारे, डमरू (8·10·7),

दुन्दुभ §7·8·36§ आदि काष्ठ से ही निर्मित होते थे। साल, उदुम्बर, ताल, देवदार, चन्दन एवं बाँस प्रमुख वृक्ष थे जो आर्थिक उपयोगिता के कारण महत्वपूर्ण माने जाते थे। पुराणकालीन भारत में आर्यों का एक वर्ग तक्षक या तवष्ट्रा §बढ़ई§ काष्ठोद्योग की अर्थकरी आजीविका अपनाये था। ये काष्ठ से विभिन्न वस्तुयें निर्मित करते थे तथा महीन और नक्काशी का भी कार्य करते थे।

4- वनवासी ऋषि वृक्षों से प्राप्त होने वाली छाल का प्रयोग वल्कल वस्त्र के रूप में करते थे §7·13·39, 11·5·21§।

5- विविध प्रकार के पाउडर, गन्ध §इत्र§ §10·15·45, 10·22·34§, श्रृंगार प्रसाधन सामग्री §अंगराग, 10·8·23§ एवं अंगलेप §अनुलेप या आलेप, 8·21·6, 10·42·3,5§, अगुरू §10·80·21§, अंजन §7·12·12, 10·29·7§, कुंकुम §केसर, 10·32·13, 10·38·8§ आदि वन संसाधनों से ही प्राप्त किये जाते थे। इनमें चन्दन का लेप सामान्यतः सभी लोगों द्वारा प्रयोग में लाया जाता था।

6- फल एवं जड़ें वनवासी ऋषियों का प्रमुख खाद्य पदार्थ थीं §11·18·2§, जो समीपवर्ती वनों से आसानी से प्राप्त की जाती थीं। यह भी उल्लेखनीय है कि फलों का उपयोग पेय पदार्थों एवं चटनी के लिये किया जाता था।

7- पेय पदार्थों के रूप में उपयोग में लाये जाने वाले सुधासव, मैरेयक मधु §मदिरा§, वारुणी मधु §मदिरा§ तथा महत्वपूर्ण सोमरस का निर्माण विभिन्न प्रकार की प्राकृतिक वनस्पतियों से ही किया जाता था §10·10·19, 10·48·5, 11·16·16, 11·30·12§।

8- तत्कालीन भारत में मधु §10·34·3, 11·8·15-16§ भोजन का प्रमुख अंग थी तथा सामान्यतया सभी लोग इसका प्रयोग करते थे। यह वनों से आसानी से उपलब्ध हो जाती थी। मिष्ठानों के निर्माण में भी इस प्रयोग किया जाता था §10·38·38§।

9- विविध औषधीय जड़ीबूटियाँ भी तत्कालीन भारत में वनों से प्राप्त की जाती थीं।

10- गोंद, लाख, धूप, सुगन्धि हेतु जलाया जाने वाला अगुरु आदि भी वनों से ही प्राप्त किये जाते थे §3·1·6, 10·6·34, 10·22·34, 10·80·22§। "लाक्षा भवन" §3·1·6§ का उल्लेख सिद्ध करता है कि तत्कालीन भारत में लाख उद्योग विकसित अवस्था में था।

11- घासें भी वृक्षों के समान महत्वपूर्ण थीं। प्राथमिक रूप से घासों का उपयोग चारे के रूप में तथा यज्ञ कार्य के लिये होता था §4·24·10, 10·15·40§। इसके अतिरिक्त झोपड़ी बनाने, चटाई बुनने, टोकरी बनाने रस्सी बटने आदि के लिये होता था §1·3·18, 4·4·6, 7·12·20, 8·18·24§।

12- धार्मिक दृष्टिकोण से भी विविध वृक्ष, वनस्पतियाँ, घासें आदि महत्वपूर्ण थीं। बिल्व, पलाश, देवदार, प्लक्ष आदि वृक्षों की लकड़ियाँ यज्ञों एवं धार्मिक कार्यों में प्रयुक्त होती थीं §11·27·40§। चन्दन, सुपारी, केला, तुलसी, ताम्बूल, कुश आदि वृक्ष, वनस्पतियाँ एवं घासें धार्मिक एवं माँगलिक कार्यों की दृष्टि से महत्वपूर्ण थीं §4·24·10, 5·3·6, 10·41·23, 44, 11·27·18§।

उपरोक्त सन्दर्भों से स्पष्ट है कि तत्कालीन मानव का अस्तित्व वनस्पति पर निर्भर रहा है। भवन, कृषि, औषधियाँ, रंग आदि के लिये मानव वन संसाधनों पर ही निर्भर था। इस काल में मानव वृक्षों का सीमित उपयोग ही कर सका है जैसा कि भागवतपुराण में उपलब्ध साक्ष्यों से स्पष्ट होता है।

§2§ जीव जन्तु -

मानव का कल्याण जीव जन्तुओं के कल्याण से सम्बन्धित है। तत्कालीन भारत में जीव जन्तु संसाधन का प्रत्यक्ष प्रभाव कृषि विकास, स्वास्थ्य एवं आर्थिक सम्पन्नता पर देखने को मिलता है। पशुपालन आर्यों का मुख्य उद्यम था। अतः मानव जीवन में पशु एवं पशु

उत्पादों का विशेष महत्व था। प्राचीन भारत में गौ एवं वृष् अत्यन्त महत्वपूर्ण थे। वस्तुतः समाज के सभी वर्ग पशुओं के संरक्षण एवं पशुपालन में सक्रिय थे परन्तु वैश्यों का यह मुख्य उद्यम था {10·24·20-21}। पशुपालन का महत्व भागवतपुराण में उपलब्ध "घोष" {चरागाह वाले गाँव, 7·2·14} से स्पष्ट है। जीव जन्तु दक्षिणा एवं उपहार के रूप में भी दिये जाते थे {1·12·14, 10·58·50-51} तथा इन्हें धन के रूप में माना जाता था {10·8·42, 10·11·29}। तत्कालीन भारत में पशु प्रजनन विज्ञान विकसित था। वृषों का प्रयोग यातायात के साधनों व कृषि के लिये महत्वपूर्ण था। सेना की आवश्यकताओं को दृष्टिगत रखते हुये अश्वों, हस्तियों, उष्ट्रों एवं अश्वतरों के वैज्ञानिक प्रजनन एवं विकास पर अत्यधिक ध्यान दिया जाता था। कुछ जनपद उत्तम नस्ल के हस्तियों एवं अश्वों के लिये प्रसिद्ध थे तथा इनकी माँग दूसरे जनपदों में बनी रहती थी {10·69·35}।

जीव जन्तुओं का वर्गीकरण -

भागवतपुराण में जीव जन्तुओं एवं पक्षियों की उत्पत्ति सम्बन्धी लोक कथा का उल्लेख है {6·6·21-29}। व्यास जी ने कई स्थलों पर विविध दृष्टिकोणों से जीव जन्तुओं का वर्गीकरण किया है यथा-

{क} शारीरिक विशेषताओं के आधार पर वर्गीकरण {3·10·21-24} -

1- <u>एक शफ वर्ग</u> - खर, अश्व, अश्वतर, गौर, शरभ, चमरी आदि एक खुर वाले पशु इस वर्ग में सम्मिलित हैं।

2- <u>दिशफ वर्ग</u> - गो, अश्व, महिष, कृष्णमृग, सूकर, गवय, रूरु{मृग}, अवि{भेंड़} उष्ट्र आदि दो खुर वाले पशु इस वर्ग के अन्तर्गत हैं।

3- <u>पन्चनख पशु वर्ग</u> - श्व, श्रृगाल, वृक, व्याघ्र, मार्जार, शश, शल्लक, सिंह, कपि, गज, कूर्म, गोधा, मकर आदि पंचनख वाले इस वर्ग में आते हैं।

4- <u>पक्षी वर्ग</u> - कंक, गिद्ध, बाज, बटेर, भास, भल्लूक, मयूर, हंस, सारस, चकवा, उलूक आदि गगनचारी पक्षी वर्ग में सम्मिलित हैं।

§ख§ उत्पत्ति के प्रकार के आधार पर वर्गीकरण §3·7·27§ -

1- गार्भ - नाल से आबद्ध तथा गर्भ से उत्पन्न होने वाले जीव इस वर्ग में आते हैं यथा- गो, अश्व, हस्ति, मृग आदि।

2- द्विज - पक्षी एवं सर्प अण्डज वर्ग में सम्मिलित हैं। दो बार जन्म लेने के कारण इन्हें "द्विज" कहा गया है।

3- स्वेदज - स्वेद से उत्पन्न होने वाले खटमल आदि इस वर्ग में आते हैं।

4- उद्भिद् - धरा फोड़कर निकलने वाले वृक्ष वनस्पति आदि उद्भिद् कहलाते हैं।

उपरोक्त के अतिरिक्त उभयतोदतः §बिना पैर वाले§, बहुपदाः §अनेक पाद वाले§, चतुष्पादः §चार पाद वाले§, द्विपाद § दो पाद वाले§ आदि वर्ग §3·29·30§, जलचर, खग, मृग, सरीसृप, क्षुद्र जन्तु आदि वर्ग §1·15·25, 2·6·12, 8·2·22§ तथा ग्राम्य एवं अरण्य पशु आदि वर्ग §2·3·18, 8·2·7§ भी उल्लेखनीय हैं।

जीव जन्तुओं के उपरोक्त वर्गीकरण वैज्ञानिक एवं तर्कसंगत प्रतीत होते हैं। भौगोलिक दृष्टिकोण से भागवतपुराण में उल्लिखित विविध जीव जन्तुओं को निम्न प्रकार से वर्गीकृत कर अध्ययन कर सकते हैं -

§क§ थलीय जीव जन्तु -

स्थलीय भाग में निवास करने वाले जीव जन्तुओं के ग्राम्य एवं अरण्य दो वर्ग किये गये हैं-

1- ग्राम्य या पालतू पशु - प्राचीन काल में मानव एवं जीव जन्तुओं के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध था। वैदिक साहित्य में हमें मानव की आदिम अवस्था के स्वरूप एवं जीव जन्तुओं के सम्बन्धों के सन्दर्भ मिलते हैं। मानव जब अपने प्रारम्भिक अवस्था में था, अपनी आर्थिकी के प्रारम्भिक चरणों में उसने जीव जन्तुओं को पालतू बनाना सीखा §सक्सेना, 1976, 83§ तथा मनुष्य

की धन सम्पदा प्रधानतया अधिकाधिक संख्या में गो,वृष,अश्व,हस्ति,अवि,अजा,खर,एवंअश्वतरों में थी। भागवतपुराण में पालतू पशुओं में गो, वृष, महिष्, अश्व, अजा, अवि, गज, उष्ट्र, खर, अश्वतर, श्व, वराह आदि का उल्लेख है §1·18·43, 2·3·19, 3·2·29, 3·13·19, 10·11·32, 10·19·2, 10·57·18, 10·71·16, 11·17·48§।

हिन्दू समाज में गो की महत्ता प्रारम्भिक काल से ही सर्वश्रेष्ठ रही है। पुराण काल में गो के साथ ब्राह्मण का उल्लेख आर्य सभ्यता का द्योतक था §8·9·14, 43, 10·11·18§। गो ब्राह्मणों को धार्मिक क्रियाकलापों, जन्म या विवाह आदि अवसरों पर उपहार या भेंट स्वरूप प्रदान की जाती थी §9·20·26, 10·5·3, 10·58·50§। वृषों का प्रयोग भार ढोने, शकट , हलों, दाँय खूँदने आदि कार्यो में होता था §4·9·21, 5·25·7, 10·5·32, 10·71·16§।

अश्वों का प्रयोग सवारी करने, रथ खींचने, दान व उपहार में देने के लिये किया जाता था §1·12·14, 10·1·30, 10·56·13, 10·68·50§। सेना के चार अंगों §10·50·8§ में दो अंग §अश्वारोही एवं रथ§ अश्व पर आधारित थे। इस प्रकार युद्धादि में इनका महत्व स्पष्ट है। अश्वमेध यज्ञों में अश्व का बलिदान भी होता था §4·24·5§। भागवतपुराण में उत्तम नस्ल के अश्वों का उल्लेख है §1·12·14§। सिन्धु जनपद के अश्व उत्तम नस्ल के माने जाते थे §10·69·35§, जहाँ से इनका निर्यात अन्य जनपदों को होता था। उष्ट्रों का प्रयोग बोझा ढोने के साथ सवारी के लिये भी होता था §10·71·16§।

वैदिक काल में आर्यो को हस्तियों का ज्ञान था। वैदिक काल के अन्तिम चरण में इन्हें पालतू बनाने के सन्दर्भ मिलते हैं §सक्सेना, 1976, 87§, परन्तु वैदिक साहित्य में यह उल्लेख नहीं है कि इनका प्रयोग युद्ध में भी होता था। सम्भवतः रामायण काल से युद्धादि में हस्तियों का प्रयोग प्रारम्भ हुआ §शुक्ल, 1984, 94§। पुराणकाल में हस्तियों का प्रयोग सवारी करने, दान एवं उपहार में देने तथा युद्धादि में होता था §1·12·14, 8·10·8, 10·68·50, 10·17·16§। युद्धादि के उद्देश्य से इनको निरन्तर प्रशिक्षण दिया जाता था। ऐरावत, ऋषभ, पुष्करचूड़, वामन एवं अपराजित उत्तम नस्ल के गज

माने जाते थे §5·20·39, 8·8·4§। दुग्ध, माँस एवं ऊन के लिये अजा एवं अवि पाली जाती थीं §10·38·41, 12·2·14§। गृह की देख-भाल व शिकार में सहायता के लिये श्व§कुत्ते§ पाले जाते थे तथा शूद्र वर्ण के कुछ लोग माँस के लिये सूकर भी पालते थे §1·18·33, 2·3·19§।

2- वन्य जीव जन्तु - वन्य जीव जन्तुओं में सिंह, व्याघ्र, सूकर, महिष, रूरू, शरभ, गवय, खंग§गैंडा§, हरिण, शश, शल्लक, वृक, श्रृगाल, ऋक्ष, गज, चमरी, गोपुच्छ, मर्कट, गौर, कृष्णसार, सालावृक, मार्जार आदि का उल्लेख है §2·7·42, 3·10·23, 5·8·18, 5·13·2, 8·2·21-22, 10·15·13, 10·56·18, 10·58·15, 11·21·8§। प्रत्यक्षतः कुछ ही वन्य पशु मानव के लिये लाभदायक हैं तथापि वे पारिस्थितिक सन्तुलन बनाये रखने में महत्वपूर्ण योग देते हैं।

§ख§ जलीय जीव जन्तु -

जल जीवों में गोधा, मकर, कूर्म, ग्राह, नक्र, मत्स्य, तिमि§ह्वेल§, तिमिगिंल §ह्वेल से भी विशाल मत्स्य§, मण्डूक, शंख, जलूक, दिप, अहि आदि का उल्लेख है §2·7·24, 3·10·23, 4·29·76, 8·2·27, 8·7·18, 10·20·9, 10·45·42, 10·55·4§। भारत के तटवर्ती महासागर, झीलें, नदियाँ एवं सरोवर जलजीवों से समृद्ध थे। प्राचीनकाल में जलजीवों विशेषकर मत्स्य आखेट मानव के आर्थिक एवं विकास तन्त्र की महतवपूर्ण क्रिया रही है।

§ग§ पक्षी -

भारत के विभिन्न भागों में भौगोलिक वातावरण की विभिन्नता के कारण अनेक आकृतियों, रंगों एवं आकारों के पक्षी पाये जाते हैं। भागवत पुराण में निम्नलिखित 30 पक्षियों का उल्लेख है जो तत्कालीन भारत की जीव सम्पदा के महत्वपूर्ण अंग थे तथा जिनसे देश की आर्थिक व्यवस्था एवं मानव के अन्य पक्ष प्रभावित थे-

हंस, कारण्डव, चक्रवाक, सारस, जलकुक्कुट, दात्यूह (जलकाक), कोयष्टि, वक कुरर आदि जल के किनारे रहने वाले पक्षी हैं (4·24·21, 8·2·16, 11·9·2, 11·23·39), जिनका मुख्य आहार जलीय जन्तु एवं कीड़े-मकोड़े हैं। गरूड़, गृध्र, श्येन, भास, भल्लूक, उलूक, कंक आदि मांस भक्षी शिकारी पक्षी हैं (3·10·24, 5·26·35, 6·6·27, 10·59·8)। शुक एवं पारावत (कबूतर) आदि शाकाहारी पक्षी हैं (1·1·3, 3·23·20) जिनका आहार फल, फूल, पत्ते, बीज एवं अन्न हैं। कोकिल, वट, कुक्कुट तित्तिर, चकोर, सर्वभक्षी पक्षी हैं (3·10·24, 4·25·19, 5·26·35, 6·9·5, 7·2·52, 10·15·13, 10·70·1)।

मांस के लिये पक्षियों का शिकार किया जाता था (7·2·50) तथा मनोरंजनार्थ पिंजड़ों में बन्द कर पाला भी जाता था (3·31·9)। मयूर अपनी सुन्दरता के लिये प्रसिद्ध था तथा इसके पंख सौन्दर्य प्रसाधन के रूप में उपयोग में लाये जाते थे (10·12·4)। वर्तमान में प्रतिवर्ष देश से इनके पंखों का निर्यात कर विदेशी मुद्रा प्राप्त की जाती है। कोकिल अपनी प्रिय ध्वनि के लिये प्रसिद्ध है।

क्षुद्र जन्तु -

उपरोक्त जीव जन्तुओं के अतिरिक्त अनेक क्षुद्र जन्तुओं के नाम भागवतपुराण में उपलब्ध हैं जो प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप में मानव जीवन को प्रभावित करते थे। क्षुद्र जन्तुओं में नकुल, सर्प, वृश्चिक, कृकलास, दन्श, दन्दशूक, मशक, यूका, मत्कुण, मक्षिका, रूरू, मूषक, उर्णनाभि, वल्मीक, पिपीलिका, झिल्ली, भृंग, खद्योत, कोशकार, मधुकार, शलभ, पतंग, पेशस्कर, कृमि आदि का उल्लेख है (1·6·9, 3·21·19, 44, 3·30·26, 5·13·3,5, 5·14·5, 5·26·11-18, 6·1·52, 7·3·15, 7·13·34, 8·10·47, 10·20·8, 10·54·30, 10·64·3, 10·67·7, 11·29·49)। विविध सरीसृपों में सर्प का स्थान महत्वपूर्ण है। सर्प कई प्रकार के होते हैं जिनमें अजगर, बिना फण वाले सर्प तथा फण वाले नाग प्रमुख हैं (4·18·22, 10·12·16)। बिच्छू, दन्दशूक, रूरू

आदि भी विषैले जीव थे जो मनुष्यों और पशुओं को पीड़ा पहुंचाते थे। मशक, दन्श, यूका तथा मत्कुण भी देश के जनजीवन को प्रभावित करते थे। मूषक एवं शलभ फसलों को क्षति पहुंचाने वाले जन्तु थे §5·14·5§। मानव के लिये उपयोगी जन्तुओं में कोशकार §रेशम का कीड़ा§ तथा मधुकार §मधुमक्खी§ का स्थान महत्वपूर्ण था जिनसे रेशम और मधु प्राप्त होता था §3·23·15, 11·8·15-16§।

जीव जन्तुओं का वितरण -

विविध प्रकार की भौगोलिक पारिस्थितिक कारकों के अनुसार ही किसी भी प्रदेश में जीव जन्तुओं का वितरण निर्धारित होता है। भारत में जीव जन्तुओं के वितरण के प्रभावशाली कारक धरातलीय स्वरूप, जलवायु, जलप्रवाह एवं वनस्पति हैं परन्तु मानव ने भी इसमें महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। प्राकृतिक वनस्पति एवं जीव जन्तु में विशेष साहचर्य मिलता है। भोजन की उपलब्धता के आधार पर इनका वर्गीकरण आहारानुसार भी किया जा सकता है यथा- शाकभक्षी, माँसभक्षी एवं सर्वभक्षी। नदी घाटियों एवं मैदानी क्षेत्र जो चरागाहों के लिये उपयुक्त थे, प्रधानतया गो एवं वृष पशुपालन हेतु उत्तम क्षेत्र थे। यमुना एवं गंगा के तटवर्ती भागों में पशुपालन कार्य होता था जहाँ गो एवं वृष के अतिरिक्त महिषी एवं अजा भी पाली जाती थीं §1·10·4, 9·20·26, 10·5·3, 10·11·28-29, 10·19·1-6, 10·37·26-27, 10·38·8§। पुराण में उपलब्ध सन्दर्भों के आधार पर स्पष्ट होता है कि गो, वृष, खर एवं अश्वतर लगभग प्रत्येक जनपद में पाये जाते थे। सैन्य एवं समृद्धि की दृष्टि से अश्व एवं हस्तिओं को ही शासक पालते थे, परन्तु उत्तम नस्ल के अश्व सिन्धु नदी की उपत्यका में ही पाये जाते थे §10·69·35§ तथा उत्तम नस्ल के गज समुद्र तटवर्ती प्रदेशों, प्राग्ज्योतिष व पर्वतीय क्षेत्रों में पाये जाते थे §4·6·26, 30, 8·2·20-25, 10·59·15, 37§। विषम धरातल एवं सघन प्राकृतिक वनस्पति उपरोक्त क्षेत्रों में हस्तियों के विकास के लिये प्रधान कारक थे। उष्ट्र प्रधानतया देश के शुष्क एवं बालूप्रधान क्षेत्रों में पाया जाता था। नदी घाटियाँ भेड़ पालन के लिये महत्वपूर्ण थीं परन्तु इनका स्पष्ट उल्लेख भागवतपुराण में नहीं है।

वन्य जीव जन्तु हिमालय पर्वतीय क्षेत्र §4·6·20-22§ तथा पश्चिमी, उत्तरी एवं दक्षिणी भारत के सघन वनों में पाये जाते थे §3·21·44, 8·2·6-22, 10·8·29, 10·15·23, 10·35·5, 10·58·13-15§। पक्षी एवं जलचर प्रधानतया झीलों, सरोवरों एवं नदियों के किनारे पाये जाते थे §3·15·18, 3·21·40-43, 4·6·12-29, 8·2·7,16, 10·15·3-13, 10·18·7, 10·35·10-11§।

जीव जन्तु उत्पाद एवं उपयोग -

भारत की मानसूनी जलवायु में बृहद् व्यावसायिक स्तर पर पशु एवं अन्य जीव पालन के लिये अधिक अनुकूल भौगोलिक परिस्थितियाँ उपलब्ध नहीं हैं तथापि प्राचीन काल में देश की कृषि अर्थव्यवस्था में शक्ति के साधन, भूमि की उर्वरा शक्ति में वृद्धि हेतु गोबर की प्राप्ति और दुग्ध, माँस, चमड़ा, ऊन आदि का प्रधान स्रोत होने के कारण पशुओं का स्थान सर्वव्यापी रहा है। पुराणकाल में कृषि क्रिया के साथ पशुपालन का घनिष्ठ संयोजन देश की आर्थिक संरचना का प्रमुख लक्षण था। पशुपालन कृषि कार्य में सहायक, पौष्टिक आहार की उपलब्धता, रोजगार परक और कृषक की आय वृद्धि का प्रमुख स्रोत था।

तत्कालीन भारत में पशुधन सम्बन्धी क्रमबद्ध एवं स्पष्ट विवरण न होने के कारण पशुपालन उद्योग, विभिन्न पशुओं का संख्यात्मक योग और उनके द्वारा उपलब्ध विविध लाभों की समुचित व्याख्या कर पाना कठिन है तथापि भागवतपुराण में प्राप्त सन्दर्भों के आधार पर जीव जन्तु उत्पाद तथा उनके उपयोग एवं तत्सम्बन्धी आर्थिक व्यवसाय का विवेचन निम्न-वत् है -

1- माँस व माँस उद्योग -

पुराणकालीन अनार्य§रक्ष§ समाज में माँस का प्रयोग खाद्य पदार्थ के रूप में होता था। वे कच्चे माँस का भी सेवन करते थे तथा कभी-कभी नरमाँस का भी उपयोग करते थे परन्तु आर्यों में नरमाँस का निषेधथा§9·9·21-23§। प्राचीन भारत में अश्वमेध यज्ञों

में अश्व का बलिदान किया जाता था तथा उस मांस का उपयोग क्षत्रिय एवं ब्राह्मण किया करते थे §शर्मा, 1971,236§। शश, वराह, महिष , गवय, रूरू, शल्यक इत्यादि उस काल में मेध्य §यज्ञ कार्य में प्रयुक्त§ पशु थे §4·26·10§। कसाई §सौन§ द्वारा भेंड़ पालन §10·38·41§ का उल्लेख स्पष्ट करता है कि तत्कालीन भारत में मांस प्राप्ति व मांस की निश्चित आपूर्ति के लिये पशुपालन कार्य व्यापक पैमाने पर होता था तथा मांस उद्योग विकसित था।

2- आखेट -

आखेट आहारमूलक अजीविका के रूप में आदिकाल से ही मानव के द्वारा ग्रहण की गयी जो उतनी उत्पादक आर्थिक क्रिया नहीं थी जितनी कि शोषक। तत्कालीन आर्यो ने आखेट को भी अपनी आजीविका के रूप में अपनाया था क्योंकि वे इसके द्वारा उनके पालतू पशुओं के साथ ही कृषि की वन्य जीवों से रक्षा होती थी। इसके अतिरिक्त उनकी आहार समस्या का भी समुचित समाधान हो जाता था। तत्कालीन भारत के सघन वनों में अनेक प्रकार के जीव जन्तु निवास करते थे जिनका आखेट किया जाता था।

आखेट वन्य जातियों §वनगोचर या लुब्धक§ की आजीविका का प्रमुख साधन थी §4·13·40, 11·30·33§। ये आखेट के लिये धनुष वाण एवं भालों का प्रयोग करते थे। सम्भवतः आखेट कार्य में कुत्तों की सहायता भी ली जाती थी। वनगोचर या लुब्धक वन्य पशुओं के अतिरिक्त विविध पक्षियों का भी आखेट मांस प्राप्ति हेतु किया करते थे §7·2·50§। शासक गण भी यज्ञादि कार्यो हेतु अथवा मनोरंजनार्थ आखेट किया करते थे §4·26·1-10, 9·1·23, 1051·63, 10·58·13-16§।

3- मत्स्य उद्योग -

आखेट के ही अन्तर्गत जलीय जन्तुओं में मत्स्य को भी बडिश §कांटा§ एवं जाल द्वारा पकड़ा जाता था §3·28·34, 10·55·4§। मत्स्य आखेट मछुवारे §मत्स्य जीवी§ किया करते थे §10·55·4§ जो उन लोगों की जीविका का आधार थी। मत्स्य प्राप्ति के तीन मुख्य स्रोत थे- सरोवर एवं ह्रद, नदी तथा समुद्र §4·24·20, 8·2·17,

10·17·8-11, 10·55·4)। समुद्र मत्स्यों के अक्षय भण्डार थे। पश्चिमी समुद्र तट पर मत्स्यजीवियों द्वारा विशाल जालों से विस्तृत पैमाने पर मत्स्य आखेट (10·55·4) का उल्लेख यह सिद्ध करता है कि मत्स्य उद्योग विकसित था।

4- दुग्ध एवं दुग्ध उद्योग -

यह स्वयं सिद्ध है कि दुग्ध एवं दुग्ध उत्पाद मानव के प्रमुख खाद्य पदार्थों में हैं। तत्कालीन भारत में दुग्ध एवं घृत भोजन के प्रमुख अंग थे। गोदुग्ध निस्सन्देह पेय पदार्थों में अत्यन्त महत्वपूर्ण था। दुग्ध, दधि, घृत, नवनीत, गोरस (10·5·14, 10·75·15) आदि का प्रयोग तत्कालीन भारतीय बहुतायत से करते थे तथा ग्रामीण क्षेत्रों से समीपस्थ नगरीय क्षेत्रों में दुग्ध एवं दुग्ध उत्पादों की आपूर्ति की जाती थी (10·39·33)। तत्कालीन समाज में यद्यपि पशुपालन कार्य सभी करते थे किन्तु समाज का एक विशेष वर्ग आर्थिक आजीविका के रूप में इस व्यवसाय में संलग्न था (10·24·21)।

5- चर्मोद्योग -

प्राचीन भारत में जीव जन्तुओं के चर्म का प्रयोग उत्तरीय के रूप में किया जाता था तथा चर्म निर्मित वस्त्र अत्यन्त पवित्र माने जाते थे। तत्कालीन ऋषि मृग, रुरु, कृष्णमृग व एणेय का चर्म वस्त्र के रूप में प्रयोग करते थे (1·18·27, 4·6·36, 5·7·13, 8·18·15)। चर्मोद्योग सामान्यतया चर्मकारों के अर्थोपार्जन एवं आजीविका का प्रमुख आधार था। चर्मकार चर्म की विविध जीवनोपयोगी वस्तुओं का निर्माण करता था जिनमें अजिन (1·18·27), उपानद् (जूता, 7·15·17), चर्मपात्र (4·4·6), भस्त्रा (11·21·22), चर्मरज्जु (10·64·4), चर्मासी (ढाल, 10·54·29), प्रत्यंचा, डोल या तरस, गोफन, दस्ताने, थैले आदि उल्लेखनीय हैं। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि चर्मकारों को चर्म परिष्कार करने की कला का ज्ञान था।

6- ऊनी वस्त्र उद्योग -

ऋग्वैदिक काल में सिन्धु नदी की ऊपरी घाटी (गन्धार क्षेत्र) में गन्धारी भेंड़ें

पायी जाती थीं जिनसे ऊन प्राप्त किया जाता था। परूष्णी §रावी§ क्षेत्र भी ऊन उत्पादन एवं ऊनी वस्त्र निर्माण में विख्यात था §दिवेदी, 1985,219-20§। भागवतपुराण में ऊनी वस्त्रों में कम्बल का उल्लेख है §3·3·27, 10·71·16§। इसके अतिरिक्त चामर §चमरी मृग के पूँछ के केशों से निर्मित§ एवं व्यजन या बालव्यजन §सुरागाय के केशों से निर्मित चँवर§ जो राजचिह्न होता था, का भी उल्लेख है §4·15·15, 10·71·17, 10·81·29§।

7- अन्य उद्योग -

रेशमी वस्त्रों §3·23·14, 4·8·48, 7·13·39§ का उल्लेख स्पष्ट करता है कि रेशम उद्योग विकसित था तथा रेशम की प्राप्ति के लिये रेशम के कीड़े पाले जाते थे। हाँथीदाँत प्राचीन काल से ही आकर्षण के विषय रहे हैं। हाँथी दाँत का प्रयोग प्रमुख रूप से शय्या निर्माण में किया जाता था §3·33·16, 4·9·61§।

उल्लेखनीय है कि तत्कालीन शासक पशुगणना में भी अभिरूचि रखते थे §6·14·34, 9·4·33-34, 10·58·50, 10·68·50§। भागवतपुराण का विस्तृत अध्ययन स्पष्ट करता है कि तत्कालीन भारतीय पशुपालन व्यवसाय से भलीभाँति परिचित थे तथा पशु आधारित अर्थव्यवस्था को विकसित करने में अग्रगण्य थे। कृषि के क्षेत्र में, युद्ध एवं दैनिक प्रयोगों में जीव जन्तुओं का महत्वपूर्ण स्थान था। अतः जीव जन्तुओं के संरक्षण §4·26·6§, विकास, नस्ल एवं प्रशिक्षण पर अधिक ध्यान दिया जाता था।

§ब§ कृषि संसाधन एवं आर्थिक व्यवसाय -

मानव जीवन की प्राथमिक आवश्यकतायें हैं-भोजन, वस्त्र एवं मकान। भोजन की प्राप्ति का मुख्य स्रोत कृषि संसाधन है तथा कृष्येतर अर्थतन्त्र के विभिन्न प्रखण्ड भी प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से न्यूनाधिक कृषि संसाधनों पर निर्भर हैं। उत्कृष्ट भौगोलिक स्थिति, समतल प्राकृतिक धरातल, उर्वर मृदा, मानसूनी जलवायु, जल की पर्याप्त पूर्ति आदि दशाओं ने भारत को अत्यधिक कृषि संसाधन सम्पन्न क्षेत्र बनाया है। भारतवर्ष प्राचीन काल से

ही कृषि प्रधान देश रहा है एवं मानवीय सभ्यता के साथ-साथ कृषि का भी उत्तरोत्तर विकास होता रहा है। वास्तव में कुछ सीमा तक हम कह सकते हैं कि कृषि का इतिहास मानवीय सभ्यता का इतिहास है। प्राचीन भारतीय ऐतिहासिक साहित्य में यत्र-तत्र उपलब्ध कृषि सम्बन्धी उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत में आदिम स्वभाव वाली कृषि एक सफल और सन्तुलित आर्थिक क्रिया थी। भारत में कृषि वैदिक युग के पूर्व §सिन्धु सभ्यता काल में§ ही जीविकोपार्जन के प्रमुख आधार के रूप में विकसित थी। यद्यपि उस युग में कृषि विकास की प्राथमिक अवस्था में थी तथापि धान्यों का उत्पादन इतना अधिक होता था कि अतिरिक्त खाद्यान्न वाणिज्य कर्म को प्रोत्साहित करता था §शर्मा, 1978, 42-43 तथा विद्यालंकार, 1978, 315§। वैदिक युग में कृषि का महत्व और उसका विकास पूर्णतः प्रतिष्ठित हो चुका था§सक्सेना,1976,76-82तथा द्विवेदी,1985,209-214§। महाकाव्यों में प्राप्त उल्लेखों के आधार पर स्पष्ट होता है कि महाकाव्य काल में कृषि व्यवस्था उत्कृष्ट रूप में थी §शुक्ल,1983,14-24, मिश्र, 1986, 579-580, तथा पाण्डेय, 1960, 301-306§। महाकाव्यों के अतिरिक्त पुराणों में भी कृषि अर्थव्यवस्था के सुसंगठित स्वरूप से सम्बन्धित सन्दर्भ मिलते हैं §त्रिपाठी एवं सिंह, 1984, 11-19§ तथा ये सन्दर्भ कृषि के प्रकार एवं कृषि के स्थानिक संगठन जैसे तथ्यों के अनुरेखण में वाद-विवाद के ठोस आधार हो सकते हैं।

सामान्य तथ्य -

संस्कृत शब्द "कृषि" "कृष्" धातु से बना है जिसका अर्थ है कूंड़ बनाना या जोतना। पौराणिक काल में "कृषि" शब्द में उन सब क्रियाओं का अन्तर्निवेश हो चुका था जो आज इस व्यवसाय के अन्तर्गत हैं यथा-जोतना, बोना, निराना, काटना इत्यादि। कृषि केवल जोतने के अर्थ में ही नहीं प्रयुक्त होता अपितु उसका अर्थ प्रतिविधान भी है। बीज, बैल, कर्मकर आदि के लिये भोजन का प्रबन्ध भी इसके अन्तर्गत है §अग्रवाल, 1969,195§। वैदिक युग में भूमि की जुताई का अर्थ बैलों द्वारा खींचे जाने वाले काष्ठ हल से भूमि में नालियाँ बनाना, नालियों में बीज बोना, हँसिये से फसल को काटना, मंड़ाईस्थल पर फसल

के गट्ठर को ले जाना, मंड़ाई करना तथा ओसाई करना था। ऋग्वेद {10·17·7} एवं शतपथ ब्राह्मण {1·6·1·3} में व्यवस्थित कृषि क्षेत्रण, जुताई, बुआई तथा मंड़ाई आदि की क्रियायें कृषि क्रिया के अंग के रूप में वर्णित की गयी हैं। वर्तमान काल में कृषि के अन्तर्गत खेत की जुताई तथा फसल उगाने के अतिरिक्त और भी तथ्य यथा-पशुचारण, वानिकी, सिंचाई, मत्स्यपालन, रेशें का उत्पादन तथा अन्य क्रियायें भी सम्मिलित हैं लेकिन भोजन की प्राप्ति कृषि की सबसे मुख्य एवं महती क्रिया है।

प्राचीन भारत में कृषि आर्यो का मुख्य उद्यम था। कृषि अर्थव्यवस्था का विश्लेषण "वार्ता" {3·12·44} विज्ञान के अन्तर्गत किया जाता था। "वार्ता" शब्द की व्युत्पत्ति "वृत्ति" शब्द से हुई है जिसका अर्थ है-व्यवसाय। इसके अन्तर्गत व्यापार के अतिरिक्त कृषि, पशुपालन आदि क्रियायें भी सम्मिलित थीं और राष्ट्र की आर्थिक स्थिरता को बनाये रखने के लिये इनका अध्ययन अपरिहार्य था। ऐतिहासिक काल से ही वार्ता शास्त्र के अध्ययन में प्रायोगिक पद्धति को प्राधान्य दिया जाता रहा है जब कि वर्तमान युग में इससे सम्बन्धित प्रयोगात्मक क्रियायें वैज्ञानिक विचारों की उत्पत्ति के रूप में अपनायी गयीं।

कृषि को प्रभावित करने वाले कारक -

किसी भी देश की कृषि विशिष्टता विविध कारकों से अन्तर्सम्बन्धित होती है फलस्वरूप कृषि दशाओं में समरूपता एवं विविधता परिलक्षित होती है। भागवतपुराण काल में कृषि को प्रभावित करने वाले कारकों में प्राकृतिक वातावरण का प्रभाव सुस्पष्ट प्रतीत होता है और इसी आधार पर आर्यो ने कृषि के लिये केवल उन क्षेत्रों को उपयुक्त समझा जो उर्वर थे। कृषकों को जलवायु के विविध तत्वों यथा तापमान, वायु, आर्द्रता, वर्षा इत्यादि का सम्यक् ज्ञान होने के साथ-साथ उच्चावचीय स्वरूपों, मृदा के विविध रूपों एवं उसकी उर्वरा शक्ति का विशद् ज्ञान था तथा उसी के अनुसार वे कृषि विकास हेतु सतत् प्रयत्नशील रहते थे। भागवतपुराण में तत्कालीन कृषि से सम्बन्धित विभिन्न परिस्थितियों का विश्लेषण हुआ है। समतल एवं उर्वर भूमि तथा समयानुसार एवं यथेष्ट वर्षा से खाद्यान्नों की व्यापक उपलब्धता का संकेत मिलता है {1·10·4-5, 4·18·11, 10·89·65}।

इसी प्रकार सांस्कृतिक कारकों के विविध पक्षों पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि शासक प्रशासनिक नीतियों द्वारा कृषि कार्य के उन्नयन हेतु कृषकों के हितों की पूर्णरूपेण सुरक्षा करते थे तथा विविध क्षेत्रों के आर्थिक उन्नयन में जनपदों को धनधान्य से सम्पन्न बनाने हेतु सतत् प्रयत्नशील रहते थे।

वैदिक काल के कुछ क्षेत्र कृषि के विकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण थे। इन क्षेत्रों में ही मानव अधिवासों का केन्द्रीयकरण था। तत्कालीन पंचनद क्षेत्र इस दृष्टि से उल्लेख्य है। गंगा एवं उसकी सहायक नदियों द्वारा उर्वरा मिट्टी के संचयन के कारण उत्तरी भारत प्रमुख कृष्योत्पादन क्षेत्र था। व्यापक एवं पर्याप्त वर्षा, समुचित ढ़ाल, उपयुक्त तापमान, उर्वर भूमि इत्यादि के कारण सम्पूर्ण उत्तरी एवं पूर्वी मैदानी क्षेत्र कृषि विकास के लिये आदर्श क्षेत्र सिद्ध हुये ﴾सक्सेना, 1972, 76﴿। भागवतपुराण काल में भी कुरू, कोशल, मथुरा, काशी ﴾1·10·4-5, 9·10·53, 10·27·26,10·66·41﴿ आदि जनपद कृषि उत्पादों की दृष्टि से सम्पन्न थे। इन जनपदों की भूमि उर्वरता एवं उत्पादकता की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है।

कृषि विकास हेतु शासकीय प्रयास व संरक्षण -

भारत जैसे कृषि प्रधान देश में जहाँ कृषक निर्धन एवं पिछड़े हैं, कृषि विकास का उत्तरदायित्व शासक का है। ऐतिहासिक काल से ही कृषि के संरक्षक शासक रहे हैं। पुराणकाल में भी कृषि क्षेत्रों के संरक्षण एवं सुस्पष्ट नियोजन की नीतियों पर आधारित कृषि विकास शासन का प्रमुख विषय रहा है। शासक को राज्य की अष्टपदीय प्रशासनिक व्यवस्था सहित कृषि विषयक समस्त ज्ञान होता था ﴾व्यास, 1946, 23﴿। शासक कृषकों को कृषि सुविधायें उपलब्ध कराने के प्रतिदान में कृषि उपज का कुछ भाग कृषि कर के रूप में लेते थे ﴾4·20·14, 4·22·56﴿। प्राचीन साहित्य में कृषि को हानि पहुँचाने वाले तत्वों ﴾अतिवृष्टि, अनावृष्टि, चूहे, टिड्डी व तोतों का प्रकोप, राजाओं का पड़ाव पड़ जाना आदि﴿ को "ईति" के नाम से जाना जाता था। राजा का कर्तव्य होता था कि वह इन ईतियों से कृषि की रक्षा करें ﴾कृष्णकुमार, 1977, 137﴿।

पुराणकाल में भूमि व्यवस्था पर राजा का पूर्ण अधिकार माना जाता था। शासक द्वारा कृषि भूमि के वृद्धि करने के सभी साधनों का प्रयोग किया जाता था, यहाँ तक कि असमतल भूमि एवं वन क्षेत्रों को भी कृषि योग्य बनाने का प्रयत्न किया जाता था ॥1·15·8, 4·17·4, 4·18·29, 4·30·45॥। वायु ॥94·24॥, ब्रह्माण्ड ॥3·69·24॥ एवं मत्स्य ॥43·27॥ तीनों पुराणों में राजा पृथु के गुणों का वर्णन करते हुये उसे "क्षेत्रपाल" शब्द से विशिष्ट किया गया है जिसकी स्वाभाविक व्यंजना यही है कि राजा के संरक्षण में कृषि विकास अपेक्षित है।

भूमि उपयोग -

भारत की प्राचीन भूनीति का लाक्षणिक अंग किसी ग्राम की उपलब्ध भूमि का विविध उपयोगों के आधार पर वर्गों में विभाजित करना था। भूमि के मानवीय उपयोग से सम्बन्धित सन्दर्भों के आधार पर भूमि को अधोलिखित चार वर्गों में विभक्त किया जा सकता है -

॥क॥ आवासीय भूमि जिसमें गृह, ग्राम व नगरीय क्षेत्र सम्मिलित हैं ॥4·18·3॥।

॥ख॥ कृषि भूमि ॥7·2·14, 8·19·20॥।

॥ग॥ पशुचारण भूमि ॥10·19·1-2, 10·21·1-2, 10·23·7॥।

॥घ॥ वन एवं कृषि अयोग्य भूमि ॥6·9·7, 10·24·24॥।

सर्वप्रथम राजा पृथु द्वारा भूमि को समतल बनाकर पुरग्रामादि, वन, कृषि, तथा पशुचारण भूमि का विभाजन कर भूमि उपयोग निश्चित किया गया था ॥4·18·30-32॥। कृषि भूमि पृथक्-पृथक् क्षेत्रों में विभक्त थी। कृषि भूमि को "क्षेत्र" शब्द से व्यवहृत किया गया है ॥3·30·3, 5·5·8, 10·20·12॥, इसी के अन्तर्गत "केदार" उस क्षेत्र को कहते थे जहाँ हरी फसल बोयी गयी हो तथा जिसमें सिंचाई की जाती हो ॥5·9·11, 10·20·41 तथा अग्रवाल, 1969, 196॥। जलप्लावित ॥धान के॥ खेत तथा चरागाह के लिये भी "केदार" शब्द का प्रयोग होता था ॥आप्टे, 1981, 302॥। उस समय

वनों का विस्तार सर्वाधिक था ﴾4·30·44, 6·4·4﴿। पशुचारण हेतु चरागाहों का क्षेत्र भी विस्तृत था। कृषि अयोग्य ऊसर भूमि, जिस पर अन्नोत्पादन नहीं हो सकता था उसे "इरिण" की संज्ञा दी जाती थी ﴾6·9·7﴿।

तत्कालीन भारत में कृषि ग्रामों को "ग्राम" या "खेट", पशुचारण ग्रामों को "घोष", बृहत्तर प्रान्तीय कृषि उत्पाद विपणन् केन्द्रों को "पुर" तथा लघुतर कस्बों को "पत्तन" एवं पर्वत की तलहटी में बसे कस्बों को "खर्वट" कहा जाता था जो व्यापारिक केन्द्रों के रूप में कार्य करते थे ﴾7·2·14﴿। कृषि क्षेत्र ग्रामों की बाह्य परिधि पर स्थित होते थे।

कृषि तकनीक -

जहाँ तक कृषि क्रियाओं का सम्बन्ध है, उन्हें किसान स्वयं करता था या वेतन देकर भृतकों से करवाता था। किसान के लिये "कर्षक" ﴾10·20·12﴿ या "कीनाश" ﴾3·30·13﴿ शब्द का प्रयोग होता था। वर्तमान "किसान" शब्द या तो "कृषाण्" ﴾कृष+शानच्﴿ का अपभ्रंश रूप है या ऋग्वेद के "कीनाश" शब्दसेवर्ण विपर्यय होकर विकसित हुआ है ﴾अग्निहोत्री, 1963, 251﴿।

पुराणकाल में कृषि और पशुपालन साथ-साथ चलते रहे हैं। कृषि कार्य के लिये पशुओं में बैल अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुये। खेत जोतने, खलिहान में दाँय चलाकर भूसा और अन्न को पृथक् करने तथा कृषि उत्पादन को शकट में ढ़ोने के लिये बैलों का प्रयोग किया जाता था। इस प्रकार पुराणकालीन भारतीय कृषि अर्थव्यवस्था को "मिश्रित कृषि व्यवस्था" ही कह सकते हैं। प्राचीन भारतीय कृषि की सभी साधारण प्रक्रियाओं से परिचित थे।

कृषि के लिये वनों को काटकर या अग्नि द्वारा जलाकर साफ किया जाता था ﴾1·15·8, 4·30·45﴿। प्राचीन भारत में कृषि भूमि की सीमा से ही वन भूमि लगी रहती थी तथा वनों को काट-काटकर कृषि के लिये भूमि का उपयोग होता था ﴾पाण्डेय, 1960, 291﴿।

ऋग्वेद §1·117·21§ के अनुसार कृषि के लिये हल द्वारा भूमि कर्षण की शिक्षा सर्वप्रथम अश्विनीकुमारों द्वारा दी गयी थी। अश्विनी कुमारों से शिक्षा प्राप्तकर आर्यों ने जब कृषि करना प्रारम्भ किया तो उसमें निरन्तर उन्नति होती गयी। भागवतपुराण के अनुसार राजा पृथु ने सर्वप्रथम कृषि द्वारा धान्यों का उत्पादन प्रारम्भ किया था §4·18·12, 4·18·27-32§।

कृषि कार्य करने से पूर्व भूमि के चयन पर सम्यक् ध्यान दिया जाता था। समतल क्षेत्रों में कृषि कार्य करना अधिक लाभदायक माना जाता था क्योंकि ऐसे क्षेत्रों में वर्षा का पानी पर्याप्त बना रहता है और भूमि में आर्द्रता की कमी नहीं होने पाती है। फलतः बीज का अंकुरण व फसल का विकास सम्यक् रूप से होता है §4·18·11§। कृषि कार्य करने से पूर्व भूमि पर पड़े खरपतवार व उनके बीजों को अग्नि द्वारा जला दिया जाता था ताकि वे पुनः न उग सकें §5·14·4§। आर्यों की यह भी मान्यता थी कि किसी कृषि क्षेत्र में पुनः पुनः बीज बोने से उस क्षेत्र की उर्वरता कम हो जाती है, यहाँ तक कि बीज का उगना बन्द हो जाता है §7·11·33§। अतः पुनर्उर्वर बनाने हेतु क्षेत्रों को परती भूमि के रूप में एक या दो वर्ष के लिये छोड़ दिया जाता था अथवा सिंचाई एवं खाद का प्रयोग करके पुनर्उर्वर बनाया जाता था। कृषि भूमि के चयन के पश्चात् बीजों के चयन पर भी सम्यक् ध्यान दिया जाता था §6·16·39, 10·22·26§। हल जोतने की क्रिया "कर्षण" §7·11·19§ व बीज बोने की क्रिया "वपन" §5·14·4§ कही जाती थी। हरी भरी फसल को वन्य पशुओं से बचाने के लिये खेतों की रखवाली की जाती थी §5·9·13§। फसल पकने पर उसे खेतों से काटकर खलिहानों में इकट्ठा की जाती थी, तत्पश्चात् मेढ़ी बनाकर बैलों द्वारा फसलों की मंड़ाई की जाती थी §4·9·21, 5·23·3§। अन्न से भूसे को पृथक् करने के पश्चात् "तितउ" §ऋ0-10·71·2§ से उसे छान लिया जाता था फिर "ऊर्दर" §ऋ0-2·14·11§ से नापकर उसे सुरक्षा के लिये कोष्ठ §अन्न रखने के गोदाम§ में रख दिया जाता था §9·10·17, 10·50·53, 10·66·41§।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि भागवतपुराणकालीन भारतीय कृषक कृषि की वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग करते थे तथा निरन्तर नवीन कृषि तकनीकों के अन्वेषण कार्य

में संलग्न रहते थे। साधारणतया इन कृषि तकनीकों का प्रयोग वर्तमान में भी भारतीय कृषक करते हैं।

कृषि यन्त्र -

वैदिक साहित्य एक सुसंगठित ग्रामीण अर्थतन्त्र का चित्रांकन करता है। ग्रामीण अर्थतन्त्र में कृषि की महत्वपूर्ण भूमिका है जो हल तथा बैलों द्वारा सम्पन्न होती थी। वैदिक ग्रन्थों में विविध प्रकार के हलों का विवरण मिलता है जो दो, छः, आठ या बारह बैलों द्वारा खींचे जाते थे (ऋ0-8.6.48, उद्धृत मिश्र, 1986, 572)। कभी-कभी हलों में चौबीस बैल भी जोते जाते थे (का0सं0-15.2, उद्धृत मिश्र, 1986, 574 तथा शर्मा, 1978, 47)। वे हल गहरी जुताई के लिये इतने प्रभावी थे कि उनकी तुलना वर्तमान ट्रैक्टर से की जा सकती है। हल काष्ठ का होता था जिसमें लोहे का फाल लगा रहता था (महा0 -12.262.46, उद्धृत पाण्डेय, 1960, 303)। व्यास जी ने कृषि में प्रयुक्त होने वाले विविध प्रकार के यन्त्रों का उल्लेख किया है यथा- कुठार(3.25.11), परशु (7.2.15), क्षुरा (6.18.41), खनित्र (7.2.15), सीर (9.13.18), लांगल (10.65.24), हल (5.25.7) आदि।

हल, लांगल तथा सीर आदि आयुध एक दूसरे के पर्यायवाची हैं जो क्षेत्र कर्षण के साधन थे। स्पष्टतः वर्तमान समय के अनुरूप पौराणिक युग में भी क्षेत्रों का कर्षण हल से होता था। खनित्र खुदाई के काम आने वाला यन्त्र था तथा कुठार, परशु, क्षुरा आदि कटाई के काम आने वाले यन्त्र थे।

सिंचन सुविधायें -

जल के बिना जीवन सम्भव नहीं है। मानव सिंचाई के लिये जल का प्रयोग बहुत प्राचीन काल से करता आ रहा है। सिंचाई के लिये सतह तथा भूमिगत जल का ही उपयोग होता है। इन स्रोतों से प्राप्त जल को कृत्रिम विधियों द्वारा प्रवाहित करके खेतों में पहुँचाने तथा मिट्टी को नम करने की व्यवस्था को सिंचाई कहते हैं। भारतीय कृषक प्राचीन काल

से ही सफल कृषि के लिये मुख्यतः वर्षा पर ही निर्भर नहीं थे अपितु वैकल्पिक साधनों द्वारा सिंचन कार्य करते थे। प्राचीन भारतीय कृषक भूमि में आर्द्रता बनाये रखने की उपयोगिता तथा सिंचाई के महत्व से पूर्णतः परिचित थे {4·18·11, 4·31·14}। वर्षा के असमान एवं अनियमित वितरण के कारण सूखा एवं अकाल से उत्पन्न कठिनाइयों पर विजय प्राप्ति हेतु सिंचाई की वैकल्पिक सुविधायें शासन की ओर से प्रदान की जाती थीं। भागवत पुराण काल में नदी, नहर, सरोवर, ह्रद एवं कूप सिंचाई के प्रमुख साधन थे। उत्तरी भारत में कूपों की अधिकता थी जब कि प्रायद्वीपीय भारत में सरोवर एवं ह्रद सिंचाई के प्रमुख साधन थे।

नदियां एवं नहरें -

पौराणिक काल में नदियाँ सिंचाई की प्रमुख स्रोत थीं। गंगा, यमुना, सरस्वती, सिन्धु, शतद्रू, चन्द्रभागा आदि नदियाँ क्षेत्रों को उर्वर बनाती रहती थीं। यद्यपि आधुनिक युग की भाँति नदी घाटी परियोजनाओं का विवरण तो भागवतपुराणमें नहीं मिलता है परन्तु उत्तरी एवं दक्षिणी भारत की अनेक सतत् वाहिनी नदियों का उल्लेख है तथा सिंचन सुविधाओं हेतु निर्मित किये गये बाँधों का विवरण प्राप्त होता है {10·6·16}। माहिष्मती के शासक क्षात्रवीर्य अर्जुन ने अपनी हजार भुजाओं से नर्मदा नदी के प्रवाह को रोक दिया था जिससे प्रवाह उल्टा हो गया था {9·15·20-21}। यह वर्णन नर्मदा पर बाँध बनाये जाने की पुष्टि करता है। यत्र-तत्र ऐसे बाँधों का भी उल्लेख मिलता है जो वर्षा ऋतु में जल की अधिकता से नष्ट हो जाया करते थे {10·20·23}। इन बाँधों से वर्षा ऋतु के उपरान्त समय में सिंचन कार्य किया जाता था। नदियों एवं सरोवरों से निकाली जाने वाली नहरों को "कुल्या" की संज्ञा दी जाती थी {1·3·26}।

प्राचीन भारत में नहरों का निर्माण राज्य की ओर से होता था {शर्मा, 1978, 104}। नहरें उत्तरी भारत में सिंचाई का प्रमुख साधन थीं जहाँ निम्नलिखित भौगोलिक परिस्थितियाँ नहर सिंचन के विकास के लिये उत्तरदायी थीं -

1- उत्तरी भारत की नदियों का मुख्य स्रोत हिमालय पर्वत का हिममण्डित भाग था।

2- उत्तरी भारत के मैदानी भाग का ढ़ाल नियमित था।

3- कठोर चट्टानों के अभाव के कारण नहरोंकीखुदाई आसानी से की जा सकती थी।

4- मृदा की उर्वरता के कारण प्रभूत मात्रा में सिंचाई का प्रतिफल प्राप्त होता था।

कूप एवं सरोवर -

भागवतपुराण काल में कूपों, सरोवरों एवं बृहद् जलाशयों का निर्माण सार्वजनिक हितों के अन्तर्गत शासक का प्रमुख कर्तव्य माना जाताथा तथा कृषि की अपंगता को दूर करने के लिये एतत्सम्बन्धी प्रयास भी किये गये। कूपों का निर्माण धार्मिक महत्व का कार्य माना जाता था §7·15·49, 10·69·34§। सिंचन कार्य के लिये जलाशयों का निर्माण बाह्येतर अधिवासीय भाग में किया जाता था §11·18·19§। बृहद् जलाशयों से चतुर्दिक नहरें निकाली जाती थीं §1·3·26§। यत्र-तत्र अनेक विशाल एवं साधारण सरोवरों का उल्लेख मिलता है §4·24·20, 8·24·22-26§ यथा- पुष्कर, पम्पासर, बिन्दुसर, पंचाप्सर, नारायणसर आदि §6·5·3, 7·14·30-31, 10·79·18§।

उर्वरक -

कृषि उपज में वृद्धि हेतु खाद का प्रयोग आवश्यक है जिसका उपयोग भारत में प्राचीन काल से होता चला आ रहा है। ऋग्वैदिक युग में खेतों में गोबर की खाद §करीष§ दी जाती थी §रेउ, 1967, 193§। भागवतपुराण में भी गोबर की खाद §शकन् एवं गामेय§ का उल्लेख है §10·36·14, 12·4·11§।

कृषि फसलें -

पुराणकाल में कृष्टपच्य §7·12·18§ और अकृष्टपच्य §7·4·16§ दो प्रकार की फसलों का उत्पादन किया जाता था। कृष्टपच्य वे फसलें हैं जिनकी कृषि की जाती

थी यथा- शालि, ब्रीहि, यव आदि तथा अकृष्टपच्य के अन्तर्गत बिना जुती हुयी भूमि पर स्वतः उगने वाली फसलें सम्मिलित हैं यथा- नीवार। खाद्य कृषि फसलों को "ओषधि" नाम से अभिहित किया गया है §1·8·40, 10·27·26, 11·16·21§। विविध प्रकार के खाद्यान्नों एवं फसल चक्र के विषय में तत्कालीन कृषकों को पूर्ण ज्ञान था। प्रमुख खाद्य फसलें शालि, ब्रीहि, यव आदि थीं जिनका उपयोग धार्मिक संस्कारों में भी होता था। इनके अतिरिक्त नकदी फसलों में इक्षु प्रमुख थी।

प्रमुख खाद्य फसलें एवं वितरण -

धान §ब्रीहि एवं शालि§ -

भारत में चावल की कृषि वैदिक काल से होती चली आ रही है §ऋ0-5·53·13§। यह भागवतपुराण काल की प्रमुख फसल थी। भागवतपुराण में खेत में स्थित धान की फसल को सस्य §10·20·12§, खेत से काटकर मंड़ाई और ओसाई करने के बाद प्राप्त तुष सहित धान को "धान्य" §10·11·10-11, 11·21·12§ व "अक्षत्" §4·9·57§ तथा तुष रहित या कूटने के पश्चात् प्राप्त चावल को "तण्डुल" §4·9·57§ कहा गया है। इसके अतिरिक्त चावल के अन्य विविध रूपों का भी उल्लेख मिलता है यथा- पायस् §दूध और शर्करा में उबले चावल, 4·13·36§, लाजा §भुना हुआ या उबला हुआ चावल, 4·9·57§, ओदन §उबला हुआ चावल, 4·29·30§ आदि। चावल के इन विविध रूपों का प्रयोग धार्मिक क्रियाओं से भी सम्बन्धित था।

भागवतपुराण में ब्रीहि §9·19·13§ तथा शालि §8·16·40§ दो प्रकार के धानों का उल्लेख मिलता है। अर्थशास्त्र में इन दोनों को भिन्न माना गया है §अग्रवाल, 1969, 204§। ब्रीहि यहीं की भूमि का अन्न था तथा प्राचीन भारत में इसे ग्राम्य धान्य या कृष्ट पच्य अन्नों में माना जाता था §यजु0-28·12, बृ०उ०- 6·3·13§। तैत्तरीय संहिता §7·2·10·2§ के अनुसार ब्रीहि शरद् ऋतु में पककर तैयार होती थी । ब्रीहि के ही चावल धार्मिक कार्यो में व्यवहृत होते थे। ब्रीहि के दो भेद हैं।

एक में तुष या भूसी को पृथक् करने के पश्चात् रक्त चावल निकलता है और दूसरे में श्वेत। आज भी ये भेद उत्तर भारत में पाये जाते हैं।

बड़ी जाति के धान को शालि कहा जाता था। श्रावण मास में इसकी पौध लगायी जाती थी तथा शरद् के आगमन के पूर्व काट ली जाती थी। वर्षा ऋतु में लहलहाते तथा शरद् ऋतु में पककर सुशोभित होते हुये खेतों का वर्णन भागवतपुराण में मिलता है §10·20·12, 48§। ब्रीहि के लिये वर्षा का पानी पर्याप्त होता था परन्तु शालि के लिये पर्याप्त न होने पर सिंचाई की आवश्यकता होती थी। शालि उखाड़कर पुनः रोपा जाने वाला जड़हन था। इसलिये यह निचली भूमि पर, जलाशयों या नदियों के किनारों पर, जहाँ पानी का भराव हो, रोपा जाता था §शुक्ल एवं अग्निहोत्री, 1983, 19-20§।

मथुरा के समीपवर्ती भूभागों §10·7·12, 10·20·12, 48, 10·22·3, 10·23·7, 10·25·29§ तथा गंगा यमुना के मध्यवर्ती क्षेत्र में धान का पर्याप्त उत्पादन होता था §4·21·2§। स्पष्टतः गंगा एवं उसकी नदियों के जलोढ़ से निर्मित मैदानी भूभाग प्रमुख धान उत्पादक क्षेत्र थे। इसके अतिरिक्त धान उत्पादन के लिये विदर्भ §10·53·47§ एवं द्वारका §1·11·14-15§ क्षेत्र भी उल्लेखनीय थे §चित्र -3·2§।

नीवार -

"वन्य" नाम से भी व्यवहृत होने वाली नीवार नामक अकृष्टपच्य फसल का उपयोग निम्न गुणवत्ता के कारण प्रायः वनवासियों द्वारा किया जाता था §9·20·14, 11·18·7§।

जौ §यव§ -

यह विश्व की प्राचीनतम उपजों में से है। ऋग्वेद §2·14·11§ में यव

भागवतपुराणकालीन भारत
प्रमुख कृषि उपजें
वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय सीमायें
किलोमीटर
100 0 100 200 300 400 500
68° पू०
72°
76°
80°
84°
88°
92°
92° पू०
उ०
36°
32°
28°
24°
20°
16°
12°
8°
72° पू०
संकेत
धान
जौ
गन्ना
दालें
तिलहन
द क्षि ण सा ग र (क्षा र सा ग र)

(चित्र 3.2)
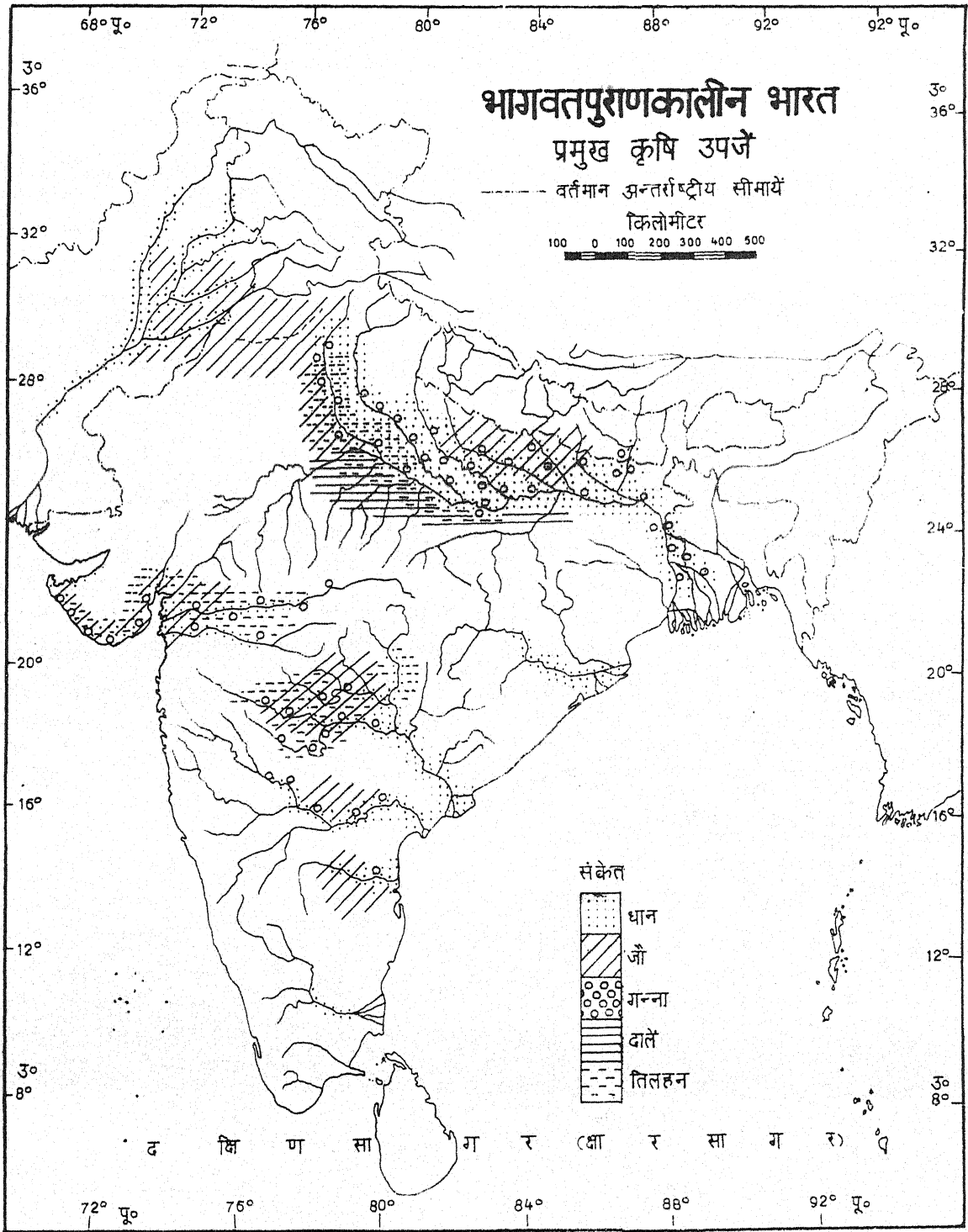
का उल्लेख मिलता है। भागवतपुराण काल में खाद्यान्नों में यव का सर्वप्रमुख स्थान था §11·16·21§। यह रबी की फसल थी जो शरद् ऋतु में बोयी जाती थी तथा बसन्त ऋतु में काटी जाती थी । इसका उपयोग यज्ञादि में आहुति तथा मांगलिक कार्यों में भी किया जाता था। भागवतपुराण के अनुसार कोशल §9·10·34§ एवं मथुरा §10·16·18, 10·30·25§ जनपद जौ के उत्पादन में अग्रगण्य थे। स्पष्टतः गंगा यमुना का दोआब जौ के लिये उपयुक्त क्षेत्र रहा है §चित्र-3·2§।

अन्य खाद्यन्न -

शालि, ब्रीहि एवं यव के अतिरिक्त कुल्माष §5·9·11§, तिल §10·12·15§, सर्षप §6·16·48§, अतसिका §3·28·24§ तथा सभी प्रकार की दालों का उत्पादन भारत में प्राचीन काल से होता चला आ रहा है। तिलहनों में तिल अत्यन्त महत्वपूर्ण थी जो अन्य खाद्यान्नों के साथ बोयी जाती थी । कुरु §1·13·30§, मथुरा §10·12·15§ आदि जनपदों में तिल का प्रचुरता से उत्पादन होता था जिससे स्पष्ट होता है कि गंगा यमुना का दोआब व समीपवर्ती भूभाग तिल उत्पादन का प्रमुख क्षेत्र था। विदर्भ §10·53·13§ व द्वारका §10·70·9§ जनपद भी तिल उत्पादन के लिये उल्लेखनीय थे। तिल का उपयोग धार्मिक कार्यों में भी होता था §10·12·15§। तिल के अतिरिक्त सर्षप दूसरी महत्वपूर्ण तिलहन थी। सिद्धार्थ §श्वेत सर्षप§ का पूजा व मांगलिक कार्य की दृष्टि से विशेष महत्व था §4·9·58§। इसकी कृषि मुख्यतः गंगा यमुना के मध्यवर्ती क्षेत्र में की जाती थी §4·9·58, चित्र-3·2§। तैलयन्त्र §5·21·4§ का उल्लेख स्पष्ट करता है कि तैल उद्योग विकसित था तथा सर्षप एवं तिल आदि का प्रचुरता से उत्पादन होता था। तिल और सरसों से तेल निकालने के बाद प्राप्त खली का भी उपयोग खाद्य पदार्थ के रूप में होता था §5·9·11§।

नकदी फसलें -

गन्ना §इक्षु§ -

गन्ने की उत्पत्ति का मूल स्थान भारत को ही माना जाता है। पुराणकालीन

भारत की यह महत्वपूर्ण नकदी फसल थी। इसके मुख्य उत्पादक क्षेत्र उत्तरी भारत का उपजाऊ मैदानी भाग, प्रायद्वीपीय भारत का विदर्भ क्षेत्र §10·53·13, 48§ तथा पश्चिमी सागर तटवर्ती क्षेत्र §1·11·15§ थे §चित्र-3·2§। इक्षुरस से गुड़, शर्करा एवं खाण्डव का निर्माण होता था §7·9·22, 10·53·13§।

कपास §कर्पास§ -

कपास मुख्यतः भारत की ही मूल फसल है और यहीं से इसका विसरण विश्व के अन्य देशों को हुआ। भारत में कपास का सर्वप्रथम उल्लेख आश्वालायन श्रौत सूत्र §6·4·17§ से प्राप्त होता है। महाभारत §7·21·24§ में कपास के खेतों का उल्लेख है। भागवतपुराण में सूती धागों §वस्त्रों§, यज्ञोपवीत, रूई आदि का उल्लेख §5·26·36, 10·82·44, 12·8·33§ स्पष्ट करता है कि पुराण काल में कपास की कृषि की जाती थी। सम्भवतः इसकी कृषि सतलज गंगा बेसिन की जलोढ़ मिट्टी व प्रायद्वीपीय भारत की काली मिट्टी में की जाती थी जहाँ इसकी उपज के लिये जलवायु दशायें अनुकूल थीं।

प्राकृतिक आपदायें -

प्राचीन भारत में कृषि क्रियाकलापों को प्रभावित करने में जलवायु का प्रमुख योगदान था। जलवायुविक विचित्रतायें दीर्घकाल से कृषि विकास को आतंकित करती रही हैं। कृषि अपंगता के मुख्य कारण आदिकाल से ही दुर्भिक्ष, सूखा तथा वर्षा का क्षेत्रीय एवं मौसमी असमान वितरण रहे हैं। भागवतपुराण में दुर्भिक्ष, अनावृष्टि, असमय वर्षा, अतिवृष्टि, पाला, आँधी, भयंकर शीत, अत्यधिक गर्मी आदि जलवायु से सम्बन्धित तथ्यों का उल्लेख मिलता है §1·10·4,9·22·14,10·25·15,10·56·11,12·2·10§जिससे कृषि अर्थव्यवस्था प्रभावित होती थी। पुराणकालीन भारत में कृषि की सफलता बहुत अंशों में समयानुसार वर्षा पर निर्भर थी। उत्तरी भारत के जनपदों यथा-काशी §10·57·32§, अंग §9·23·8§, कुरु §9·22·14§ आदि में अनुकूल वर्षा की उपलब्धता न होने

से सूखा एवं अकाल का सामना करना पड़ता था। तत्कालीन शासकों को इन प्राकृतिक आपदाओं का सम्यक् ज्ञान रहता था तथा इनके निवारण का उचित उपाय करनाशासक का प्रमुख कर्तव्य माना जाता था §4·16·8, 5·4·3, 9·22·14-15, 9·23·8-9, 10·57·32-34§।

उपरोक्त के अतिरिक्त अन्य मौसमी तत्वों द्वारा भी शस्य विनाश के उदाहरण मिलते हैं जिनमें शिलावृष्टि §ओलावृष्टि§ का उल्लेख प्रमुख है §10·25·14§। शस्यकीटों §शलभ§, पक्षियों, चूहों तथा महामारी के प्रकोप द्वारा भी शस्य विनाश के सन्दर्भ उल्लेखनीय हैं §5·14·5, 10·56·11§। प्राचीन भारत में कृषि के हानिकारक कीटों, टिड्डियों आदि से फसल की रक्षा का पूर्ण ध्यान रखा जाता था §छा0उ0- 1·10·1§।

कृषि के सामाजिक आधार -

वैदिक वर्ण व्यवस्था के पोषक पुराणों में कृषि कर्म को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। यद्यपि वर्णाश्रम धर्म के अनुसार कृषि को वैश्यों का कर्म माना गया है §7·11·15, 10·24·20§ परन्तु अपनी जीविका प्राप्त करने वाली कृषि कर्मा अन्य द्विजातियों §ब्राह्मण एवं क्षत्रिय§ का भी संकेत मिलता है। §9·13·18, 11·23·6§। कृषि कार्य को समाज में सम्मानजनक व्यवसाय माना जाता था §9·13·18, 10·68·40, 10·74·12 तथा व्यास, 1946, 23§। कृषि कर्म समाज के उन नवयुवकों से सम्बन्धित था जिन्हें उर्वर या ऊसर भूमि की उपयोगिता, अनुपयोगिता तथा बीज चयन का सम्यक् ज्ञान था §ऋ0-1·127·6§। कृषि का ज्ञान न रखने वाला समाज में आदर का पात्र नहीं था।

कृषि न केवल अर्थतन्त्र को प्रभावित करती थी अपितु भारतीय संस्कृति और धार्मिक संस्कारों में इसका महत्वपूर्ण स्थान था। वैदिक साहित्य में कृषि देवी सीता के सम्मान में धार्मिक संस्कारों का विवरण मिलता है। ये उत्सव जुताई एवं बुवाई करते समय मनाये जाते थे तथा क्षेत्रपति देवता की पूजा की जाती थी §विद्यालंकार, 1979,

221-222 तथा सक्सेना, 1972, 79)। भागवतपुराण में कृषि सम्बन्धी धार्मिक संस्कार के रूप में "आग्रयण" का उल्लेख मिलता है (10·20·48)। कृषक सीर (हल) का भी पूजनोत्सव करते थे (वि0पु0-5·10·37)। कृषक बीज बोने एवं समय से सिंचाई को धार्मिक महत्व का कार्य मानते थे। पर्याप्त वर्षा के अभाव में यज्ञ का अनुष्ठान व इन्द्र पूजा का उल्लेख मिलता है (10·24·8-9)। मानवीय सुख समृद्धि एवं वर्षा के मूल कारण में सूर्य की महत्ता का भी उल्लेख मिलता है (4·16·6, 4·22·56)। स्पष्टतः कृषि के प्रति पुराणों की दृष्टि श्रृद्धापरक थी (राय, 1968, 370)।

कृषि सम्पन्नता -

युधिष्ठिर के शासन काल में कुरू देश खाद्यान्न से सम्पन्न था तथा समयानुसार यथेष्ट वर्षा होती थी। फलतः समय से जुताई-बुवाई होती थी। खाद्यान्नों का उत्पादन अधिक होता था तथा खाद्य पदार्थों की आपूर्ति प्रचुर थी (1·10·4-5)। सौराष्ट्र, सौवीर, मत्स्य, कुरूजांगल (3·1·24), मथुरा (10·20·12, 48, 10·27·26) आदि जनपदों को धनधान्य से सम्पन्न वर्णित किया गया है। द्वारका (10·50·53) व वाराणसी (10·66·4) में भण्डार गृह का उल्लेख स्पष्ट करता है कि इन जनपदों में खाद्यान्न की प्रचुर आपूर्ति होती थी। नर्मदा तट के जनपदों (8·18·32, 8·19·20), शूरसेन जनपद (6·14·10) व प्रभास क्षेत्र (3·3·25-28) की भूमि उर्वर थी तथा सम्पूर्ण क्षेत्र खाद्यान्न से सम्पन्न थे। कोशल जनपद की प्रजा धनधान्य से समृद्ध चित्रित की गयी है (9·10·53, 9·20·32)।

वैदिक काल की अपेक्षा पौराणिक काल में कृषि व्यवस्था का विकसित स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। उच्च विकसित कृषि कला एवं "वार्ता" के अन्तर्गत कृषि का उन्नयन एवं नियोजन कृषि विकास का द्योतक है। युधिष्ठिर, पृथु, हिरण्याक्ष व राम के शासन काल में कृषि सम्पन्नता को दृष्टिगत रखते हुये पृथ्वी को "सर्वकामदुघा" की संज्ञा दी गयी है (1·10·4, 4·18·28, 7·4·16, 9·10·53)।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि पौराणिक काल में कृषि सुसंगठित एवं विकसित अवस्था में थी तथा अर्थतन्त्र का प्रमुख आधार थी। तत्कालीन कृषक कृषि व्यवस्था, भूमि वर्गीकरण एवं कृषि विकास से सुपरिचित थे। भागवतपुराण में कृषि सम्बन्धी जो सन्दर्भ उपलब्ध हैं उनसे समस्त युग की कृषि व्यवस्था पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। कृषि दशा पूरे समय न्यूनाधिक समान ही रही है। प्रत्यक्ष एवं परोक्ष साक्ष्यों से यह स्वयमेव सिद्ध है कि कृषि प्राचीन भारत में अर्थसंगठन का प्रमुख आधार थी। वैदिक काल से लेकर पौराणिक काल तक कृषि का महत्व उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया और शासकों ने अपने नियम व्यवस्था में इसको सदैव सुव्यवस्थित करने की चेष्टा की।

(स) खनिज संसाधन एवं आर्थिक व्यावसाय -

प्राकृतिक, समांगी, निश्चित रासायनिक संगठन एवं विशिष्ट परमाणवीय संरचना युक्त अकार्बनिक पदार्थों को खनिजों की संज्ञा दी जाती है। प्राचीन भारतीय संस्कृत साहित्य में पृथ्वी को रत्नगर्भा वसुन्धरा इसलिये कहा गया है कि इसमें सभी प्रकार के खनिज एवं बहुमूल्य पत्थर पाये जाते हैं। ऐतिहासिक काल से ही मानव ने सामाजिक आर्थिक उन्नयन हेतु खनिजों का प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया था। आधुनिक युग में भी मानव समाज में खनिजों को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है तथा किसी भी देश में खनिज सम्पदा के विपुल भण्डार उस देश की आर्थिक सम्पन्नता को प्रदर्शित करते हैं। प्राचीन भारत में आर्यों ने खनिजों के महत्व को जाना तथा अपनी आर्थिक गतिविधियों में उन्हें महत्व पूर्ण स्थान दिया।

खनिजों का ज्ञान -

वर्तमान युग में वर्ण रेखा, द्युति, विदलन, विभंग, एवं कठोरता आदि लक्षणों के आधार पर पहचाने जाने वाले लगभग 1600 प्रकार के खनिज मानव द्वारा ज्ञात किये गये हैं। भारत में प्रस्तर युग से ही खनिजों का ज्ञान एवं उपयोग प्रारम्भ हो गया था। तत्पश्चात् ताम्र युग एवं कांस्य युग में खनिजों का ज्ञान एवं उपयोग निरन्तर

बढ़ता गया। भारत के प्राचीन ग्रंथ इस तथ्य के सूचक हैं कि तत्कालीन भारत में मिश्रित धातुओं (कांसा एवं पीतल, सोना एवं चाँदी का मिश्रण) का निर्माण तथा मोती, हीरा, नीलम, पन्ना आदि का परीक्षण एवं खनन उन्नत अवस्था में था। भागवतपुराण काल में भारतीयों को लौह (2·6·5), ताम्र (6·9·14), रजत् (8·12·33), स्वर्ण (1·12·9), शीशा (10·12·4), चुम्बक (4·11·17) आदि खनिजों का ज्ञान था। इन्द्र नील, स्यमन्तक, वज्र(हीरा), अमल (स्फटिक), नील, मुक्ता, हरित् (पन्ना या मरकत), पद्मराग आदि प्रमुख रत्नों का भी उल्लेख है (3·23·18, 10·37·19, 10·41·21, 11·16·30)।

खनिजों का वर्गीकरण -

वर्तमान भारत में पाये जाने वाले विविध प्रकार के खनिजों को वर्गीकृत करने के कई आधार माने गये हैं यथा-खनिज की निक्षेप आकृतियों, उत्पत्ति, चट्टानों में विद्यमान खनिज स्वरूप, उपयोगिता आदि। इन आधारों पर खनिजों के कई वर्ग माने गये हैं परन्तु भागवतपुराण में मुख्यतः खनिजों को दो वर्गों में रखा गया है (11·16·18 व 30)-

(क) धातु खनिज - लौह, ताम्र, स्वर्ण, रजत्, शीशा, चुम्बक आदि धात्विक खनिज थे।

(ख) रत्न खनिज - पद्मराग, वैदूर्य, वज्र, स्फटिक, नीलम, मुक्ता, मरकत, इन्द्रनील आदि रत्न खनिज या अधात्विक खनिज माने जाते थे।

खनिजों का वितरण -

भागवतपुराण के अध्ययन के आधार पर आधुनिक भूगर्भविद् स्वर्ण, रजत एवं अन्य महत्वपूर्ण खनिजों के भण्डारों को ज्ञात कर सकते हैं। तत्कालीन भारत में महत्वपूर्ण खनिज भण्डारों का क्रमबद्ध अन्वेषण एवं खनन प्रक्रिया की जाती थी। सम्भवतः खनिज भण्डारों के वैज्ञानिक सर्वेक्षण के उपरान्त ही उनके सन्दोहन हेतु उचित उपाय किये जाते थे।

खनिजों की प्राप्ति क्षेत्र खानों को "आकर" कहा जाता था §1·6·11, 1·14·20§। तत्कालीन भारत खनिजों की दृष्टि से सम्पन्न था §10·3·2§। प्राचीन भारतीय आर्य सभ्यता का विकास उत्तरी भारत में हुआ था तथा दक्षिणी भारत सघन वनों के कारण दुर्गम भी था। इसलिये दक्षिणी भारत की अपेक्षा उत्तरी भारत में विविध खनिजों की खानों का भूयशः उल्लेख इस तथ्य को स्पष्ट करता है §1·6·11, 12, 1·14·20, 10·67·3-4, 10·71·21, 10·27·26§। पर्वतीय क्षेत्रों को विविध धातुओं एवं खनिजों का भण्डार कहा गया है §1·6·12, 3·8·24, 4·22·59, 5·16·7, 19-21, 10·27·26§। समुद्र तटवर्ती पर्वतमालाओं में भी स्वर्ण, रजत, लौह एवं रत्नों के भण्डार के उल्लेख मिलते हैं §8·2·2-4§। पर्वतीय क्षेत्रों में हिमालय अपार खनिज सम्पदा से युक्त था §4·18·25, 4·22·59§। हिमालय पर्वतमाला के ही अन्तर्गत कैलाश श्रेणी में मणिमय शिखर थे जो विविध धातुओं के कारण रंग विरंगे प्रतीत होते थे §4·6·10§। मेरू पर्वत में स्वर्ण के विशाल भण्डार बतलाये गये हैं §5·16·7§। मन्दराचल को स्वर्णभण्डारों से युक्त होने के कारण ही कनकाचल कहा जाता था §8·6·35§। त्रिकूट के तीन शिखर रजत, स्वर्ण एवं लोहे के विशाल भण्डार से युक्त थे तथा अन्य शिखरों में भी रत्न एवं विविध धातुयें पायी जाती थीं §8·2·2-4§। तत्कालीन भारत में खनिजों का अन्वेषण कार्य महासागरीय भागों में भी होता था तथा समुद्र रत्नों के भण्डार माने जाते थे। इसीलिये समुद्र को "रत्नाकर" कहा जाता था §7·4·17§। तत्कालीन भारत की सर्वश्रेष्ठ कौस्तुभ नामक पद्मराग मणि समुद्र से ही प्राप्त की गयी थी §8·8·5§।

स्वर्ण खानों के अतिरिक्त नदियों से भी प्राप्त किया जाता था। उल्लेख है कि मेरू पर्वत से उद्भूत जम्बू नदी के दोनों पार्श्वों की मृदा, उस §जम्बू के§ रस से युक्त होकर जब वायु और सूर्य के संयोग से आर्द्रहीन §शुष्क§ हो जाती है तो वह जाम्बूनद नामक स्वर्ण बन जाती है जिससे आभूषण निर्मित किये जाते हैं§5·16·19-21§।

यह अधिक तर्कसंगत होगा कि भागवतपुराण में उल्लिखित खनिज भण्डार क्षेत्रों का प्रत्याभिज्ञान किया जाय। भागवतपुराण में हिमालय को खनिजों का भण्डार कहा गया है और आज भी शीशा के भण्डार जम्मू काश्मीर, हिमांचल प्रदेश तथा उत्तर प्रदेश के टिहरी गढ़वाल जनपदों में पाये जाते हैं। रजत् भण्डार हिमांचल प्रदेश, सतलज घाटी तथा ताम्र भण्डार सुमहर क्षेत्र ﴾अनन्त नाग जिला﴿, कंगन क्षेत्र ﴾श्रीनगर जिला﴿, सिक्किम, नेपाल तथा कुमायूँ के कुछ भागों में हैं। अल्प मात्रा में स्वर्ण भण्डार हिमालय से प्रवाहित होने वाली नदियों की बालू में पाये जाते हैं। खनिजों के अतिरिक्त बहुमूल्य रत्न भी हिमालय क्षेत्र में मिलते हैं। काश्मीर एवं पाडर क्षेत्र में पीतरूबी एवं नीलम के भण्डार हैं ﴾वाडिया, 1966, 86-115﴿। आनर्त, सौवीर, मरू एवं कुरू जनपदों ﴾अर्थात् गुजरात, राजस्थान, हरियाणा, दिल्ली, व पश्चिमी उत्तर प्रदेश﴿ में राजस्थान में लौह अयस्क जयपुर, सीकर, अलवर, बूँदी, उदयपुर व भीलवाड़ा जिलों से, मैंगनीज उदयपुर, बाँसवाड़ा व पाली जिलों से, ताम्र कोलीहान, खेतड़ी, मण्डन व कुधान क्षेत्रों से, शीशा उदयपुर व जयपुर जिलों से, रजत जावर की खानों से तथा अभ्रक भीलवाड़ा जिले से प्राप्त किया जाता है। गुजरात में मैंगनीज पंचमहल व बड़ोदरा क्षेत्रों तथा शीशा अम्बामाता देवी क्षेत्र, बनासकाँटा, बड़ोदरा, पंचमहल व जूरा में प्राप्त किया जाता है। हरियाणा के नारनौल व गुड़गाँव जिलों में अभ्रक व महेन्द्रगढ़ जिले में लौ यस्क के निक्षेप पाये जाते हैं। वर्तमान में दिल्ली व पश्चिमी उत्तर प्रदेश में खनिजों का लगभग अभाव है।

त्रिकूट ﴾दक्षिणी पश्चिमी लंका में स्थित﴿ पर्वत में विविध खनिजों व रत्नों के भण्डार का उल्लेख है। वर्तमान में भी श्रीलंका का दक्षिणी भाग रत्न भण्डारों से भरा पड़ा है जिस कारण इसे "रत्नद्वीप" तथा "पूर्व का मोती" कहा जाता है। बहुमूल्य पत्थरों में यहाँ नीलमणि, पोखराज, लालमणि, चन्द्रमणि, क्रिसोबेरिल, बिल्ली चक्षु, जिरकन, स्पाइनेल, टरमेलिन, एक्वोमेरीन, हीरा, जारनेट, केट्स आइज, बेरूज, लहसुनियाँ आदि पाये जाते हैं। ग्रेफाइट, अबरख, लौह तथा ताम्र आदि खनिज भी कुछ मात्रा में पाये जाते हैं।

खनिजों का उपयोग -

किसी भी राष्ट्र की उन्नति एवं शक्ति सम्भाव्यता का मापन खनिज सम्पदा एवं उसका क्रमबद्ध अन्वेषण तथा अधिक्तम लाभादायी प्रक्रिया से है। भागवतपुराण काल में धातु उद्योग विकसित था। भागवतुपराण में उपलब्ध सन्दर्भो से यह स्पष्ट होता है कि विभिन्न क्षेत्रों से धातु खनिज प्राप्त किये जाते थे तथा उनको गलाकर कृषि, परिवहन, उत्खनन, भवन, सामरिक तथा दैनिक उपयोग की वस्तुओं का निर्माण किया जाता था। युद्ध में धातु निर्मित अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग किया जाता था। विभिन्न प्रकार के अस्त्र-शस्त्र यथा- भुशुण्डि, चक्र, गदा, ऋष्टि, पट्टिश, शक्ति, उल्मुक, प्रास, परशु, निस्त्रिंश , भल्ल, परिघ, मुद्गर, भिन्दिपाल, शूल, धनु, शर, वर्मन, तोमर, शतघ्नी आदि का निर्माण लोहे से किया जाता था §1·8·10, 4·10·11, 16,17, 6·10·22-23, 8·10·36, 10·54·29§। कृषि उपकरणों यथा- कुठार, परशु, क्षुरा, खनित्र, सीर, लांगल, हल आदि §3·25·11, 5·25·7, 6·18·41, 7·2·15, 9·13·18, 10·65·24§ एवं परिवहन के साधनों यथा- शकट की धुरी, रथ की धुरी व चक्र की नेमि, वायुयान §5·1·39, 5·21·14, 10·7·7, 10·76·7§ तथा अन्य उपयोग में आने वाली वस्तुयें यथा- सुई, उलूखल, कील, जंजीर, हथकड़ी-बेड़ी, मूसल, टंक §पत्थर काटने या गढ़ने की छेनी§, मूर्तियों आदि §8·10·46, 10·3·48, 52, 10·9·14, 10·41·40, 11·1·17, 11·27·12§ का निमार्ण लोहे से होता था। इससे स्पष्ट ध्वनित होता है कि तत्कालीन भारतीयों को धातु शुद्धीकरण एवं यन्त्र निर्माण में दक्षता प्राप्त थी।

स्पात निर्माण के लिये लोहा ढाला जाता था। दुर्गो में किलेबन्दी एवं संरक्षण के लिये धातु निर्मित मशीनों और यान्त्रिक औजारों §10·59·3-5§ का व्यापक व्यवहार यन्त्र निर्माण कला की समुन्नत अवस्था को सूचित करता है।

स्वर्ण, रजत एवं अलौह धातुओं का प्रयोग आभूषणों एवं दैनिक उपयोग की वस्तुओं के निर्माण में किया जाता था। अलौह धातुओं में स्वर्ण का विशेष महत्व था

तथा इसे धातुओं में सर्वश्रेष्ठ माना जाता था §11·16·18§। इसे कांचन, हिरण्य, रुक्म, जातरूप, हेम, पुरट, शातकौम्भ, सुवर्ण, हाटक, कनक, कर्त्तस्वर, जाम्बुनद, धेम, चामीकर, हेम्न आदि नामों से भी जाना जाता था। शासक और सैनिक अपने अस्त्र-शस्त्रों §4·26·3, 9·10·44, 10·76·18§, रथों §9·10·37, 10·68·51§ एवं पशुओं §9·4·33, 9·10·38, 10·1·31§ को स्वर्ण, रजत और बहुमूल्य पत्थरों से सुसज्जित करते थे। स्त्री-पुरुष विभिन्न प्रकार के रत्न जटित आभूषणों को धारण करते थे। दक्ष कारीगर धातुओं एवं रत्नों से व्यक्ति एवं स्थान की महत्ता के आधार पर ही आभूषण निर्मित करते थे। बहुमूल्य पत्थरों से जटित स्वर्ण एवं रजत के आभूषणों में किरीट, अंगद, कुण्डल, कटिसूत्र, हार, नूपुर, निष्क, चूड़ामणि, वलय, आंगुलीयक आदि का उल्लेख है §2·2·9, 11, 4·12·38, 4·24·51, 8·6·5-6, 10·13·47-48§। आभूषणों में विविध रत्नों या मणियों का जड़ाना सौन्दर्य वृद्धि के साथ अनिष्टकारी ग्रहों से रक्षा के उद्देश्य से किया जाता था §10·56·11, 45, 10·57·36, 39 तथा ग0पु0- 37·8, उद्धृत, शर्मा, 1981, प्रथम भाग, 210§। आभूषणों के अतिरिक्त कलश §3·23·18§, विविध पात्र §4·4·6, 4·13·36§, रशन §4·19·19§, मुद्रा §10·61·29§, घण्टा §8·11·30§, मूर्तियाँ §11·27·12§ आदि स्वर्ण, रजत एवं मणियों से निर्मित किये जाते थे। शासकीय प्रयोग के सिंहासन स्वर्ण निर्मित होते थे §3·33·16, 4·15·14, 10·81·30§। शासकीय भवनों, शयनासनों तथा आसनों को सुवर्ण व रजत से सुसज्जित किया जाता था तथा हाँथीदाँत एवं बहुमूल्य रत्नों की पच्चीकारी की जाती थी §3·33·16, 9·11·31-33, 10·41·20-22, 10·50·50-54, 10·69·9-10, 10·81·29§, जिससे तत्सम्बन्धित कला की उन्नत अवस्था का आभास होता है। विमानों को भी स्वर्ण व रजत से सुसज्जित किया जाता था तथा बहुमूल्य रत्नों की पच्चीकारी की जाती थी §3·23·12-21§।

भारत को प्राचीन औद्योगिक विश्व में विभिन्न धातुओं के उत्पादन एवं उद्योग धन्धों में विशिष्ट स्थान प्राप्त था। यद्यपि खनिज आधारित उद्योग धन्धों का भागवतपुराण में अभाव है तथापि उपलब्ध सन्दर्भों से स्पष्ट है कि लघु पैमाने पर औद्योगिक क्रियाकलाप

सम्पन्न होते थे। लौहकार लौह भट्ठियों में भस्त्रा §11·21·22§ द्वारा लौह को तपाते थे जिससे मल निकल जाने पर लोहा शुद्ध हो जाता था §3·28·10§, तत्पश्चात् उस लोहे से विविध औजारों का निर्माण करते थे। इस कार्य के द्वारा वे अपनी आजीविका का निर्वाह करते थे। वाणों का निर्माण करने वाले कारीगर को "इषुकार" कहा जाता था §11·9·13§। हेमकार §7·7·21§ स्वर्ण एवं रजत के रत्नजटित आभूषणों के निर्माण में दक्ष थे। उन्हें सुवर्ण की खानों में चट्टानों में मिश्रित स्वर्ण को प्राप्त करने तथा तपाकर उसकी अशुद्धियों को दूर करने की वैज्ञानिक विधि ज्ञात थी §7·7·21 तथा 11·14·25§। मणिकार मणियों का प्रत्याभिज्ञान, परीक्षण व शान पर चढ़ाकर चमकाने व तरासने का कार्य करते थे §3·21·47, 12·6·50§। विविध प्रकार के शिल्पियों एवं श्रमिकों, जिनके संघ को "श्रेणी" §10·41·21§ कहा जाता था, को समाज में सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त था। तत्कालीन आर्थिक विकास एवं राज्य श्री वृद्धि में इनका प्रशंसनीय सहयोग होता था। इन उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि लघु पैमाने पर उद्योगों एवं उच्च दस्तकारी का विकास था।

जैवीय, खनिज एवं कृषि संसाधनों का उपरोक्त अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि भागवतपुराण कालीन भारतीय कृषि, धातु एवं शिल्प विज्ञान में वैज्ञानिक विधि से कार्यरत थे, जो प्राचीन भारतीय तकनीक का उत्तम उदाहरण प्रस्तुत करता है।

:: सन्दर्भ ::

1- अग्रवाल, वी0एस0 §1969§, पाणिनिकालीन भारतवर्ष, वाराणसी।

2- अग्निहोत्री, पी0डी0 §1963§, पतंजलिकालीन भारत, पटना।

3- आप्टे, वी0एस0 §1981§, संस्कृत हिन्दी कोश, वाराणसी।

4- कृष्णकुमार §1977§, भारतीय संस्कृति के आधार तत्व, बरेली।

5- चड्ढा, योगराज एवं अन्य §सम्पा0, 1976, 1981 तथा 1984§, भारत की सम्पदा-प्राकृतिक पदार्थ, खण्ड-चतुर्थ, षष्ठ तथा सप्तम्, नई दिल्ली।

6- जायसवाल, मंजुला §1983§, वाल्मीकियुगीन भारत, इलाहाबाद।

7- त्रिपाठी, आर0एल0 एवं सिंह, सी0 §1984§,"भागवतपुराण काल में भारतीय कृषि व्यवस्था", वि0शी0भू0प0, अंक-3, संख्या-1-2, बस्ती।

8- द्विवेदी, के0एन0 §1969§, कालिदास की कृतियों में भौगोलिक स्थलों का प्रत्याभिज्ञान, कानपुर।

9- द्विवेदी, के0एन0 §1985§, ऋग्वैदिक भूगोल, कानपुर।

10- पाण्डेय, वी0सी0 §1960§, भारतवर्ष का समाजिक इतिहास, इलाहाबाद।

11- प्रकाश, सत्य एवं अन्य §सम्पा0, 1971, 1972, 1972 तथा 1979§, भारत की सम्पदा-प्राकृतिक पदार्थ, खण्ड-प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा पंचम, नई दिल्ली।

12- मिश्र, जे0एस0 §1986§, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पटना।

13- राय, एस0एन0 §1968§, पौराणिक धर्म एवं समाज, इलाहाबाद।

14- राय, शोभनाथ §1982§, "चन्दन विष व्यापत नहीं लिपटे रहत भुजंग", धर्मयुग, 17 जून, बम्बई।

15- रेउ, वी0एन0 §1967§, ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, वाराणसी।

16- लाहा, वी0सी0 §1972§, प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल §हिन्दी अनुवाद§, लखनऊ।

17- वाडिया, डी0एन0 §1966§, मिनरल्स ऑफ इण्डिया, न्यू देहली।

18- विद्यालंकार, एस0के0 §1978§, प्राचीन भारत का धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक जीवन, दिल्ली।

19- विद्यालंकार, एस0के0 §1979§, प्राचीन भारतीय इतिहास का वैदिक युग, मसूरी, दिल्ली।

20- व्यास, एस0एन0 §1946§, एग्रिकल्चर इन दि रामायण एज, दि पूना ओरियन्टलिस्ट, वाल्यूम -11, नम्बर - 3-4 ।

21- सक्सेना, डी0पी0 §1972§, "इण्डियन एग्रिकल्चर ड्यूरिंग दि वैदिक पीरियड", प्रोसीडिंग्स ऑफ सिम्पोजियम ऑन लैण्ड यूज इन डेवलपिंग कन्ट्रीज, अलीगढ़ मुस्लिम युनिवर्सिटी, अलीगढ़।

22- सक्सेना, डी0पी0 §1976§, रीजनल ज्यॉग्रफी ऑफ वैदिक इण्डिया, कानपुर।

23- शर्मा, आर0 §1971§, ए सोशियो-पॉलिटिकल स्टडी ऑफ दि बाल्मीकि रामायण, वाराणसी।

24- शर्मा, आर0एस0 §1978§, पूर्वकालीन भारतीय समाज और अर्थव्यवस्था पर प्रकाश, वाराणसी।

25- शर्मा, श्रीराम §सम्पा0, 1981§, गरूड़ पुराण, प्रथम भाग, बरेली।

26- शुक्ल, आर0के0 §1984§, रामायणः ए स्टडी इन ऐन्शियण्ट इण्डियन ज्यॉग्रफी, शोध प्रबन्ध, झाँसी।

27- शुक्ल, आर0के0 एवं अग्निहोत्री, एम0सी0 §1983§, "रामायणकालीन भारतीय कृषि का भौगोलिक मूल्यांकन", वि0शी0भू0प0, अंक-2, संख्या-1, बस्ती।

अध्याय - चतुर्थ

यातायात एवं संचार के साधन

विश्व की वर्तमान विनिमय पर आधारित आर्थिक व्यवस्था में परिवहन एवं संचार साधनों का सर्वाधिक महत्व है। परिसंचरण के अन्तर्गत परिवहन तथा संचार दोनों सम्मिलित होते हैं। वस्तुओं या व्यक्तियों के एक स्थान से दूसरे स्थान पर आवागमन को परिवहन कहते हैं जबकि सन्देश, विचार आदि के प्रादेशिक आदान प्रदान को संचार कहते हैं। परिवहन प्रादेशिक कार्यात्मक अन्तर्सम्बन्ध का द्योतक है। विशिष्ट आर्थिक तंत्र, परिसंचरण, ट्राफिक अर्थात् ढोये जाने वाले पदार्थों या व्यक्ति तथा परिवहन व्यवस्था ये सभी परस्पर अन्तर्सम्बन्धित होते हैं। परिवहन के प्रत्येक साधन की अपनी पृथक्-पृथक् तकनीकी विशेषतायें तथा क्षेत्रीय विस्तार प्रतिरूप होते हैं, जिसे परिवहन जाल भी कहते हैं। किसी प्रदेश विशेष की सम्पूर्ण परिवहन व्यवस्था ऐसे ही विविध प्रकार के परिवहन साधनों का सम्मिलित रूप व्यक्त करती है। परिवहन के भौगोलिक अध्ययन में परिवहन के स्थानीयकरण, विकास, देश-प्रदेश के प्रादेशिक-आर्थिक संश्लिष्ट कार्यशीलता तथा परिवहन के, कृषि, उद्योग, जनसंख्या एवं नगर, प्राकृतिक तत्वों एवं संसाधनों से सम्बन्ध का विश्लेषण किया जाता है। इस सन्दर्भ में आधुनिक परिवहन भूगोल में परिवहन के साधनों के अन्तर्गत रेलगाड़ियाँ, मोटरगाड़ियाँ, विशाल पोत तथा वायुयान आदि को सम्मिलित किया जाता है जबकि संचार साधन रेडियो, दूरदर्शन, बेतार का तार, दूरभाष तथा उपग्रह तकनीक से सम्बन्धित है। प्रस्तुत अध्याय में भागवतपुराण काल में विकसित यातायात एवं संचार साधनों में स्थल परिवहन के अन्तर्गत शिविका, शकट, रथ, रथनिर्माण कला, रथों के प्रकार, स्थल परिवहन पथ, सड़क परिवहन अभियांत्रिकी , प्रमुख स्थल मार्ग, जल परिवहन के अन्तर्गत नौ परिवहन, पोत निर्माण कला, प्रमुख पत्तन, वायु परिवहन के अन्तर्गत विमानों के प्रकार, विमान निर्माण कला, वायुमार्ग तथा संचार के साधनों में बेतार का तार , दूत एवं चर व्यवस्था आदि पर प्रकाश डाला गया है।

दो प्रदेशों के मध्य परिवहन सम्बन्ध परिवहन के विभिन्न माध्यमों में से किसी भी माध्यम के द्वारा स्थापित हो सकता है। विभिन्न काल एवं विभिन्न क्षेत्रों में परिवहन के अनेक माध्यम मिलते हैं। आदिकाल से ही शनैः शनैः परिवहन के साधनों और

मार्गों का विकास होता आ रहा है। अति प्राचीनकाल में जब अजैविक शक्ति के साधनों का विकास नहीं हुआ था, मनुष्य एवं पशु परिवहन के माध्यम थे। सर्वप्रथम प्राचीनतम काल में मनुष्य स्वयं ही अपना बोझ एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाता था। जब पशुओं §अश्व, वृषभ आदि§ को मानव ने पालतू बनाया तब पशु ही परिवहन के मुख्य माध्यम बन गये। तत्पश्चात् शकट एवं रथों द्वारा परिवहन होने लगा। आज भी प्रारम्भिक आर्थिक तन्त्रों में इस प्रकार के परिवहन माध्यमों का बहुत महत्व है। मानव सभ्यता के विकास के साथ परिवहन के साधनों एवं परिवहन मार्गों में भी निरन्तर विकास होता गया। मानव ने विस्तृत जलाशयों के पार जाने के लिये नौकाओं एवं विशाल पोतों का तथा पक्षियों के समान आकाश में विचरण के लिये विमानों का भी निर्माण किया। स्थल भाग पर आज तीव्रगामी रेलें एवं मोटरें दौड़ती हैं, किन्तु यह सब सरलता से और अल्प समय में नहीं हो गया था, बल्कि इसमें युग लग गये। इस प्रकार परिवहन के साधनों और मार्गों का विकास करके ही मानव ने आधुनिक प्रगति की है।

§अ§ <u>यातायात के साधन</u> -

आदिकाल से आज तक विशाल विश्व के विभिन्न देशों में परिवहन के विभिन्न साधनों का प्रचार हुआ, और यद्यपि अब हम भार के नीचे झुके हुये मनुष्य की अवस्था से कृत्रिम पर §पंख§ लगाकर आकाशगामी मानव की अवस्था तक पहुँचे हैं तथापि प्राचीन परिवहन के सभी स्वरूप आज भी प्रचलित हैं। भागवतपुराण में उल्लिखित परिवहन साधनों के प्रकारानुसार इनको तीन प्रमुख वर्गों में विभक्त किया जा सकता है-स्थल परिवहन, जल परिवहन एवं वायु परिवहन।

1- स्थल परिवहन -

यह पूर्व में ही उल्लेख किया जा चुका है कि अति प्राचीन काल से ही मनुष्य स्वयं एक परिवहन का साधन रहा है तथा भागवतपुराणकाल में भी मानव शरीर का उपयोग परिवहन के एक साधन के रूप में किया जाता रहा है§4·29·33, 10·18·21-

33, 10·52·5-6, 10·71·16, 21, 22§। पालतू पशुओं के अन्तर्गत वृषभ, महिष, अश्व, उष्ट्र, गज, खर, अश्वतर आदि का उपयोग परिवहन के साधनों के रूप में किया जाता था §10·52·6, 10·56·13, 10·71·16§। सम्भवतः वृषभ भारवाहक पशु के रूप में सर्वप्रथम प्रयुक्त हुआ, क्योंकि इनकी उपलब्धता सर्वत्र थी। वर्तमान में भी ग्रामों में इनका उपयोग हल एवं शकट में किया जाता है तथा आधुनिक परिवहन के साधनों के उपलब्ध होते हुये भी ग्रामीण क्षेत्रों में शकट यातायात का प्रमुख साधन है। उष्ट्रों एवं अश्वों का प्रयोग सामान्यतः उनके विशिष्ट गुणों के कारण तत्कालोपरान्त किया जाने लगा। निश्चित रूप से अतिदूर की यात्रा करने तथा सामरिक दृष्टिकोण से अश्वों का प्रयोग ऐतिहासिक काल में होता रहा। इस दृष्टिकोण से पौराणिक काल में अश्वों को निरन्तर प्रशिक्षण दिया जाता था §11·20·19§। सिन्धु जनपद के अश्व उत्तम नस्ल के माने जाते थे §10·69·35, दृष्टव्य अग्रवाल, 1969, 210§। अश्व विविध प्रकार के आभूषणों से सुसज्जित किये जाते थे §1·9·2, 9·10·38§ तथा युद्ध स्थल में जाने के लिये इनको सुरक्षात्मक कवच भी धारण कराया जाता था।

अश्वों की तुलना में अन्य पालतू पशुओं का उपयोग यातायात के साधनों के रूप में केवल क्षेत्रीय महत्व का था। प्राचीन काल में गज सवारी के अतिरिक्त युद्ध कार्य में प्रयुक्त होता था §10·50·26, 10·71·16, 11·30·15§ तथा शासकों की विलासिता का एक साधन था। भागवतपुराण में उपलब्ध सन्दर्भों के आधार पर विविध प्रकार के परिवहन साधनों तथा स्थल वाहनों के प्रकारों का वर्णन निम्नवत् है-

यानों के प्रकार -

पौराणिक काल में सवारी या भार ले जाने वाले साधनों को "यान" की संज्ञा दी जाती थी §4·3·6, 10·50·21, 10·68·42§। स्थल यानों में दो प्रकार के वाहन प्रमुख थे- लघुयान एवं महायान। लघु यानों के अन्तर्गत शिबिका तथा शकट

एवं महायान के अन्तर्गत विविध प्रकार के रथों को सम्मिलित किया जा सकता है -

(क) लघु यान -

(1) <u>शिबिका</u> - लघुयान के अन्तर्गत प्रमुख रूप से यह शाही वाहन था। वृत्तिकव्यक्ति ही इसको ढोने का कार्य करते थे जिन्हें शिबिकावाहपुरूष, बोढ़ार या वाहक कहा जाता था (7.8.52, 5.10.1-2)। यह काष्ठ द्वारा निर्मित होती थी तथा स्वर्ण आदि से अलंकृत किया जाता था (5.12.6, 10.71.15)। मानव द्वारा ढ़ोये जाने के कारण इसे "नरयान" भी कहा जाता था (10.59.39)।

(2) <u>शकट</u> - तत्कालीन भारत में परिवहन के साधनों में शकट का प्रयोग अति व्यापक था। इसका निर्माण तक्षक (बढ़ई) वनों से उपलब्ध काष्ठ से करते थे। इसको खींचने के लिये बैलों का प्रयोग किया जाता था (10.5.32, 10.34.1)। शकट को "अनस्" भी कहा जाता था (10.5.32, 10.7.7, 10.26.5)। उपयोगिता के आधार पर शकट विविध आकार के निर्मित किये जाते थे। भागवतपुराण में शकट के विविध अंगों के भी सन्दर्भ मिलते हैं यथा-चक्र, अक्ष(धुरी), कूबर(जुआँ), आदि (10.7.7)। ये शकट वर्तमान बैलगाड़ियों के समान ही होते थे तथा विशेषकर कृषि उपजों को ढ़ोने एवं स्थानीय यात्राओं के लिये कृषकों द्वारा प्रयोग किये जाते थे।

(ख) महायान -

<u>रथ</u> - भागवतपुराण के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि शकट प्रमुख रूप से कृषकों का वाहन था, जबकि रथों का प्रयोग शासकों एवं महत्वपूर्ण व्यक्तियों द्वारा व्यक्तिगत (यात्रा, पर्यटन एवं आखेट) तथा सैनिक उपयोग के लिये किया जाता था (4.14.5, 10.50.21-22, 10.58.13-14, 10.68.15, 10.69.26)। शकट ऊबड़-खाबड़ मार्ग में जासकते थे, परन्तु रथ के लिये प्रशस्त मार्ग अपेक्षित होता था।

रथ को "स्यन्दन" भी कहा जाता था (10.41.6)। तत्कालीन भारत में शासकों के लिये अत्यधिक उपयोगी होने से रथों की गणना राजकोष के अन्तर्गत होती

थी §8·18·32, 10·59·36§। अत्यधिक संख्या में रथों की उपस्थिति शासक की आर्थिक समृद्धि तथा वैभव की सूचक होती थी। विशेष अवसरों §उत्सवों§ पर राजधानियों में राजमार्गों पर रथों की भीड़ का दृश्य दर्शनीय होता था §10·71·35§। रथों को "रथशाला" में रखा जाता था §10·66·41§। रथों को दानस्वरूप भी भेंट दिया जाता था §8·18·32, 10·58·51, 10·64·15§। प्राचीन भारत में यद्यपि रथों को खींचने के लिये अश्वों, उष्ट्रों, खरों एवं अश्वतरों को जोता जाता था परन्तु भागवतपुराण में केवल अश्वों एवं खरों का ही उल्लेख मिलता है §10·42·30, 10·53·5§। सामान्यतः रथ में दो अश्व जोते जाते थे, परन्तु चार, पाँच, सात एवं सहस्र अश्वों से जुते रथों का भी उल्लेख मिलता है §4·26·1, 5·21·15, 8·11·16, 10·68·10-11§। चार अश्वों से जुता रथ वेगवान् होता था। अतः सांग्रामिक रथों में अधिकांशतः चार अश्व ही जोते जाते थे §10·53·5-6, 10·54·27, 10·68·10-11, 10·83·32§।

रथ का संचालन "सारथि" करता था, जिसे सूत भी कहा जाता था। वह रथ में सवारी के अग्र एवं वाम भाग की ओर आसीन होर "रश्मि" §लगाम§ एवं "तोत्र" §चाबुक§ के द्वारा अश्वों को नियन्त्रित करता था, जिस कारण उसे "दमन" कहा जाता था §1·7·17, 1·9·20, 39, 4·26·2, 5·21,16§।

रथ निर्माण कला -

आकार के अनुसार रथ विविध प्रकार के होते थे तद्वत् "उपस्कर" §4·26·3, 10·83·33§ अर्थात् रथांगों को निर्मित किया जाता था। इनका निर्माण त्वष्टा §तक्षक या बढ़ई§ किया करते थे §4·15·17§। भागवतपुराण में विविध रथांगों का उल्लेख मिलता है, यथा -

1- <u>चक्र §4·26·1§</u> - चक्र रथ का बहुत महत्वपूर्ण अंग माना जाता था। चक्र के अनेक उपांग होते थे, यथा- नाभि, अर, पर्व, नेमि आदि §3·21·18§। चक्र

के मध्य गोलाकार छिद्रयुक्त काष्ठ को नाभि कहा जाता था, जिसमें अक्ष या धुरी पिरोयी जाती थी। चक्र के बाह्य मण्डलाकार काष्ठों को "नभ्य" कहा जाता था। नाभि एवं नभ्य को संयुक्त करने वाले काष्ठ खण्डों को "अर" कहा जाता था। नाभि एवं नभ्य के सन्धियों §जोड़ों§ को "पर्व" तथा नभ्य के बाह्य किनारे पर चढ़ायी गयी लोहे की वलय §हल§ को "नेमि" कहा जाता था।

2- अक्ष §3·21·18, 4·26·1§ - रथ के मध्य में लगे धुर को "अक्ष" कहा जाता था, जिस पर चक्र चलता था। रथ का अक्ष दो अक्षों को संयुक्त कर निर्मित किया जाता था। एक सम्भवतः लौह निर्मित पूर्ण लम्बाई का अक्ष, जिसके दोनों किनारों पर चक्र पिरोये जाते थे तथा दूसरा अक्ष जिसकी लम्बाई पूर्व अक्ष की अपेक्षा चौथाई होती थी §5·21·14§, जो दृढ़ कष्ठ से निर्मित होती थी। इस अक्ष के अधोभाग में लौह निर्मित बड़े अक्ष को तथा उपरिभाग पर रथ के सम्पूर्ण ढांचे को ईषादण्डों के सहारे संयुक्त किया जाता था।

3- ईष §4·26·1§ - जिन दो दृढ़ व लम्बे काष्ठों पर रथ का ढाँचा निर्मित किया जाता था, उनको ईष §बाम्ब§ कहा जाता था।

4- कूबर §4·26·2§ - ईष के अग्र भाग पर आबद्ध जुआं को कूबर कहा जाता था जिस पर अश्व जोते जाते थे।

5- नीड §4·26·2§ - रथ के अन्तर्भाग में बैठने का स्थान नीड कहलाता था।

6- वरूथ §4·26·2§ - लोहे की चद्दर या सींकड़ों का निर्मित आवरण जो शत्रु के आघात से रथ को रक्षित रखने के लिये उसके ऊपर डाला जाता था §शर्मा तथा झा, 1973, 1020§।

7- वेणु §4·26·1§ - रथ के ऊपर सम्मुख भाग में लगे ध्वजदण्ड को वेणु कहा जाता था।

8- बन्धुर §4·26·1§ - रथ के अंग उपांगों को बाँधने में प्रयुक्त रस्सियों को बन्धुर कहा जाता था।

प्राचीन भारत में रथ निर्माण की चार अवस्थायें थी। सर्वप्रथम त्वष्टा पृथक्-पृथक् रथांगों का निर्माण करता था। द्वितीय अवस्था में उन अगों को एकमेंठोंकताऔर मिलाता था। तृतीय अवस्था में रथ को चर्म या वस्त्र से मढ़ा जाता था तथा चतुर्थ अवस्था में रथांगों को यत्र -तत्र बन्धुर §रज्जुओं§ से बाँधा जाता था। रथ को आकर्षक बनाने के लिये उसके उपस्करों को स्वर्ण एवं बहुमूल्य पत्थरों से सुसज्जित किया जाता था §3·21·52, 4·9·39, 4·26·3, 10·46·47, 10·51·51§। वेणु के ऊपर ध्वजा लगायी जाती थी। ध्वज पृथक्-पृथक् चिह्नों से युक्त होते थे §1·16·11, 10·50·22, 10·57·19, 10·58·13§, जो युद्ध भूमि में संकेतक का कार्य करते थे। उत्तमता की दृष्टि से रथों में अन्तर होता था। श्रेष्ठ रथ को "वररथ"§10·61·40§ तथा सुन्दर, कलापूर्ण रथ को "रूपाश्रय रथ"§ 4·15·17§ कहा जाता था। सम्भवतः विशालाकार, दृढ़ एवं आकर्षक रथ को ही वर रथ कहा जाता था। आपस्तम्ब शुल्व सूत्र§अग्रवाल., 1969, 152–153 के अनुसार उत्तम या वर रथ की माप निम्न प्रकार से थी-

ईषा की लम्बाई	=	188 अंगुल	=	11 फिट 9 इंच
अक्ष की लम्बाई	=	104 अंगुल	=	6 फिट 6 इंच
कूबर की लम्बाई	=	86 अंगुल	=	5 फिट 6 इंच

रथों के प्रकार -

प्राचीन भारत में विविध आकारों एवं उपयोगिता पर रथ कई प्रकार के होते थे। मुख्यतः इन्हें दो वर्गों में रखा जा सकता है - §क§ यान रथ §ख§ सांग्रामिक रथ।

§क§ यान रथ - ये रथ यात्रा, पर्यटन, आखेट एवं भार ढोने के लिये प्रयुक्त होते थे §4·14·5, 10·58·13-14, 10·68·15, 10·69·26§।

§ख§ सांग्रामिक रथ - यह प्रथम प्रकार के रथों से भिन्न होता था। इसकी प्रमुख विशेषताओं में से इसका विशालाकार एवं शक्ति सम्पन्नता थी। ये रथ विविध प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित होते थे §4·26·2-3, 10·50·11-12§। इस रथ में आसीन होकर युद्ध करने वाला योद्धा "रथी" कहलाता था §1·15·21, 10·50·15§। सांग्रामिक रथों को बहुमूल्य पत्थरों एवं स्वर्ण से अलंकृत किया जाता था §4·9·51, 10·83·33§। रथों के ऊपर पताकायें लगायी जाती थीं, जो योद्धाओं का संकेतक होती थीं §10·50·22§। सामान्यतः सांग्रामिक रथों में गति को दृष्टिगत रखकर चार अश्वों को जोता जाता था §10·53·5-6, 10·54·27, 10·68·10§। रथ योद्धा की प्रमुख माँग "गति" होती थी, जो अश्वों की नस्ल एवं गुणों पर निर्भर होती थी। विशिष्ट व्यक्तियों के रथों में उत्तम नस्ल के अश्व जोते जाते थे, जो अत्यधिक वेगवान् होते थे §3·21·52, 4·10·4, 4·16·20, 9·9·11, 10·39·38, 10·53·5-6§। अश्वों को तीव्रगति से दक्षिण वाम घूर्णन हेतु तथा अत्यधिक भार ढोने हेतु प्रशिक्षित किया जाता था। यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि तत्कालीन भारत में निरन्तर दीर्घकालीन तपस्या द्वारा अथवा उचित रूप से अग्नि को प्रदान किये गये हवन के द्वारा प्राप्त दिव्य रथों का वर्णन भी मिलता है §8·15·4-8, 10·58·26§।

स्थल परिवहन पथ -

किसी भी क्षेत्र के समाकलित विकास में परिवहन साधनों के अन्तर्गत सड़कों का अत्यधिक महत्व है। विश्व के प्राचीनतम बसे हुये देश भारत के अधिवास भूदृश्य के साथ-साथ विकसित विभिन्न प्रकार की सड़कों ने यहाँ के सुव्यवस्थित मानव समाज को पोषित, कृषि अर्थतन्त्र को विकसित एवं अक्षुण्ण भारतीय संस्कृति को उन्नत किया है। मोहन जोदड़ो और हड़प्पा के पुरातात्विक उत्खनन से प्राप्त सुनियोजित सड़कों के संकेत इस तथ्य की पुष्टि करती हैं। वस्तुतः प्राचीन भारत में प्रशासनिक गठन, धार्मिक प्रचार, व्यावसायिक गतिशीलता और सामरिक दक्षता की दृष्टि से इन सड़कों का महत्व था। प्राचीन भारतीय नियोजकों ने सड़कों के महत्व को राज्य की उन्नति एवं सुरक्षा

के लिये आवश्यक समझा और नियोजित रूप से उनका विकास किया। बृहद् दृष्टिकोण से तत्कालीन भारत में विकसित सड़क परिवहन जाल के अन्तर्गत सघन वन्य क्षेत्रों और दुर्गम पर्वतीय भागों में स्थित पगडण्डियों से लेकर शकट पथ, कच्ची सड़कें व पक्की सड़कें सम्मिलित की जाती हैं।

पगडण्डियाँ - मनुष्य द्वारा पैदल चलने पर पद चिह्नों द्वारा निर्मित संकीर्ण मार्गों तथा अश्व, अश्वतर, वृषभ, उष्ट्र, गो, महिष आदि पालतू पशुओं के पद चिह्नों से निर्मित मार्गों {10·13·30, 32, 10·19·4-5} को पगडण्डियों के वर्ग में रखा जा सकता है। ये संकरी पगडण्डियाँ वर्षा ऋतु में तृण{घास} आदि से ढक जाती थीं {10·20·16}। वस्तुतः देश की ग्राम्य अधिवास संरचना, समाकलिक कृषि प्रधान अर्थ तन्त्र और उसके स्थानिक गठन में इन पगडण्डियों का जीवित शरीर में शिराओं की भाँति महत्व था। वर्तमान भारत में भी राजस्थान, उत्तरी पश्चिमी गुजरात और दक्षिणी पश्चिमी पंजाब के शुष्क क्षेत्रों में उष्ट्र पथ तथा हिमालय के दुर्गम पर्वतीय क्षेत्रों में अश्वतर पथ ही परिवहन तन्त्र के प्रमुखतम अंग हैं।

शकट मार्ग -

शकटों के आवागमन के लिये निर्मित मार्गों को शकट मार्ग के वर्ग में रखा जा सकता है। देश के मैदानी एवं समतल पठारी क्षेत्रों में कृषि पर आधारित विभिन्न प्रकार की ग्राम्य बस्तिओं के अन्तर्सम्बन्ध एवं अन्योन्य क्रिया को विकसित और क्रियाशील बनाये रखने में शकट पथ आधारभूत कारक है। ग्राम्य बस्तियों को अन्तर्सम्बन्धित करने वाले प्राकृतिक भूदृश्य की दशाओं द्वारा निर्धारित प्रधानतः वक्राकार या विसर्पाकार और धूलधूसरित शकट मार्ग प्राचीन भारतीय परिवहन जाल के अभिन्न एवं समाकल अंग थे। सम्भवतः विगत सहस्र वर्षों की ऐतिहासिक अवधि में देश के ग्राम्य मानव बसाव, कृषि प्रधान अर्थतन्त्र, मानव जनसंख्या का पारिस्थितिक सन्तुलन के अनुरूप समान वितरण आदि के निर्धारण एवं संचालन में इन्हीं पथों का प्रधानतः सहयोग रहा। पौराणिक काल में विविध ग्राम्य बस्तिओं तथा ग्राम एवं नगर एक दूसरे से शकट पथों द्वारा अन्तर्सम्बन्धित

थे §10·5·31-32, 10·11·29-35, 10·24·34, 10·34·1-4, 10·39·11-12, 33§।

सिन्धु सभ्यता का प्रादेशिक व्यापार शकटों के द्वारा भी चलता था। वैदिक काल में "अनस्" नामक बैलगाड़ी व्यापार के लिये होती थी, जिसको खींचने वाले बैलों को "अनड्वान्" कहा जाता था §उपाध्याय, मू0सं0, भाग द्वितीय, 416-417§। भागवतपुराण में भी इन शब्दों का उल्लेख मिलता है §10·5· 32,10·24·34§, जिससे स्पष्ट होता है कि शकट एवं शकट मार्गों का उपयोग व्यापारिक क्रियाओं हेतु भी किया जाता था। व्यापारी राजमार्गों से दूर स्थित ग्राम्य बस्तियों में भी शकट मार्गों से व्यापारिक माल लेकर व्यापार हेतु आवागमन किया करते थे।

सड़कें -

स्थल मार्गों में सड़कें अति प्राचीन हैं। प्राचीन काल में भारत वर्ष में पक्की सड़कें निर्मित की जाती थीं। सिन्धु सभ्यता के युग से ही रथों के लिये लम्बी चौड़ी सड़कें बनती आ रही हैं। भागवतपुराणकालीन भारत विशेषकर उत्तरी भारत में सड़कों का जाल बिछा था। पश्चिम में द्वारका §काठियावाड़§ से लेकर पूर्व में प्राग्ज्योतिषपुर §असम§ तथा उत्तर में द्वार §हरिद्वार§ से लेकर दक्षिण में कन्याकुमारी तक की लम्बी सड़कों के अस्तित्व का संकेत मिलता है। भागवतपुराण के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि द्वारका, इन्द्रप्रस्थ, हस्तिनापुर, मथुरा, अयोध्या, मिथिला, अवन्तीपुर, काशी, गिरिव्रज, भोजकट, प्राग्ज्योतिषपुर, कुण्डिनपुर आदि प्रमुख नगर राजमार्गों द्वारा अन्तर्सम्बन्धित थे §1·10·31-35,10·45·31-42·49·10·52·5-13,10·53·6-56,10·57·19-20 10·58·34, 52,55,10·59·2,36, 10·61·26,40,10·63·2, 51,52,10·66·10,23,10·68·14-15,10·71·12-22,10·72·16§ तथा ये सभी सड़कें या राजमार्ग उत्तम अवस्था में थीं। उल्लेखनीय है कि उत्तरी भारत की अपेक्षा दक्षिणी भारत के सम्बन्ध में सड़कों के सन्दर्भ कम पाये जाते हैं। स्पष्टतः दक्षिणी भारत में कटे-फटे, ऊबड़-खाबड़ पठारी भाग, वन, पर्वत आदि नैसर्गिक बाधाओं के कारण सड़कों का निमार्ण दुरूह एवं व्यय साध्य था, जब कि उत्तरी भारत के समतल मैदानी भाग

में परिवहन जाल के समुचित विकास के लिये अनुकूल भौगोलिक दशाये सुलभ थीं। वस्तुतः देश के विभिन्न भागों में विभिन्न प्रकार की सड़कों का विकास, स्थानिक वितरण प्रतिरूप, सड़क जाल एवं स्थानिक अन्योन्य क्रिया की सघनता, वहाँ के प्राकृतिक धरातलीय स्वरूप, आर्थिक विकास की अवस्था, मानव अधिवास संरचना आदि तथ्यों द्वारा निर्धारित होती है। अतः वर्तमान भारत में भी दक्षिण के पठारी भाग में स्थित कर्णाटक, महाराष्ट्र, उड़ीसा, मध्यप्रदेश आदि राज्यों, राजस्थान के मरूस्थलीय क्षेत्र तथा उत्तर पश्चिम व उत्तर पूर्व के पर्वतीय राज्यों में सड़कों का अत्यन्त कम विकास हुआ है, जब कि सिन्धु, गंगा व ब्रह्मपुत्र के मैदान और गुजरात के मैदान में सघन परिवहन जाल विकसित हुआ है।

भागवतपुराण में आवागमन के लिये प्रयुक्त मार्गों को "वीथी" {10·50·5}, वीथि {10·69·6}, अध्वन् {3·30·24}, वर्त्म {10·71·32}, पथि {1·10·18}, पथ {3·30·23}, प्रपथ {8·15·15}, रथ्या {8·15·16}, महामार्ग {1·11·14}, राजमार्ग {1·11·24}, राजपथ {10·42·1}, नरेन्द्र मार्ग {10·71·34} आदि प्रयोग एवं गन्तव्य के आधार पर पृथक्-पृथक् विशिष्ट विशेषताओं से युक्त विविध नामों से जाना जाता था। सम्भवतः मार्ग {1·11·13} शब्द सभी प्रकार के मार्गों के लिये व्यवहृत होता था। वीथी या वीथि नगरीय क्षेत्रों में संकरे मार्गों को कहा जाता था। अध्वन् भी संकरा मार्ग होता था {उपाध्याय, मू0सं0, भाग-द्वितीय, 231}। जिन मार्गों पर रथों का आवागमन सुगमता पूर्वक होता था, उन्हें रथ्या कहते थे, जिनकी चौड़ाई 10 फीट से 32 फीट तक होती थी {प्रसाद, 1977, 112}। रथ्या से अधिक 32 हस्त चौड़े मार्गों को राजमार्ग या राजपथ तथा इससे भी अधिक चौड़ी सड़कों को प्रपथ कहा जाता था {उपाध्याय, मू0सं0, भाग-द्वितीय, 231-233}। महामार्ग राष्ट्रीय राजमार्ग थे जो देश के चारों कोनों को जोड़ते थे। नगर के अन्तर्भाग में स्थित वे मार्ग, जिनके दोनों ओर बाजार लगता था, वणिक्पथ {10·42·13}, अट्टमार्ग {4·9·57} या पण मार्ग {10·41·22} अभिहित किये जाते थे।

देश के सभी प्रमुख नगरों, राजधानी केन्द्रों तथा सामान्य यातायात के लिये

सड़कों का निर्माण किया जाता था। प्रधान नगरों में महामार्गों एवं राजमार्गों के अतिरिक्त शकट मार्ग, पशु मार्ग एवं पगडण्डियाँ भी होती थीं, तथा सभी प्रमुख नगर ग्रामों से सड़कों द्वारा सम्बद्ध होते थे {10·38·1, 10·71·21}। एक जनपद से दूसरे जनपद को जाने वाले राष्ट्रीय राजमार्ग अनेक नगरों व ग्रामों से होकर जाते थे {10·71·21-22}। स्पष्टतः मार्ग में पड़ने वाले पर्वतों को काटकर तथा नदियों में सेतुओं का निर्माण कर नैसर्गिक बाधाओं का अतिक्रमण किया जाता था {4·10·4-5,7·2·15}।

तत्कालीन भारत के सभी प्रमुख राजमार्ग दूरी प्रदर्शन प्रस्तर संकेत, चत्वर आदि से अनुरक्षित होते थे। यात्रियों की सुविधा के लिये राजमार्गों के किनारे कूप एवं जलाशय तथा विश्रामालय {आश्रम या शरण} निर्मित किये जाते थे {3·30·22,9·19·27, 11·17·53}। मरुस्थलीय क्षेत्रों से होकर जाने वाले मार्ग तथा सघन वनों के मध्य से होकर जाने वाली सड़कें यात्रियों के लिये कष्टकर होती थीं, क्योंकि ऐसी सड़कें ऊंची-नीची, गर्तयुक्त, वन्य जीवों व चोर डाकुओं से असुरक्षित तथा जल व विश्रामालय से रहित होते थे {3·30·22,4·7·28}। स्पष्टतः पौराणिक साहित्य में यात्रियों को सभी सुविधायें उपलब्ध कराना पुण्य का कार्य माना जाता था।

राजमार्गों की स्वच्छता पर विशेष ध्यान दिया जाता था, तथा कभी-कभी उन्हें सुगन्धित जल से धुला जाता था {1·11·14,4·9·57, 10·53·8,10·71·32}। राजमार्गों में चत्वर, चतुष्पथ, श्रृंगाटक व वेदी का भी विभाजन होता था, जिससे वाहनों के आवागमन में असुविधा न हो {8·15·16,10·53·8}। वह चौकोर स्थान जहाँ कई सड़कें आपस में मिलती थीं, "चत्वर" तथा जहाँ पर चार सड़कें मिलें, "चतुष्पथ" कहा जाता था {आप्टे,1981,369-370}। क्रूसान्तराल या क्रासिंग को श्रृंगाटक {प्रसाद, 1977,107} तथा श्रृंगाटकों में निर्मित चबूतरों को "वेदी" कहा जाता था।

सड़कों का उपरोक्त विभाजन यह प्रदर्शित करता है कि भागवत पुराण काल में नगर नियोजक मार्ग के महत्व से भली भाँति परिचित थे, परन्तु सड़कों के संरेखण व उनकी चौड़ाई के विषय में प्रत्यक्ष सन्दर्भ नहीं मिलते हैं। शासक का यह कर्त्तव्य

होता था कि वह ग्राम अथवा नगर की आवश्यकतानुसार सड़कों का निमार्ण कराये। भागवत-पुराण के अध्ययन से स्पष्ट है कि मार्ग एवं सड़कें, आयताकार चौकपट्टी §चत्वर एवं श्रृंगाटक§ के रूप में मार्ग नियोजन सिद्धान्तों के आधार पर ही निर्मित किये जाते थे। प्राचीन काल से ही नियोजित रूप से नगरों को बसाने का प्रयास होता आया है। इसमें चौकपट्टी प्रतिरूप या योजना परिवहन की सुगमता के विचार से प्राचीन भारत में इसलिये विकसित था क्यों कि भवन आसानी से चौकोर क्षेत्र में विकसित किये जा सकते थे।

सड़क परिवहन अभियान्त्रिकी -

प्राचीन भारतीय साहित्य में सड़क परिवहन अभियन्ता को "शिल्पी" या "मार्गशोधक" कहा जाता था। सड़कों को पक्की करने हेतु पत्थर के टुकड़ों का प्रयोग किया जाता था। सर्वेक्षक को "सूत्र कर्म विशारद्" के नाम से जाना जाता था। भागवतपुराण में यद्यपि ऐसे विवरण नहीं मिलते हैं तथापि विस्तृत आयाम वाले राजमार्ग §10·12·22,10·69·2, 36,10·71·21-22§, विशाल सेतुओं §9·10·15-16,10·6·16,10·56·28§, वीथी, रथ्या, प्रपथ, राजमार्ग, महामार्ग, चत्वर, चतुष्पथ, श्रृंगाटक, वेदी आदि का उचित विभाजन एवं निर्माण आदि के उल्लेखों से हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि तत्कालीन भारत में भी सड़क परिवहन के समुचित विकास हेतु वर्तमान सार्वजनिक निर्माण विभाग की तरह एक विशिष्ट विभाग था। भागवतपुराण में शिल्पियों का उल्लेख मिलता है §10·50·51§। ये अभियन्ता §शिल्पी§ "त्वाष्ट्र विज्ञान" के आधार पर वीथी, रथ्या, राजमार्ग, महामार्ग, चत्वर, चतुष्पथ, श्रृंगाटक, वेदियों एवं भवनों का निर्माण करते थे। स्पष्ट है कि तत्कालीन भारत में मार्ग, नगर नियोजन एवं स्थापत्य कला विज्ञान के स्तर तक विकसित हो चुकी थी तथा देवों के शिल्पी "त्वष्टा" के आधार पर ही इस विज्ञान का नाम "त्वाष्ट्र विज्ञान" पड़ा।

प्रमुख स्थल मार्ग -

भागवतपुराण में वर्णित विभिन्न यात्राओं से प्रमुख स्थलमार्गों का प्रत्याभिज्ञान किया

किया जा सकता है। कृष्ण एवं बलराम ने देश के विविध स्थानों, नगरों व जनपदों की अनेक यात्रायें की थीं, अतः यहाँ प्रमुख राजमार्गों के प्रत्याभिज्ञान हेतु उनके द्वारा की गई यात्राओं के विवरण प्रस्तुत करना अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

कृष्ण की यात्रायें -

1- हस्तिनापुर से द्वारका (कुरुजांगल, पांचाल, शूरसेन, ब्रह्मावर्त, कुरुक्षेत्र, मत्स्य, सारस्वत, मरुधन्व, सौवीर, आभीर आदि जनपदों से होकर- 1·10·31-35)।

2- मथुरा-अवन्तीपुर-प्रभास-संयमनीपुर-अवन्तीपुर-मथुरा(10·45·31-49)।

3- मथुरा - प्रवर्षण पर्वत - द्वारका (10·52·5-13)।

4- द्वारका से मिथिला (10·57·19-26)।

5- द्वारका से इन्द्रप्रस्थ (10·71·12-22)।

6- द्वारका से कोसल (अयोध्या) (10·58·34-35)।

7- द्वारका से भोजकट (10·61·26,40)।

8- द्वारका से शोणितपुर (10·63·2-4,50-52)।

9- द्वारका से काशी (10·66·10)।

10- द्वारिका से कुण्डिनपुर (10·53·4-7)।

11- इन्द्रप्रस्थ से गिरिव्रज (10·72·16)।

बलराम की यात्रायें -

बलराम द्वारा की गयी यात्राओं में तीर्थयात्रा प्रमुख है जिसमें उन्होंने एक वर्ष तक भारत के निम्न स्थलों का भ्रमण किया -

द्वारका, प्रभास, सरस्वती नदी, पृथूदक, बिन्दुसर, त्रितकूप, सुदर्शन तीर्थ, विशाल तीर्थ, ब्रह्म तीर्थ, चक्रतीर्थ, गंगा व यमुना तट के प्रधान तीर्थ, नैमिषारण्य, कौशिकी, सरयू का उद्गम सरोवर, प्रयाग, पुलहाश्रम, गोमती, गण्डकी, विपाशा, शोण,

भागवतपुराणकालीन भारत
प्रमुख स्थल एवं व्यापारिक मार्ग
वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय सीमायें
किलोमीटर
100 0 100 200 300 400 500
हस्तिनापुर
इन्द्रप्रस्थ
मथुरा
श्रावस्ती
कान्यकुब्ज
अयोध्या
मिथिला
प्रतिष्ठान
वैशाली
चम्पा
प्रागज्योतिष
कौशाम्बी
वाराणसी
गया
गिरिव्रज
अवन्ती
द्वारका
प्रभास
माहिष्मती
कुंडिनपुर
शूर्पारक
गोकर्ण
काञ्ची
दक्षिणमथुरा
कन्यादेवी
संकेत
व्यापारिक मार्ग
स्थल मार्ग
द क्षि ण सा ग र (क्षा र सा ग र)
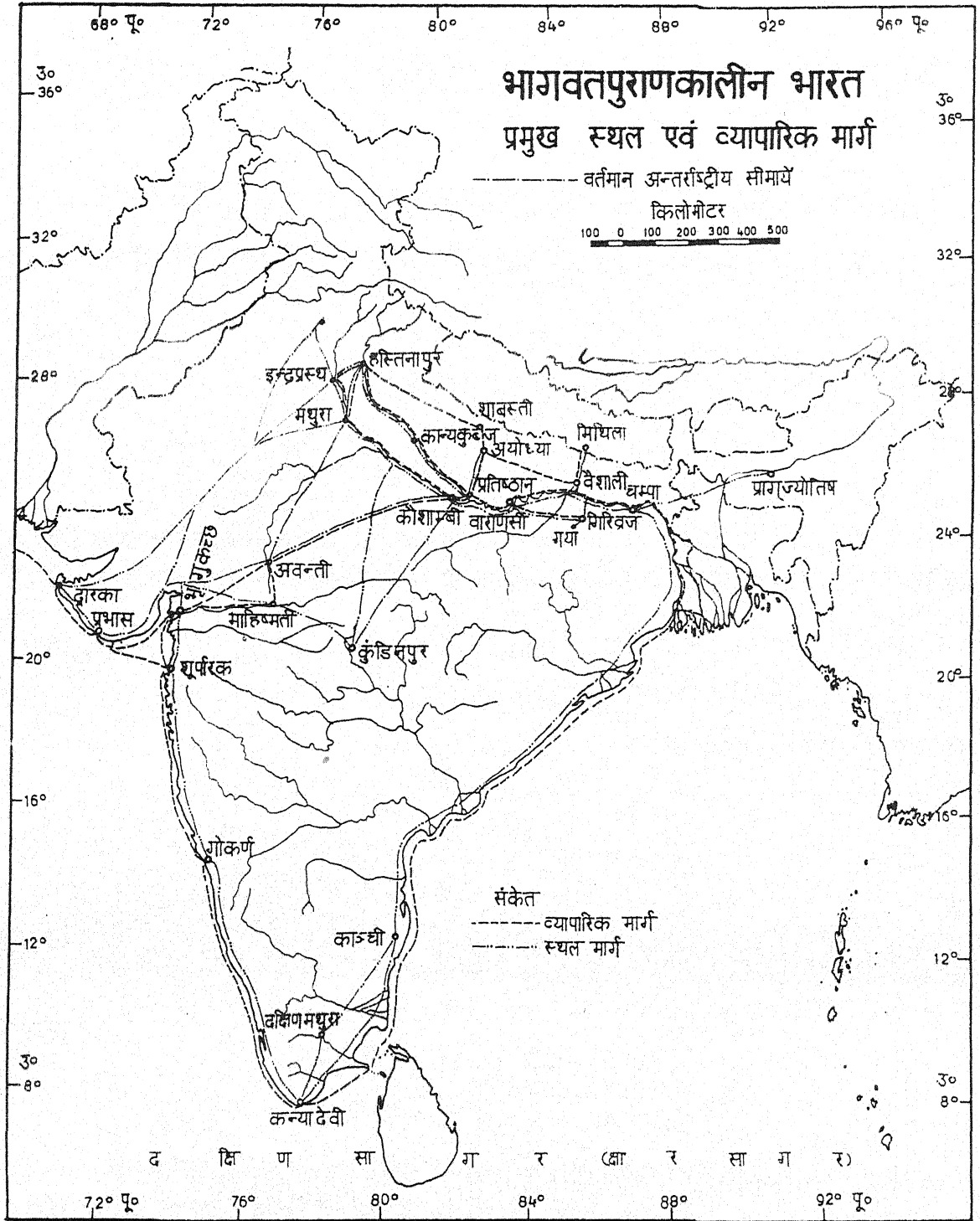
(चित्र-4·1)

गया, गंगासागर संगम, महेन्द्र पर्वत, परशुराम आश्रम, सप्तगोदावरी, वेणा, पम्पा, भीमरथी, श्रीशैल, द्रविड़ देश में स्थित वेंकटाचल, कामकोष्णीपुरी, काँची, कावेरी, श्रीरंग, ऋषभ पर्वत, दक्षिण मथुरा, सेतुबन्ध, कृतमाला, ताम्रपर्णी, मलय पर्वत, अगस्त्य आश्रम, दक्षिण समुद्र तट, कन्या देवी (कन्या कुमारी), फाल्गुन तीर्थ, पंचाप्सरस्, केरल, त्रिगर्त, गोकर्ण, आर्या देवी (समुद्र से घिरे द्वीप में स्थित), शूर्पारक, तापी, पयोष्णी, निर्विन्ध्या, दण्डक, रेवा, माहिष्मती नगरी, मनुतीर्थ, प्रभास, कुरुक्षेत्र तथा द्वारका (10·78·17-40, 10·79·9-29)।

उपरोक्त के अतिरिक्त प्रागज्योतिषपुर से द्वारका (10·59·36), मथुरा से गोकुल (10·38·1), मथुरा से हस्तिनापुर (10·49·1, 30-31), मथुरा से मगध (10·50·2-4), चेदि से कुण्डिनपुर (10·53·14-15), द्वारका से मगध (10·71·19-20), करूष से द्वारका (10·66·1-4) आदि मार्ग भी उल्लेखनीय हैं (चित्र 4·1)।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि तत्कालीन भारत के सभी जनपदों के प्रमुख नगर राजमार्गों द्वारा अन्तर्सम्बन्धित थे। पूर्व से पश्चिम तथा उत्तर से दक्षिण विस्तृत आयाम वाले राजमार्गों का अस्तित्व था तथा सड़क परिवहन जाल विकसित अवस्था में था।

2- जल परिवहन -

सभ्यता का प्रारम्भ नदियों के किनारे हुआ। नदियों ने मानव के लिये खाद्य पदार्थ के रूप में न केवल मत्स्य की आपूर्ति की अपितु जलयातायात की सुविधा भी प्रदान की। नदियों अथवा सागरों की लहरों एवं तरंगों से मानव जीवन प्रभावित हुआ। आदिवासी मानव का दिशा निर्देश वृक्षों के लट्ठों का नदियों में प्रवाहित होने से हुआ। लम्बे दण्डों के सहारे वायु की दिशा के अनुकूल छोटी-छोटी नावों का प्रयोग प्रारम्भिक काल में होता था।

अति प्राचीन काल से आवश्यकतानुसार जलयातायात का विकास हुआ, क्यों

कि नदियों अथवा सागरों में न तो कोई राजमार्ग बनाने की आवश्यकता है और न ही उसके रख रखाव, साजसज्जा, मरम्मत आदि की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त जल मार्गों से माल ढ़ोने में न्यूनतम श्रम की आवश्यकता पड़ती है। स्पष्टतः प्रारम्भिक काल में सुनियोजित राजमार्गों की व्यवस्था के पूर्व विभिन्न मानव अधिवासों के मध्य जल परिवहन यातायात का प्रमुख साधन था।

सस्ता परिवहन माध्यम, कम पूँजी विनियोग, भारमय एवं विशाल आकार की वस्तुओं के परिवहन का सरल माध्यम, जलयान की वहन क्षमता, अन्वेषण एवं प्रारम्भिक अधिवास विकास का उत्कृष्ट साधन, युद्धकाल में अन्य परिवहन मार्गों के अवरुद्ध हो जाने पर भी जलमार्गों का क्रियाशील बने रहना, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध करने का मौलिक आधार आदि विविध विशेषताओं के कारण प्रत्येक देश के उद्भव में जलपरिवहन का मौलिक महत्व है। लगभग 6100 किलोमीटर लम्बी समुद्र तट रेखा, 14150 किलो मीटर लम्बे आन्तरिक जलमार्ग, अनुकूल मानसूनी जलवायु आदि दशाओं से युक्त भारत देश में प्राचीन काल से ही मनुष्य और उसकी विविध प्रकार की सामग्री के अन्तर्प्रादेशिक यातायात और अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित करने में जल परिवहन प्रमुखतम साधन था। वस्तुतः एक ओर देश के आन्तरिक भागों में गंगा, यमुना, कृष्णा, कावेरी आदि नदियों द्वारा प्रस्तुत जल मार्गों के माध्यम से ही प्राचीन भारत में मानव अधिवास प्रसार, सन्तुलित कृषि प्रधान अर्थतंत्र विकास और सांस्कृतिक विसरण सम्भव हुआ तथा दूसरी ओर बंगाल की खाड़ी, हिन्द महासागर एवं अरब सागर से समुद्री जलमार्गों द्वारा भारत ने दक्षिणी पूर्वी और दक्षिणी पश्चिमी एशिया, अफ्रीका और यूरोप के विभिन्न देशों से व्यापारिक, सांस्कृतिक तथा राजनैतिक सम्बन्ध स्थापित किये।

पाश्चात्य जगत् के लोगों को यह विश्वास है कि प्राचीन भारत के निवासी सागरीय यात्राओं से परिचित नहीं थे, परन्तु वेदों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि आर्य सागरीय यात्राओं में दक्ष थे (भार्गव, 1964, 1-23)। वर्तमान पुरातात्विक अन्वेषणों द्वारा ज्ञात पक्की ईंटों द्वारा निर्मित गोदियों, घाटों, भाण्डागारों (भण्डार गृहों) एवं चबूतरों

के अवशेष यह सिद्ध करते हैं कि इनका निर्माण ईसा पूर्व 2300 से लेकर ईसा पश्चात् 300 के मध्य हुआ। ये रचनात्मक अवशेष प्राचीन भारत के अभियन्ताओं एवं कुशल शिल्पियों के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। इसकी पुष्टि साहित्यिक साक्ष्यों से भी होती है (रॉव,1970, 83)।

वैदेशिक सम्बन्ध -

अरब सागर, जिसे प्राचीन काल में "रत्नाकर" कहा जाता था, ने पश्चिमी देशों के साथ सागरीय सम्बन्ध स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की (रामचन्द्रन, 1970,71)। श्रीमती राय डेविड्स का मत है कि भारत एवं बेबीलोन के मध्य प्रारम्भिक व्यापार फारस की खाड़ी से होता था। रोम एवं मिश्र लाल सागर द्वारा भारत से सम्पर्क रखते थे (उदघृत- सिद्दीकी,1970,579)। वैदिक युग में मध्यपूर्व के देश सांस्कृतिक रूप से भारत के ही अंग थे। ईरान के "बागेस कोई" नामक स्थान पर ईसा पूर्व चौदहवीं शदी का शिलालेख यह सिद्ध करता है कि भारत का पश्चिमी एशियाई देशों से सांस्कृतिक सम्पर्क था (भट्टाचार्य, 1970,574)।

भारत के सागरीय व्यापारिक सम्बन्ध पूर्वी एवं दक्षिणी पूर्वी एशियाई देशों से लगभग एक सहस्र वर्ष ईसा पूर्व स्थापित हो चुके थे। प्रो0बेअर ने फिलीपाइन्स के रिजाल राज्य में 1926-30 में पुरातात्विक अन्वेषण के दौरान इस तथ्य पर प्रकाश डाला कि भारतीयों का सागरीय सम्पर्क दक्षिणी पूर्वी एशियाई देशों से था (देवहूति,1970,510)।

प्राचीन काल में अफ्रीका एवं भारत के सागरीय सम्बन्धों के विषय में अत्यन्त कम ज्ञान है। इससे तात्पर्य यह नहीं है कि अफ्रीकी देशों एवं भारत का व्यापारिक सम्पर्क नहीं था। काशीनाथ वामन लेले के अनुसार वैदिक साहित्य एवं उत्तर वैदिक साहित्य में ऐसे सन्दर्भ हैं जिनसे अफ्रीका से भारतीय व्यापारिक सम्बन्धों का ज्ञान होता है। उनके अनुसार ऐतरेय ब्राह्मण में "मष्णार" अथवा "मसाना" भूमि का उल्लेख है जो स्वर्ण एवं गजों के लिये प्रसिद्ध था। इसी भाँति उनके अनुसार भविष्यपुराण में "झल्ल" लोगों की

भौतिक विशेषताओं का सन्दर्भ मिलता है। अफ्रीका के वर्तमान "जुलू" लोगों की भौतिक विशेषतायें "झल्ल" लोगों से बहुत कुछ साम्य रखती हैं §शर्मा,सं02016,353-354§। रघुनन्दन शर्मा का यह मत है कि मिश्र से आशय आर्य जातियों के मिश्रण से है, इसीलिये इस देश का नाम मिश्र पड़ा §शर्मा,सं02016,352-354§।

1942 ई0 में कोलम्बस ने पश्चिमी द्वीप समूह की यात्रा की। इससे यह आशय नहीं है कि उसने कोई नवीन खोज की। सहस्राब्दियों पूर्व आर्य बेरिंग जल सन्धि से होकर पश्चिमी गोलार्द्ध पंहुचे थे। राबर्ट हीन गेल्डर्न एवं कार्डन,एफ0 एकहाम का यह विचार है कि भारतीय तथा दक्षिणी पूर्वी एशियाई देशों के लोगों ने प्रशान्त महासागर के रास्ते अमेरिका में अपनी संस्कृति का प्रसार किया §सिंघल,1970,635§। डी0पी0सिंघल के अनुसार हिम युग के पश्चात् आज से बीस हजार वर्ष से दस हजार वर्ष पूर्व बेरिंग जल सन्धि के सहारे एशिया से मानव प्रथम बार अमेरिका पंहुचा §सिंघल,1970,635-636§।

नौ परिवहन -

वैदेशिक व्यापार के लिये भागवत पुराण कालीन भारत में जलमार्ग का अतिशय महत्व रहा है। तत्कालीन भारतीयों को देश के तीनों ओर स्थित समुद्र का भलीभाँति ज्ञान था। भागवतपुराण में समुद्र का उल्लेख भूयशः इस ढ़ंग से मिलता है जैसे वे समुद्र के महत्व से पूर्ण परिचित हों। स्पष्टतः पुराण काल में नौ परिवहन होता था। इसकी पुष्टि निम्न तथ्यों से होती है -

1- डॉ0 बुलहर का मत है कि भारत और मेसापोटामिया के मध्य ईसा पूर्व आठवीं शती में सागरीय सम्पर्क था।

2- डॉ0ए0एस0 अल्तेकर ने सप्रमाण बौद्धायन स्मृति, ससोन्दिजातक एवं सुप्पारक जातक से यह सिद्ध किया है कि ईसा पूर्व आठवीं शती में भारतीय व्यापारियों का पूर्वी एवं पश्चिमी एशियाई देशों से सम्पर्क था।

3- कौटिल्य के समय §ईसा पूर्व चौथी शती§ में नौ परिवहन तथा सागर तटीय जल परिवहन पूर्ण विकसित था।

4- भागवतपुराण में "यवनों" का उल्लेख मिलता है §4·27·23-27,9·8·5, 9·20·30§। एक शक्तिशाली यवन ने तत्कालीन मथुरा पर तीन कोटि म्लेच्छों की सेना लेकर आक्रमण किया था §10·50·44-49§। इससे स्वतः सिद्ध है कि भारतीयों से सागर के माध्यम से यवनों का सम्पर्क था। उल्लेखनीय है कि सिकन्दर महान भी सागर मार्ग से ही भारत में आक्रमण करने के पश्चात् वापस गया था §प्राचीन भारतीय जल परिवहन से सम्बन्धित आगे के विवरण हेतु तुलनीय, मुकर्जी,1912§।

5- भागवत पुराण में "मय" जाति का उल्लेख मिलता है जिनका अधिपति विश्वकर्मा था। मय ज्योतिर्विज्ञान तथा स्थापत्य कला में सर्वोत्कृष्ट थे §1·15·8,5·24·28, 6·6·15,10·50·51,10·69·10,10·75·34,10·67·7§। अन्वेषणों के अनुसार प्राचीन मय सभ्यता के केन्द्र मध्य अमेरिका में मैक्सिको आदि देश थे जिसे पुराणों में "तलातल" की संज्ञा प्रदान की गयी है। इसकी पुष्टि भारतीय लेखों एवं मैक्सिको तथा मिश्र के पिरामिड आदि से भी होती है §व्यास-शिष्य, 1986,28-29 तथा उपाध्याय,1978,344-345§। स्पष्ट है कि पुराण कालीन भारतीयों का सम्पर्क सागर द्वारा मध्य अमेरिका से भी था।

भागवतपुराण में वणिक् §व्यापारी§, विपणन् §व्यापार§, पण्य वस्तु §वाणिज्य वस्तु§, पण §बाजार§, सार्थ §व्यापारियों का समूह§ तथा वणिक्पथ §व्यापारिक मार्ग§ का उल्लेख है §7·6·10,5·13·11,6·16·6, 10·41·22, 5·13·1-2, 8·11·25 यथाक्रम§। अर्थ प्राप्ति के लिये व्यापारियों का समूह देश देशान्तरों में भ्रमण किया करता था § 5·13·1-2§। एक स्थान पर मध्य समुद्र में नाव टूट जाने पर विह्वल व्यापारियों की दशा का उल्लेख है §8·11·25§। स्पष्टतः ये वर्णन तत्कालीन भारतीयों के विदेशियों के साथ सागरीय व्यापारिक सम्बन्धों की पुष्टि करते हैं।

भागवतपुराण काल में व्यापारिक उद्देश्य से विस्तृत समुद्र के पार जाने के लिये नावों के कुशल संचालक "कर्णधार" पवनों की दिशा के अनुरूप विशालपोत §प्लव§ को लक्ष्य की ओर अग्रसर करते थे §11·20·17§। सम्भवतः समुद्री परिवहन के लिये व्यापारिक पवनों की दिशा का ज्ञान प्राचीन भारतीयों को था।

भागवतपुराण में जलयान के लिये नौ §8·17·28§, नाव §4·17·21§, तरी §4·8·79§, उडुप §4·22·40§, प्लव §1·6·35§, पोत §4·23·39§, जलयान §10·68·42§ आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। आकार के अनुसार नावें लघु या बृहदाकार की निर्मित की जाती थीं। "नौ" या "नाव" शब्द का प्रयोग सामान्यतः लघु एवं विशाल सभी नौकाओं के लिये किया जाता था। विशालाकार नावों को "विशाला नौ" §8·24·33§ या "बृहती नाव" §8·24·35§ कहा गया है। "पोत" या "जलयान" सम्भवतः बड़े जलयानों, विशाल पोतों या जहाजों के बेड़ों को कहा जाता था। "प्लव" भी पोत के समान माना गया है। सम्भवतः यह युद्ध पोत होता था। "उडुप" एक व्यक्ति द्वारा चलायी जाने वाली वर्तमान छोटी डोंगी के सदृश थी।

पोत निमार्ण कला -

प्राचीन भारत में पोतों का निर्माण कुशलता से किया जाता था। पोत शिल्पी पोत निर्माण सामग्री के विषय में तथा प्रयुक्त लकड़ी की विशेषताओं का सम्यक् ज्ञान रखते थे। ईसा से 2200 वर्ष पूर्व लोथल में पोत निमार्ण हेतु सागौन की लकड़ी का प्रयोग किया जाता था। रमेश रॉव प्रभृति विद्वानों का मत है कि प्रागैतिहासिक काल में गुजरात की पंचमहल पहाड़ियों में सागौन का सघन वन था। सागौन के अतिरिक्त अन्य लकड़ियाँ दक्षिण भारतीय सागरतटीय पत्तनों से आयात की जाती थीं §रॉव, 1970,97§।

भागवतपुराण में पोत निमार्ण, उनके आकार-प्रकार एवं आकृति आदि के सन्दर्भो का अभाव है। इसका आशय यह नहींहै कि नौ निर्माण कला का ज्ञान तत्कालीन भारतीयों को नहीं था। "कर्णधार" नावों के कुशल संचालक होते थे §1·1·22,1·13·39,10·87·33,11·20·17§। समुद्र में यात्रा हेतु नावें विशाल आकार की तथा अत्यन्त

दृढ़ निर्मित की जाती थीं §8·24·33,35,9·8·14,11·26·32§, जो प्रचण्ड समुद्री झंझावातों को झोकों को सहन कर सके §8·24·36,10·67·26§।

प्रमुख पत्तन -

व्यापार की आवश्यकता ने भारत में व्यापारिक नगरों एवं सागरीय पत्तनों को विकसित किया। मायामातम् के अनुसार पत्तन वह नगर हैं जहाँ दूसरे द्वीपों या देशों से वस्तुयें आयातित की जाती हैं, जहाँ पर सभी वर्गों के लोग निवास करते हैं, जहाँ क्रय-विक्रय तथा व्यापारिक वस्तुओं का आदान-प्रदान होता है तथा जो समुद्र तट पर बसा होता है §दत्त,1977,26§। भारत की विशाल नदियाँ यथा-सिन्धु, गंगा, यमुना एवं ब्रह्मपुत्र वर्षपर्यन्त नौगम्य रहती हैं। प्राचीन भारत के विभिन्न नदियों के किनारों पर स्थित विविध व्यापारिक केन्द्रों का प्रत्यक्ष नौ सम्पर्क दक्षिणी पूर्वी एशियाई देशों, मध्य पूर्व तथा अन्य सागरतटवर्ती देशों से था। भागवतपुराण कालीन भारत के प्रमुख व्यापारिक केन्द्र नदियों के किनारे बसे थे, यथा-अयोध्या §9·8·19§, इन्द्रप्रस्थ §10·58·1§, गजाहृवय §हस्तिनापुर-9·22·40§, कौशाम्बी §9·22·40§, भृगुकच्छ §8·18·21§, प्रतिष्ठान §9·1·42§, शाबस्तीपुरी §9·6·21§, चम्पापुरी §9·8·1§, मथुरा §9·11·14§, माहिष्मती §10·79·21§, काशी §10·66·22§, अवन्तीपुर §10·45·31§ आदि।

पश्चिमी तटीय पत्तन -

मोहन जोदड़ो एवं हड़प्पा संस्कृति के स्वर्णिम काल में "लोथल" देश का प्रमुख पत्तन एवं नगर था। इसके व्यापारिक सम्बन्ध मध्यपूर्व के खाड़ी देशों ईरान आदि से था। लोथाल के पत्तन §1900 ई0पूर्व§ के पश्चात् कुश की राजधानी "कुशावती" §वर्तमान दभोई, गुजरात में भड़ौंच से 38 मील उत्तर पूर्व में स्थित§ प्रमुख पत्तन के रूप में विकसित हुआ, जिसका व्यापारिक सम्पर्क मिश्र एवं मध्यपूर्व के देशों से था। भागवतपुराण काल में द्वारवती, प्रभास, सौवीर, भृगुकच्छ, शूर्पारक, गोकर्ण, कन्याकुमारी आदि नगर पत्तन के रूप में विकसित हुये §चित्र-4·2§।

1- द्वारवती ≬11·30·1,10≬-

द्वारवती ≬द्वारका≬ तत्कालीन भारत का उत्तम बन्दरगाह था, जो भारत का मुख्य प्रवेश द्वार था। यहाँ समुद्री यात्रा के लिये नावें हर समय उपलब्ध रहती थीं ≬11·30·10≬। यह नगरी समुद्र से उद्धरित भूमि पर बसायी गयी थी। इसका प्रत्याभिज्ञान वर्तमान द्वारका ≬गुजरात≬ से ही किया गया है। वर्तमान समय में द्वारका नगर के समीप सागरीय क्षेत्र में प्राचीन द्वारका के उत्खनन का कार्य चल रहा है।

2- प्रभास -

प्रभास सरस्वती - समुद्र संगम पर स्थित प्रसिद्ध पत्तन था ≬10·45·37-38,10·78·18,11·30·10≬। यह काठियावाड़ के समुद्र तट पर स्थित बीरावल बन्दरगाह की वर्तमान बस्ती का प्रचीन नाम है ≬माथुर,1969,584≬। तत्कालीन भारत में यह तीर्थ नगर के रूप में भी प्रसिद्ध था। यह जूनागढ़ के समीप स्थित है। इसे प्रभास पाटन या प्रभास पट्ट्न या सोमनाथ पट्टन भी कहते थे।

3- सौवीर ≬1·10·35≬ -

सौवीर का प्रत्याभिज्ञान कनिंघम ≬1971, 330-331≬ ने खाम्बे की खाड़ी में स्थित दक्षिणी पशिचमी राजपूताना के बदरी अथवा इडर से किया है जो बाइबिल में ओफिर अथवा शोफिर के नाम से जाना जाता है। ईसा पूर्व 1515 में यह प्रमुख व्यापारिक केन्द्र के रूप में विकसित था।

4- भृगुकच्छ ≬8·18·21≬ -

पुराणों के अनुसार भृगुवंशी परशुराम ने अपने परशु द्वारा इस स्थान पर समुद्र को हटाकर अर्थात् उद्धरित भूमि पर भृगुकच्छ को बसाया था ≬माथुर,1969,676≬। भृगुकच्छ का प्रत्याभिज्ञान आधुनिक भड़ौच से किया गया है ≬लाहा, 1972,463≬। भृगुकच्छ, भरूकच्छ का संस्कृत रूप है, जिसका तात्पर्य ऊँचा तट प्रदेश है। पेरीप्लस

ऑफ दि इरिथ्रियन सी §अवस्थी,1982,129 तथा लाहा, 1972,464§ के अनुसार यह बैरीगाजा है जो नर्मदा के मुहाने पर स्थित अति प्रसिद्ध बन्दरगाह था। स्थानीय उपभोग के लिये प्रत्येक माल उज्जयिनी से बैरीगाजा लाया जाता था। यहाँ सुलेमानी पत्थरों का आयात होता था। यूनानी भूगोलवेत्ता टॉलेमी §अवस्थी,1982,135,136, 151 तथा लाहा,1972,464§ के अनुसार सागर तट से लगभग 3 मील दूर,नर्मदा के उत्तर की ओर स्थित बैरीगाजा एक बहुत बड़ी व्यापारिक मण्डी थी, जहाँ से जटामांसी, कुष्ठ, हाँथीदांत, कार्पासिक, पट §रेशमी वस्त्र§ और मसाला निर्यात किया जाता था। भागवतपुराण में भी इसे नर्मदा के उत्तरी तट पर स्थित बतलाया गया है §8·8·21§। भागवतपुराण के अध्ययन से यह भी स्पष्ट है कि भृगुकच्छ का पृष्ठप्रदेश समृद्ध था §8·18·21-32§।

प्राचीन भारतीय आर्यजन काठियावाड़ से भरूकच्छ और भरूकच्छ से शूर्पारक की यात्रा किया करते थे। प्राचीन बौद्ध साहित्य एवं ईसवी सन् की प्रारम्भिक शतियों में भरूकच्छ समुद्री व्यापार एवं वाणिज्य का महत्वपूर्ण केन्द्र था। इस बन्दरगाह से कुछ व्यापारी सुवर्णभूमि §निम्न वर्मा§ को भी जाते थे §लाहा,1972,464-465§। प्राचीन भारत में यह नगर समुद्र तट में ही स्थित था। कालान्तर में इसका बन्दरगाह नर्मदा की लाई हुई मिट्टी के निक्षेप से अनुपयोगी हो गया। वर्तमान में यह स्थान नदी के मुहाने से लगभग 30 मील दूर बसा है §माथुर,1969,676-677§।

5- शूर्पारक §10·79·20§ -

पूर्व में यह भूभाग सागर के अन्तर्गत था §महा0,शान्ति पर्व, 49·66-67§। इसका प्रत्याभिज्ञान महाराष्ट्र में बम्बई से 37 मील उत्तर में और बस्सिम से लगभग 4 मील पशिचमोत्तर में थाना जिले में सुपारा या आधुनिक सौपारा से किया गया है §लाहा,1972,498§। यह समुद्र तट पर स्थित एक बड़ा पत्तन एवं व्यापारिक नगर तथा प्रसिद्ध तीर्थस्थल था जिसे प्राचीन यूनानी भूगोलवेत्ताओं द्वारा वर्णित सोपारा से ठीक ही समीकृत किया गया है।

भागवतपुराणकालीन भारत
पत्तन
वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय सीमायें
किलोमीटर
100 0 100 200 300 400 500
68° पू॰
72°
76°
80°
84°
88°
92°
96° पू॰
उ॰ 36°
32°
28°
24°
20°
16°
12°
उ॰ 8°
सिन्धु नदी
हस्तिनापुर
इन्द्रप्रस्थ
मथुरा
यमुना नदी
शावस्तीपुरी
अयोध्या
कौशाम्बी
गंगा नदी
काशी
चम्पा
अवन्ती
नर्मदा नदी
द्वारका
प्रभास
भृगुकच्छ
माहिष्मती
शूर्पारक
महानदी
गोदावरी नदी
कृष्णा नदी
गोकर्ण
कावेरी नदी
कन्या देवी
दक्षिण सागर (क्षार सागर)
72° पू॰
76°
80°
84°
88°
92° पू॰
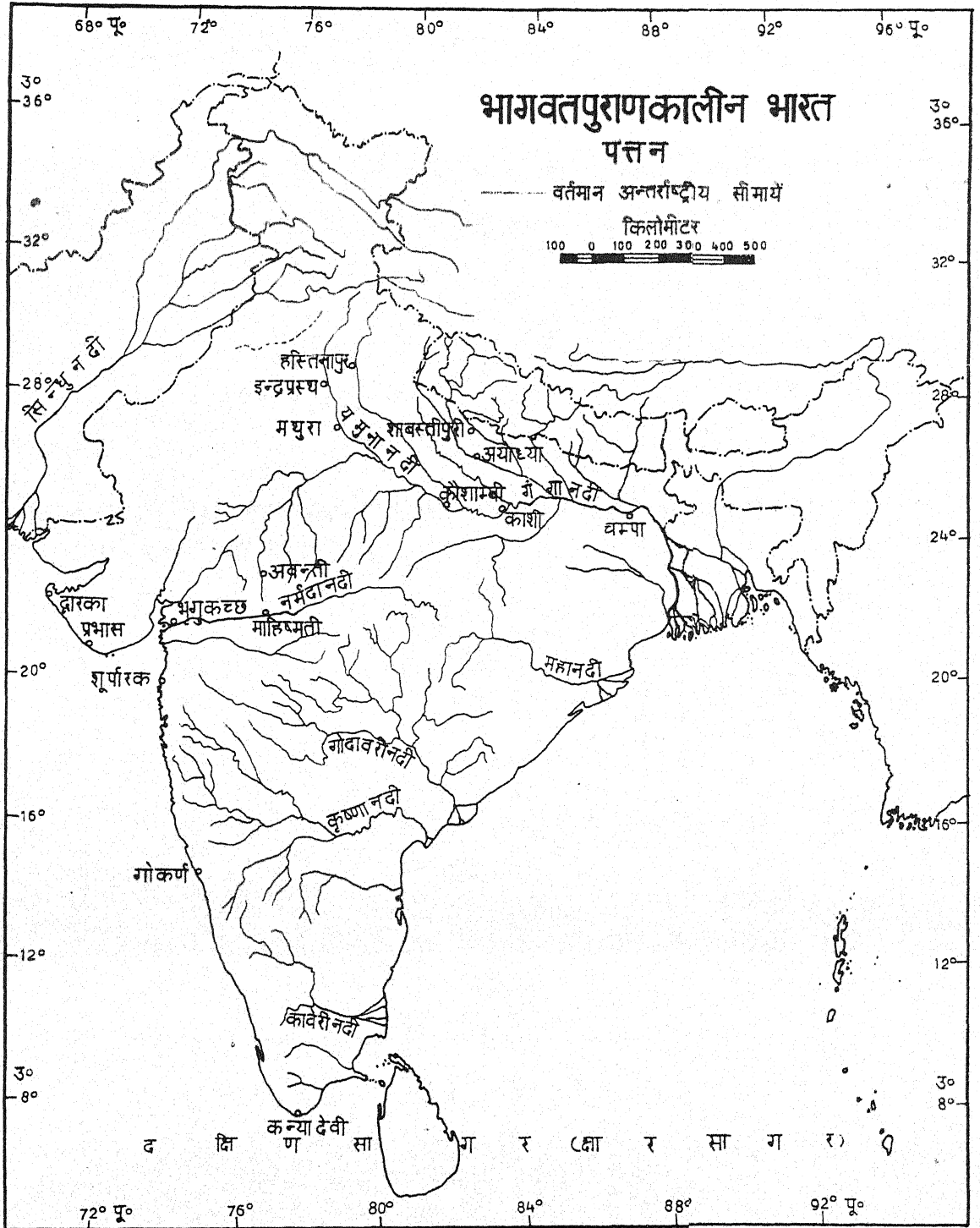
(चित्र-4·2)

6- गोकर्ण §10·79·19§ -

गोकर्ण का प्रत्याभिज्ञान वर्तमान "गोंदिया" से किया गया है जो कर्णाटक राज्य के उत्तरी कनारा में स्थित है §दे0,1979,70§। न्यूबोल्ड §द्विवेदी,1969,226§ ने इसकी स्थिति गोआ से 30 मील दूर करवार और कुमता के मध्य में, सदाशिवगढ़ §गोआ से 3 मील दक्षिण§ से 30 मील दूर बतलाया है। यहाँ रावण द्वारा स्थापित महाबलेश्वर मन्दिर स्थित है। गोकर्ण का इतिहास अति प्राचीन है। रामायण काल में यह व्यापारिक केन्द्र के रूप में था तथा दकन पठार में उत्पादित खनिजों एवं पश्चिमी घाट में वनोत्पादित वस्तुओं का निर्यात यहाँ से होता था §शुक्ल,1984,155§।

7- कन्या देवी §10·79·17§ -

कन्या तीर्थ या कन्या देवी सुदूर दक्षिण में समुद्र तट पर स्थित कन्याकुमारी का ही नाम है। कन्याकुमारी दक्षिणी भारत में प्रायद्वीप की नोक पर स्थित है। यहाँ एक ओर बंगाल की खाड़ी का तथा दूसरी ओर अरब सागर का जल हिन्द महासागर में मिलता है। प्राचीन भारत में यह बन्दरगाह के रूप में विकसित था।

पूर्वीतटीय पत्तन -

भागवतपुराण में पूर्वी तटीय पत्तनों के नामों का उल्लेख नहीं है अपितु भारत के पूर्वी जनपदों एवं मुख्य स्थानों का ही उल्लेख मिलता है यथा - अंग, वंग, कलिंग, सुहृम, पुण्ड्र, आन्ध्र, द्रविड़ आदि §9·23·5,10·79·13§। वस्तुतः पश्चिमी तट की तुलना में पूर्वी सागर तटवर्ती भागों में बड़े पत्तनों का विकास प्रकृतिक रूप से सीमित था तथापि पूर्वी तटवर्ती क्षेत्रों के निवासी भारत से अतिदूर दक्षिणी पूर्वी एशियाई देशों से अपने व्यापारिक, सांस्कृतिक सम्पर्क बनाये हुये थे।

उपरोक्त अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि भागवतपुराण काल में नौ परिवहन एवं सागरीय व्यापार पूर्ण विकसित अवस्था में था। तत्कालीन भारतीय नौ परिवहन

की कला का ज्ञान सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक प्रशिक्षण से प्राप्त करते थे।

3- वायु परिवहन -

तीव्र गति, निःशुल्क मार्ग, बहुमूल्य वस्तुओं का सुरक्षित यातायात, नाशवान वस्तुओं को अविलम्ब भेजने की सुगमता, देश की उत्कृष्ट सुरक्षा, वायु फोटोग्राफी और संसाधन मूल्यांकन आदि के लिये उत्कृष्ट साधन, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध बनाने में सुविधा, अन्य ग्रहों तक पहुँचने की क्षमता आदि अनेकों उपयोगों के कारण वायु परिवहन आधुनिक विश्व का सर्वोत्तम परिवहन माध्यम बन गया है। संयुक्त राजय अमेरिका व सोवियत संघ के वैज्ञानिकों ने अन्तर्ग्रहीय उड़ानों का पिछले दशकों में सफलतापूर्वक परीक्षण किया है तथा मंगल एवं शुक्र ग्रहों और चन्द्रमा पर मनुष्य सफलतापूर्वक पँहुच सका है। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि वायु परिवहन आधुनिक युग की देन है। वेदों एवं पुराणों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत में वायु परिवहन की सुविधा थी, यहाँ तक कि अन्तर्ग्रहीय उड़ानें भी होती थीं (क-3·23·41, 3·24·20,4·12·19-35,6·2·44,8·23·24,9·3·17,11·17·46,11·30·40, ख- शुक्ल,1984, 159 तथा ग- सिंह 1981,122-123)।

संस्कृत में "वि" से आशय "पक्षी" से है तथा "मान" से आशय "समान" से है, अतः "विमान" शब्द का अर्थ "आकाश में पक्षी के समान स्वतन्त्र विचरण" से है। भारद्वाज सूत्र (अध्याय 1,सूत्र-2) में विमान की परिभाषा बतलाते हुये कहा गया है कि -

"पृथिव्यप्स्वन्तरिक्षेषु खगवद्वेगतः स्वयम् ।
यः समर्थो भवेद् गन्तुं स विमान इति स्मृतः।।"

अर्थात् जो पृथ्वी, जल और आकाश में पक्षियों के समान वेग पूर्वक चल सके, उसका नाम विमान है (झा,सं02006,737)।

ऋग्वेद में विमान तथा उनके अनेक प्रकारों के प्रत्यक्ष सन्दर्भ मिलते हैं जिनसे

यह स्पष्ट होता है कि वैदिक कालीन भारतीयों को वायु परिवहन का ज्ञान था ऋ०1·25·7,1·117·14-15,1·116·3-5। भागवतपुराण में विमान यात्राओं, विविध प्रकार के विमानों व उनकी तकनीकी विशेषताओं के वर्णन उपलब्ध हैं।

विमानों के प्रकार -

प्राचीन भारत में विविध आकार-प्रकार के वायुयानों का निर्माण किया जाता था। ऋग्वेद 1·116·6,4·35·5,4·36·1 में गो आकार का, अश्वाकार का तथा तीन चक्रों वाले विमान का उल्लेख मिलता है। भागवतपुराण में प्राप्त सन्दर्भों के आधार पर विमानों को दो वर्गों में रखा जा सकता है - सामान्य विमान तथा युद्धक विमान।

1- सामान्य विमान -

यात्री विमानों को इस वर्ग में रखा जा सकता है। इन्हें यान विमान भी कहा जा सकता है। इन विमानों में शासक, विशिष्ट व्यक्ति, ऋषि-मुनि, देवी-देवता, यक्ष, किन्नर, गन्धर्व, सिद्ध, विद्याधर आदि आरूढ़ होकर यात्रा किया करते थे। कर्दम मुनि का विमान 3·23·12-41, पुष्पक विमान 9·10·21-45, चित्रकेतु का विमान 6·17·4-25 आदि यात्री विमान थे। यान विमानों के अन्तर्गत "हंस यान" तथा "देवयान" के भी सन्दर्भ मिलते हैं 3·24·20,4·12·35,8·23·24।

2- युद्धक विमान -

सामरिक दृष्टिकोण से भी तत्कालीन भारत में विमानों का अत्याधिक महत्व था। युद्धक विमान विशालाकार होते थे। युद्ध की सामग्रियों से युक्त होते थे तथा तीव्रगामी होते थे। सौभ 10·76·1-24,10·77·4, त्रिपुर 7·10·53-70,8·10·22 तथा वैहायस 8·10·16-18 उत्तम कोटि के युद्धक विमान थे।

विमान निर्माण कला -

प्राचीन भारत में विमान निर्माण कला विकसित अवस्था में थी। वैदिक काल में ऋभुओं ने इन्द्र के लिये दो संश्लिष्ट अश्वाकार विमान का निर्माण किया था जो आकाश और पृथ्वी दोनों में समान रूप से चल सकता था §ऋ04.35.5, उद्घृत शुक्ल,1982, 26§। ऐसा संश्लिष्ट विमान वर्तमान में कुछ समय पूर्व ही अमेरिका की प्रसिद्ध विमान निर्माण कम्पनी "लाकहीड" द्वारा निर्मित किया जा सका है जिसमें ईंधन के पर्याप्त बचत होने का अनुमान है। यह भी उल्लेखनीय है कि विमानों का निर्माण विविध पशु पक्षियों के आकार के आधार पर किया जाता था। ऐसे प्रयास वर्तमान में भी किये गये। कुछ समय पूर्व भारत में गणतन्त्र दिवस §1983§ के अवसर पर एक हैलीकाप्टर को गज का रूप देकर सफलतापूर्वक आकाश में उड़ाया गया था।

भागवतपुराण में मय §विश्वकर्मा§ को विश्व का सर्वश्रेष्ठ शिल्पी कहा गया है। सौभ, वैहायस एवं त्रिपुर आदि उच्चकोटि के युद्धक विमानों की रचना मय ने ही की थी। इसका निवास स्थान तलातल था §5.24.28§, जिसका प्रत्याभिज्ञान मैक्सिको से किया गया है। प्रारम्भिक काल में मैक्सिको में मय सभ्यता विकसित थी, इसकी पुष्टि वर्तमान खोजों से होती है §क-व्यास शिष्य,1986,29, ख-शुक्ल,1984,161, ग-उपाध्याय,1978,343-349, तथा घ- माथुर,1969,546§। कुछ समय पूर्व मैक्सिको में भूमि खनन से एक अतिश्रेष्ठ युद्धक विमान का अति प्राचीन प्रारूप भी प्राप्त हुआ था जो मय सभ्यता का अवशेष है, जिससे स्पष्ट होता है कि भागवतपुराण काल में विमान निर्माण होता था। भागवतपुराण काल में विविध उद्देश्यों हेतु पृथक्-पृथक् विमानों का निर्माण होता था। कर्दममुनि के विमान का निर्माण यात्रा की दृष्टि से किया गया था, अस्तु वह यात्राओं की सभी सुविधाओं से युक्त था। उसके कई तलों में कई कक्ष निर्मित थे, प्रत्येक में शैया, पलंग, पंखे और आसन रखे थे। सुविधानुसार क्रीड़ा स्थली, शयनगृह, बैठक, आंगन, चौक आदि थे। शिल्प रचना से युक्त दीवारों एवं मणिमय खम्भों से सुशोभित तथा चित्र विचित्र रेशमी झण्डियों एवं पताकाओं से सुसज्जित था। वह कामग, अति

तीव्रगामी तथा अत्यन्त श्रेष्ठ था §3·23·12-41§। इस प्रकार स्पष्ट है कि यान विमान सर्व सुविधा सम्पन्न, वातानुकूलित कक्षों से युक्त तथा अत्यन्त तीव्रगामी होते थे जो वर्तमान यात्री विमानों से कहीं श्रेष्ठ कहे जा सकते हैं।

युद्धक विमानों की रचना सामरिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर की जाती थी। ये विमान अति विशालाकार, कामगामी एवं अति तीव्रगामी होते थे तथा युद्ध की समस्त सामग्रियों से सुसज्जित होते थे §7·10·54-70,8·10·16-18, 8·11·12, 10·76·7-24§। सौभ नामक युद्धक विमान लौह निर्मित था तथा इतना तीव्रगामी था कि पलक झपकते ही दृश्य एवं अदृश्य हो जाता था। वह जल एवं थल में समान गति से गमन करता था तथा कभी बहुत से रूपों में दिखाई देता, तो कभी एक रूप में §10·76·7-22§। त्रिपुर सर्वोत्कृष्ट युद्धक विमान था जिसकी रचना मय ने स्वर्ण, रजत एवं लौह से की थी। इसके तीन भाग थे जो विशालाकार §नगराकार§ थे, इसीलिये उसे "त्रिपुर" संज्ञा प्रदान की गयी। इसके तीनों भाग पुष्य नक्षत्र के योग में परस्पर संयुक्त हो जाते थे तथा पुनः पृथक्-पृथक् हो जाते थे। युद्ध की अपरिमित सामग्रियाँ उनमें भरी हुयी थीं §7·10·54-70 तथा म0पु0 अध्याय-129 व 130§। स्पष्ट है कि तत्कालीन युद्धक विमान वर्तमान युद्धक विमानों से कहीं श्रेष्ठ थे तथा उनकी निर्माण तकनीक अत्यन्त उच्चकोटि की थी।

वायु मार्ग -

पुराण काल में राष्ट्रीय एवं अर्न्तराष्ट्रीय वायु मार्गों के क्षेत्र में भारत ने पर्याप्त प्रगति की थी। यद्यपि भागवतपुराण में वायु परिवहन मार्गों के विकास के स्पष्ट एवं विस्तृत वर्णन उपलब्ध नहीं हैं तथापि "विहायसा" §3·15·12,4·19·16, 6·2·44, 9·5·22,10·18·28§ एवं "पथि" §4·12·34,5·1·18§ शब्द निश्चय ही वायुमार्गों के द्योतक हैं तथा कर्दम आश्रम §3·23·23-43§, लंका, अयोध्या §9·10·32-33§, इन्द्रपुरी §8·15·11,16§, भृगुकच्छ §8·18·21 व 8·23·24§, च्यवन आश्रम §9·3·17-18§, मधुवन §4·12·19§, प्रभास §11·30·40§, द्वारका

§10·63·30§, अलका §4·6·21§ आदि केन्द्रों से वायु उड़ानों के सन्दर्भ मिलते हैं, जिससे स्पष्ट होता है कि देश के सभी बड़े नगर व ऋषियों के आश्रम प्रमुख वायु मार्गों के केन्द्र थे तथा उनका सम्पर्क अन्तर्राष्ट्रीय वायु मार्गों से था। भागवतपुराण में उल्लिखित वायु मार्ग निम्नलिखित हैं -

1- शाल्व §अलवर, लाहा, 1972,208§ से द्वारवती या द्वारका §शाल्व की यात्रा, 10·76·1-22§।

2- द्वारवती या द्वारका - प्राग्ज्योतिषपुर §गौहाटी, लाहा, 1972,423§- द्वारवती §कृष्ण की यात्रा, 10·59·2-39§।

3- तलातल से भारत §मय की विमान यात्रा,7·10·54-70§।

4- सुतल से भारत §बलि की विमान यात्रा,8·10·16-19§।

उपरोक्त के अतिरिक्त विमानों द्वारा अन्यान्य स्थलों की यात्राओं का वर्णन मिलता है §3·23·23-43§। विमान द्वारा गोलाभ पृथ्वी के प्रेक्षण का भी उल्लेख है §3·23·43§।

भागवतपुराण के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि तत्कालीन भारत में भी वर्तमान की भाँति विमानों की अन्तर्ग्रहीय उड़ाने होती थीं §4·12·32-35§। पृथ्वी से अन्यत्र लोक या अन्यत्र ग्रह गमन के अनेक उदाहरण मिलते हैं §3·24·20,6·2·44,8·23·24, 9·3·17,9·5·22, 11·17·46, 11·30·40§। इससे स्पष्ट होता है कि तत्कालीन भारतीयों का अन्य ग्रहों से सम्पर्क था जहाँ विकसित मानव निवास करते थे। वर्तमान में भी वैज्ञानिक इस तथ्य को स्वीकारते हैं कि असीम अन्तरिक्ष में ऐसे असंख्य ग्रह हैं जहाँ पृथ्वी के समान प्राणी और मानव से भी अधिक बुद्धिमान प्राणी निवास करते हैं §शर्मा,1983,519, दैनिक जागरण,1987,4 तथा 1988,4§। पश्चिमी जर्मनी के वैज्ञानिक ऐरिकवान डैनिकैन ने यह भी सिद्ध किया है कि 11 अगस्त 134 ईस्वी पूर्व तक पृथ्वी के कुछ जातियों से सुदूर अन्तरिक्ष के समुन्नत सभ्य लागों का सम्पर्क रहा है §दैनिक जागरण,1988,4§।

सोवियत रूस के वैज्ञानिकों की अवधारणा है कि विश्व के प्राचीन साहित्य में

जिन आलौकिक लोगों के आकाश मार्ग से पृथ्वी पर आने का उल्लेख है वे अन्य ग्रहों के अन्तरिक्ष यात्री ही थे। उनके अनुसार पूर्वी देशों (भारत आदि) के प्राचीन मिथक में तीन स्तर के देवताओं का वर्णन मिलता है प्रथम स्वर्ग स्थित देवता, द्वितीय अन्तरिक्ष स्थित देवता तथा तृतीय पृथ्वी स्थित देवता। सम्भवतः उन अन्तरिक्ष यात्रिओं के मूल ग्रह को पृथ्वी वासी स्वर्ग कहते थे तथा अन्तरिक्ष स्टेशनों-उपग्रहों में रुके हुए यात्रिओं को अन्तरिक्ष स्थित देवता माना जाता था। कुछ ने पृथ्वी पर भी अपने केन्द्र स्थापित कर लिये थे, वे पृथ्वी स्थित देवता कहे जाते थे। पिछले वर्षों में दक्षिणी अमेरिका के सुन्दर स्थलों पर खुदाई में पुरातत्व विदों के भूमि के अन्दर दबेहुए हजारों वर्ष प्राचीनअन्तरिक्ष अड्डे जैसे केन्द्र मिले जहाँ अन्तरिक्ष यान उतर सकते थे। खुदाई में विमानों के उतरने व उड़ान भरने के उपयुक्त हवाई पट्टियां भी मिली हैं। सम्पूर्ण विश्व का सर्वेक्षण कर वैज्ञानिकों ने चार प्रमुख स्थल निधारिंत किये जहाँ प्राचीन काल में अन्तरिक्ष यात्री उतरते थे उनमें से प्रथम तिब्बत, द्वितीय काश्मीर तथा दो अन्य अफ्रीका व दक्षिणी अमेरिका में स्थित थे। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्राचीन भारतीय साहित्य में तिब्बत को "त्रिविष्टय" कहा गया है जो "स्वर्ग" का पर्याय माना गया है। विश्व का सर्वोच्च शिखर एवरेस्ट का संस्कृत नाम "स्वर्गमात्रक" है जिसका अपभ्रंश "सागरमाथा" अभी भी नेपाल में प्रचलित है। काश्मीर घाटी को पृथ्वी का स्वर्ग कहने के पीछे केवल प्राकृतिक सौन्दर्य ही कारण नहीं है अपितु यह भी है। प्राचीन भारतीय साहित्य में वर्णित देवताओं से सम्बन्धित सभी स्थान भगवान शिव के स्थान हैं। कैलाश पर्वत, स्वर्ग के सम्राट इन्द्र की राजधानी अमरावती, स्वर्ग की द्वितीय राजधानी अलकापुरी, देवप्रिय मानसरोवर आदि सभी स्थान काश्मीर व तिब्बत में स्थित होने से इस मान्यता की पुष्टि होती है। दक्षिणी अमेरिका में मिली शक्तिशाली अन्तर्ग्रहीय प्राचीन वेध शालायें भी उक्त मान्यता के पक्ष में जीवन्त प्रमाण है (दैनिक जागरण, 1988, 4)।

4- परिवहन निगम -

प्राचीन भारत में व्यापारिक एवं औद्योगिक क्रियाये सुसंगठित निगमों के अन्तर्गत

होती थीं। प्राचीन काल की परिस्थितियाँ संघ बनाने के लिये विशेष रूप से अनुकूल थीं। उद्योग धन्धों एवं व्यापार की उन्नति के लिये उन दिनों कुटुम्ब, ग्राम तथा गण के रूप में संघों की स्थापना करना आवश्यक हो जाता था। इन्हीं संघों से उद्योग धन्धों एवं व्यापार के संवर्धन के लिये समुचित सुरक्षा एवं सुविधायें मिल सकती थीं। ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृति के आदि काल से ही किसी न किसी रूप में संघ बनाने की रीति रही है §उपाध्याय,मू0सं0,भाग द्वितीय,395§। संस्कृत साहित्य में ऐसे औद्योगिक एवं व्यापारिक संघों §जत्थों§ के नाम संघ, पूग, श्रेणी, सार्थ, निगम, गण आदि मिलते हैं। कालान्तर में इन्हीं की पृथक्-पृथक् जातियाँ बन गयीं, जो आज भी प्रचलित हैं।

प्राचीन भारत में आरम्भिक वैदिक काल से ही गण संस्था की स्थापना हो चुकी थी। वैदिक साहित्य में अप्रत्यक्षतः परिवहन निगमों के उल्लेख हैं। निगमों के सामान्य प्रशासक को "रथस्पति" की संज्ञा दी जाती थी §ऋ0-10·64·10,10·93·7§। उपनिषद् साहित्य में व्यापारिक गणों का उल्लेख है §बृ0उ0-1·4·12§। रामायण और महाभारत में संघों के जो उल्लेख मिलते हैं, उनसे ज्ञात होता है कि उनके नाम सार्थ, निगम, गण और श्रेणी आदि प्रचलित थे §शुक्ल,1984,163-166 तथा उपाध्याय,मू0सं0,भाग-द्वितीय,397§। भागवतपुराण में भी औद्योगिक तथा व्यापारिक क्रियाओं के संवर्धन एवं संरक्षण हेतु ऐसे संघों का उल्लेख मिलता है। सार्थ §5·13·1-2§ शब्द का प्रयोग एक सुसंगठित निगम के लिए होता था जिसका उद्देश्य आन्तरिक एवं वैदेशिक व्यापार से था। अमर कोष में सार्थ की परिभाषा "सार्थो हवन वृन्दम्" से की गयी है §अमरकोश, 2·6·42§। भागवतपुराण में "सार्थ नायक" का भी उल्लेख है। सार्थनायक के संरक्षण में ही सार्थ की व्यापारिक क्रियायें सफलता पूर्वक सम्पादित होती थीं §5·13·2§।

सार्थ के अतिरिक्त "श्रेणी" §6·14·19,9·10·38, 10·41·21§ शब्द का भी उल्लेख है। वामन शिवराम आप्टे ने इसका अर्थ "व्यापारियों का संघ", "शिल्पियों का संगठन" या "निगम" से किया है §आप्टे, 1981, 1038§। गीता प्रेस टीका ने इसका अर्थ "शिल्प ज़ीवी नागरिक" से किया है §10·71·37§। स्पष्ट है कि यह

एक व्यापारिक संगठन था, राजनीतिक संस्था नहीं। भागवतपुराण काल में व्यापार एवं उद्योग का विकास इसी प्रकार के विकसित संगठनों से हुआ था। शिल्प समूह {श्रेणी} प्रायः सभी देशों में और सभी युगों में रहे जिसमें व्यापार, कला आदि के आधार पर विभिन्न जाति के संगठन होते थे। प्रत्येक प्रधान व्यवसाय अथवा व्यापार का एक स्वतन्त्र संघ होता था जिसके निर्धारित नियमों एवं आचार संहिताओं का पालन उसके सदस्यों को करना आवश्यक होता था। प्रत्येक श्रेणी का एक संविधान होता था जिसका एक सभापति तथा कार्यकारी परिषद् होती थी। श्रेणी का एक सभापति शासक के दरबार में महत्वपूर्ण व्यक्ति माना जाता था। श्रेणी शासक के अधीन रहकर ही उनके संरक्षण में कार्य करते थे। श्रेणी का सभापति "श्रेणी मुख्य" कहलाता था। शासक या प्रमुख व्यक्ति के स्वागत समारोह में प्रमुख नगरवासियों के साथ श्रेणीमुख्य भी उपस्थित रहते थे {10.71.37}।

{ब} संचार के साधन -

वर्तमान में डाक सेवा, तार सेवा, दूरभाष सेवा, आकाशवाणी, दूरदर्शन आदि संचार साधन व्यवस्था के प्रमुख रचक हैं। वस्तुतः इस वर्ग के साधनों का विकास आधुनिक युग के विकास का वास्तविक सूचक है। प्राचीन भारत में भी संचार के विविध साधन थे, क्योंकि उद्योग, व्यापार एवं विचारों के आदान-प्रदान के लिये ये साधन परमावश्यक माने गये हैं। वैदिक काल से ही भारत में वाणी सम्प्रेषण के साधनों का उच्च स्तरीय क्रम मिलता है। सम्भवतः बेतार के तार का ज्ञान आर्यों को था । भागवतपुराण काल में संचार के साधनों का प्रयोग विचारों के आदान-प्रदान अथवा गुप्तचरी के कार्य के लिये होता था। भागवतपुराण के अध्ययन के आधार पर तत्कालीन संचार के साधनों को दो वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है - {1} दूत एवं चर व्यवस्था तथा {2}- बेतार का तार।

1- दूत एवं चर व्यवस्था -

भागवतपुराण काल में लघु एवं बृहद्, स्वतंत्र एवं अर्द्धस्वतन्त्र जनपदों का विस्तार

था जहाँ सशक्त शासक अपने सीमावर्ती जनपदों पर आक्रमण कर सम्पूर्ण क्षेत्र को अपने अधिकार में कर लेता था। इस दृष्टि से शासक की रक्षा के लिये चर एवं दूत अपरिहार्य माने जाते थे। भागवतपुराण के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि दूत एवं चर में विभेद था। चर का आशय गुप्त प्रतिनिधि से था जबकि दूत खुले प्रतिनिधि होते थे।

§क§ दूत व्यवस्था -

राष्ट्रों या जनपदों में पारम्परिक राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करने का माध्यम दूत था। दूत द्वारा ही शासक सन्धि वार्ता करते थे तथा युद्ध के लिये चुनौती देते थे। सन्देशों का आदान-प्रदान, यज्ञादि के अवसर पर या युद्धादि में सहायता देने के लिये आमन्त्रण के कार्य दूत के माध्यम से ही सम्पन्न होते थे।

दौत्य परम्परा भारत में बहुत प्राचीन है। दूत का सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है §ऋ0-1·12·1, 161·3, 8·44·3, उद्धृत, दीक्षित,1977,108§ और उसी समय से देश की राजनीति में उसे महत्वपूर्ण स्थान मिलता रहा है। महाकाव्य काल तक दूत व्यवस्था पूर्ण रूप से विकसित हो चुकी थी §शुक्ल,1984,170-172, तथा दीक्षित,1977,108§। पुराणों में उत्कृष्ट दूत व्यवस्था के सन्दर्भ मिलते हैं। पुराण काल में दूतों का महत्व प्रत्येक शासक के लिये अत्यधिक था। भागवतपुराण काल में तो दूतों का महत्व इसी से सिद्ध हो जाता है कि स्वयं भगवान कृष्ण ने पाण्डवों की ओर से दौत्य कर्म किया था §1·9·20§। कौटिल्य दूत को राजा का मुख मानते हैं क्यों कि वह शासकों के मध्य पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करने का माध्यम था, तो कामन्दक उसका नेत्र §दीक्षित,1977,111§। आधुनिक युग में भी दूत का पद अत्यन्त महत्वपूर्ण माना गया है। भागवतपुराण में दूत को सन्देशवाहक के रूप में वर्णित किया गया है §10·39·9,10·47·3-28,10·66·1-19§। इसीलिये उसे "सन्देश हर" भी कहा गया है §10·47·16§। तत्कालीन प्रशासनिक व्यवस्था में दूत दो प्रकार के होते थे -

1- <u>सामान्य दूत</u> - सामान्य दूत अपने स्वामी के सन्देश को स्वामी के सम्बन्धियों

अथवा शासकों को प्रेषित करता था §10·52·26-44,10·53·23, 10·66·1-19, 10·66·55-57, 10·71·19-20§।

2- <u>विशिष्ट दूत</u> - जिनका उच्च पद होता था तथा जिन्हें "पार्षद", "उपमन्त्रिन्" या "राजदूत" भी कहा जाता था §10·47·4,19,10·71·19§।इन्हें सचिव की श्रेणी में रखा जा सकता है §1·9·20§। दूत का उत्तरदायित्व पूर्ण कार्य होता था। विचारहीन दूत जो काल एवं स्थान के विरूद्ध कार्य करते थे अपने उद्देश्यों में पूर्णतः असफल रहते थे। शासक द्वारा सचिवों के सहयोग से किये गये उत्तम नीतियों के परिणाम यदि सन्तोषजनक नहीं होते थे तो यह माना जाता था कि नीतियों का क्रियान्वयन विचारहीन दूतों द्वारा किया गया है। अतः दूतों की उच्च योग्यतायें निर्धारित की गयीं। दूत विश्वासी, सुहृद §पार्षद या मित्र§, विद्वान्, मितभाषी, प्रतिभावान् एवं दक्षिण §चतुर§ होना चाहिये §1·9·20, 10·47·4,16,10·52·26§। सामान्य या विशिष्ट सन्देशों को प्रेषित करने में द्रुतगामी दूत व्यवस्था तत्कालीन भारत में अपरिहार्य रही है। शासकीय कार्य से प्रेषित किये जाने वाले दूत को "राजदूत" तथा सन्देश को "राज सन्देश" कहा जाता था §10·66·4,10·71·19§। यद्यपि दूत शासकों के खुले प्रतिनिधि होते थे, परन्तु कभी-कभी वे गुप्तचरी का भी कार्य करते थे §10·47·28,10·49·1-31,10·52·44§।

§ख§ चर व्यवस्था -

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में दूत की भाँति चरों का भी महत्वपूर्ण योगदान था। वर्तमान युग में प्रत्येक राष्ट्र अपने जासूस §चर§ की नियुक्ति मित्र तथा शत्रु दोनों ही राष्ट्रों में करता है, लेकिन भारत में यह प्रथा नवीन नहीं है। ऋग्वैदिक काल से ही भारत में चर व्यवस्था थी। संस्कृत साहित्य में चरों को चार, चारिक, गूढ़चर, गूढ़ पुरूष, प्राणिधि, चारण आदि अनेक नामों से सम्बोधित किया गया है, किन्तु भागवतपुराण में केवल "चारण" शब्द का ही उल्लेख है §4·16·12§।

प्राचीन भारत में चरव्यवस्था का महत्व इसी से सिद्ध हो जाता है कि ऋग्वेद

में देवताओं के चरों की कल्पना की गयी है जो प्रत्येक गतिविधियों का अवलोकन किया करते थे §ऋ0-1·24·13, 4·4·3, अ०वे०-4·16·4, 8·63·3, 9·73·4, उद्धृत दीक्षित,1977,126§। महाकाव्यों व पुराणों में चरों को राजा का चक्षु कहा गया है §रामा0- 3·33·10, अ0पु0-220·2, म0पु0-215·89, वि0ध0पु0-2·24·63, महा0शान्तिपर्व, 86·21§। शासक अपने गुप्तचरों के माध्यम से ही सम्पूर्ण शासन तन्त्र पर दृष्टि रखते थे, इसीलिये उन्हें दूरदर्शी कहा गया है। भागवतपुराण में उल्लेख है कि जिस प्रकार प्राणियों के अन्दर रहने वाला प्राणरूप सूत्रात्मा शरीर के अन्दर और बाहर के समस्त व्यापारों को देखता रहता है उसी प्रकार शासक गुप्तचरों के माध्यम से सम्पूर्ण प्रजा के गुप्त और प्रकट सभी व्यापारों को देखता रहता है §4·16·12§। चर की महत्ता को स्वीकारते हुये कुछ शासक वेष बदलकर, छिपे रूप में गुप्तचरी का कार्य करते हुये वर्णित किये गये हैं §9·11·8, 10·69·36§। चर गुप्तचरी का कार्य करते हुये अपने स्वामी §शासक§ की सुरक्षा को दृष्टि में रखकर शत्रु की हत्या का भी प्रयास करते थे §10·6·1-42§। स्त्रियाँ भी गुप्तचरी का कार्य करती थीं §10·6·1-42§। इसकी पुष्टि स्ट्रैबो के वृतान्त से भी होती है §दीक्षित,1977,137§।

स्पष्टतः उस समय गुप्तचर विभाग था जिसकी सेवायें शासन संचालन की दृष्टि से महत्वपूर्ण थीं। स्वराष्ट्र तथा परराष्ट्र दोनों में ही गुप्तचरों का जाल सा बिछा रहता था। अतः प्राचीन कालीन चर व्यवस्था को वर्तमान चर व्यवस्था से किसी प्रकार हीन नहीं कही जा सकती है।

2- बेतार का तार -

आधुनिक युग में रेडियों या बेतार का तार महत्वपूर्ण नवीनतम् संचार साधन है। यद्यपि भागवतपुराण में बेतार के तार का विस्तृत विवरण उपलब्ध नहीं है परन्तु भागवतपुराण में प्राप्त सन्दर्भो के आधार पर स्पष्ट होता है कि विचारों के आदान-प्रदान हेतु बेतार के तार की भाँति तत्कालीन समाज में भी कोई व्यवस्था थी। भागवतपुराण में आकाशवाणी के लिये अरूपावाणी §7·4·24§, नभोवाणी §10·61·33§, गगनगिरा

§10·1·21§, अशरीर वाक् §10·1·34§ आदि शब्दों का उल्लेख मिलता है परन्तु कहीं पर भी आकाशवाणी केन्द्र का आस्तित्व प्रकट नहीं किया गया है।

उपरोक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि तत्कालीन भारत की आर्थिक समृद्धि यातायात के शीघ्रगामी साधनों पर निर्भर थी। उन दिनों आवागमन के मार्गो में स्थल मार्ग ही अधिक प्रयुक्त होते थे। वीथी, रथ्या, प्रपथ, राजमार्ग, महामार्ग, चत्वर, चतुष्पथ, शृंगाटक, वेदी, सेतुओं आदि का उल्लेख स्पष्ट करता है कि सड़क परिवहन अभियान्त्रिकी विकसित थी। सभी प्रमुख राजधानी केन्द्र एवं अन्य नगर राजमार्गो द्वारा परस्पर सम्बन्धित थे। ग्राम भी नगरों से रथ्यायों या शकट-मार्गो से सम्बन्धित थे जिन पर सतत् पर्याप्त यातायात एवं वाणिज्य व्यापार होता रहता था। स्थल मार्ग के अतिरिक्त जल परिवहन एवं वायु परिवहन भी पर्याप्त विकसित था। न केवल नदियों द्वारा नदी तट पर बसे नगरों के मध्य नौकाओं द्वारा आन्तरिक व्यापार होता था, अपितु विशाल जलयानों द्वारा पशिचमी एवं पूर्वी देशों के मध्य भी वाणिज्य व्यापार विकसित था। तत्कालीन भारत में पशिचमी समुद्रतटीय भाग में अनेक सुविख्यात पत्तनों की स्थिति एवं अन्य प्रमाण इस तथ्य की पुष्टि करते हैं।

––––– xxxxx –––––

सन्दर्भ

1- अग्रवाल,वी0एस0 (1969), पाणिनि कालीन भारतवर्ष, वाराणसी।

2- अवस्थी,ए0बी0एल0 (1982), प्राचीन भारतीय भूगोल, भाग-प्रथम,लखनऊ।

3- आप्टे,वी0एस0 (1981), संस्कृत हिन्दी कोश, वाराणसी।

4- उपाध्याय, रामजी (मू0सं0), प्राचीन भारतीय इतिहास की सांस्कृतिक भूमिका, भाग-प्रथम एवं द्वितीय, वाराणसी।

5- उपध्याय, बल्देव (1987), पुराण विमर्श, वाराणसी।

6- कनिंघम,ए0 (1971), प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल (हिन्दी अनुवाद), इलाहाबाद।

7- झा, दामोदर (सं0-2006),"हमारी प्राचीन वैमानिक कला", कल्याण - हिन्दू संस्कृति अंक, गोरखपुर।

8- दत्त,बी0बी0 (1977, पुनर्मुद्रण), टाउन प्लानिंग इन ऐन्शियंट इण्डिया,दिल्ली।

9- दीक्षित, प्रेम कुमारी (1977), प्राचीन भारत में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, लखनऊ।

10- दे, एन0एल0 (1979), दि ज्यॉग्रफिकल डिक्शनरी ऑफ ऐन्शियंट एण्ड मेडिवल इण्डिया, नई दिल्ली।

11- देवहूति,डी0 (1970), "इण्डिया, मलाया एण्ड वर्मा - टू मिलेनिया ऑफ कॉन्ट्रैक्ट्स एण्ड कल्चरल सिन्थेसिस", इन चन्द्र, लोकेश (सम्पा0), आई0सी0 डब्ल्यू0टी0सी0, मद्रास।

12- दैनिक जागरण, 22 मई 1988, "अब ब्रह्माण्ड में मानव अकेला नहीं रहेगा" कानपुर ।

13- दैनिक जागरण, 18 जनवरी 1987, "अन्य ग्रहों में प्राणियों की उत्पत्ति", कानपुर।

14- द्विवेदी, के0एन0 (1969), कालिदास की कृतियों में भौगोलिक स्थलों का प्रत्याभिज्ञान, कानपुर।

15- प्रसाद,पी0सी0 (1977), फारेन ट्रेड एण्ड कॉमर्स इन ऐन्शियंट इण्डिया, नई दिल्ली।

16- भट्टाचार्य, एन0एन0 §1970§, "इण्डियाज कॉन्ट्रिब्यूशन टू इस्लामिक थॉट एण्ड कल्चर", इन चन्द्र, लोकेश §सम्पा0§, आई0सी0डब्लू0टी0सी0, मद्रास।

17- भार्गव, एम0एल0 §1964§, दि ज्यॉग्रफी ऑफ ऋग्वैदिक इण्डिया, लखनऊ।

18- माथुर, वी0के0 §1969§, ऐतिहासिक स्थानावली, नई दिल्ली।

19- मुकर्जी, आर0के0 §1912§, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन शिपिंग एण्ड मैरिटाइम एक्टिविटी फ्रॉम अर्लियस्ट टाइम्स, लन्दन।

20- रामचन्द्रन, के0एस0 §1970§, "ऐन्शियंट इण्डियन मैरिटाइम वैण्ट्यूरस", इन चन्द्र लोकेश §सम्पा0§, आई0सी0डब्ल्यू0टी0सी0, मद्रास।

21- रॉव, एस0आर0 §1970§, "शिपिंग इन ऐन्शियंट इण्डिया", इन चन्द्र, लोकेश §सम्पा0§, आई0सी0डब्ल्यू0टी0सी0, मद्रास।

22- लाहा, वी0सी0 §1972§, प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल §हिन्दी अनुवाद§, लखनऊ।

23- व्यासशिष्य, के0एल0 §1986§, "दैत्यों ने यूरोप बसाया था", कादम्बिनी, वर्ष-26, अंक-5, नई दिल्ली।

24- शर्मा, डी0पी0 एवं झा, तरणीश §1973§, संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, इलाहाबाद।

25- शर्मा, रघुनन्दन §सं0-2016§, वैदिक सम्पत्ति, बम्बई।

26- शर्मा, ओम प्रकाश §1983§, "अखिल ब्रह्माण्ड में जीवन", विज्ञान प्रगति, अंक-10-12, पूर्णांक-363-365, नई दिल्ली।

27- शुक्ल, आर0के0 §1984§, रामायणः ए स्टडी इन ऐन्शियंट इण्डियन ज्यॉग्रफी §शोध प्रबन्ध§, झाँसी।

28- शुक्ल, आर0के0 §1982§, "प्राचीन भारत में यातायात के विकसित वैज्ञानिक साधन", वि0शी0भू0प0, अंक-1, संख्या-1-2, बस्ती।

29- सिद्दीकी, डब्ल्यू0एच0 §1970§, "इण्डियाज कॉन्ट्रिब्यूशन टू अरब सिविलाइजैशन", इन चन्द्र लोकेश §सम्पा0§, आई0सी0डब्ल्यू0टी0सी, मद्रास।

30- सिंघल, डी0पी0 ﴾1970﴿, "रेड इण्डियन्स ऑर एशियोमेरिकन्स इण्डियन सेटलर्स इन मिडिल एण्ड साउथ अमेरिका", इन चन्द्र, लोकेश ﴾सम्पा0﴿, आई0सी0डब्ल्यू0 टी0सी0, मद्रास।

31- सिंह, श्रीपाल ﴾1981﴿, "सम्पाती गिद्ध नहीं विमान था,कादम्बिनी, वर्ष-21, अंक-9, नई दिल्ली।

अध्याय - पंचम्

अधिवास

मानव अधिवास अभिनियुक्त इकाई है जो प्राकृतिक वातावरण के विविध संघटकों और मानव की आर्थिक क्रियाओं के परस्पर सहयोग से निर्मित होते हैं। सांस्कृतिक भूदृश्य में सर्वप्रमुख तत्व मानव अधिवास है। वस्तुतः सांस्कृतिक भूदृश्य को मानव अधिवासी क्षेत्र तथा जिस क्षेत्र में मानव का बसाव नहीं हुआ है उसे निरधिवासी क्षेत्र कहते हैं। मानव अधिवास पृथ्वी तल पर मानव समूह द्वारा स्थापित निवास्य या हस्तक्षेप की हुई बृहत्तर इकाई है। अधिवास शब्द जातिगत है तथा विविध अर्थ प्रयोगों में इसकी व्याख्या भी पृथक्-पृथक् होती है। अधिवास भूगोल की संकल्पना जर्मन भाषा के शब्द "साइड लंग्स ज्योग्राफी" से ली गयी है, जो मानव द्वारा निर्मित सांस्कृतिक भूदृश्य की अभिग्रहण प्रक्रिया का अध्ययन करता है (सिंह एवं सिंह, 1975,Vii)। डाक्सियाडिस महोदय ने मानव अधिवास के संगठन में प्रकृति, मानव, मानव समाज, कवच तथा जाल इन पाँच तत्वों की व्याख्या की है। इन तत्वों में प्रकृति और कवच को मौलिक पात्र तथा मानव, मानव समाज एवं जाल को अन्तर्वस्तु की संज्ञा दी है। उपर्युक्त पाँचों तत्वों और आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक दृष्टिकोणों के पारस्परिक गत्यात्मक अन्तर्सम्बन्धों की समन्वित पृष्ठ भूमि में ही मानव अधिवास भूदृश्य का विकास होता है। मानव अधिवास एवं कार्य हेतु निश्चित स्थानों के रूप में इन अधिवासों द्वारा विविध प्रकार की भौतिक एवं बौद्धिक प्रेरणाओं से उत्पन्न अनेक प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है।

भूगोलविद् एवं इतिहासकार मानव अधिवासों के अध्ययन में प्रारम्भ से ही रुचि लेते रहे हैं। ऐतिहासिक भूगोल में मानव अधिवासों का अध्ययन इसलिये प्रमुख माना जाता है क्योंकि अधिवास किसी भी देश, काल या पारिस्थैतिकी, जनसंख्या, उसके आजीविका साधनों, अवस्थापनाओं, संस्कृति और स्थापत्य कला का प्रतिमूर्त रूप होता है। वास्तव में अधिवास भूतकाल में जन्म से लेकर वर्तमान काल तक विकसित अनेक संस्थापनों एवं साधन प्रक्रियाओं का वहाँ के निवासियों द्वारा संयोजन का परिणाम है (वर्मा, 1983, 5)। अधिवासों में इतिहास के भिन्न-भिन्न चरणों में निर्मित संस्थान सम्मिलित हैं, जो वहाँ के प्राणियों के सामाजिक संगठन एवं उनमें वर्तमान तकनीकी कौशल के परिचायक हैं अर्थात् वे सब एक

समाज की क्रमबद्ध संस्कृति के प्रतिरूप हैं (ब्रोक जॉन एवं वेब जॉन, 1968, 340)। अतः अधिवास भूगोल का अध्ययनकर्ता अधिवास प्रारूप का विश्लेषण ऐतिहासिक चरणों के सन्दर्भ में करता है अर्थात् जिस काल क्रम में अधिवास के उस चरण विशेष का विकास हुआ है, वहीं विवेचन उसके अध्ययन का प्रधान अंग होता है (जोन्स, 1969, 124)। भूतकाल में झाँकने वाले ऐतिहासिक भूगोलविद् के लिए अधिवास ऐसी निधि है जो महत्वपूर्ण होने के साथ ही स्पष्टतः सामने दिखलाई देने वाले स्रोत होते हैं। उपरोक्त को ध्यान में रखकर प्रस्तुत अध्याय में अधिवासों के विकास, वितरण, प्रकार, प्रतिरूप, ग्रामीण एवं नगरीय केन्द्रों का विकास तथा अधिवास नियोजन का विश्लेषण किया गया है।

भारत अपने उत्कृष्ट पारिस्थितिक संगठन के कारण प्रागैतिहासिक काल से ही महत्वपूर्ण मानव अधिवास स्थल रहा है। भारतीय ग्राम विश्व के प्राचीनतम् ग्रामों में से हैं तथा वे मानवीय आवश्यकताओं एवं प्राकृतिक-सांस्कृतिक अन्तर्सम्बन्धों को प्रत्यक्ष उपस्थित करते हैं। ग्राम ग्रामीण भारत के केन्द्रबिन्दु रहे हैं। वस्तुतः भारतीय ग्राम नगर के प्रारम्भिक स्वरूप हैं। ग्राम का विकास प्राकृतिक रूप से होता है जबकि नगर सामाजिक संगठन विकास अवस्था का द्योतक होता है। इनकाअध्ययन मानव एवं उसके पर्यावरण के अन्तर्सम्बन्धों को ज्ञात करने के लिये किया जाता है। भारत में प्रारम्भिकमानव का अध्ययन रहस्यमय है। यह विश्वास किया जाता है कि सत्ययुग में मानव दुःख रहित जीवन व्यतीत करता था, परन्तु इतिहास में ऐसे किसी स्वर्णिम युग का प्रत्यक्ष प्रमाण उपलब्ध नहीं होता है। उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर भारत के प्राचीनतम् निवासी प्राचीन पाषाण युग के थे, जो छोटे-छोटे समूहों में निवास करते थे। मध्य पाषाण काल में उन्होंने पर्यावरण में परिवर्तन करने का प्रयास किया। नूतन पाषाण काल में मानव ने सम्भवतः मिट्टी एवं घास की झोपड़ियों का निर्माण करना प्रारम्भ कर दिया था, साथ ही मत्स्य, आखेट, पशुपालन एवं कृषि का कार्य भी प्रारम्भ कर दियाथा (जायसवाल, 1976, 89-96)। सम्भवतः यहीं से ग्रामीण संगठन का श्रीगणेश होता है।

(अ) ग्रामीण अधिवास -

प्राथमिक उत्पादन में संलग्न आबादी की बस्ती को ग्रामीण अधिवास कहते हैं।

ग्रामीण बस्ती वस्तुतः एक समांगी संगठन है §वेगनर, 1964, 150-151§, जिसमें लघु से लेकर बृहद् अधिवासी समूह जीवन यापन के लिये एक ही प्रकार की उत्पादन विधि पर आश्रित होते हैं। ग्रामीण अधिवास भूगोल भूपटल पर ग्रामीण वातावरण में मानव की अध्यासन प्रक्रिया, प्रतिरूपों, प्रकार्यों और इनके स्थानिक संगठनों से सम्बन्धित है §सिंह एवं सिंह, सम्पा0, 1975,viii§।

"ग्राम" एक संस्कृत शब्द है जिसके दो अर्थ हैं। अपने विस्तृत रूप में ग्राम एक प्रशासकीय इकाई के रूप में उभरता है जिसके अन्तर्गत कृषित व अकृषित भूमि, खेत, खलिहान, मन्दिर, गिरजाघर, पगडण्डियाँ आदि सम्मिलित की जाती हैं। इस इकाई को मौजा ग्राम के रूप में जाना जाता है। संकीर्ण अर्थ में ग्राम का तात्पर्य केवल अधिवासीय प्रखण्ड से है।

ग्रामीण अधिवासों का उद्भव एवं विकास -

ग्रामीण अधिवासों की उत्पत्ति ऐतिहासिक काल के पूर्व ही हो चुकी थी, जब भारतीय आदिवासी मानव ने वनों को साफकर अपने निवास के लिये स्थानों का चयन किया। आर्यो ने अपना प्रथम अधिवास प्रागैतिहासिक काल में पंजाब अर्थात् सिन्धु घाटी §सप्त सैन्धव प्रदेश§ में लगभग 25000 वर्ष ईसा पूर्व में स्थापित किया §सिंह, 1987, 29§। अनुमानतः सिन्धु घाटी की सभ्यता का उद्भव कृषक एवं पशुचारक जनसंख्या द्वारा निर्मित ग्राम्य भूदृश्य की पृष्ठभूमि में ही हुआ §शास्त्री, 1963, 37§, तत्पश्चात् §सम्भवतः वैदिक काल में§ दक्षिण पूर्व में स्थित गंगा घाटी में इनका प्रवजन प्रारम्भ हुआ। आर्यो का यह प्रवजन दो शाखाओं में विभक्त हो गया। प्रथम शाखा पूर्व की ओर गंगा पारकर घाघरा में बसी एवं अपनी राजधानी अयोध्या में स्थापित किया। द्वितीय शाखा ने गंगा नदी के सहारे आगे बढ़कर गंगा यमुना दोआब में जा बसी और काशी को अपनी राजधानी बनाया। इसके पश्चात् शनैः - शनैः सम्पूर्ण गंगा मैदान में आर्यो का उपनिवेश स्थापित हो गया। आर्यो ने यहाँ की आदिम जातियों जिनमें प्रोटो इण्डियन एवं प्रोटो आस्ट्रेलायड प्रमुख थे §जिन्हें बाद में निषाद्, मार्स, किरात, दास, दस्यु और असुर के नाम से जाना गया§, को जीतने के

पश्चात् अपना दास बना लिया §सिंह, 1987, 29-30§। इनमें से कुछ आदिम जातियाँ प्रायद्वीपीय भाग के वनों एवं पहाड़ियों तथा कुछ तराई के वनों में चली गयीं। मुकर्जी के अनुसार 15000 ईसा पूर्व में उत्तरी मैदान में मानव §अनार्य जनजातियाँ§ खानाबदोश जीवन व्यतीत करता था §मुकर्जी, 1938, 223-234§, तथा यह सम्पूर्ण भाग वनाच्छादित था। पुरातात्विक अन्वेषणों से उत्तरी मैदान के प्रतापगढ़ व गाजीपुर जनपदों में नव पाषाण कालीन अधिवास के प्रमाण मिले हैं । इसी प्रकार छोटा नागपुर में पुरापाषाण काल एवं नवपाषाण काल के अधिवासों के प्रमाण मिले हैं §प्रसाद, 1973, 103-104§।

वैदिक काल में आर्य ग्रामों में निवास करते थे। सर्वप्रथम ऋग्वेद §1·44·10, 1·141·1, 1·49·14, 10·146·1, तुल0 दास, 1979, 121§ में "ग्राम" शब्द का प्रयोग मिलता है जिससे आशय व्यक्तियों के समूह से है। यह नगर अथवा राजधानी से भिन्न समझा जाता था। ऋग्वेद §6·28·6§ में भवनों के अतिरिक्त लघु किले एवं ग्रामीण सभागारों का भी उल्लेख है जो गाँव के आवश्यक अंग होते थे। सम्भवतः इन दुर्गों का निर्माण सुरक्षा की दृष्टि से किया जाता था। गाँव की प्रारम्भिक अर्थव्यवस्था कृषि एवं पशुपालन थी तथा इन ग्रामों का प्रधान ग्रामणी हुआ करता था §सक्सेना, 1960, 332§। इस प्रकार शनैः - शनैः ग्रामीण जनसंख्या सुसंगठित ग्राम्य अधिवास के रूप में बड़े-बड़े राज्य एवं प्रशासनिक इकाइयाँ बनाकर निवास करने लगे। गाँव में कई सम्मिलित परिवार निवास करते थे तथा गाँवों का गठन मौलिक इकाई के रूप में 10, 20, 100 एवं 1000 गाँवों के समूहों के रूप में प्रशासनिक संरचना की दृष्टि से हुआ, इनमें से प्रत्येक के शासक दसग्रामणी, विंशतपति, शतग्रामणी, सहस्र ग्रामाधिपति के नाम से जाने जाते थे §सिंह, 1975, 356§। मानव अधिवासों की स्थिति सामान्तयः कृषि योग्य उर्वर मैदानों एवं जलापूर्ति वाले क्षेत्रों में होती थी। प्रारम्भ में सभी गाँव अनियोजित ढंग से बसे जिनमें समुचित यातायात के साधनों की सुविधा नहीं थी। यह निर्विवाद है कि मानव कृषि कार्यों के बाद अपनी सामुदायिक प्रतिभा, ज्ञान-विज्ञान, प्राविधिकी आदि सबका अधिक्तम उपयोग अपनी बस्ती की स्थापना और चुनाव में करता है। इसी के साथ भारत के उत्तरी भाग में उपरोक्त प्राकृतिक कारकों

के अतिरिक्त आँशिक उच्च एवं ढालू भूमि पर भी, जो बाढ़ से ग्रसित नहीं थे, प्राचीन काल में ग्रामीण अधिवास स्थापित हुए। ये सभी बसाव प्रारूप देश, काल एवं परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तनशील रहे हैं।

पुराणकाल में अधिवासों का विकसित स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। भागवतपुराण में कहा गया है कि ग्राम शासक के आधीन होते थे तथा शासक ग्राम निवासियों से इनके उत्पाद का एक निश्चित भाग कर के रूप में ग्रहण करते थे §10·5·19-20§। भागवतपुराण में उत्तरी भारत §1·6·10-11, 1·12·14§ एवं प्रायद्वीपीय भारत §8·18·32§ के ग्रामों का उल्लेख मिलता है परन्तु पश्चिमी एवं पूर्वी भारत के ग्रामों का नहीं। इससे यह आशय नहीं है कि भारत के इन भागों में ग्रामों का अस्तित्व नहीं था। पश्चिमी एवं पूर्वी भारत के क्षेत्रों के शासकों, उनकी राजधानियों तथा ऋषि-महर्षियों की झोपड़ियों के उल्लेख मिलते हैं। पुराणकाल में ग्राम विविध छोटे-छोटे क्षेत्रों में विभक्त थे तथा उनके अन्तर्गत कृष्यभूमि, चरागाह, वन, सततूवाहिनी नदियाँ एवं पहाड़ियाँ सम्मिलित होती थीं। प्राचीन भारतीय ग्राम, ग्रामीण अधिवासों की आधारभूत सामाजिक आर्थिक इकाइयाँ थीं। भागवतपुराण में उल्लेख है कि भृगुकच्छ के समीपवर्ती ग्राम अत्यन्त समृद्ध थे §8·18·32§। कुरूक्षेत्र में ग्रामों के दान §1·12·14§ का उल्लेख स्पष्ट करता है कि ग्राम आजीविका के साधन थे।

ग्रामीण अधिवासों के प्रकार एवं प्रतिरूप -

मानवीय अधिवासों का प्रकार किसी अधिवास में गृहों की संख्या और गृहों के मध्य पारस्परिक दूरी के आधार पर निश्चित होता है तथा अधिवासों के प्रतिरूप उन अधिवासों के आकृति के अनुसार होते हैं। इनको भवनों और मार्गों की स्थिति के क्रम और व्यवस्था के आधार पर निश्चित किया जाता है। प्राचीन साहित्य में भारतीय ग्रामों के प्रकार एवं प्रतिरूप आदि के पर्याप्त उद्धरण नहीं मिलते हैं। रामायण में दो प्रकार के ग्रामों का उल्लेख मिलता है- कृषि ग्रामों को ग्राम एवं चरागाही ग्रामों को "घोष" कहा जाता था §शुक्ल, 1984, 191§। भागवतपुराण कालीन अधिवासों को ग्राम, पुर, घोष, ब्रज, आश्रम,

शिविर, आकर, खेट, खर्वट, दुर्ग, पत्तन §4·18·31, 5·5·30, 7·2·14§ आदि प्रकारों में विभाजित किया गया है। आपण शून्य ग्रामों को "ग्राम" §ग्रामाः हट्टादि शून्याः§, आपण ग्रामों को "पुर" §पुरो हट्टादिमत्यः§, बन्दरगाहों को "पत्तन" §ता एव महत्यः पत्तनानि§, किले को "दुर्ग", चरागाहीं ग्रामों को "घोष", गौओं और ग्वालों के निवास स्थान को "व्रज", सैनिक छावनियों को "शिविर", खानों के समीप बसे ग्रामों को "आकर", कृषि योग्य ग्रामों को "खेट" §खेटाः कर्षक ग्रामाः§ तथा ऋषियों के निवास स्थान को "आश्रम" कहा जाता था §दुबे, 1967, 134, भागवतपुराण, श्रीधरी टीका-4·18·31 व गीता प्रेस टीका-4·18·31, 5·5·30, 7·2·14§। राजनीति कौस्तुभ के अनुसार श्रीधर द्वारा उद्धृत भृगु के मत से ग्राम वह बस्ती है जहाँ ब्राह्मण लोग अपने कर्मियों §मजदूरों§ एवं शूद्रों के साथ रहते हैं। खर्वट नदी तट की उस बस्ती को कहते हैं जहाँ मिश्रित लोग रहते हैं और जिसके एक ओर ग्राम हो तथा दूसरी ओर नगर हो। राजनीति कौस्तुभ द्वारा उद्धृत शौनक के मत से खेट उस बस्ती को कहते हैं जहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य रहते हैं तथा वह स्थान जहाँ सभी जातियाँ निवास करती हैं, नगर कहलाता है §काणे, 1982, भाग-दो, 666§। भागवतपुराण में उल्लेख है कि सर्वप्रथम पृथु ने अधिवासों को उपरोक्त प्रकार से वर्गीकृत करके यथास्थान विविध अधिवासों को मानव वर्ग के लिये बसाया। इससे पूर्व पृथ्वी तल पर अधिवासों का यह विभाजन नहीं था, मानव सुविधायुक्त स्थानों में यत्र-तत्र अपने गृह निर्मित कर निवास कर रहा था §4·18·32§। इससे स्पष्ट होता है कि अधिवासों को भलीभाँति वर्गीकृत करके नियोजित ढंग से बसाया जाता था।

ग्राम का प्रतिरूप कोई आकस्मिक कारकों अथवा घटना का परिणाम नहीं होता। उसका सीधा सम्बन्ध जिस स्थान पर ग्राम की उत्पत्ति हुई है अर्थात् ग्राम की नाभि के विन्यास से होता है। कोई गाँव वृत्ताकार, चतुर्भुजाकार अथवा प्रतिरूप विहीन है, यह बहुत कुछ उस अवस्थान के विन्यास पर निर्भर करता है जहाँ वह गाँव विकसित हुआ है। ग्राम स्थल विन्यास अर्थात् गाँव में भवन विन्यास, मार्गों अथवा वीथिकाओं की व्यवस्था अनेक प्रकार की होती है अतएव ग्राम प्रतिरूपों के भी अनेक प्रकार पाये जाते हैं। अनेक प्रकार के ग्राम अवस्थान विन्यासों के विकास में प्राकृतिक एवं सामाजिक दोनों ही प्रकार के कारक निहित

होते हैं। गाँव की बसाव स्थली पर्वत पदीय अथवा पहाड़ियों से घिरी भूमि, जलाशय अथवा नदी का तट, वन्य भूमि की सीमा अथवा पहाड़ी चबूतरे, ऊँचे कगार, ऊँचे-नीचे धरातल में स्थित टीले आदि किसी भी प्रकार की हो सकती है। नाभि की प्रकृति निस्सन्देह गांव के चौकोर, वृत्ताकार, अर्द्धचन्द्राकर अथवा प्रतिरूप विहीन होने में महत्वपूर्ण कारक होती है, परन्तु प्रतिरूप निर्धारण में सामाजिक रीति रिवाज एवं परम्परायें, जाति व्यवस्था आदि कारक भी कम महत्वपूर्ण नहीं होते (वर्मा, 1983, 118)। ऐतिहासिक दृष्टि से सक्रिय क्षेत्रों में सुरक्षा हेतु प्रबन्ध, किलेबन्दी आदि सामरिक महत्व के कारक गाँव के प्रतिरूप निर्धारण में मुख्य अंग बन जाते हैं। धार्मिक स्थल वाले गाँवों के प्रतिरूप धार्मिक कारकों द्वारा निर्धारित होते हैं। उनके आवास किसी देवी देवता के पूजास्थल के चतुर्दित वृत्ताकार, चतुर्भुजाकार, स्वस्तिकाकार, पद्माकार अथवा धार्मिक दृष्टि से प्रधान किसी अन्य आकार रूप में संगृहीत पाये जाते हैं। प्राचीन भारत में ग्रामीण अधिवासों के प्रतिरूप प्रायः धार्मिक भावनाओं के द्योतक थे और उनकी नाभियाँ स्वयं पूजा स्थल होती थीं।

प्राचीन भारत में ग्रामीण अधिवासों के प्रतिरूप प्रायः दैवी शक्तियों द्वारा एवं सूर्य, पवन, मेघ, सागर, वृक्ष, पशु आदि प्राकृतिक शक्तियों द्वारा प्रभावित प्रतीत होते थे। अधिवासों का स्वस्तिकाकार अथवा सूर्योन्मुख होना, पद्माकार अथवा पर्वतों की भाँति शंक्वाकार, त्रिभुजाकार होना प्रायः सामान्य प्रतिरूप हैं। प्राचीन ग्रंथों में मुख्य आठ प्रतिरूप-दण्डक, सर्वतोभद्र, नंद्यावर्त, पद्मक, स्वास्तिक, प्रस्तर, कार्मुक और चतुर्मुख का उल्लेख है (दुबे, 1967, 135-136, दत्त, 1977, 206-239, शुक्ल, 1984, 192-193)। ये प्रायः चतुर्भुजाकार अथवा वर्गाकार नियोजन हैं और मूलतः इनमें अधिक अन्तर नहीं मिलता है। प्रायः गाँव एक प्राचीर व खाई द्वारा आवृत्त थे जो उन्हें सुरक्षा प्रदान करती थी। चारों भुजाओं के मध्य में द्वार होते थे और प्राचीर के अन्दर चारों ओर जाने के लिये वीथियाँ भी होती थीं। दो मुख्य मार्ग परस्पर केन्द्र में समकोण पर काटकर चतुष्पथ बनाते और अधिवास को चार बड़े भागों में विभक्त करते थे। पुनः चार भागों को सीधी सड़कों द्वारा परस्पर समकोण पर विभाजित कर छोटे-छोटे चतुष्कों का प्रारूप दिया गया जो प्रायः समान जाति अथवा समान कार्य व्यवस्था के लोगों द्वारा अधिवासित होते थे। नियोजन का पूर्वोन्मुख होना

और मुख्य वीथियों या मार्गों का उत्तर-दक्षिण दिशाओं में निर्माण इस तथ्य का सूचक है कि अधिवास को प्रायः प्रकाश और स्वच्छ वायु आदि सुविधायें प्राप्त हों, कदाचित् इस बात का ध्यान रखा जाता था। प्राचीन भारत के अधिवासों का सामान्य नियोजन "स्वास्तिक" प्रारूप वाला मिलता है जो कदाचित् चतुर्दिक चार द्वारों से युक्त था। यह व्यवस्था सूर्य की स्थितियों के अनुरूप है। यद्यपि भागवतपुराण में उपरोक्त नियोजन प्रतिरूपों के सन्दर्भ नहीं मिलते हैं परन्तु यह यथार्थ है कि भागवतपुराण काल के गाँव सुनियोजित मार्ग विन्यास, नियन्त्रित जल प्रवाह व्यवस्था, सार्वजनिक सुरक्षा, उत्तम आवासीय पर्यावरण के आधार पर बसाये जाते थे।

ग्रामीण अधिवासों के सांस्कृतिक स्वरूप -

किसी क्षेत्र के आवासों के वितरण की प्रवृत्ति, बस्ती में भवनों की परस्पर दूरी, आवासों के स्थानिक प्रतिरूप, वास्तुशिल्प की शैली तथा निर्माण सामग्री का निर्धारण उस क्षेत्र के प्राकृतिक और सांस्कृतिक वातावरण के जटिल प्रभावों द्वारा होता है। अधिवासों के सांस्कृतिक पक्ष में अधिवासों के मध्य गमनागमन के साधन, मार्ग, आवास के गृह, अधिवासों में स्थित शिक्षण संस्थायें, सामाजिक सभागृह, वास्तुशिल्प की शैली अर्थात् भवन निर्माण कला, धार्मिक विश्वास, सामाजिक श्रम विभाजन, तकनीक तथा अधिवास नियोजन सम्मिलित होती है। इनके द्वारा अधिवासों का विकास और भावी उन्नति होती है। भागवतपुराण कालीन ग्रामीण अधिवासों के सांस्कृतिक स्वरूपों में गृह §5·5·8§, भवन §3·1·10§, गेह§1·13·21§, आलय §9·6·18§, निकेत §11·25·25§, शाला §10·42·21§, सद्मन §11·27·52§, शरण, उटज §7·12·20§, गोष्ठ §10·6·13§, गृहान्तर §10·5·6§, विहार, विश्राम, संवेश, प्रांगण, अजिर §3·23·21§, महानस §10·55·5§, सूतिका गृह §10·3·12§, रंग §10·83·28§, द्यूतसदन §11·25·25§, सभा §3·1·36§, सार्थ §5·5·30§, यज्ञशाला §4·4·6§ या दीक्षा शाला §10·84·45§, पत्नीशाला §10·23·15§, सुरालय §7·15·49§, मन्दिर §3·1·23§, देवगृह §9·11·27§, देवी सदन §10·53·44§, चैत्य §9·11·27§ आदि का उल्लेख मिलता है। गृह, गेह, आलय, निकेत, सद्मन

आदि शब्दों का प्रयोग आवास या घर के लिये किया जाता था, चाहे वह ग्रामीण हो अथवा नगरीय। साधारणतः रहायसी इमारतों को "गृह" और सामुदायिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले इमारतों को "भवन" तथा घासफूस की झोपड़ी को "उटज" कहा जाता था। शाला का तात्पर्य कक्ष, प्रकोष्ठ, बैठक या कमरा है। गौओं के निवास स्थान को गोष्ठ, यात्रियों या व्यापारियों के टिकने के स्थान को "सार्थ" §भागवतपुराण, गीता प्रेस टीका, 5·5·30§, क्रीड़ा स्थल को विहार, शयनगृह को विश्राम, बैठक को संवेश, आँगन को प्रांगण, अहाता या चौक को अजिर, रंगमंच या नाट्यगृह अथवा सार्वजनिक आमोदस्थली को रंग तथा बौद्ध एवं जैन मन्दिरों को चैत्य कहा जाता था।

ग्रामीण अधिवासों की संरचना की मूल इकाई ग्रामीणों के घर होते हैं। ग्रामीण घर एक ऐसा स्थान है जहाँ उसमें बसे प्राणियों की समस्त क्रियायें केन्द्रीभूत होती हैं। वह उनकी कर्मभूमि भी है और निवास स्थल भी §रैपपोर्ट, 1969, 69§, अर्थात् भौगोलिक तत्व के रूप में गृह के अन्तर्गत मानव द्वारा निर्मित वासगृह के अतिरिक्त सभी दूसरी मानवीय संरचना, जहाँ मानव समवेत होता है, अपनी वस्तुओं को एकत्रित करता है, को भी सम्मिलित किया जाता है। इस प्रकार गृह सांस्कृतिक भूदृश्य के प्रमुख तत्व होने के साथ मानव और उसके पर्यावरण के जटिल सम्बन्धों को भी परावर्तित करते हैं। अतः भूगोलवेत्ता के लिये गृह मुख्यतः एक तत्व है जो कि प्रदेश की भौतिक अवस्थाओं और उसके निवासियों की संरक्षीयता को प्रकट करता है §हाउस्टन, 1953, 109§। यह निर्विवाद है कि गृह मानव के आश्रय स्थल हैं और आश्रय मानव जीवन की महत्वपूर्ण तथा मूलभूत आवश्यकता है। भागवतपुराण के अनुसार भी गृहों का निर्माण सुरक्षा की दृष्टि से किया जाता था §7·2·40§। गृह का "शरण" §7·12·20§ अर्थात् आश्रय अभिधान भी उक्त तथ्य को भलीभाँति स्पष्ट करता है। आश्रय या सुरक्षा की आवश्यकता की पूर्ति के लिये मानव ने उपलब्ध पदार्थों का प्रयोग करते हुए देश-काल-पारिस्थैतिकी के अनुरुप विविध आश्रयों का निर्माण किया और अपनी रचनात्मक प्रतिभा का परिचय देते हुए मन्दिर, राजमहल, शासकीय भवन तथा अन्य अनेक प्रकार की रचनायें कीं §करील एवं करील, 1972, 8§, परन्तु आश्रय, जो भूतकाल के सांस्कृतिक धरोहर और परम्परा के उत्तर जीवित अवशेष हैं §डिकिन्सिन एवं पिट्स, 1963, 199§,

के अध्ययन में वर्तमान में रुचि नहीं दिखलायी देती है। वस्तुतः यदि इनकी ऐतिहासिक समीक्षा की जाय तो यही एक मात्र प्राथमिक अभिलेख हैं (पर्सी ब्राउन, 1956,1)।

प्राचीन काल में अनुमानतः छायादार वृक्षों को देखकर मानव ने मकान की संकल्पना को जन्म दिया और वृत्ताकार या छत्तादार प्रतिरूप में, सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए गृह का निर्माण किया, जो वैदिक काल में पहले दीर्घित फिर अण्डाकार रूप में परिवर्तित हो गया। पुराण काल में गृह निर्माण ग्रहों, नक्षत्रों एवं धार्मिक भावना को ध्यान में रखते हुए "स्थापत्य वेद" (शिल्प विज्ञान) के अनुसार किया जाता था (3·12·38)। भागवतपुराण कालीन गृहों की एक सामान्य एवं सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता प्रांगण (3·23·21) या आंगन थी। पारिवारिक जीवन का केन्द्रबिन्दु आँगन ही होता था। प्रकाश एवं वायु का आँगन से सुविधा पूर्वक घर में प्रवेश होता रहता है जिससे गृह का वातावरण आरोग्यवर्द्धक बना रहता है। सर्वोपरि आंगन का प्रयोग सामाजिक-धार्मिक अनुष्ठानों में होता था। अतः वर्तमान गृहों में भी आंगन आवास का अभिन्न अंग बन गया है। मित्रा ने भारतीय आवासों का केन्द्र बिन्दु घर को नहीं, आंगन को माना है (मित्रा, 1961,1)। आंगन के अतिरिक्त संवेश (बैठक), गोष्ठ (पशुओं तथा उनके भोज्य पदार्थ-चारा, भूसा आदि रखने के स्थान), महानस (रसोई घर) तथा द्वार आदि भी ग्रामीण गृहों के महत्वपूर्ण अंग थे।

गृहों की अवस्था कालक्रम विज्ञान की अपेक्षा तकनीकी विकास एवं जीवन यापन विधि पर अधिक निर्भर करती है। कुछ क्षेत्रों में भवन आज भी आदिम किस्म के या प्राक् औद्योगिक हैं। उदाहरणार्थ घास फूस के झोपड़े (उटज), जो कि नवपाषाण युग में पाये जाते थे, आज भी भारत में मिलते हैं। प्रांगण युक्त भवनों में अतिन्यून परिवर्तन ही हुआ है। भिन्न-भिन्न भौगोलिक दशाओं के रहते हुए मानव को जहाँ जिस किस्म की सामग्री आसानी से उपलब्ध हो जाती है, उसका ही प्रयोग वह भवन निर्माण में करता है। तत्कालीन भारत में भवन निर्माण के लिये मूलतः मिट्टी, पक्की ईट एवं खपड़ा (10·16·24), पत्थर, काष्ठ (11·8·33), घास-फूस (7·12·20) आदि का उपयोग होता रहा है । मोहन जोदड़ो और हड़प्पा जैसे प्राचीन नगर या पुरातत्व की दृष्टि से महत्वपूर्ण भाग इस

बात के प्रमाण प्रस्तुत करते हैं कि यहाँ अति प्राचीन काल से ही पक्की ईंटों का प्रयोग होता था। पत्थरों का प्रयोग अधिकांशतः पर्वतीय एवं पठारी भागों में किया जाता था।

आश्रम एवं ग्राम तथा उनका वितरण -

जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है कि देश के उत्तरी एवं प्रायद्वीपीय भारत में पाये जाने वाले ग्रामों के सन्दर्भ भागवतपुराण में मिलते हैं तथा ऋषियों के आश्रमों के सन्दर्भ उत्तरी, दक्षिणी, पूर्वी एवं पश्चिमी भारत के प्रादेशिक वर्णनों में हैं, जिससे स्पष्ट होता है कि पुराण काल तक सम्पूर्ण देश में आर्य संस्कृति का विस्तार हो चुका था। ऋषियों के आश्रमों की भौगोलिक स्थिति नदी,जलाशय आदि के किनारे होती थी {1·7·2,3·4·36, 3·21·33, 3·22·27, 5·7·10-11} तथा ये आश्रम नगरों से बहुत दूर स्थित नहीं होते थे। नगरों एवं आश्रमों के मध्य संचार व्यवस्था न तो न्यून थी और न ही दुरुह थी।

ऋषियों के आश्रम एकाकी भी होते थे तथा समूह में भी। पूर्ववर्ती {रामायण} काल में अनार्यों के भय के कारण ऋषि समूह में रहने को बाध्य थे। ऋषियों के समूह को "ऋषि कुल" कहा जाता था {3·22·27}। आश्रमों के आवासीय कक्षों को "उटज" {1·13·57, 3·21·48} कहा जाता था। प्रत्येक आश्रम से सम्बद्ध "अग्निशाला" होती थी जहाँ पर वेदिका स्थापित की जाती थी। अग्नि शालाओं में तपस्वी दैनिक अग्निहोत्र एवं धार्मिक क्रिया-कलाप नियमित रूप से करते थे {1·13·52, 3·21·45}। आश्रम की संरचना मृदा एवं काष्ठ की दीवालों से की जाती थी तथा इसके स्तम्भ वृक्षों की शाखाओं एवं छत का निर्माण घास-फूस, पत्तियों आदि से किया जाता था। सभी लकड़ियाँ रस्सी से बाँधी जाती थीं। इन आश्रमों में ऋषि-मुनियों के यज्ञ निरन्तर चलते रहते थे {1·7·2}।

पौराणिक काल में शासक इन आश्रमों के संरक्षक होते थे। शासक और आश्रमों के ऋषियों में मध्य अन्तरंग सम्बन्ध होता था। शासकों का ऋषियों के आश्रमों में आवागमन बना रहता था {3·21·36-37, 3·22·26-27,9·3·2}। चूँकि शासक राज्य का प्रधान

होता था अतः ऋषियों की धार्मिक क्रियाकलापों को उचित एवं पर्याप्त सुविधायें देने का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व उसका ही होता था। दूसरी ओर आश्रमों के ऋषि मुनि संस्कृति के संरक्षक एवं प्रवर्त्तक माने जाते थे तथा वे राज्य की शान्ति एवं उन्नति हेतु सतत् प्रयत्नशील रहते थे और समय-समय पर राज्य के कल्याण के लिये शासक को सद्परामर्श भी देते थे ﴾4·14·7-46﴿। आश्रम में आये हुए शासक का ऋषिगण स्वागत सत्कार करते थे तथा आशिर्वाद देते थे ﴾3·21·48, 9·15·24﴿। स्पष्टतः पौराणिक काल में ऋषियों की राज्यों के क्रियाकलापों में सतत् रुचि रहती थी।

पौराणिक काल में आश्रम अपने विकसित अवस्था में थे जो उत्तर से दक्षिण एवं पूर्व से पश्चिम सरोवरों, पर्वतों अथवा नदियों के किनारे क्रमबद्ध श्रृंखला में पाये जाते थे ﴾1·13·50-51,1·18·25 व 36, 3·4·36, 3·22·27, 4·1·17-18, 5·7·10-11﴿। ये सभी आश्रम नगरों से कुछ ही दूरी पर स्थित होते थे जहाँ ऋषि-मुनि वनों के आन्तरिक भागों में अनुकूल भौगोलिक स्थिति के अनुसार आश्रम निर्माण हेतु स्थान का चयन करते थे। स्थानों के चयन में उत्तम स्वास्थ्य हेतु उपयुक्त जलवायु एवं पर्यावरण सुविधा सम्पन्न ﴾3·21·37-44, 12·8·16-22﴿ तथा दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु आवश्यक सामग्री की उपलब्धि आदि तथ्यों पर विशेष ध्यान दिया जाता था।

भागवतपुराण में यद्यपि ग्रामों का उल्लेख स्थान-स्थान पर भूयशः हुआ है परन्तु क्षेत्रीय वितरण की दृष्टि से उत्तरी भारत ﴾1·6·10-11﴿, शूरसेन जनपद ﴾10·41·7﴿, कुरुक्षेत्र ﴾1·12·14﴿ एवं भृगुकच्छ के पृष्ठ प्रदेश के ग्रामों ﴾8·18·32﴿ के ही सन्दर्भ मिलते हैं। उल्लेख्य है कि उत्तर भारत में स्थित पुर, ग्राम, व्रज, आकर, खेट, खर्वट आदि धनधान्य से सम्पन्न थे ﴾1·6·10-11﴿। स्पष्टतः उत्तरी मैदानी भाग में अधिक उर्वर मिट्टी, बांगर भूमि ﴾बाढ़ से सुरक्षित अपेक्षाकृत ऊँची भूमि﴿, समुचित सिंचाई के साधन, मार्गों के विकास आदि कारणों से विविध अधिवासों का विकास कम दूरी पर पौराणिक काल में ही हो गया था। भागवतपुराण में गोकुल ﴾10·2·7, 10·5·32﴿, नन्दिग्राम ﴾9·10·36﴿, शम्भल ग्राम ﴾12·2·18﴿, कलाप ग्राम ﴾9·12·6﴿ आदि ग्रामों का भी उल्लेख मिलता

है। गोकुल, मथुरा के सामने यमुना के बायें तट पर उसी नाम से बसा है §लाहा,1972,135, माथुर,1969,297-298§। यह सड़क मार्ग द्वारा मथुरा से जुड़ा हुआ था §10·38·1§। गोकुल के निकट बृहद्वन नामक एक जंगल था §10·5·26§। नन्दि ग्राम का प्रत्याभिज्ञान फैजाबाद के दक्षिण 8 या 9 मील की दूरी पर स्थित नन्दगांव से किया गया है §डे,1979, 138§।

§ब§ - नगरीय अधिवास -

नगर, नगर रचना और नागरिक जीवन का सांस्कृतिक महत्व अपरिमित होता है। " नागरिकों के जीवन की, उसकी प्रेरक शक्तियों और प्रवृत्तियों की मूर्तिमान अभिव्यक्ति होने के नाते नगर मानवीय कला और सौन्दर्य भावना का सर्वोत्कृष्ट स्मारक होता है। नगर-रचना के मूल में बहुत कुछ उसके निर्माताओं की सभ्यता और संस्कृति निहित रहती है" §दत्त,बी0बी0,उद्धृत-व्यास,1987,217§।

नगर एक संगठित समूह है जिसका मुख्य कार्य व्यापार व उद्योग धन्धों से सम्बन्धित है और जिसमें कृषि कार्यो का कम महत्व होता है §रिचथोफन, उद्धृत-गार्नियर एवं चैबाट, 1967,24§। वस्तुतः नगरीय अधिवास उद्योग, व्यापार, प्रशासन, सुरक्षा, शिक्षा, तकनीक, संस्कृति तथा मनोरंजन के केन्द्र होते हैं। ग्रामीण और नगरीय अधिवासों में अन्तर इस बात का होता है कि ग्रामीण अधिवास तो प्राथमिक व्यवसायों §आखेट, पशुचारण, कृषि आदि§ में संलग्न जनसंख्या की बस्तियाँ होती हैं, परन्तु नगरीय अधिवासों की जनसंख्या द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ श्रेणी के व्यवसायों §निर्माण उद्योग, परिवहन, व्यापार, उच्च सेवायें तथा प्रशासन के कार्यो§ में लगी हुई होती है अर्थात् कृष्येतर कार्यो में संलग्न जनसंख्या की अधिवासीय इकाई को नगर कहा जा सकता है। ग्रामीण और नगरीय बस्तियों के कार्यकलापों में ही न केवल अन्तर होता है अपितु भवनों के विन्यास एवं इमारतों में भी अन्तर होता है।

नगरीय अधिवास के भूगोल को नगरीय भूगोल कहते हैं। नगरीय भूगोल का सम्बन्ध मुख्य रूप से नगरीय क्षेत्रों के कार्यो से हैं जो भूमि उपयोग एवं अधिवास आदि की विशेषताओं

द्वारा प्रभावित होता है। इस प्रकार नगरीय भूगोल की रुचि मुख्यतः पृथ्वी पर मानव तथा उसके कार्यों से होती है। नगरीय भूगोल नगर के आर्थिक आधार का भी अध्ययन करता है जो नगर एवं सीमावर्ती भूमि का सम्बन्ध, परिनगर के भूमि उपयोग और नगर तथा परि-नगर के कार्यकलापों से सम्बन्ध रखता है परन्तु नगर केवल एकल प्राकृतिक या सांस्कृतिक इकाई नहीं होता है। यह मुख्यतः विभिन्न कार्यों का केन्द्र बिन्दु है। उसके भौतिक स्वरूप यथा - गृह, सड़कें, उद्यान तथा उसके सामाजिक स्वरूप, संस्थायें, रीतिरिवाज, आकार एवं नगरीय कार्य आदि के अन्तर्सम्बन्धों का भी अध्ययन इसमें किया जाता है। स्पष्टतः पृथ्वी तल या उसके किसी प्रदेश की नगरीय बस्तियों के मध्य तथा अन्दर या आन्तरिक और अन्य नगरीय एवं अनगरीय प्रदेशों से उनके सम्बन्धों में जो क्षेत्रीय विभिन्नतायें पायी जाती हैं, उनकी पूर्ण वैज्ञानिक व्याख्या नगरीय भूगोल है (सिंह, 1979, 6)। मेयर ने नगरीय भूगोल के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "यह उन प्रतिरूपों एवं सम्बन्धों की व्याख्या से सम्बन्धित है जो एक तरफ तो नगरीय क्षेत्रों के भीतर वर्तमान हैं तथा दूसरी ओर नगरीय क्षेत्रों एवं उन अनगरीय क्षेत्रों के बीच हैं जिन्हें ये नगर सेवायें प्रदान करते हैं (मेयर, 1967, 7 उदधृत-सिंह, 1979, 7)। फोले (1964, 21-78) के अनुसार नगरीय भूगोल के अध्ययन के तीन प्रमुख स्वरूप हैं -

1- सामाजिक समूह का मूल्यांकन जिससे उनकी सांस्कृतिक रूपरेखा का आभास होता है।

2- विभिन्न सामाजिक समूहों के मध्य लोगों के क्रिया कलाप एवं कार्यों का महत्व जिसे कार्यिक पक्ष कहा जा सकता है।

3- नगर का वातावरण से सम्बन्ध जिसमें मानव व उसके गृहों का विशेष स्थान है।

नगरीय अधिवासों का उद्भव एवं विकास -

जब से नगर बने, तब से लेकर आज तक उनके स्वरूप तथा कार्यों में परिवर्तन होते रहे हैं। कुछ नगर आज भी अपनी महत्वपूर्ण स्थिति तथा राजनीतिक परिस्थितियों के कारण अपने में सम्पूर्ण प्राचीन इतिहास को छिपाये हुये हैं। कुछ नगरों का पुनः पुनः

उद्धार किया गया है। इस प्रकार नगरों का विकास, उत्थान या पतन समय के बदलते हुये मूल्यों के साथ होता रहा है। नगर कब तथा कैसे बने, इसका उत्तर यद्यपि विवाद पूर्ण है तथापि यह ध्रुव सत्य है कि मानव जब गुफाओं को छोड़कर स्वनिर्मित आवासों में आया तो नगरीयकरण की दिशा में यह प्रथम पग था। नगरों का इतिहास अत्यन्त प्राचीन तथा रोचक है। प्रारम्भिक काल से ही नगर उत्थान, उत्कर्ष तथा सभ्यता के प्रतीक रहे हैं। सभ्यता और नगर इन दोनों में न केवल व्युत्पत्ति मूलक सम्बन्ध है बल्कि इन दोनों के भौगोलिक आधार भी एक से हैं। अतः यह कथन सत्य है कि नगर उतने ही प्राचीन हैं जितनी मानव सभ्यता ﴾स्मेल्स,1962,7﴿। सभ्यता का प्रारम्भ कदाचित् उस समय हुआ जब से मानव निश्चित आवास में एक स्थल पर सामूहिक जीवन निर्वाह करने लगा और अपनी आवश्यक वस्तुयें विशेषकर खाद्यान्न आवश्यकतानुसार उत्पन्न करने लगा। निश्चित है कि ऐसी स्थिति साधारणतया नदियों के बाढ़ के मैदान में उपलब्ध हो सकती थी। यही कारण है कि प्राचीन सभ्यता का विकास नदी घाटियों में हुआ। स्पष्ट है कि प्राचीन नगरों की उत्पत्ति उस समय हुई होगी जब किसी क्षेत्र विशेष में आवश्यकता से अधिक खाद्यान्नों का उत्पादन प्रारम्भ हुआ होगा क्यों कि नगर निवासियों को भी भोजन देने का भार उसी क्षेत्र को था। यातायात के साधनों के अभाव में किसी दूरस्थ क्षेत्र से खाद्यान्न तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं की उपलब्धि नहीं हो सकती थी। मानव के लिये पेय जल भी अत्यावश्यक है अतः नगर नदी तट के उस निकटतम स्थल पर विकसित हुए जहाँ से निकटवर्ती भूमि से खाद्यान्नों की उपलब्धि सुगमता पूर्वक हो सके ﴾सिंह, 1984,23-24﴿।

भारत उपमहाद्वीप में बृहद् स्तर पर नगरीय करण का विकास सिन्धु सभ्यता से प्रारम्भ होता है। सिन्धु सभ्यता विश्व की अनेक प्रारम्भिक सभ्यताओं में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। विल डूरेण्ट ने कहा है कि पूरी खुदाई के बाद यहाँ ऐसी सभ्यता के अवशेष प्राप्त हो सकेंगे जो नील घाटी की सभ्यता से अधिक प्राचीन थी। विश्व की प्राचीन सभ्यता केन्द्रों के उत्खनन से प्राप्त वस्तुओं पर भारतीय प्रभाव तथा मिश्र में आसवान बाँध की खुदाई से प्राप्त उपकरणों, वस्तुओं ने यह सिद्ध कर दिया है कि सिन्धु सभ्यता

लगभग 25000 वर्ष पुरानी है। अविनाशचन्द्र दास ने "ऋग्वैदिक कल्चर", शंकरानन्द ने "ऋग्वैदिक कल्चर ऑफ प्रि-हिस्टोरिक इण्डस" और रायबहादुर रमाप्रसाद चन्दा ने "इण्डस वैली इन द वैदिक पीरियड" में ऋग्वेद कालीन सभ्यता की तुलना सिन्धु सभ्यता के मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई से प्राप्त वस्तुओं से करके यह सिद्ध किया कि आर्यों का मूल स्थान "सप्त सिन्धु प्रदेश" (सिन्धु सभ्यता का स्थान) ही था जो प्राचीन पंजाब से लेकर काश्मीर तक का अंचल था (त्रिपाठी,1982,130)। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा क्रमशः वैदिक कालीन महेन्द्रपुर और हरियूपीया के ही विकसित रूप हैं (ऋग्वेद-6·27·5, उद्धृत-त्रिपाठी,1982,130)। हरियूपीया यव्यावती के तट पर बसी थी। स्पष्टतः मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भस्मावशेषों द्वारा सूचित होने वाली सिन्धु सभ्यता मूल आर्यों की ही सभ्यता थी।

प्राचीन नगर आकार में छोटे अवश्य ही रहे होंगे क्योंकि आसपास के कृषक अधिक नागरिकों को भोजन उपलब्ध कराने में समर्थ नहीं थे। मोहन जोदड़ो नगर का क्षेत्रफल लगभग एक वर्गमील था जब कि हड़प्पा को घेरने वाली दीवालों का घेरा 2·5 मील लम्बा बतलाया गया है। अनुमानतः इन नगरों की जनसंख्या भी 5000 से 15000 तक सीमित थी (चाइल्ड,1946,87)। इनकी आपस में दूरी भी अधिक थी। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा नगरों की दूरी में लगभग 600 किमी0 का अन्तर था। इसका भी मूल कारण उपरोक्त ही था। कृषि का अधिकांश कार्य हाथों द्वारा सम्पादित होता था। अतः नगर के एक निवासी को भोजन देने के लिये कई कृषकों को परिश्रम करना आवश्यक हो जाता था (डैविस,1967,61)।

हड़प्पा युग के बसे नगरों में सड़कों का विन्यास प्रायः आयताकार जाल "ग्रिड" जैसा होता था। जल प्रवाह के लिये नालियाँ होती थीं। सरोवरों एवं बावड़ियों का निर्माण वैज्ञानिक ढंग का था। सभवतः योजनाबद्ध रूप से नगर बसाये जाते थे। इन नगरों के गृहों के निर्माण में अधिकांशतः अच्छी और पक्की ईंटों का प्रयोग किया गया। मोहनजोदड़ो का महान स्नानागार (180 × 108 फीट) तथा हड़प्पा का महान अन्नागार (169 × 135 फीट) इन नगरों के महत्वपूर्ण निर्माण हैं। मोहनजोदड़ो के स्थल पर आधे मील से कुछ अधिक लम्बी तथा 33 फीट चौड़ी मुख्य सड़क के चिह्न मिले हैं जब

कि अन्य सड़कों की चौड़ाई 16 फीट थी। मोहन जोदड़ो नगर की सात तहें हैं। अनुमान है कि अभी तीन परतें पानी में डूबी हैं। इसका विनाश सिन्धु नदी की बाढ़ से हुआ था (पिगौट, 1950, 165), जो अपनी धारा बदलती-बदलती नगर के बीच तक पंहुच गयी थी जैसे प्राचीन हस्तिनापुर का विनाश गंगा नदी की धारा से हुआ था (त्रिपाठी, 1982, 131)। 1950-1953 ई0 की अवधि में किये गये क्षेत्र सर्वेक्षण के आधार पर ज्ञात हुआ कि सरस्वती तथा दृषद्वती नदियों के किनारे लगभग 30 छोटे बड़े नगर विकसित थे जिनमें हड़प्पा, कालीवंगन, दोवरकोट, मोहनजोदड़ो, बालाकोट, लोथल, रंगपुर आदि प्रमुख नगर थे (किर्क, 1975, 20-22)।

वैदिक साहित्य में "पुर" शब्द का उल्लेख मिलता है (ऋग्वेद, 1·53·7, 1·58·8, 1·131·4, 1·166·8, 3·15·4, 4·27·1), जिनमें से अधिकांश ऋतु सम्बन्धी भौगोलिक प्रभावों को दृष्टि में रखते हुए सुरक्षित आवास के अतिरिक्त यौद्धिक अभियानों से संत्राण प्राप्त करने के लिये आयस् अथवा पाषाणों से निर्मित किये जाते थे। ये सभी नगर शासक के आधीन होते थे। मुख्य नगरों में नैचाशाख, भजेरथ आदि का उल्लेख मिलता है (द्विवेदी, 1985, 325 व 328)।

रामायण काल में सम्पूर्ण उत्तर भारत छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था। अयोध्या कोशल राज्य की राजधानी थी और राम उसके अन्तिम प्रसिद्ध राजा थे। उनके भाइयों ने पृथक्-पृथक् राज्य स्थापित किये तथा अपनी-अपनी राजधानियाँ स्थापित कीं। भरत को कैकय प्रदेश प्राप्त हुआ और उनके बड़े पुत्र तक्षर ने गान्धार को विजित कर तक्षशिला को अपनी राजधानी बनायी। भारत के दूसरे पुत्र पुष्कर ने पुष्करवटी नगर की स्थापना की। शत्रुघ्न ने मथुरा को अपनी राजधानी चुनी। राम के पुत्र कुश ने विन्ध्याचल के पहाड़ी पर कुशस्थली नगर बसाया। लव को कोशल का उत्तरी भाग मिला और उन्होंने श्रावस्ती को अपनी राजधानी बनायी। महाभारत काल में महाभारत युद्ध के पूर्व जरासन्ध ने मगध में एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना की तथा उसकी राजधानी गिरिव्रज थी। जरासन्ध के आक्रमणों से संत्राण प्राप्ति हेतु मथुरा के शासक कृष्ण ने मथुरा छोड़कर गुजरात में

द्वारका को अपनी राजधानी बनायी (पार्जिटर, 1972, 278-282)। इस प्रकार महाकाव्य काल में नगरों की उत्पत्ति राजाओं की इच्छा पर हुआ करती थी और उनका ह्रास राजाओं तथा राज्य के ह्रास से सम्बन्धित था। पुराणकाल में नगरों का तीव्र विकास हुआ तथा अनेकों नवीन नगर स्थापित हुये। भागवतपुराण में गिरिव्रज, कुण्डिनपुर, इन्द्रप्रस्थ, वाराणसी, द्वारका, मथुरा, प्राग्ज्योतिषपुर, माहिष्मती, अयोध्या, हस्तिनापुर, मिथिला, अवन्तीपुर, कान्यकुब्ज, कौशाम्बी, चम्पापुरी, प्रतिष्ठान, भृगुकच्छ, श्रावस्ती आदि प्रमुख एवं अन्य अनेक नगरों का उल्लेख मिलता है। वैदिककाल से लेकर पौराणिक काल तक की अवधि में नगरों के विकास में भौगोलिक कारणों का प्रभाव स्पष्ट दिखलाई देता है। देश की बड़ी-बड़ी नदियों के ऊँचे किनारे या नदियों के संगम स्थल प्राचीन भारतीय नगरों के बसाव स्थान के प्रमुख आकर्षण रहे हैं क्योंकि इनसे परिवहन एवं जलपूर्ति की सुविधा प्राप्त होती थी। गंगा, यमुना, सिन्धु, सरस्वती, नर्मदा, सरयू, गोदावरी, कावेरी इत्यादि नदियों के किनारे या उनके संगम पर नगर विकसित हुये। ये सभी बसाव स्थान धर्म व संस्कृति के दृष्टिकोण से भी महत्वपूर्ण थे यथा- काशी, प्रयाग आदि।

नगरों की उत्पत्ति एवं विकास को प्रभावित करने वाले कारक -

नगरों की उत्पत्ति एवं विकास में भौगोलिक कारकों का विशेष योगदान रहता है। साथ ही ऐतिहासिक, राजनैतिक एवं आर्थिक घटनाओं तथा परिस्थितियों का भी प्रभाव पड़ता है। भातवर्ष, जिसका इतिहास अत्यन्त प्राचीन है, के कई प्रमुख नगर कई बार नष्ट होकर पुनः विकसित हुए तथा कुछ नगर भौगोलिक असुविधाओं के कारण पूर्णतः नष्ट हो गये। भारत के प्राचीनकाल के नगरों की उत्पत्ति एवं विकास पर प्रभाव डालने वाले कारकों में निम्न कारक महत्वपूर्ण हैं-

(क) भौतिक कारक -

1- भूरचना तथा उच्चावच - नगरीय केन्द्रों के निर्धारण में उच्चावचीय स्वरूप तथा भू-रचना का विशेष महत्व है। उत्तर भारत के मैदान इस दृष्टि से प्राचीन काल में नगरीय

अधिवासों के लिये अधिक उपयुक्त थे जबकि इसके विपरीत प्रायद्वीपीय भारत में उच्चावचीय एवं भूरचना का प्रभाव नगरों के अस्तित्व पर स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है। समतल धरातल या मैदान अन्य प्रकार के धरातलों की तुलना में नगरीय विकास के लिये सर्वाधिक उपयुक्त है और इसी कारण प्राचीनकाल में उत्तर भारत के मैदानों, सागर तटीय मैदानों एवं नदी घाटियों में ही नगरों का विकास हुआ।

2- जलापूर्ति एवं परिवहन - जलाशय एवं नदियाँ प्राचीन काल में तथा आधुनिक युग में भी यातायात, सुरक्षा के साधन तथा पेय जल हेतु कार्य करती हैं। नदियों के तट नगर के उद्भव एवं विकास के लिये सर्वोत्तम सुविधायें प्रदान करते थे क्योंकि नदी देश के आन्तरिक भागों में यातायात का सुविधाजनक साधन और बाह्य जगत् से सम्पर्क स्थापित करने का मार्ग होने के कारण वाणिज्य व्यवसाय को प्रोत्साहित करती थी। नदियों का धार्मिक एवं राष्ट्रीय महत्व भी था। पुरातन काल में जब भ्रमणशील आर्य अपनी सभ्यता का प्रसार कर रहे थे, भारतीय नदियों ने उनके विस्तार और प्रसार के लिये प्रशस्त पथ खोल रखे थे। भारत के प्रारम्भिक नगरों की स्थापना सम्भवतः इसी कारण सिन्धु गंगा की घाटियों में हुई। इसके अतिरिक्त शान्तिकाल में नदी द्वारा सम्पर्क जितना सरल होता है, युद्धकाल में उसे पार कर आक्रमण करना भी उतना ही कठिन होता था। स्वच्छता रखने में भी नदियाँ बड़ी सहायक होती थीं। नदियों से और भी कई स्थानीय लाभ होते हैं। इन्हीं सब कारणों से आर्य बस्तियों की स्थापना नदी तट पर की गयी (व्यास, 1987, 220)। तालिका-5.1 में भागवतपुराणकालीन प्रमुख नगर प्रदर्शित किये गये हैं जो जलापूर्ति एवं परिवहन सुविधा के कारण नदियों के किनारे विकसित हुए। प्राचीन शिल्पशास्त्रों में भी नदी के दाहिने किनारे पर नगर बसाने का विधान पाया जाता है (दत्त, बी0बी0, टाउन प्लानिंग इन ऐन्शियंट इण्डिया, उद्धृत-व्यास, 1987, 220)।

सागर तटवर्ती भागों में जलमार्गों की सुविधा के कारण द्वारका, प्रभास, भृगुकच्छ, गोकर्ण आदि नगर विकसित हुए।

3- जलवायु - जलवायु जो प्राकृतिक कारकों में प्रमुख तत्व है, का प्रभाव भी नगरों के

तालिका - 5·1

नदी तट पर स्थित प्राचीन नगर

क्रम संख्या	नगर	जनपद	नगर का आधुनिक नाम	नदी
1-	अयोध्या	कोसल	अयोध्या	सरयू, दाहिना तट
2-	अवन्ती	अवन्ती	उज्जयिनी	छिप्रा
3-	इन्द्रप्रस्थ	कुरु	दिल्ली	यमुना
4-	वाराणसी	काशी	वाराणसी	गंगा, बाँया तट
5-	कान्यकुब्ज	-	कन्नौज	गंगा, दाहिना तट
6-	कामकोष्णी	-	कुम्भकोणम्	कावेरी
7-	कुण्डिन	विदर्भ	कुण्डलपुर	वर्धा
8-	कौशाम्बी	वत्स	कोसम	यमुना
9-	गंगाद्वार	-	हरिद्वार	गंगा
10-	गिरिव्रज	मगध	राजगिर	सुमागधी
11-	चम्पा	अंग	चम्पानगर या चम्पापुरी	गंगा
12-	पद्मावतीपुरी	-	पद्म-पवाया	सिन्ध एवं पार्वती नदियों का संगम
13-	प्रतिष्ठान	-	पैठान	गोदावरी का उत्तरीतट
14-	प्राग्ज्योतिषपुर	प्राग्ज्योतिष	गौहाटी	लोहित्य
15-	मथुरा	शूरसेन	मथुरा	यमुना, दाहिना तट
16-	माहिष्मती	हैहय	महेश्वर या मण्डला	नर्मदा का दाहिना तट
17-	श्रावस्ती	-	सहेत-महेत	अचिरावती
18-	हस्तिनापुर	कुरु	हस्तिनापुर	गंगा

विकास पर देखने को मिलता है। जिन क्षेत्रों की जलवायु प्राचीनकाल में अत्यन्त शीत एवं उष्ण थी, वहाँ पर नगरों का विकास सम्भव नहीं हो सका। मनोरम पर्वत घाटी या झीलों के समीपवर्ती भागों में उत्तम जलवायु दशाओं के कारण नगर विकसित हुए।

﴾ख﴿ सांस्कृतिक कारक –

नगरों के स्थल के चयन को प्रभावित करने वाले कारकों में सुरक्षा, जलापूर्ति, धरातल का समतल होना, प्राकृतिक साधनों की प्राप्ति तथा व्यापार, वस्तु निर्माण एवं यातायात की सुविधाओं के प्रति अनुकूलता प्रमुख हैं-

1- सुरक्षा का महत्व प्राचीन काल में नगरों की स्थापना के लिये सर्वाधिक था क्योंकि अधिकांश प्राचीन नगरों का बसाव अत्यन्त सुरक्षित प्राकृतिक स्थलों पर हुआ है। दुर्ग नगर, चतुर्दिक दीवाल से घिरे नगर और ढालू पहाड़ियों पर बसे हुए नगर सुरक्षा के महत्व की कहानियाँ स्वयं कहते हैं। शत्रुओं या ऐसे अन्य हानिकारक तत्वों से बचने के लिये प्राकृतिक बाधाओं से युक्त स्थल जैसे तीव्र ढाल या जलीय रुकावटों वाले स्थल नगरीय बसाव के लिये अधिक उपयुक्त पाये जाते थे। महलों के आसपास नगरीय जनसंख्या का विकास प्रशासकीय कारक के अतिरिक्त सुरक्षा के कारण भी हुआ।

2- संगम्यता नगरीय विकास के लिये सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। प्राकृतिक या सहज संगम्यता किसी स्थान की सम्पूर्ण संगम्यता को बहुत अधिक प्रभावित करती है तथा ऐसे स्थान मार्गों के सम्भाव्य केन्द्र होने के कारण नगरीय विकास के लिये अधिक उपयुक्त होते हैं। प्राचीन काल में मैदानी क्षेत्रों में जहाँ राजमार्गों का पर्याप्त विकास हुआ था वहाँ पर नगरों का विकास हुआ जैसे-हस्तिनापुर, मथुरा आदि। साथ ही ऐसे नगरों में वाणिज्यिक या व्यापारिक क्रियायें भी अधिक मिलती हैं।

3- नगरों के बसाव में खाद्यान्नों की उपलब्धता, खनिजों की उपलब्धता तथा उद्योगों से सम्बन्धित कच्चे माल की उपलब्धता आदि भी महत्वपूर्ण हैं।

4- प्रशासनिक नीति नगरों के विकास में सहायक होती है तथा प्रशासकीय वरीयताओं एवं परिवर्तन की परिस्थितियों ने भी समय-समय पर नगरों के निर्माण में हाथ बटाया है। प्राचीन प्रशासकीय गढ़, दुर्ग , दीवाल से घिरे हुए नगर, महल तथा अन्य सुरक्षा केन्द्र इसी प्रकार की परिस्थितियों के परिणाम हैं।

नगर नियोजन -

नगर नियोजन का मुख्य ध्येय नागरिकों के कल्याण तथा उनके जीवन स्तर को ऊँचा करना है §स्टाम्प, 1950, 141§। वस्तुतः नगर नियोजन का लक्ष्य ऐसे वातावरण को प्रस्तुत करने का है जिसमें आवास, सौन्दर्य, व्यवसाय, आर्थिक कार्यो आदि सभी सुविधायें उपलब्ध हों। प्राचीनकाल से नगरों को नियोजित रूप से बसाने की आवश्यकता का अनुभव किया गया। प्राचीनकाल में तथा वर्तमान में नगर नियोजन में नगर आयोजना, नगर नियोजन प्रतिरूप, नगरों का पुनर्निर्माण, परिवहन आयोजन, मनोरंजन एवं क्रीड़ांगन, उपवन §पार्क§, शिक्षण संस्थायें, आवासीय नियोजन, जलापूर्ति, कूड़ाकर्कट एवं मलमूत्र विसर्जन, औद्योगिक, व्यापारिक व प्रशासनिक केन्द्रों का नियोजन आदि तथ्य सम्मिलित किये जाते हैं। भागवतपुराण के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि नगर सुनियोजित ढंग से बसाये जाते थे। नगर नियोजक नगर नियोजन में दक्ष थे जिन्हें त्वष्ट्रा §10·69·7§ कहा जाता था। नगर की योजना बनाने तथा नियोजित ढ़ंग से नगर निर्माण में विश्वकर्मा को कुशल नगर नियोजक कहा जा सकता है §8·15·15, 10·50·51, 10·69·7§। तत्कालीन भारत में नगर नियोजन निम्न तथ्यों को ध्यान में रखकर किया जाता था-

1- <u>नगर नियोजन प्रतिरूप</u> - नगर नियोजन प्रतिरूप में सर्व प्राचीन एवं बहुचर्चित नियोजन का प्रतिरूप चौकपट्टी §चौकोर बोर्ड§ अर्थात् दण्डक नियोजन है §चित्र-5·1§। इसमें दो सीधी सड़कें एक दूसरे को समकोण पर काटती हैं जिसमें परिवहन की सुगमता होती है तथा भवन आसानी से चौकोर क्षेत्र में निर्मित हो जाते हैं। अन्य प्रतिरूप सर्वतोभद्र, नन्द्यावर्त, पद्मक, स्वस्तिक, प्रस्तर, कार्मुक, चतुर्मुख आदि हैं §दुबे, 1967, 135-136, दत्त, 1977, 206-239§। पौराणिककालीन द्वारका एवं अयोध्या चौकपट्टी प्रतिरूप अर्थात् दण्डक

नियोजन एवं मथुरा कार्मुक प्रतिरूप में बसा था §दुबे,1967,143 व 145§।

2- <u>परिवहन आयोजन</u> - पुराणकालीन भारत में परिवहन का महत्व मनुष्यों एवं वस्तुओं के आवागमन के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण था। तत्कालीन नगर नियोजकों का विश्वास था कि सड़कों में भीड़भाड़ एवं दुर्घटनाओं में कमी चौड़ी सड़कों द्वारा ही सम्भव है जिसके फलस्वरूप नगरों की सड़कों को चौड़ी करने की योजना बनी अतः मुख्य एवं गौण सड़कों का निर्माण हुआ। अत्याधिक चौड़ी सड़क को "प्रपथ" §8·15·15§, बत्तीस हस्त चौड़े मार्गों को राजमार्ग §1·11·24§, या राजपथ §10·42·1§, चौड़े राष्ट्रीय राजमार्गों को महामार्ग §1·11·14§, 10 फीट से 32 फीट चौड़े मार्गों को रथ्या §8·15·16§, जिसमें रथ आसानी से जा सके तथा संकरे मार्गों को वीथी §10·50·51§ या वीथि §10·69·6§ कहा जाता था §उपाध्याय, मू0सं0, भाग द्वितीय,231-233, प्रसाद, 1977,112§। नगर के अन्तर्भाग में स्थित वे मार्ग जिनके दोनों ओर बाजार लगता था, "अट्टमार्ग" §4·9·57, उद्धृत, शर्मा,1984,217§, "पणमार्ग" §10·41·22§ या "वणिक्पथ" §10·42·13§अभिहित किये जाते थे। यातायात की सुगमता तथा दुर्घटनाओं से बचने के लिये समुचित नियम थे। यातायात संचरण नियमों के अन्तर्गत ही वीथी, रथ्या, राजमार्ग एवं महामार्ग का सुविभाजन तथा निर्माण किया जाता था। राजमार्गों में चत्वर, चतुष्पथ, श्रृंगाटक, तथा वेदी का भी विभाजन एवं निर्माण होता था जिससे वाहनों के आवागमन में सुविधा हो एवं दुर्घटनाओं से बचा जा सके। वह चौकोर क्षेत्र जहाँ कई सड़कें आपस में मिलती थीं "चत्वर" तथा जहाँ पर चार सड़कें मिलें उसे "चतुष्पथ" कहा जाता था §आप्टे,1981, 369-370§। क्रूसान्तराल या क्रासिंग को श्रृंगाटक §प्रसाद,1977,107§ तथा श्रृंगाटकों में निर्मित चबूतरे को "वेदी" कहा जाता था। श्रृंगाटकों एवं वेदियों का निर्माण बड़े ही कलापूर्ण तथा विशिष्ट प्रकार से किये जाते थे।

सड़कों का उपरोक्त विवेचन यह स्पष्ट करता है कि नगर नियोजक मार्ग के महत्व से भली भाँति परिचित थे। मार्गों की स्वच्छता पर विशेष ध्यान दिया जाता था तथा उन्हें सुगन्धित जल से धुला जाता था §1·11·14,4·9·57 ,10·53·8,59·71·32§जिससे

स्पष्ट होता है कि तत्कालीन भारत में भी नगरपालिका के समान कोई संस्था थी जो नगर की सफाई एवं स्वच्छता का प्रबन्ध करती थी।

3- <u>नगर सुरक्षा नियोजन</u> - नगर निर्माण प्रायः राजनीतिक सुरक्षा के दृष्टिकोण से किया जाता था। उस युग में शत्रुओं के आक्रमण का भय हमेशा बना रहता था तथा निरन्तर युद्ध होते रहते थे फलतः सुरक्षात्मक दृष्टिकोण से परिखा, प्राकार, गोपुर आदि का निर्माण नगरीय नियोजन के प्रमुख अंग माने जाते थे। सुरक्षा हेतु चतुर्दिक खोदी गयी खाई को "परिखा" §8·15·14§ कहते थे। परिखा में जल भरा रहता था। परिखा इतनी गहरी एवं चौड़ी होती थी कि आक्रमण के समय शत्रु के लिये यह पर्याप्त बाधक हो सके। नगर के चतुर्दिक जो परकोटा निर्मित किया जाता था उसे "प्राकार" §8·15·14§ कहा जाता था। प्राकार पर्याप्त ऊँचे होते थे। प्राकारों में दृढ़ कपाटों वाले द्वार होते थे §10·41·20§। नगर में प्रवेश के लिये निर्मित मुख्य द्वार या सिंह द्वार को "गोपुर" §4·9·56, 8·15·15§ कहा जाता था। गोपुर तोरणयुक्त §मेहरावदार§ होते थे §10·41·20§। द्वारों के शिखर या बुर्ज को "अट्टाल" §8·15·14, 10·63·5§ कहा जाता था। प्राचीन काल में प्रत्येक द्वार पर ऐसे बुर्ज सुरक्षा तथा पर्यवेक्षण के लिये बने होते थे जिसकी चोटी पर सैनिक नियुक्त रहते थे, जिनका कार्य आक्रामक शत्रु को देखना तथा उसका संहार करना होता था।

4- <u>प्रशासनिक, व्यापारिक एवं औद्योगिक क्षेत्रों का नियोजन</u> - पुराणकालीन भारत के प्रायः सभी प्रमुख बड़े नगरों का विकास शासकों की राजधानी के रूप में होता था। अतः इन नगरों में प्रशासनिक कार्यों का महत्वपूर्ण स्थान होता था। सभा §1·15·8§ या सभालय §10·66·41§, प्रासाद §10·41·29, 10·76·10§, भवन §3·1·10§ या राजभवन §9·10·46§ जहाँ राजकीय कार्यों से सम्बन्धित निर्णय शासक मन्त्रियों की सलाह से करते थे, नगर के मध्य भाग में स्थित होते थे। प्रशासनिक कार्यों से सम्बन्धित अन्य इमारतें भी राजभवन के समीप स्थित होती थीं, यथा-कोषशाला, हस्तिशाला, अश्वशाला, रथशाला, अन्नशाला §10·66·41§, कारागार §10·1·66§ आदि।

नगर के अन्तःभाग में ही एक विशिष्ट क्षेत्र में आपण §10·69·6§ या विपण

§4·28·56§ होते थे। ऐसे मार्ग जिसके दोनों ओर बाजार लगते थे, वणिक्पथ, अट्टमार्ग या पणमार्ग कहे जाते थे, जिनका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है। इस आपण क्षेत्र को व्यापारिक क्षेत्र कहा जा सकता है।

भागवतपुराण में विविध व्यवसायों या उद्योग धन्धों के सन्दर्भ मिलते हैं। व्यवसायियों को तत्कालीन समाज में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। लघु उद्योग धन्धे प्रायः तत्कालीन नगरों में अधिक विकसित होते थे। इन उद्योग धन्धों में संलग्न दक्ष श्रमिकों को "शिल्पी" कहा जाता था। शिल्पियों के संघ को "श्रेणी" कहा जाता था। तत्कालीन नगरों में श्रेणी भवनों §10·41·21§ का उल्लेख मिलता है। श्रेणी भवनों में ही शिल्पियों के कारखाने एवं उनके निवास स्थित होते थे। अतः इनको वर्तमान परिप्रेक्ष्य में औद्योगिक क्षेत्र कह सकते हैं। यह क्षेत्र भी सम्भवतः महत्व एवं सुरक्षा की दृष्टि से नगर के अन्तःभाग में तथा राजमार्गों के किनारे §11·9·13§ स्थित होते थे।

5- <u>आवासीय क्षेत्रों का नियोजन</u> - अन्य क्षेत्रों की तुलना में नगर का बहुत बड़ा भाग आवासीय क्षेत्रों के अन्तर्गत होता है। साधारणतः शासक का आवास प्रासाद §10·69·5§, राजप्रासाद या राजभवन §9·10·46§ के अन्तर्गत ही होता था जो नगर के मध्य भाग में स्थित होता था §10·50·54§। राजप्रासाद से संलग्न या समीप ही अन्तःपुर होते थे §3·3·6, 4·8·63, 10·69·7-8§। आवासीय क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार के भवनों का निर्माण सुनियोजित ढ़ंग से किया जाता था। प्रासाद सुनियोजित ढ़ंग के खुले भवन होते थे जिनमें सभी आवश्यक सुविधायें सुलभ होती थीं। तत्कालीन प्रासादों के वर्णन §10·69·9-12§ में बहुत ही सुविकसित एवं समुन्नत स्थापत्य कला के दर्शन होते हैं। स्पष्टतः स्थापत्य कला उस समय तक विज्ञान के स्तर तक विकसित हो चुकी थी §10·50·51§। प्रासाद कई मंजिलों वाले भवन होते थे। हर्म्य §1·11·24§, अट्ट §10·66·41§ या अट्टालक §10·50·22§ भी कई मंजिले वाले इमारत को कहा जाता था । मानसार के अनुसार हर्म्य सात मंजिली इमारत को कहा जाता था §उपाध्याय,1964, द्वितीय भाग, 54-55§।

प्रासाद या राजप्रासाद नगर का केन्द्र बिन्दु होता था। अतः नगर के सभी प्रमुख राजमार्ग यहीं से प्रारम्भ होते थे और बाहर नगर द्वारों पर समाप्त होते थे। नगर का विकास सदैव नगर के अन्दर से होता था किन्तु समय-समय पर उसके बाहूय विस्तार के लिये भी सम्भावना रखी जाती थी। प्रासादों की सुरक्षा का भी ध्यान रखा जाता था। अतः राजप्रासादों में सर्वप्रमुख सैनिकों का स्थान होता था §10·80·16§। सामान्यतः राजप्रासाद एवं अन्तःपुर के चतुर्दिक धनी लोगों के भवन, उसके चारों ओर मध्यम तथा साधारण वर्ग और बाहूय भाग में निम्न वर्ग के लोगों के आवास होते थे §10·50·54§। इनके अतिरिक्त आगार §4·9·56§, गृह §10·50·53§, आलय §9·6·18§, निकेत §11·25·25§, सद्मन §11·27·52§, सदन §11·25·25§, धिषण §9·10·17§ आदि भी आवासीय इमारतें होती थीं। इन इमारतों से सम्बन्धित अन्तर्गृह §10·60·3§, गुप्त गृह §10·62·29§, कन्यकागार §10·62·30§, विश्राम §3·23·21§, या शयनागार §9·14·32§, महानस अर्थात् रसोईघर §10·55·5§, स्नानागार §10·69·27§, संवेश अर्थात् बैठक, प्रांगण, अजिर अर्थात् चौक §3·23·21§ आदि भी होते थे।

6- <u>सांस्कृतिक एवं अन्य सेवा केन्द्रों का नियोजन</u> - सांस्कृतिक संस्थाओं में धार्मिक, सामाजिक एवं मनोरंजन की संस्थायें सम्मिलित की जा सकती हैं। धार्मिक नगरों में इनका विशेष महत्व होता है। तत्कालीन भारत में प्रायः सभी नगरों में धार्मिक केन्द्र अथवा क्षेत्र होते थे। पूजा के निमित्त मन्दिर §3·1·23§, सुरालय §10·69·6§, देवगृह §9·11·27§, वास्तोष्पतिगृह §10·50·54§ आदि का निर्माण किया जाता था। नगरीय आकारिकी में इन मन्दिरों का महत्वपूर्ण स्थान था क्यों कि यही आर्थिक, राजनैतिक एवं धार्मिक शक्ति के केन्द्र थे। बौद्ध एवं जैन मन्दिरों को चैत्य §9·11·27§ कहा जाता था, किन्तु इसका अर्थ स्मारक, यज्ञ मण्डप, धार्मिक पूजा का स्थान, वेदी या मूर्ति स्थल से भी लिया जा सकता है §आप्टे, 1981, 387§। इनके अतिरिक्त क्रीड़ायतन §4·25·16§, रंग अर्थात् नाट्य शाला या रंगमंच §10·83·28§, विहार स्थल §3·23·21§, द्यूत सदन §11·25·25§, सूतिकागृह अर्थात् मातृ शिशु कल्याण केन्द्र §10·3·12§, विटंक अर्थात् चिड़ियाघर §9·10·17§ आदि का भी उल्लेख मिलता है जो आवासीय क्षेत्रों के मध्य स्थापित किये जाते थे।

7- <u>उपवन एवं खुले क्षेत्रों का नियोजन</u> - नगर के व्यस्त जीवन एवं भीड़ भाड़ से ऊबी जनता को उपवनों एवं खुले स्थानों में ही शान्ति मिलती है। ये क्षेत्र नगर के फेफड़ों के समान होते हैं जहाँ उनको जीवन की श्वास मिलती है। अतः नगर नियोजकों को उपवन की ओर विशेष ध्यान देना पड़ता है। तत्कालीन भारतीय नगर नियोजक उपवनों के महत्व से भली भाँति परिचित थे। अतः वे नगरों के मध्य एवं बाह्य भाग में आराम §1·11·12, 4·28·56§, विहार अर्थात् प्रमोद वन §3·23·21§, निष्कुट अर्थात् गृह से लगा हुआ बगीचा §10·41·21§, उद्यान, उपवन §1·11·12, 4·16·25,9·18·7, 10·41·8,20, 10·50·52§, सरोवर §1·11·12, 9·18·7-8§ आदि के निर्माण पर विशेष ध्यान देते थे।

प्रमुख नगर एवं उनका नियोजन -

द्वारका -

तत्कालीन भारत का यह महत्वपूर्ण नगर था। इसे द्वारवती §1·12·36§, कुश स्थली §1·10·27§, आनर्तपुरी§1·14·25§, यदुपुरी §1·14·22§ आदि नामों से भी जाना जाता था। कुश स्थली को पूर्व शासक रेवत ने समुद्र के अन्दर बसाया था §9·3·27-28§। समुद्र के अन्दर स्थित इसी प्रचीन कुशस्थली के स्थान पर ही श्रीकृष्ण ने अपनी राजधानी द्वारका बसायी थी §10·50·50, तु0वि0पु0-4·1·91§। समुद्र के अन्दर नगर बसाने का यह उल्लेख स्पष्ट करता है कि समुद्र से भूमि उद्धरित §रिक्लेम§ करना प्राचीन भारतीयों को ज्ञात था और द्वारका को उद्धरित भूमि पर ही बसाया गया था §राव, 1985, 36§। नगर का नियोजन व नगर निर्माण विश्वकर्मा द्वारा किया गया था। §10·50·51,10·69·7§। नगर की लम्बाई चौड़ाई बारह योजन §96 मील§ थी। वास्तु शास्त्र के अभियन्ताओं ने वास्तु विज्ञान के आधार पर नगर के मार्गो को महामार्ग, राजमार्ग, रथ्या, पथ, वीथी , चत्वर आदि में सुविभक्त कर निर्मित किया था §1·11·14,10·50·51, 10·69·6§। हरिवंश-पुराण §2·100·28§ के अनुसार द्वारका अष्ट महारथ्या व षोड्श चत्वरों से अनुरक्षित थी, जिससे स्पष्ट होता है कि दण्डक नियोजन पर इसको बसाया गया था §दुबे,1967,145,

चित्र-5·1§। मार्गों व चत्वरों की प्रतिदिन सफाई की जाती थी तथा सुगन्धित जल से धुला जाता था §1·11·14§।

नगर नियोजन में आपणक §1·11·14§, सभाभवन, शाला §कोशशाला, हस्तिशाला, अश्वशाला, रथशाला, अन्नशाला आदि§, सुरालय §10·69·6§, प्रासाद §10·69·5§, अट्टाल §10·76·10§, गृह §10·50·53§, विहार §10·76·10§, उद्यान, उपवन, आराम, सरोवर §1·11·12, 10·69·3-4§, कोष्ठ अर्थात् अन्न के गोदाम §10·50·53§ आदि के निर्माण पर विशेष ध्यान रखा गया था। द्वारका में नवलक्ष §नौ लाख§ प्रासाद तथा अन्तःपुर में स्त्रियों के निवास के लिये षोड्श सहस्र सद्म निर्मित किये गये थे §10·69·5 व 8§। गृह या भवन उच्च शिखर युक्त थे जो स्वर्ण कलशों से सुसज्जित थे §10·50·52-53§। नगर चाहार दीवारी से आवृत्त था तथा उसमें बुर्ज युक्त गोपुर निर्मित किये गये थे §10·50·52,10·76·10§। नगर में चारों वर्णो के लोग निवास करते थे §10·50·54§। कृष्ण के शासनोपरान्त यह नगर समुद्र में डूब गया था §10·30·47, 11·7·3,11·31·23§।

द्वारवती या द्वारका का प्रत्याभिज्ञान वर्तमान द्वारका से किया गया है जो सौराष्ट्र के पश्चिमी तट पर कच्छ की खाड़ी में अवस्थित है। पुरातात्विक उत्खनन एवं अन्वेषण से इसकी प्रमाणिकता सिद्ध हो चुकी है §राव,1985,35-41 तथा 128-131§।

मथुरा -

मथुरा भी तत्कालीन भारत की अत्यन्त प्रसिद्ध, महत्वपूर्ण तथा व्यापारिक नगरी थी। यह शूरसेन जनपद की राजधानी थी §1·15·39§। शूरसेन §10·1·27§, उग्रसेन, कंस §10·1·69§, व वज्र §1·15·39§ यहाँ के शासक रहे। सर्वप्रथम रामायण काल में मधु नाम दैत्य ने इसे मधुपुरी §रामा0-7·62·16-18, 7·70·5§ या मधुरा §रामा0-7·70·16§ नाम से बसाया था, बाद में उसका पुत्र लवण यहाँ का शासक हुआ §रामा0-7·70·12§। तत्पश्चात् उसी स्थान पर राम के भाई शत्रुघ्न ने लवण राक्षस को मारकर मथुरापुरी बसायी थी §9·11·14§। इस प्रकार पूर्वकालीन मधुरा का नाम परिवर्तन ही

प्राचीन भारत में ग्राम एवं नगर नियोजन

दण्डक
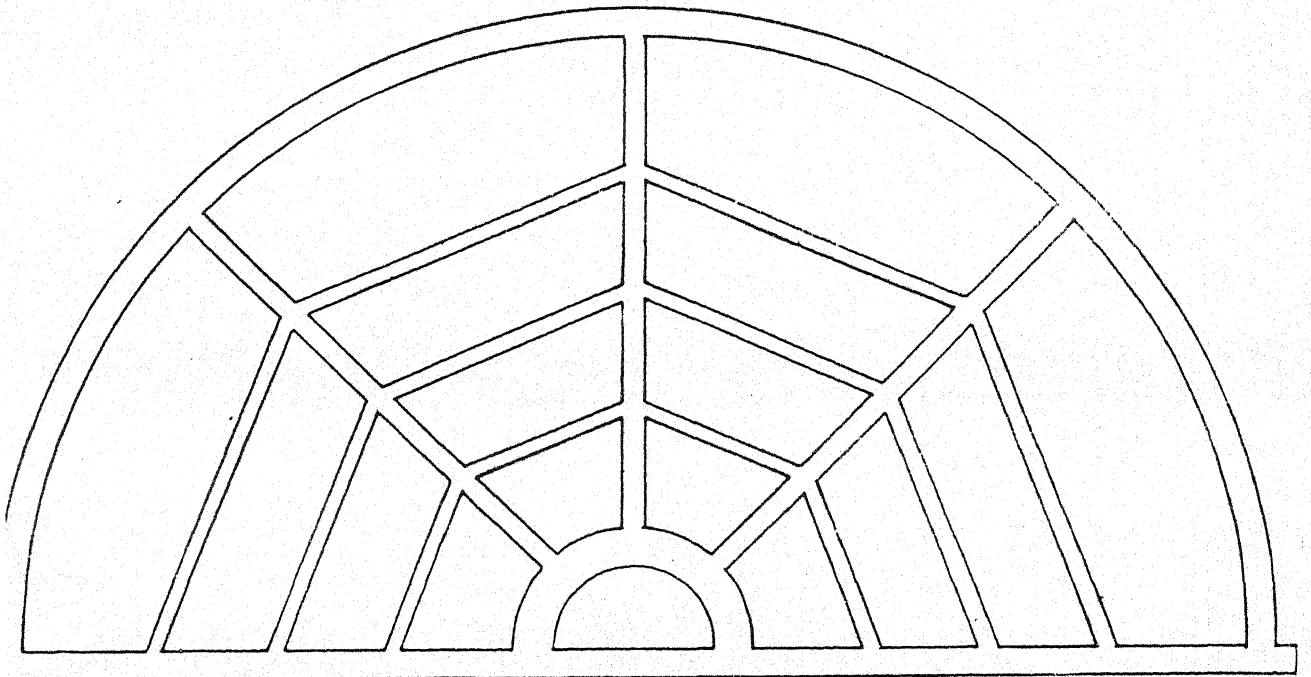
कार्मुक

(स्रोत - बी० बी० दत्त)

(चित्र-5.1)

मथुरा है।

यह नगर यमुना के तट पर अर्द्ध चन्द्राकार रूप §रामा0-7·70·11§ अर्थात् कार्मुक प्रतिरूप §चित्र-5·1§ पर बसा था । नगर नियोजित ढंग से बसाया गया था। नगर की सुरक्षा हेतु चारों ओर दुर्गम खाई थी तथा ताम्र एवं पीतल निर्मित प्राकार था। प्राकार में ऊँचे-ऊँचे गोपुर निर्मित थे, उनमें स्वर्ण के विशाल कपाट लगे थे और स्वर्ण के ही तोरण बने हुए थे। स्थान-स्थान पर सुन्दर उपवन एवं रमणीय उद्यान स्थित थे §10·41·20§। प्रासाद §10·41·29§, हर्म्य एवं निष्कुट, श्रेणी भवन, सभाभवन, साधारण लोगों के निवासगृह §10·41·21,24§, शाला §10·42·21§ रंग §10·42·33§ आदि का निर्माण नियोजन के अनुसार किया गया था। नगर में चारों वर्णों के लोग निवास करते थे §10·41·30§। मार्गों को रथ्या, पणमार्ग एवं अन्य मार्गों में विभक्त कर स्थान-स्थान पर स्वर्ण भूषित श्रृंगाटकों एवं चत्वरों का निर्माण किया गया था। श्रृंगाटकों में रत्न जटित वेदियाँ बनी हुई थीं। मार्गों की प्रतिदिन सफाई की जाती थी तथा जल का छिड़काव किया जाता था §10·41·21-22§। मथुरा में पण मार्ग §10·41·22§ या वणिक्पथ §10·42·13§ का उल्लेख स्पष्ट करता है कि तत्कालीन भारत में यह महत्वपूर्ण व्यापारिक नगर था जो राजमार्गों द्वारा हस्तिनापुर, इन्द्रप्रस्थ, अवन्ती, कुण्डिन, मिथिला, अयोध्या, द्वारका, प्राग्ज्योतिष, गिरिव्रज, वाराणसी आदि से सम्बन्धित था।

प्राचीन और वर्तमान मथुरा की स्थिति एक समान नहीं है क्यों कि पूर्व में यमुना के कटाव के कारण नगर का विस्तार उत्तर तथा पश्चिम की ओर हुआ है §कनिंघम,1971,253§। प्राचीन मथुरा यमुना के दाहिने तट पर इन्द्रप्रस्थ और कौशाम्बी नगरों के अर्द्धांश पर स्थित थी।

इन्द्रप्रस्थ -

इस नगर को पाण्डवों ने बसाया था तथा यह प्रथम पाण्डव युधिष्ठिर की राजधानी थी। इस अत्यन्त अद्भुत एवं विचित्र नगर का निर्माण विश्वकर्मा ने किया था। इस नगर का सभाभवन तत्कालीन भारत का अत्यन्त उन्नत स्थापत्य कला का प्रतीक था, जिसमें दुर्योधन

को जल के स्थान पर स्थल का तथा स्थल के स्थान पर जल होने का भ्रम हो गया था §10·58·24-27§। खाण्डव वन क्षेत्र में स्थित होने के कारण इसे खाण्डवप्रस्थ §10·73·32§ भी कहा जाता था। इन्द्रप्रस्थ का प्रत्याभिज्ञान यमुना तट पर स्थित आधुनिक दिल्ली से ही किया गया है जिसे भारत की राजधानी होने का गौरव प्राप्त है।

हस्तिनापुर -

यह कौरवों के निवास स्थान कुरू जनपद की राजधानी थी। इसे हस्तिनापुर §1·10·7§, गजसाहृवय§1·8·45§, गजाहृवय §1·9·48§, कौरवेन्द्रपुर §1·10·20§ आदि भी कहा जाता था। ब्रहत्क्षत्र के पुत्र हस्ती ने इसे हस्तिनापुर के नाम से बसाया था §9·21·20§। यह गंगा तट पर अवस्थित था §10·68·41-42, 54§। भागवतपुराण §10·68·41-42,54§ से प्रतीत होता है कि हस्तिनापुर को गंगा की धारा से भय कौरवों के समय से ही उत्पन्न हो गया था। कौरवों के ही वंशज नेमिचन्द्र के शासन काल में हस्तिनापुर गंगा नदी के तीव्र अपरदन द्वारा विनष्ट हो गया, जिससे नेमिचन्द्र को कौशाम्बी में जाकर बसना पड़ा था §9·22·39-40§।

प्राचीन हस्तिनापुर वर्तमान में इसी नाम से मेरठ से 22 मील उत्तर पूर्व में गंगा की प्राचीन धारा के किनारे बसा हुआ है। कनिंघम §1971,702§ ने इसे मवाना तहसील के मेराट नामक एक प्राचीन गाँव से समीकृत किया है। प्राचीन नगर गंगा तट पर अवस्थित था किन्तु अब नदी यहाँ से कई मील दूर हट गयी है।

वाराणसी -

पौराणिक भारत के तीर्थों में काशी का विशिष्ट स्थान था §12·13·17§। इसे काशिपुरी भी कहा जाता था §10·37·20§। यह गंगा नदी के बायें तट पर अवस्थित था। कूर्मपुराण §पूर्वभाग, 30·63, उद्घृत-लाहा,1972,160§ के अनुसार यह वरणा एवं असी नदियों के मध्य स्थित था। इन दोनों के संयुक्त नाम के आधार पर ही, जो इस नगर के उत्तर एवं दक्षिण में बहती हैं, इसका नाम वाराणसी पड़ा। पतंजलि काल में वाराणसी

गंगा तट पर लम्बाकार रूप में बसी थी और व्यापारी वर्ग में इसका नाम जित्वरी प्रसिद्ध था §अग्निहोत्री,1963,124§। बुद्ध काल में यह अत्यन्त समृद्ध एवं धनी बसी नगरी थी जो उद्योग एवं व्यापार का प्रसिद्ध केन्द्र थी तथा श्रावस्ती एवं तक्षशिला से इसके व्यापारिक सम्बन्ध थे §लाहा, 1972,161§। भागवतपुराणकाल में भी यह अत्यन्त समृद्ध, विशाल एवं व्यापारिक नगरी थी। सुरक्षा के लिये नगरी में चाहारदीवारी या प्राकार निर्मित था जिसमें बुर्ज युक्त गोपुर बने थे। नगरी बहुमंजिली इमारतों §साट्ट§, सभालय, कोषशाला, हस्तिशाला, अश्वशाला, रथशाला एवं आपण से सुसज्जित थी §10·66·41§। इस नगरी को श्रीकृष्ण ने जलाकर भस्म कर दिया था §10·66·42,12·12·40§।

गिरिव्रज -

गिरिव्रज मगध की राजधानी थी जिसका शासक ब्रहद्रथसुत जरासन्ध था §10·72·16, 41,48§। इसके अन्य नाम राजगृह, वसुमती, बार्हद्रथपुरी, मगधपुर, बिम्बिसारपुरी, कुशाग्रपुर आदि भी प्रचलित हुए। "गिरिव्रज" का अर्थ "पहाड़ियों से घिरा हुआ" होता है। वस्तुतः यह पाँच पहाड़ियों से घिरा हुआ गिरिद्रोणी में स्थित था §10·73·1§। ये पाँच पहाड़ियाँ विपुल, वराह, वृषभ, ऋषिगिरि तथा चैत्यक हैं §महा0,सभापर्व-21·2§, जिन्हें वर्तमान में वैभर गिरि, विपुलगिरि, रत्नागिरि, उदयगिरि तथा सोनगिरि कहा जाता है। प्राचीन राजगृह के किनारे तपोदा नदी बहती थी। बौद्धकाल में यह एक महत्वपूर्ण व्यापारिक एवं राजनैतिक केन्द्र था और उत्तर भारत के सभी भागों के व्यापारी व्यापार एवं वाणिज्य कर्म के लिये इस नगर में एकत्र होते थे §लाहा, 1972,76§। भागवतपुराणकाल में इस नगर में एक विशाल कारागार भी था जहाँ 20800 राजा बन्दी थे §10·73·1§। यह मथुरा §10·50·2-4§, इन्द्रप्रस्थ §10·72·16§, कुण्डिन §10·53·17§ तथा द्वारका आदि व्यापारिक नगरों से राजमार्गो द्वारा अन्तर्सम्बन्धित था। इस नगर का प्रत्याभिज्ञान बिहार प्रान्त में स्थित आधुनिक राजगिरि से किया गया है §अवस्थी,1982,32§।

प्राग्ज्योतिषपुर -

यह प्राग्ज्योतिष §कामरूप या असम§ की राजधानी थी जिसका शासक भौम था

§10·59·1-2§। कालिकापुराण के अनुसार ब्रह्मा ने प्राचीनकाल में यहाँ स्थित होकर नक्षत्रों की सृष्टिकी थी,इसीलिये यह प्राग् §पूर्व§ + ज्योतिष §नक्षत्र§ अर्थात् प्राग्ज्योतिष कहलाया §माथुर,1969,590§। इस नगर के नियोजन में सुरक्षा को सर्वप्रमुख स्थान दिया गया था। नगर प्रथमतः चतुर्दिक पर्वतों से आवृत्त था, तत्पश्चात् लोहे के द्वारा किलेबन्दी की गयी थी, उपरान्त क्रमशः जल से भरी खाई एवं अग्नि या विद्युत की चाहारदीवारी थी और उसके अन्दर गैस बन्द करके रखा गया था, उससे भी अन्दर सुरक्षा हेतु दस हजार घोर एवं सुदृढ़ फन्दे बिछाये गये थे। नगर प्राकार से युक्त था तथा उसमें प्रहार के लिये बड़ी-बड़ी मशीनें लगायी गयी थीं §10·59·2-5§। प्राग्ज्योतिषपुर को वर्तमान् गौहाटी से ही समीकृत किया गया है जो प्राचीन कामरूप की राजधानी थी §लाहा,1972,424,डे,1979,158§।

कुण्डिनपुर -

यह विदर्भ की राजधानी थी §10·53·15-16§, जहाँ के शासक भीष्मक थे। नगर के मार्ग राजमार्ग, रथ्या, चतुष्पथ आदि में विभक्त थे जो प्रतिदिन सम्मार्जित एवं अभिसिंचित किये जाते थे §10·53·8§। राजमार्गों द्वारा यह नगर द्वारका §10·53·6§, चेदिनगर §10·53·14§, शाल्वपुर, गिरिव्रज §10·53·17§, भोजकट §10·54·52§ आदि नगरों से सम्बन्धित था। यह वर्धा नदी के तट पर अवस्थित था। इसका प्रत्याभिज्ञान वर्तमान कुण्डलपुर से किया गया है जो आर्वी §महाराष्ट्र§ से छः मील दूर है। कुण्डलपुर के पास एक टीले पर अम्बिका देवी का प्रचीन मन्दिर अवस्थित है जो सम्भवतः उसी प्राचीन अम्बिका देवी के मन्दिर पर स्थित है जहाँ वैदर्भी §विदर्भ राजकुमारी§ अर्चना के लिये नगर के बाहर गयी थीं §10·53·44 तथा माथुर,1969,195§।

उपरोक्त नगरों के अतिरिक्त वैशाली §9·2·3§, शाबस्तीपुरी §9·6·21§, चम्पापुरी §9·8·1§, अवन्तीपुर §10·45·31§, भोजकट §10·45·52§, मिथिला §10·57·24§, कौशाम्बी §9·22·40§, प्रतिष्ठान §9·1·42§, कान्यकुब्ज §6·1·21§, पुरंजनपुरी §4·28·2§, भृगुकच्छ §8·18·2§, अयोध्या §9·8·19§,माहिष्मती §10·79·

भागवतपुराणकालीन भारत
नगरीय केन्द्र
वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय सीमायें
किलोमीटर
100 0 100 200 300 400 500
हस्तिनापुर
गंगाद्वार
इन्द्रप्रस्थ
पुरंजनपुरी
मथुरा
श्रावस्ती
कान्यकुब्ज
अयोध्या
मिथिला
प्रतिष्ठान
वैशाली
कौशाम्बी
वाराणसी
गिरिव्रज
चम्पा
प्राग्ज्योतिष
अवन्ती
द्वारिका
भृगुकच्छ
नर्मदा नदी
माहिष्मती
प्रभास
ताप्ती नदी
कुंडिनपुर
शूर्पारक
महानदी
कृष्णा नदी
गोकर्ण
काञ्ची
कावेरी नदी
दक्षिण मथुरा
कन्यादेवी
द क्षि ण सा ग र (क्षा र सा ग र)
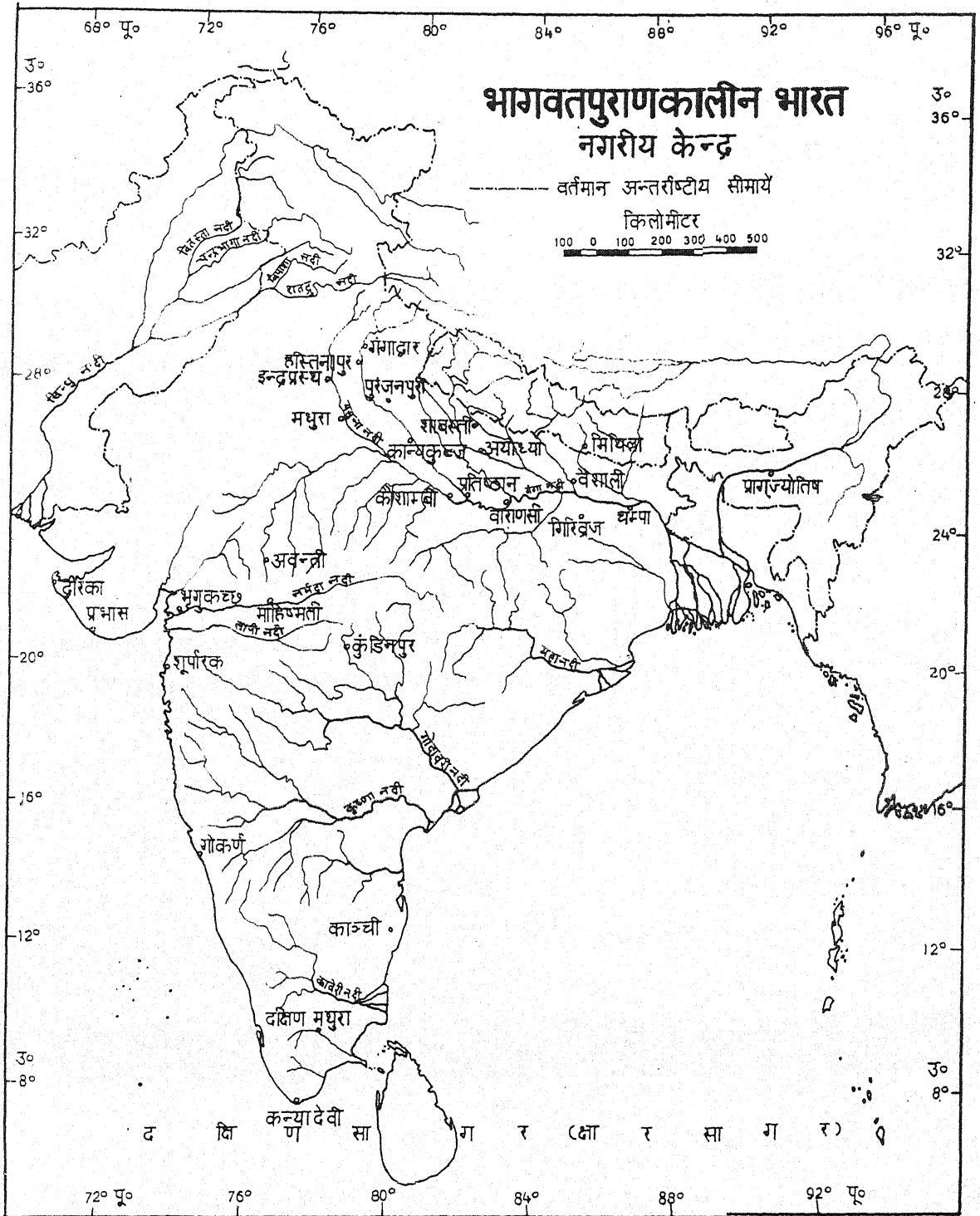
(चित्र-5.2)

21), दक्षिण मथुरा (10·79·15), कामकोष्णीपुरी, कांची (10·79·14), गंगाद्वार (6·2·39, चित्र-5·2), शोणितपुर (10·62·4), बर्हिष्मती (3·22·29), अवभृति (12·1·29), पद्मावतीपुरी (12·1·37) आदि का भी उल्लेख है जिनके नियोजन के सम्बन्ध में विस्तृत विवरण उपलब्ध नहीं है।

भागवतपुराणकालीन उपरोक्त नगरों को निम्न प्रकार से वर्गीकृत कर प्रस्तुत किया जा सकता है -

1- राजधानी नगर - मथुरा, द्वारका, इन्द्रप्रस्थ, हस्तिनापुर, वाराणसी, गिरिव्रज, मिथिला आदि।
2- व्यापारिक नगर - मथुरा, अयोध्या, माहिष्मती, वाराणसी आदि।
3- शैक्षिक एवं धार्मिक केन्द्र - वाराणसी, अवन्तीपुर, दक्षिणमथुरा, कांची, प्रभास आदि।
4- नदी तट के नगर - मथुरा, अयोध्या, माहिष्मती, वाराणसी आदि।
5- मार्ग केन्द्र - हस्तिनापुर।
6- दुर्ग नगर - सभी राजधानी नगर प्रमुखतः दुर्ग नगर थे।

दुर्ग सन्निवेश -

प्राचीन भारत के अधिकांश नगरों की प्रमुख विशेषता किलेबन्दी थी। उस समय भारत छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था। फलतः विभिन्न शासक अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिये युद्धों में संलग्न रहते थे, जिसके कारण नागरिकों का जीवन असुरक्षित था। इसके अतिरिक्त विदेशी आक्रमण एवं जंगली जीव जन्तुओं से भय भी किलेबन्दी का प्रमुख कारण था। वैदिक साहित्य में पाषाण निर्मित दुर्ग (ऋ0-4·30·20) तथा धूप में सुखायी गयी ईंटों से निर्मित दुर्ग (ऋ0-2·35·6) के सन्दर्भ मिलते हैं। ऋग्वेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में "पुर" शब्द का उल्लेख मिलता है (दास,1979, 186-187), जिसका आशय दुर्ग है। सिन्धु घाटी की सभ्यता से प्राप्त अवशेषों से भी यह तथ्य स्पष्ट होता है कि भारत में ऐतिहासिक काल से ही दुर्गों का निमार्ण किया जाता रहा है (दुबे,1967,146)।

रामायण §2·100·68§ में पंचवर्ग के अन्तर्गत पर्वत दुर्ग, वृक्ष दुर्ग, इरिण दुर्ग, जल दुर्ग तथा धन्व दुर्ग स्पष्ट किये गये हैं। इन सभी दुर्गों का यथा समय उपयोग करके राजा को आत्मरक्षा करनी चाहिये। कोशल की राजधानी अयोध्या का वस्तुतः अर्थ वह नगर है जो युद्ध में जीता न जा सके §अ+युध = अयोध्या§। एक अन्य स्थान पर रामायण में चार प्रकार के दुर्ग कहे गये हैं - नादेय दुर्ग, पर्वत दुर्ग, वन दुर्ग एवं कृत्रिम दुर्ग। अयोध्या §रामा0-1·5·10-13§, जिसमें किसी भी प्रकार से प्राकृतिक कारक किलेबन्दी के लिये उपयुक्त नहीं थे, कृत्रिम दुर्ग निर्मित किया गया था।

भागवतपुराण में सभी प्रमुख राजधानी केन्द्र प्रकृतिक या कृत्रिम दुर्गों से सुरक्षित थे। उल्लेख्य है कि किले में सुरक्षित रहकर युद्ध करने वाला राजा प्रबल शत्रुओं को भी जीत लेता है §5·1·18§। भागवतपुराण में गिरिदुर्ग, शस्त्रदुर्ग, जलदुर्ग, अग्निदुर्ग एवं अनिल दुर्ग का संकेत है §10·59·3-4§। तत्कालीन मथुरा नगर §10·41·20§ कृत्रिम दुर्ग, द्वारका §10·50·50§ व गिरिव्रज §10·73·1§ प्राकृतिक दुर्ग तथा प्राग्ज्योतिषपुर §10·59·3§ प्राकृतिक व कृत्रिम दुर्गों से सुरक्षित नगर के उदाहरण हैं। मथुरा नगर के चारों ओर तांबे और पीतल की चाहारदीवारी निर्मित थी तथा चतुर्दिक जल से भरी खाई थी और कहीं से भी प्रवेश करना कठिन था §10·41·20§। प्राग्ज्योतिषपुर के चतुर्दिक क्रमशः पहाड़ों की किलेबन्दी, शस्त्रों का घेरा, जल से भरी खाई, अग्नि या विद्युत की चाहारदीवारी थी। उस चाहारदीवारी के अन्दर गैस बन्द करके रखी गयी थी§10·59·3§। उसके बाद भी वह नगर जाल से आवृत्त था। ऊँची दीवालों में विनाशकारी यन्त्र लगे थे §10·59·4-5§। नगरों के प्रवेश द्वार पर विशालकाय, लोहे के कीलों से युक्त दरवाजे होते थे §4·28·56, 4·29·7, 10·41·20, 10·63·5, 10·66·41§। ये नगर अत्यन्त दुर्जय एवं दुर्गम होते थे। दुर्ग के दरवाजे पर द्वारपाल या दुर्गपाल §4·28·56, 7·1·36, 8·23·6§ नियुक्त रहते थे तथा सेना की सभी इकाइयाँ अस्त्र-शस्त्रों के साथ नियुक्त रहती थीं §10·80·16§।

उपरोक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि भागवतपुराण में वर्णित ग्राम एवं नगर रचना के तथ्य प्राविधिक शब्दों के अभाव में भी वास्तुविद्या और शिल्पशास्त्र के परिवर्ती ग्रन्थों से परिपुष्ट

एवं अनुमोदित होते हैं। स्पष्टतः नगर रचनाशास्त्र पर्याप्त विकसित हो चुका था। भागवतपुराण में स्थापत्य वेद एवं विश्वकर्मा, मय आदि युगों से प्रसिद्ध स्थपतियों का उल्लेख नगर रचना शास्त्र की प्रचीनता को प्रमाणित करता है। नगर निर्माण नगर शिल्प की आदर्श पद्धति पर होता था। सामरिक आवश्यकताओं की प्रधानता होते हुए भी नगर की कलापूर्ण रचना की उपेक्षा नहीं की जाती थी। वस्तुतः किसी आदर्श आर्य नगर के दो विशिष्ट लक्षण "रमणीयत्व" §सुन्दरता§ एवं "सुगुप्तत्व" §सुरक्षा§ होते थे। सुनियोजित नगर सन्निवेश के परिणाम स्वरूप प्राचीन भारतीयों में एक जागरूक एवं श्रेष्ठ नागरिक भावना संचारित रहती थी। प्राचीन भारतीय सदा संगठित रहते थे तथा उनके निवास स्थान पास-पास बने होते थे। तत्कालीन अधिवास, ग्राम, पुर, घोष, व्रज, आश्रम, शिविर, आकर, खेट, खर्वट, दुर्ग, पत्तन आदि विभागों में विभक्त था। ये सभी मानव अधिवास रथों के चलने योग्य मार्गो से परस्पर जुड़े होते थे। उनके मध्य सतत् आवागमन तथा पारस्परिक व्यवसाय एवं सहयोग बना रहता था।

संदर्भ

1- अग्निहोत्री, पी0डी0, 1963, पतंजलि कालीन भारत, पटना।

2- अवस्थी, ए0बी0एल0, 1982, प्राचीन भारतीय भूगोल, भाग-एक, लखनऊ।

3- आप्टे, वी0एस0, 1981, संस्कृत हिन्दी कोश, वाराणसी।

4- उपाध्याय, रामजी, मू0सं0, प्राचीन भारतीय इतिहास की सांस्कृतिक भूमिका, भाग-प्रथम एवं द्वितीय, वाराणसी।

5- उपाध्याय, बी0एस0, 1964, कालिदास का भारत, भाग-दो, वाराणसी।

6- कनिंघम, ए0, 1971, प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल (हि0अ0), इलाहाबाद।

7- करील, एच0जी0 एवं करील पी0इ0, 1972, एक्सप्लोरैशन्स इन सोशल ज्यॉग्रफी, लन्दन।

8- काणे, पी0वी0, 1982, धर्मशास्त्र का इतिहास (हि0अ0), भाग-द्वितीय, लखनऊ।

9- किर्क, विलियम, 1975, दि रोल ऑफ इण्डिया इन दि डिफ्यूजन ऑफ अर्ली कल्चर्स, दि ज्यॉग्रफिकल जर्नल, वाल्यू0-141, पार्ट-1, मार्च, लन्दन।

10- गर्नियर, जे0 एवं चैबॉट, जी0, 1967, अरबन ज्यॉग्रफी, लन्दन।

11- चाइल्ड, वी0जी0, 1946, ह्वाट हैपेण्ड इन हिस्ट्री ? , लन्दन।

12- जायसवाल, वी, 1976, "एक्जामिनिंग सेट्लमेण्ट्स इन स्टोन एज इण्डिया", इन सिंह, आर0एल0 एवं अन्य (सम्पा0), ज्यॉग्रफिक डाइमेंशंस ऑफ रूरल सेट्लमेण्ट्स, वाराणसी।

13- जोन्स, ई0, 1969, ह्यूमैन ज्यॉग्रफी चैट्टो एण्ड विण्डस।

14- डिक्सिन, एस0एन0 एवं पिट्स, एफ0आर0, 1963, इन्ट्रोडक्शन टू ह्यूमैन ज्यॉग्रफी, न्यूयार्क।

15- डे, एन0एल0, 1979, दि ज्यॉग्रफिकल डिक्शनरी ऑफ ऐन्शियंट एण्ड मीडिवल इण्डिया, नई दिल्ली।

16- डैविस, के0, 1967, दि ओरिजिन एण्ड ग्रोथ ऑफ अरबनाइजेशन इन दि वर्ल्ड, इन मेयर, एच0एम0 एवं कॉन, सी0एफ0 (सम्पा0), रीडिंग्स इन अरबन ज्यॉग्रफी (इण्डियन एडीशन), इलाहाबाद।

17- त्रिपाठी, राजदेव, 1982, "महानद सिन्धु", ग्रेट रिवर्स ऑफ इण्डिया, पटना।

18- दत्त, बी0बी0, 1977, टाउन प्लानिंग इन ऐंशियंट इण्डिया, दिल्ली।

20- दास,ए0सी0,1979,ऋग्वैदिक कल्चर,वाराणसी।

21- द्विवेदी,के,एन0,1985, ऋग्वैदिक भूगोल, कानपुर।

22- दुबे, बेचन, 1967, ज्यॉग्रीफिकल कन्सेप्ट्स इन ऐन्शियंट इण्डिया,वाराणसी।

23- पर्सी ब्राउन,1956,इण्डियन आर्किटैक्चर, बुद्धिस्ट एण्ड हिन्दू पीरियड,बम्बई।

24- पार्जिटर,एफ0ई0,1972 ऐन्शियंट इण्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन, दिल्ली।

25- पिग्गौट,एस0,1950, प्रि हिस्टोरिक इण्डिया, हारमाउण्ड्स वार्थ, पेंगुइन बुक्स।

26- प्रसाद,ए0,1973,छोटा नागपुरः ज्यॉग्रफी ऑफ रूरल सेट्लमेण्ट्स, रांची।

27- प्रसाद,पी0सी0,1977,फारेन ट्रेड एण्ड कॉमर्स इन ऐन्शियंट इण्डिया, नई दिल्ली।

28- फोले,डी0एन0,1964, एन एप्रोच टू मेट्रोपोलिटन स्पेशल स्ट्रक्चर इल वेबर, एम0 एवं अन्य, एक्सप्लोरैशन्स इन टू अरबन स्ट्रक्चर, फिलाडेल्फिया।

29- ब्रोक जान, ओ0एम0 एवं वेब जान, डब्ल्यू0,1968, ए ज्यॉग्रफी ऑफ मैन काइण्ड, न्यूयार्क।

30- माथुर, वी0के0,1969,ऐतिहासिक स्थानावली, नई दिल्ली।

31- मित्रा,ए0,1961, रिर्पोट ऑन हाउस टाइप्स एण्ड विलेज सेट्लमेण्ट्स पैटर्न इन इण्डिया, सेन्सस ऑफ इण्डिया, वाल्यूम-1, पार्ट-IV-ए{iii}।

32- मुकर्जी,आर0के0,1938, दि चैन्जिंग फेस ऑफ बेंगाल, कलकत्ता।

33- रैपपोर्ट,ए0,1969, हाउस फार्म एण्ड कल्चर, प्रेण्टिस हाल।

34- रॉव,एस0आर0,1985, "कृष्ण की द्वारका कहाँ थी?" कादम्बिनी, वर्ष-21, जनवरी व फरवरी, अंक-6 व 7, नई दिल्ली।

35- लाहा,वी0सी0,1972,प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल {हि0अ0}, लखनऊ।

36- वर्मा, एल0एन0, 1983, अधिवास भूगोल,जयपुर।

37- व्यास, एस0एन0, 1987, रामायणकालीन संस्कृति, नई दिल्ली।

38- शर्मा,जे0एल0,1984, श्रीमद्भागवत् का सांस्कृतिक अध्ययन, जयपुर।

39- शास्त्री,के0ए0एन0, 1963, विलेज इन ऐन्शियंट इण्डिया, दि इलेस्ट्रेटेड वीकली ऑफ इण्डिया, वाल्यूम-94, नम्बर-30।

40- शुक्ल,आर0के0,1984, रामायणः ए स्टडी इन ऐन्शियंट इण्डियन ज्यॉग्रफी, झाँसी।

41- सक्सेना,डी0पी0,1960, ऐन्शियंट इण्डियन ज्यॉग्रफी, आगरा।

42- सिंह, आर0एल0 एवं सिंह, के0एन0 §सम्पा0§, 1975, रीडिंग्स इन रूरल सेट्लमेण्ट्स ज्यॉग्रफी, वाराणसी।

43- सिंह,आर0एल0,1975, एवोल्यूशन ऑफ क्लैनटेरिटोरियल यूनिट्स थ्रू लैण्ड अकूपैन्स इन दि मिडिल गंगा वैली, इन सिंह,आर0एल0 एवं सिंह, के0एन0 §सम्पा0§, रीडिंग्स इन रूरल सेट्लमेण्ट्स ज्यॉग्रफी, वाराणसी।

44- सिंह,ओ0पी0,1979, नगरीय भूगोल, वाराणसी।

45- सिंह, उजागिर, 1984, नगरीय भूगोल, लखनऊ।

46- सिंह,श्रीपाल,1987, "देवरिया जनपद में अधिवासों का विकास", उ0भा0भू0प0, अंक-23, संख्या-1, गोरखपुर।

47- स्मेल्स,ए0इ0,1962,दि ज्यॉग्रफी ऑफ टाउन्स, लन्दन।

48- स्टाम्प, एल0डी0,1950,प्लानिंग एण्ड एग्रीकल्चर, टाउन प्लानिंग इन्स्टीट्यूट।

49- हाउस्टन, जे0एम0,1953, ए सोशल ज्यॉग्रफी ऑफ यूरोप, लन्दन।

xxxxxxxxxxx

अध्यायय - षष्ठ

सांस्कृतिक भूगोल

सांस्कृतिक भूगोल को परिभाषित करने से पूर्व संस्कृति शब्द का अर्थ जान लेना समीचीन होगा। "संस्कृति" शब्द की उत्पत्ति "संस्कृत" शब्द से है, जिसका अर्थ है "परिष्कृत"। संस्कृति पर्यावरण का मानव निर्मित भाग है। रॉबर्ट बियर्सटीड के अनुसार संस्कृति एक जटिल सम्पूर्णता है, जिसमें वे समस्त वस्तुयें सम्मिलित हैं, जिनपर हम विचार करते हैं, कार्य करते हैं और समाज का सदस्य होने के नाते उन्हें अपने पास रखते हैं (उद्धृत तिवारी एवं त्रिपाठी, 1988, 10)। सांस्कृतिक भूगोल के परिप्रेक्ष्य में सम्पूर्ण जीवन पद्धति ही संस्कृति है। संस्कृति दो तत्वों की अन्तर्प्रक्रिया का प्रतिफल है। प्रथम मानव तथा उसके द्वारा विकसित प्रविधि तथा द्वितीय प्रत्यक्ष स्थित प्राकृतिक वातावरण। मानव के नैतिक मूल्य, आचार-विचार, रहन-सहन, खान-पान, वेशभूषा और क्रियाकलाप को हम सम्मिलित रूप से जीवन पद्धति कह सकते हैं और इसी जीवन पद्धति का समानार्थी शब्द "संस्कृति" है। टेलर (1960) ने मानव को एक सशक्त भौगोलिक कारक के रूप में परिभाषित किया और प्रकृतिक पर्यावरण के परिवर्तनशील अभिव्यक्तियों के मूल में मानव की सक्रियता को ही उत्तरदायी माना है। इन तथ्यों को सांस्कृतिक भूगोल के अन्तर्गत समाहित किया जा सकता है। समूची सभ्यता, ज्ञान-विज्ञान का विकास भौगोलिक समस्याओं के हल में निहित है। इस प्रकार भौगोलिक समस्याओं में सांस्कृतिक विचारों का प्रयोग ही सांस्कृतिक भूगोल है। स्पष्टतः सांस्कृतिक भूगोल में ऐसी विशिष्ट प्रक्रियाओं का अध्ययन किया जाता है जिसमें मानवीय हस्त कौशल का प्रयोग वह अपने निहितार्थ समूह एवं मानवता के कल्याण के लिये करता है (वेगनर और मिक्सेल, 1962, 1)।

इसी तथ्य को और भी स्पष्ट करते हुये कहा जा सकता है कि सांस्कृतिक भूगोल के अन्तर्गत विश्व के विलक्षण भौगोलिक भूदृश्यों के विकास एवं विनाश में मानव समूह के विचारों एवं व्यवहारों के योगदान का अध्ययन किया जाता है। कार्ल ओ सौर ने पृथ्वी तल पर प्राप्त सांस्कृतिक भूदृश्यों को क्षेत्रीय विभिन्नताओं के मूल में निहित कारकों के अन्तर्सम्बन्धों तथा अन्तर्प्रक्रियाओं पर जोर देते हुए लिखा है कि सांस्कृतिक भूगोल एक ऐसा कार्यक्रम है जो भूगोल के सामान्य उद्देश्यों से सम्बद्ध है अर्थात् इसका उद्देश्य भूतल के क्षेत्रीय भिन्नताओं को स्पष्ट करना है (कार्ल ओ सौर, 1927, 154-212 इन चार्ल्स, ए0 एलवुड, सम्पा0, पृ0 427)।

जार्डन एवं रौन्ट्री §1938§नेसांस्कृतिक भूगोल की सीमा का विस्तार करते हुएइसके अन्तर्गतभौतिक वातावरण की तुलना में मानवीय संस्कृति, व्यक्ति की तुलना में समूह तथा संस्कृति समूहों के क्षेत्रीय भिन्नताओं को समाहित किया है। मानव का सामाजिक संगठन तथा प्रविधि का प्राकृतिक वातावरण के साथ सक्रिय समज्जन ही विश्व में विभिन्न प्रकार के भूदृश्यों के विकास का रहस्य है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर स्पेन्सर एवं थामस §1971§ ने लिखा है कि सांस्कृतिक भूगोल मानवीय प्रविधि तथा संस्कृतियों की पद्धतियों या प्रकारों से सम्बद्ध है क्यों कि इनका विकास मानव जनसंख्या §जो कि एक सांस्कृतिक समुदाय के रूप में जानी जाती है§ के द्वारा समय के साथ पृथ्वी के विशेष क्षेत्र में की जाती है। सांस्कृतिक भूगोल का सम्बन्ध मानवीय प्राविधिकी के तन्त्रों एवं सांस्कृतिक क्रियाकलापों से हैं क्योंकि इनका विकास विश्व के विभिन्न क्षेत्रों पर सांस्कृतिक समूहों द्वारा किया जाता है।

सांस्कृतिक भूगोल की उपर्युक्त परिभाषाओं के समन्वयन के आधार पर कहा जा सकता है कि सांस्कृतिक भूगोल में अधोलिखित चार तत्वों एवं उनमें आपसे में व्याप्त विभिन्न प्रकार की जटिल अन्तर्प्रक्रियाओं का महत्व होता है। ये चार तत्व प्राकृतिक वातावरण, प्रविधि, मानव समुदाय और सामाजिक सांस्कृतिक वातावरण हैं, जिनके परिणामस्वरूप सांस्कृतिक तत्वों का वृद्धि एवं विकास होता है और इन सांस्कृतिक तत्वों के वितरण से उद्भूत क्षेत्रीय भिन्नताओं या भूवैन्यासिक संगठन का अध्ययन सांस्कृतिक भूगोल की विषय वस्तु है §तिवारी एवं त्रिपाठी, 1988, 11§।

किसी क्षेत्र विशेष में नैतिक मूल्यों, रीति रिवाजों, क्रियाकलापों और प्रविधि का वातावरण पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसे हम जीवन पद्धति की संज्ञा देते हैं जो कि संस्कृति का समानार्थी है। इसी का अध्ययन क्षेत्रीय परिप्रेक्ष्य में सांस्कृतिक भूगोल के अन्तर्गत किया जाता है। वास्तव में सांस्कृतिक भूगोल के अध्ययन का मूल तत्व मानव विकास के इतिहास के विभिन्न खण्डों में प्रविधि के उद्विकास को स्पष्ट करना तथा भूवैन्यासिक संगठन पर इसके प्रभाव को विभिन्न कालों में आंकना है। साधारणतया सांस्कृतिक तत्व दो प्रकार के होते हैं §क§ स्थूल सांस्कृतिक तत्व तथा §ख§ सूक्ष्म सांस्कृतिक तत्व । ग्राम, नगर, सड़क, रेलवे, कारखाना इत्यादि

जो दृष्टव्य हैं, स्थूल सांस्कृतिक तत्व हैं तथा नैतिक मूल्य, प्रथायें, आदतें, इच्छायें, आशायें, मूल्य, रहन-सहन के ढ़ग आदि, जो अदृश्य हैं, सूक्ष्म सांस्कृतिक तत्व हैं। सांस्कृतिक भूगोल के अन्तर्गत दोनों ही प्रकार के सांस्कृतिक तत्वों का अध्ययन किया जाता है। संक्षेप में इसके विषय के अन्तर्गत मानव विकास के इतिहास के विभिन्न खण्डों में प्रविधि के उद्‌विकास, अभिज्ञान की संकल्पना तथा प्रसरण, मानव का जैविकीय एवं सांस्कृतिक विकास के सम्बन्ध, पशु एवं पौधशाला, विश्व के विभिन्न संस्कृतियों की विशेषताओं-विषमताओं से उत्पन्न विभिन्न सांस्कृतिक प्रखण्ड तथा भाषाई संरचना एवं पर्यावरण प्रदूषण और संस्कृति को लाया जा सकता है।

भागवतपुराण काल के सांस्कृतिक स्वरूप तत्कालीन सामाजिक आर्थिक दशाओं को प्रदर्शित करते हैं। आधुनिक समाज व्यवस्था जो विविध जटिलताओं से युक्त है, के विपरीत भागवतपुराण काल में भौगोलिक सम्बन्धों के साथ सामान्य सांस्कृतिक स्वरूप परिलक्षित होता है जिसमें जातियाँ, जनजातियाँ तथा धर्म महत्वपूर्ण हैं। प्रस्तुत अध्याय में जातियों एवं जनजातियों के वर्गीकरण एवं वितरण का क्रमबद्ध वर्णन है, दैवीय एवं अर्द्धदैवीय जातियाँ, धर्म पर वातावरण का प्रभाव, देवी देवताओं का प्राकृतिक वातावरण से सम्बन्ध तथा धर्मिक क्रियाकलापों का अध्ययन किया गया है।

§अ§ - जातियाँ एवं प्रजातियाँ -

"जाति" शब्द की उत्पत्ति संस्कृत के "जन्" धातु से मानी गयी है जिसका अर्थ जन्म, गोत्र, वंश, जनसमुदाय, जाति, वर्ग, भेद, नस्ल आदि है §आप्टे, 1981,402§। विश्व की सम्पूर्ण जनसंख्या जैविक दृष्टि से एक है जिसे मानव जाति कहा जाता है, परन्तु मानव भूगोल के अन्तर्गत जाति का सम्बन्ध मानव की प्रकृतिक नस्ल से है। भौतिक लक्षणों के आधार पर यदि मानव जनसंख्या का एक समूह दूसरे समूह से भिन्न हो तो वह एक विशिष्ट मानव प्रजाति समूह कहलाता है। स्पष्टतः प्रजाति मानव का वह समूह है जो भौगोलिक पर्यावरण, संस्कृति तथा वंशानुक्रमण से उत्पन्न शारीरिक और सांस्कृतिक समानताओं के अंशों से युक्त होता है §मिश्र,1982,89§।

प्राचीन भारतीय संस्कृत साहित्य में "जाति" के लिये "वर्ण" शब्द का प्रयोग मिलता है। कई विद्वानों ने "वर्ण" की अवधारणा के आधार पर जाति की व्याख्या की है। घुर्ये §1961, 40§ का मत है कि "वर्ण" का अर्थ "रंग" है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि यह शब्द आर्यों और दासों §अनार्यों§ के क्रमशः श्वेत §गौर§ और श्याम §काले§ रंगों में भेद करने के लिये प्रयोग किया गया था। "वर्ण" शब्द में "रंग" की भावना इतनी तीव्र थी कि जब कालान्तर में चार वर्ण व्यवस्थित रूप में बने तो चारों वर्णों के लिये पृथक्-पृथक् रंग §ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र के क्रमशः श्वेत, लोहित, पीत और श्याम रंग, महा0 शान्ति पर्व, 188·5§ निर्धारित किये गये, जिससे उनके सदस्यों को एक दूसरे से विशिष्टता दी जा सके। होकार्ट ने जाति एवं वर्ण को एक ही अर्थ में उल्लिखित करते हुये लिखा है कि दोनो में केवल नाम का अन्तर है §मिश्र, 1986, 163§।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वर्ण एवं जाति एक ही है जो प्रजाति का ही एक रूप है परन्तु यथार्थतः इनमें भेद है। भागवतपुराण §11·2·51§ में जाति एवं वर्ण का एक साथ उल्लेख स्पष्ट करता है कि इन दोनों में अन्तर है। जाति का आधार जन्म है और वर्ण का आधार गुण और कर्म । हट्टन के अनुसार दोनों पृथक् सामाजिक संगठन हैं और दोनों की धारणायें भी भिन्न हैं। परवर्ती साहित्य में वर्ण के आधार पर ही जाति की व्याख्या की गयी जिससे भ्रमवश दोनों को एक समझने की भूल की गयी, परन्तु जाति के आधार पर वर्ण की व्याख्या करन तर्कसंगत नहीं है §प्रभु, 1958, 303-304§। वर्ण चार हैं तथा जातियाँ उपजातियाँ शत-सहस्र हैं।

सामाजिक व्यवस्था में जाति और प्रजाति भी दो भिन्न-भिन्न मानव समूह हैं। प्रजाति ऐसे मनुष्यों का समूह है जिन्हें प्राणि विज्ञान के कुछ सामान्य शारीरिक लक्षणों के आधार पर दूसरों से विलग किया जाता है, भले ही उस समूह के सदस्य दूर तक बिखरे हुये क्यों न हों §मजूमदार, 1958, 16§। यद्यपि जाति और प्रजाति में अत्यधिक साम्य है। दोनों वंशानुगत क्रम को स्वीकार करती हैं तथा अन्तर्विवाह का अनुगमन करती हैं §हटन, कास्ट इन इण्डिया, 111, उद्धृत-मिश्र, 1986, 159§, परन्तु प्रजाति का आधार प्राणिशास्त्रीय है तथा यह शारीरिक

लक्षण से भी अभिव्यंजित होता है जब कि जाति जन्म पर आधारित होकर सामाजिक है (रीजले, 1915,263-265)। उसका शारीरिक लक्षणों से कोई सम्बन्ध नहीं है। जाति अपने उद्गम में प्रधानतः व्यावसायिक है किन्तु प्रजाति नहीं (घुर्ये, 1961,100)। शर्मा (दि0सं0,102) के अनुसार यद्यपि प्राचीन काल में जाति एवं प्रजाति एक ही थी, परन्तु वर्तमान में शारीरिक लक्षण, भोजन सम्बन्धी निषेध, परिवर्तन, संगठन आदि तत्वों के आधार पर ये दोनों भिन्न-भिन्न हैं।

जाति एवं प्रजाति के तारतम्य में "जनजाति" शब्द के अर्थ का ज्ञान भी अपेक्षित है। जैकबस एवं स्टर्न के विचार से एक ऐसा ग्रामीण समुदाय या समुदायों का समूह, जिसकी सामान्य भूमि, सामान्य भाषा तथा सामान्य सांस्कृतिक परम्परा हो और उस समुदाय का जीवन आर्थिक दृष्टि से एक दूसरे से ओत-प्रोत हो, वह समुदाय जनजाति कहलाता है (उद्धृत-शर्मा, प्र0सं0,284)। जाति एवं जनजाति पृथक्-पृथक् जनसमूह की द्योतक हैं। जाति एक सामाजिक समूह है तथा जनजाति स्थानीय समूह। जाति का आधार जन्म है जब कि जनजाति एक निश्चित भूभाग से सम्बद्ध होकर भाषाई आधार पर जाति समूह के रूप में ख्यात होती है। जाति में स्पर्शास्पृश्य की भावना कड़ी होती है, परन्तु जनजाति में नहीं। जनजाति में राजनीतिक संगठन होना स्वाभाविक है पर जाति में नहीं (मिश्र,1986,158-159)।

प्रजातीय भूगोल, प्रजातियों के उद्भव, विकास, वितरण, स्थानान्तरण, शारीरिक विशेषताओं के निर्माण और परिवर्तन आदि का भौगोलिक सिद्धान्तों के सन्दर्भ में विशिष्ट अध्ययन है। इस सन्दर्भ में भागवतपुराण में प्राप्त सन्दर्भों के आधार पर जातियों, प्रजातियों एवं जनजातियों का वर्गीकरण, वितरण तथा शारीरिक विशेषताओं का विवेचन निम्नवत् है -

1-जातियों एवं जनजातियों का वर्गीकरण - प्राचीन भारत एक ही समय कई सांस्कृतिक स्तर पर रहने वाली जातियों का देश था। यदि एक ओर विकसित सभ्यता वाली प्रजातियाँ पायी जाती थीं तो दूसरी ओर उसके निकटवर्ती प्रदेशों में अत्यन्त प्राचीन सभ्यता के स्तर पर रहने वाली प्रजातियाँ भी पायी जाती थीं। अतः भारतीय जनजातियों तथा मानव समूहों के क्षेत्रीय वितरण के आधार पर भारत का प्रजातीय वर्गीकरण किया जा सकता है।

वैदिक काल में मानव वर्ग दो समूहों में विभक्त था जिन्हें आर्य एवं अनार्य §दस्यु§ कहा जाता था। जो एक दूसरे से धर्म, रंग, पूजा-पाठ, भाषा एवं स्वरूप में भिन्न थे §काणे, 1980,भाग प्रथम,110§। फलतः इन दोनों समूहों के मध्य निरन्तर संर्घष होता रहता था। अतः यह कहा गया कि अनार्य वे थे जिनसे सुरक्षा आवश्यक थी §दास,1971,121-123§। वस्तुतः अनार्य कोई विदेशी तत्व नहीं थे। जिन्होंने आर्यों के आर्यत्व को ग्रहण नहीं किया और अपने कुसंस्कारों में लिपटे रह गये, वे ही अनार्य कहलाये। आर्य पद गुण से मिलता था, न कि वर्ण या जाति से। बहुत सी अनार्य जातियों ने आर्यत्व को ग्रहण किया तथा आर्यों से घुल मिल गयीं। प्रजातीय दृष्टिकोण से आर्य लम्बे सिर, सुन्दर नसिका, लम्बे कद, त्वचा का रंग भूरे से लेकर चाकलेटी रंग तक एवं औसत शरीर वाले होते हैं, जब कि इसके विपरीत अनार्य लम्बे सिर, विस्तृत नासिका लम्बा चौड़ा मस्तक, मध्यम आकार, काली आंखे एवं चमकदार काली त्वचा वाले होते हैं §रीजले,1915,47-49§।

वैदिक काल के पश्चात् जनसंख्या, क्षेत्रफल एवं प्रभुता सभी दृष्टिकोण से आर्य जाति का विस्तार हुआ। आर्यों ने अपनी समन्वयात्मक प्रवृत्ति के कारण दास या दस्यु कहलाने वाली आर्येतर जाति को अपने वृत्त में सम्मिलित कर उसे चौथा वर्ण बना लिया। इस प्रकार आर्यों की जनसंख्या में विस्तार हुआ। यह सत्य है कि जो विशुद्ध आर्य थे अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य ये शूद्रों से अपने को श्रेष्ठ समझते थे, और इसी कारण धीरे-धीरे आर्य शब्द संज्ञा से विशेषण बन गया।

भागवतपुराण काल तक नृतात्विक संकल्पनाओं का पर्याप्त ज्ञान भारतीयों को हो चुका था तथा इस काल तक आर्य जाति का सम्पर्क भारत में निवास करने वाली अनेक आदिम जातियों तथा भारत में आने वाली अनेक विदेशी जातियों से हो चुका था। यथार्थतः भारत प्राचीन काल में विविध बाहृय प्रजातियों का द्रावण पात्र बना रहा है, अर्थात् यहाँ विविध प्रकार की जातियों का सात्मीकरण एवं सम्मिश्रण हुआ है। इसीलिये भारत को जातियों का महासागर कहा गया है। इस तथ्य के प्रमाण भागवतपुराण में भी यथेष्ट मिलते हैं। जातियों के इस महान संगम में आर्य जाति की श्रेष्ठता व्यास जी के लिये पूर्व सिद्ध बन गयी थी। इसीलिये

आर्य शब्द का प्रयोग भागवतपुराण में "श्रेष्ठताबोधक" विशेषण के रूप में हुआ है, जातिबोधक रूप में नहीं। आर्य जाति के अतिरिक्त अन्य अनेक आर्येतर जातियों का उल्लेख है जो नृशास्त्रीय दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण है। स्वदेशी एवं विदेशी जनजातियों के साथ ही दैवीय एवं अर्द्ध दैवीय मानव समूहों के भी सन्दर्भ मिलते हैं। इस प्रकार भागवतपुराण में वर्णित जातियों को प्रमुख रूप से निम्न वर्गों में विभाजित कर अध्ययन कर सकते हैं -

(क) आर्य

(ख) अनार्य

आर्य और अनार्य में विभेद -

भागवतपुराण में उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर आर्यों व अनार्यों में निम्नलिखित विभेद हैं -

1- आनुनासिक सूचकांक की दृष्टि से आर्य सुघड़ नासिका वाले होते थे (4·21·15), जब कि अनार्य छोटी व चपटी नाक वाले होते थे (4·14·44)। उल्लेखनीय है कि ऋग्वेद (5·19·10, उद्धृत, दास,1979,158 तथा सक्सेना,1976,31) में भी अनार्यों को "अनास" (नासिकाहीन) कहा गया है क्यों कि उनकी नाक छोटी एवं चौड़ी होती थी।

2- आर्यों का रंग गोरा, नेत्र सुन्दर व अरूण वर्ण, बाल बारीक, काले व चिकने होते थे (4·21·15-17), जब कि सामान्यतया अनार्यो का रंग काला, जबड़े बड़े, नेत्र रक्तवर्णी व केश ताम्रवर्णी बतलाये गये हैं (4·14·44)।

3- वैदिक काल से लेकर पौराणिक काल तक के ग्रन्थों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि खाद्यान्नों से प्राप्त साधारण भोजन से आर्य लोग सन्तुष्ट रहते थे।वे मांसाहारी भी थे। जब कि इसके विपरीत अनार्य मांसाहारी खाद्य पदार्थो में अधिक संलग्न रहते थे तथा सुरा का प्रयोग भी अधिक करते थे (4·18·16 तथा 9·9·20-25, तुल0 शुक्ल,1984,228)।

4- आर्य लोग देवी देवताओं के सदैव उपासक रहे हैं। अनार्यो का आर्यों के क्रियाकलापों से विरोध था। वे आचार-विचार, धार्मिक संस्कार आदि में आर्यों के विपरीत थे §1·2·1·40-42§। इसीलिये उन्हें "अब्रह्मन" कहा गया है §9·20·30§।

§क§ - आर्य -

आर्यो की सामाजिक संरचना - पौराणिक युगीन सामाजिक व्यवस्था का मूलाधार वर्ण व्यवस्था थी। प्राचीन काल में वृत्ति के आधार पर समाज को चार वर्णो के अन्तर्गत विभाजित किया गया था - ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। यह चातुर्वर्ण्य विभाजन तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था का विधायक था तथा इसके उद्भव का मुख्य उद्देश्य यज्ञ निष्पादन था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्रों के क्रमशः जप, युद्ध, हवन और परिचर्या के रूप में निष्पाद्य कर्त्तव्यों को यज्ञ सम माना जाता था। इन चार वर्णो की वृत्ति पृथक्-पृथक् थी। गुण, कर्म व स्वभाव के अनुसार जो जिस प्रकार की वृत्ति के योग्य होता था, वह उसी वर्ण से संज्ञित होता था। इन चारों वर्णो की निम्नांकित प्रवृत्ति व वृत्ति बतलाई गई है -

1- ब्राह्मण - शम, दम, तप, शौच, सन्तोष, क्षमाशीलता, सरलता, भगवद् भक्ति, दया, सत्य और ज्ञान ब्राह्मणों की प्रकृति है §7·11·21, 11·17·16§। अध्ययन, अध्यापन, दान लेना, दान देना, यज्ञ करना और कराना ये छः ब्राह्मण के कर्म बतलाये गये हैं §7·11·14§। ब्राह्मणों की आजीविका के साधन चार प्रकार के बतलाये गये हैं जिनमें उत्तर-उत्तर की वृत्तियाँ अपेक्षाकृत श्रेष्ठ मानी गयी हैं §7·11·16§-

§अ§- वार्ता - यज्ञ, अध्यापन आदि करके धन लेना।

§ब§- शालीन - बिना याचना के जो कुछ मिल जाय। इस वृत्ति के द्वारा जीवन निर्वाह को "अमृत" भी कहते थे §7·11·19§।

§स§- यायावर - नित्य मांग कर अन्नादि प्राप्त करना। इस वृत्ति के द्वारा जीवन यापन को "मृत" भी कहते थे §7·11·19§।

§द§- शिलोंछ - खेतों में पड़े अन्न §शिल§ तथा बाजार में पड़े अन्न §उंछ§ को बीन कर जीवन यापन करना। इसे "ऋत" भी कहा गया है §7·11·19§।

यद्यपि "यायावर" ﴾प्रतिग्रह या मृत﴿ वृत्ति को निम्न माना गया है तथापि दान लेना ब्राह्मण की आजीविका तो माना ही गया है ﴾11·17·40-41﴿।

ब्रह्मणों की कई कोटियाँ थीं, यथा- अर्थज्ञ, वेदज्ञ ﴾3·29·3﴿, ब्रह्मबन्धु ﴾1·7·16﴿ आदि । इनमें ब्रह्मबन्धु अधम तथा अर्थज्ञ ﴾वेदों के अर्थ का ज्ञाता﴿ ब्राह्मण उत्तम माना जाता था। ये सोमपान के अधिकारी थे, किन्तु मद्यपान निषिद्ध था ﴾5·26·29﴿। समाज में ये अत्यधिक आदर के पात्र थे। देवत्व की कोटि में प्रतिष्ठित कर इनकी पूजा की जाती थी ﴾11·11·42﴿। निस्वार्थ सेवा के कारण ब्राह्मणों से शासक वर्ग कर नहीं लेता था तथा ये दण्ड के पात्र भी नहीं थे ﴾7·11·14﴿। ब्राह्मण वध सर्वथा निषेध था ﴾5·9·17﴿।

2- क्षत्रिय - यह शासक वर्ग था। शौर्य, वीर्य, धृति, तेज, त्याग, आत्मजय, क्षमा, ब्राह्मणों के प्रति भक्ति, अनुग्रह और प्रजा की रक्षा करना - ये क्षत्रिय के लक्षण बतलाये गये हैं ﴾7·11·22﴿। तितिक्षा, उद्योग शीलता, स्थिरता, ऐश्वर्य आदि भी क्षत्रियों की प्रकृति बतलायी गयी है ﴾11·17·17﴿। क्षत्रियों का कर्म पृथ्वी तथा प्रजा की रक्षा करना था ﴾10·24·20 व 11·17·45﴿। राज्यों के कल्याण हेतु यज्ञ करना भी क्षत्रियों का प्रमुख कर्त्तव्य था। इसके दो उद्देश्य थे - प्रथम इससे यज्ञ करने वाले को लाभ होता था तथा द्वितीय ब्राह्मण जो दान की आजीविका पर निर्भर रहते थे, उन्हें भी लाभ होता था। क्षत्रियों की वृत्ति आयुध ग्रहण कर पृथ्वी एवं प्रजा की रक्षा करना थी ﴾10·24·20, 11·17·45 व 47﴿।

3- वैश्य- आस्तिक्य, दाननिष्ठा, अदम्भ, ब्राह्मण सेवा और धन संचय से सन्तुष्ट न होना - ये वैश्य की प्रकृति है ﴾11·17·18﴿। देव, गुरु और भगवान के प्रति भक्ति, त्रिवर्ग ﴾धर्म, अर्थ और काम﴿ का सेवन, व्यवहार निपुणता तथा उद्यम भी वैश्य के लक्षण बतलाये गये हैं ﴾7·11·23﴿। "वार्ता" शब्द का प्रयोग विशेष रूप से वैश्य वृत्ति के लिये ही किया जाता था ﴾10·24·20﴿। वैश्य की वार्ता चार प्रकार की बतलायी गयी है - ﴾क﴿ कृषि, ﴾ख﴿ वाणिज्य, ﴾ग﴿ गोरक्षा﴾पशुपालन﴿ और ﴾घ﴿ कुसीद ﴾ब्याज पर ऋण देना﴿।

4- शूद्र - द्विज, गो और देवताओं की निष्कपट भाव से सेवा करना और उसी से जो कुछ मिल जाय, उसमें सन्तुष्ट रहना - ये शूद्र वर्ण की प्रकृति है §11·17·19§। उच्च वर्णो के सामने विनम्र रहना, पवित्रता, चोरी न करना तथा सत्यवादन भी शूद्र के लक्षण बतलाये गये है §7·11·24§। वैदिक मन्त्रों से युक्त यज्ञ उसका अधिकार नहीं था §7·11·24§। वेद श्रवण के भी ये अधिकारी नहीं थे §7·4·25§।

शूद्रों के लिये "वृषल" §2·7·38§ शब्द का भी उल्लेख मिलता है पर शूद्र शब्द ही वृषल से प्राचीन है। शूद्रों में प्रायः दो वर्ग थे - शिल्पी वर्ग एवं दास वर्ग। शिल्पी वर्ग स्वनिर्मित वस्तुओं के मूल्य से जीविका उपार्जित करता था। इनमें वायक §10·4·40§, कुलाल §5·22·2§, त्वष्टा §4·15·17§, सूद §10·55·5§, इषुकार §11·9·13§, रंगकार §10·41·32§, मालाकार §10·41·32§ आदि का उल्लेख मिलता है। समाज में इनको महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। इनके अतिरिक्त सौन §10·38·41§, कैवर्त §10·55·5§ या मत्स्यजीवी §10·55·4§, रजक §10·41·32§, शिविका वाहक §5·10·1, 7·8·52§ अदि का भी उल्लेख मिलता है। चटाई बनाने वालों §कटकार-11·17·49§ का स्थान शिल्पियों में सबसे निम्न था। दास वर्ग §1·5·23, 1·6·6, 6·1·21§ द्विजातियों की सेवा कर अपनी आजीविका चलाता था। बहुत से शूद्र वन प्रदेश में मृगया आदि करते हुये वन्य जीवन व्यतीत करते थे। नट, नर्तक, वन्दिन् §1·11·20§ आदि भी शूद्र की कोटि में आते थे।

उपरोक्त के अतिरिक्त शूद्रों में एक वर्ग ऐसा था, जो सबसे अधिक निम्न एवं पतित समझा जाता था जिन्हें "अन्त्यज" या "अन्ते अवसायिन" कहा जाता था §7·11·30§। इसके अन्तर्गत चाण्डाल, श्वपच, सूत, क्षत्ता, वैदेहक, मागध एवं आयोगव सम्मिलित थे§आप्टे, 1981,50§। इनमें चाण्डाल §6·13·12§, श्वपच §3·16·6§, सूत §1·18·11 तथा 18§ एवं मागध §1·11·20§ का उल्लेख भागवतपुराण में मिलता है। पुल्कसक §6·13·8§ भी अत्यन्त निम्न कोटि की शूद्र जाति थी। पतंजलि ने चाण्डाल आदि अधम जातियों को निरवसित शूद्र तथा शिल्पी वर्ग व दास वर्ग के शूद्रों को अनिरवसित शूद्र कहा है

§अग्निहोत्री, 1963,153§। अनिरवसित शूद्र त्रिवर्णों के पात्र स्पर्श कर सकते थे पर निरवसित नहीं। अशौच, अनृत, स्तेय §चोरी करना§, आस्तिक्य, शुष्क विग्रह, काम, क्रोध व तृष्णा के वश में रहना - ये अन्त्यजों की प्रकृति बतलायी गयी है §11·17·20§।

वृत्ति एवं प्रकृति के आधार पर इस वर्ण विभाजन में कहा गया है कि जिस पुरुष के वर्ण को प्रकट करने वाला जो लक्षण बतलाया गया है, वह यदि अन्य में भी मिले तो उसे वही समझना चाहिये §7·11·35§। ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य - ये त्रिवर्ण द्विज कहलाते थे §11·17·40§। द्विज यज्ञोपवीत §सूत्र§ धारण कर सकते थे, शूद्र नहीं §5·9·10, 5·10·19§। यज्ञ-यागादि, अध्ययन और दान करने का अधिकार ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य को समान रूप से था, किन्तु दान लेना, अध्यापन व यज्ञ करने का अधिकार केवल ब्राह्मणों को था §11·17·40§। बिना किसी आपत्ति के सभी वर्गों को अपनी-अपनी वृत्ति का पालन विहित था। निम्न वर्ण के लिये अपने से उच्च वर्ण की वृत्ति §आपत्ति काल के अतिरिक्त§ निषिद्ध थी §7·11·17§। आपत्ति काल में ब्राह्मण वैश्य वृत्ति का आश्रय ले सकता था तथा बड़ी विपत्ति के समय आयुध ग्रहण कर क्षत्रिय वृत्ति भी अपना सकता था, पर किसी भी दशा में "श्वान वृत्ति" §अपने से निम्न वर्ण की सेवा§ अत्यन्त निषिद्ध थी §11·17·47§, क्यों कि ब्राह्मण "सर्ववेदमय" माना जाता था §7·11·20§। क्षत्रिय भी आपत्तिकाल में वैश्य वृत्ति का तथा बड़ी आपत्ति के समय शिकार या अध्यापन कर आपत्ति काल व्यतीत कर सकता था, किन्तु श्वानवृत्ति का सर्वथा निषेध इन्हें भी था §11·17·48§, क्यों कि राजा "सर्वदेवमय" माना जाता था §7·11·20§। वैश्य भी संकट काल में शूद्र वृत्ति तथा शूद्र कारूवृत्ति §चटाई बुनना§ आदि का आश्रय ले सकता था §11·17·49§।

वृत्ति के आधार पर विभाजित पुराण कालीन वर्ण व्यवस्था में वर्ण परिवर्तन की व्यवस्था थी, जिसके उदाहरण भागवत पुराण में पर्याप्त मिलते हैं §9·2·17-23,9·20·1, 9·21·19-20, 33,11·2·19§। बाद में आगे चलकर वर्ण व्यवस्था कर्मपरक न होकर जन्मपरक हो गयी थी। इसी नयी व्यवस्था को "जाति" का नाम दिया जाने लगा था। ब्रह्म बन्धु §1·7·16§ व क्षत्र बन्धु §1·16·22§ इसी जन्मपरक व्यवस्था की ओर संकेत करते हैं। आचार

पतित ब्राह्मण ब्रह्म बन्धु एवं क्षत्रिय क्षत्रबन्धु कहलाते थे। विभिन्न वर्णों में परस्पर उच्च निम्न की भावना भी समाज में पर्याप्त हो चुकी थी। ब्राह्मण को वैराज पुरूष के मुख से उत्पन्न होने के कारण सर्वोच्च माना जाता था, तथा क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र (क्रमशः बाहु, उरू और पाद से उत्पन्न होने के कारण) को क्रमशःनिम्न । इस प्रकार चारों वर्णों के उत्पत्ति स्थान के आधार पर उन्हें उच्च एवं निम्न माना जाता था (11·17·13, 15)। कर्म के अतिरिक्त जन्म को भी उच्च-निम्न का आधार माना जाता था (8·7·4)।

भागवतपुराण काल तक अनेक विदेशी भारत में आकर बस गये थे जिस कारण वेद विरोधी अवैदिक सम्प्रदायों का विरोध बढ़ रहा था। अतः भागवतपुराण कालीन राष्ट्रीय आदर्श एक नया रूप लेकर सामने आया, जिसमें वर्ण व्यवस्था की पुनः स्थापना का समुचित प्रयत्न किया गया। उसमें शूद्रों को भी स्थान दिया गया। राष्ट्र में भक्ति धर्म ने जाति के आधार पर उच्च एवं निम्न की मान्यता त्यागकर एक समानता की नीति अपनायी। इसीलिये भागवत-पुराण में भगवद्भक्त चाण्डाल को भी श्रेष्ठ और पूज्य बतलाया गया (3·33·6-7, 11·14·21)। शूद्र को भक्ति का अधिकारी माना गया (3·6·34)। शूद्रों में भी विद्वान् हुये और ज्ञानोपदेश का अधिकार भी मिला (3·5·20-21)। इस प्रकार भागवद्धर्म के आधार पर समानतावादी आदर्श उपस्थित किया गया तथा वर्ण व्यवस्था के कर्म परक होने पर ही बल दिया गया।

(ख) अनार्य -

अनार्यों (5·8·16) को अपर (12·1·36) या म्लेच्छ (9·20·30, 10·50·45) भी कहा जाता था। सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक क्रियाकलापों में अनार्य आर्यों से भिन्न थे। रक्ष (राक्षस), जिसका उल्लेख रामायण में अनार्य मानव जाति के रूप में किया गया है तथा यक्ष, गन्धर्व, नाग, सिद्ध, चारण आदि जो मूलतः मानव प्रजातियाँ थीं, इन्हें दैवीय चरित्र के रूप में वर्णित किया गया है (शुक्ल, 1984,234)। भागवतपुराण में रक्ष (राक्षस) सहित उपरोक्त सभी जातियाँ देववर्ग में सम्मिलित की गयी हैं (3·10·27-28)। भागवतपुराण में प्राप्त सन्दर्भों के आधार पर हम अनार्यों को दो वर्गों में विभाजित कर सकते

हैं - §अ§ भारतीय आदिम प्रजातियाँ तथा §ब§ - सीमान्त प्रदेशीय म्लेच्छ प्रजातियाँ।

§अ§ <u>भारतीय आदिम जनजातियाँ</u> - आदिम जाति के रूप में भारत में निवास करने वाली जनजातियों में शबर §2·7·46§, व्याध §3·14·35§, निषाद §4·14·45-46§, वानर §10·67·2§, पुलिन्द §12·1·36§, किरात §3·1·38§, कीकट §12·21·8§ आदि का उल्लेख मिलता है। भाषिक §भाषा§ दृष्टि से निषाद व शबर को आग्नेय परिवार तथा वानर प्रजाति को मध्यवर्ती द्रविड़ परिवार में वर्गबद्ध किया गया है §शुक्ल,1977, 146§।

शबर, व्याध, निषाद आदि अत्यन्त प्राचीन आदिम जनजातियाँ हैं। इन आदिवासियों का वनों से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। वन क्षेत्र विशेषकर पर्वतीय अंचल इनकी जीविका के मुख्य साधन थे। वन्य जन्तुओं का शिकार व लघु वन उपजों का संग्रहण कर अपनी आजीविका चलाना इनका मुख्य उद्यम था। शबरों §भीलों§ को कुछ मानव शास्त्री भारत में उद्भूत प्राक्द्रविड़ जाति से सम्बन्धित मानते हैं जो द्रविड़ों से पूर्व मध्य भारत में बसी हुयीथी। जब कि कुछ विद्वान् इन्हें भूमध्य सागरीय प्रजातियों में से मानते हैं जो प्रवास करके विन्ध्य क्षेत्र में चले आये §गोस्वामी,1984,41-42§। व्याध, जिन्हें लुब्धक §7·2·50§ या मृगयु §11·31·12§ भी कहा गया है, नाम से ही स्पष्ट है कि ये आखेटक बहेलिये थे। ये धनुष बाण से वन्य जीवों का आखेट करते थे §11·30·33,37§ तथा जाल द्वारा पक्षियों को पकड़ते थे §7·2·50§। इन्हें अत्यन्त निर्दयी कहा गया है §3·14·35§। निषादों के लिये कहा गया है कि ये हिंसा, लूटपाट आदि पाप कर्मों में प्रवृत्त रहते थे, जिस कारण ये ग्रामों में न निवासकर वन और पर्वतों में रहते थे §4·14·46§। वानर, जिन्हें कपि §9·10·16§ तथा शाखामृग §10·67·11§ भी कहा गया है, तत्कालीन भारत में आदिम अवस्था में ही रहे §10·67·2-13§, जब कि इनका सम्पर्क आर्यों से रामायण काल में ही हो चुका था §शुक्ल,1984,236-239§। सम्भवतः वानर स्वरूप तथा प्रकृति §10·67·11-13§ के कारण इन्हें वानर नाम से अभिहित किया गया।

किरात और पुलिन्द का उल्लेख यद्यपि सीमान्त प्रदेशीय म्लेच्छ जातियों के साथ मिलता

है किन्तु ये प्रागैतिहासिक काल से ही भारतीय आदिम जातियों के रूप में भी भारत में निवास कर रही हैं। सम्भव है समय-समय पर आन्तरिक अशान्ति {लूटपाट} के कारण तथा शिकार व अन्य निकृष्ट जीविका के कारण इन्हें म्लेच्छ कहा गया हो। किरातों को अपराधी व असंस्कृत जाति माना गया है {2·4·18}। कीकट वैदिक कालीन अपवित्र एवं घृणित जाति थी {मैक्डोनल एवं कीथ,1962,130}। सम्भवतः इन्हीं का स्थान कीकट देश था, जिसे भागवतपुराण में अपवित्र कहा गया है {1·21·8}।

{ब} सीमान्त प्रदेशीय म्लेच्छ प्रजातियाँ - इनमें यवन, किरात, हूण,पुलिन्द, अन्ध, कंक, खस, शक, तालजंघ, हैहय, बर्बर,आभीर, गर्दभी, तुरुष्क, पुल्कस आदि का उल्लेख मिलता है {2·4·18, 9·8·5, 9·20·30, 12·1·29-30, 36,39 व 40}, जिन्हें तिरस्कृत व असंस्कृत {12·1·39-40} तथा अपराधी जाति माना गया है {2·4·18}। ये ब्राह्मण द्रोही अर्थात् आर्यों के विरोधी कहे गये हैं {9·20·30}। इनके सम्बन्ध में अन्य कोई विशेष विवरण भागवतपुराण में नहीं मिलता है।

2- जातियों एवं जनजातियों का वितरण -

{क} आर्य - वैदिक काल में सप्त सिन्धु प्रदेश {उत्तरी पश्चिमी भारत} में आर्यो का निवास था, जो रामायण काल तक आर्यावर्त प्रदेश { सम्पूर्ण उत्तरी, उत्तरी पश्चिमी व उत्तरी पूर्वी भारत} में विस्तृत हो गया तथा दक्षिणी भारत में भी आर्य संस्कृति का प्रचार प्रसार प्रारम्भ हो चुका था {शुक्ल,1984,241-242}। भागवतपुराण काल तक सम्पूर्ण भारत में आर्य संस्कृति का प्रसार हो चुका था तथा प्रायद्वीपीय भारत का द्रविड़ प्रदेश आर्य संस्कृति का प्रधान केन्द्र बन गया था, क्यों कि इस ग्रन्थ में द्रविड़ का अधिक महत्व वर्णित है {11·5·39-40}। इसी प्रकार यहाँ के तीर्थों का विशेष महत्व तथा भौगोलिक परिचय भी इसी तथ्य को सिद्ध करता है {11·5·39-40}। इसी कारण विद्वान् इस ग्रंथ की रचना का देश {स्थान} दक्षिणी भारत को ही मानते हैं {शर्मा,1984,27-29}। दक्षिणी भारत में आर्य संस्कृति के प्रचार-प्रसार का प्रथम श्रेय रामायण कालीन महर्षि अगस्त्य को दिया जाता है {शुक्ल, 1984,241}। रामायण कालीन प्रमुख अनार्य जाति राक्षस, जिन्होंने दक्षिणपथ के

के अधिकांश भागों में अपना आधिपत्य स्थापित कर रखा था, उनका राज्य राक्षसाधिपति रावण की मृत्यु के पश्चात् ही समाप्त हो गया था। वानरों का क्षेत्र भी पुराणकाल तक आते-आते अत्यन्त संकुचित हो गया था। अन्य अनार्य आदिम जातियाँ भी आर्यों के प्रसार से दुर्गम वन्य व पर्वतीय क्षेत्रों में ही सिमट गयी थीं, परन्तु उत्तरी पशिचमी भारत का अधिकांश भाग शक्तिशाली अनार्यों (यवन, शक, हूण, बर्बर आदि) के अधिकार में आ गया था। उत्तर में स्थित हिमालय श्रेणियाँ जो सघन वनों से आच्छादित थीं, उत्तर की ओर आर्यों के साम्राज्य के विस्तार में महत्वपूर्ण भौगोलिक अनुत्साही कारक रहीं । अतः इस क्षेत्र में आर्यों द्वारा पराजित अनार्य जातियाँ ही निवास करती थीं (चित्र-6·1)।

(ख) <u>अनार्य</u> - ऐसा प्रतीत होता है कि आर्यों की एक शाखा , जो धर्मिक विचारों से दूसरे से भिन्न थी, को अनार्य की संज्ञा दे दी गयी थी। वैदिक साहित्य के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि प्रारम्भ में आनार्य सप्त सिन्धु प्रदेश के निवासी थे। वे सुसंस्कृत आर्यों के देवताओं की न तो पूजा करते थे और न ही यज्ञादि करते थे। इसीलिये वे आर्यों के घृणा के पात्र थे। वे अपने दुर्व्यवहारों तथा अपराधिक दुर्व्यसनों के कारण सप्त सिन्धु प्रदेश से क्रमबद्ध संगठन द्वारा बाहर कर दिये गये (दास,1971,13)। शनैः-शनैः वे दक्षिण की ओर बढ़े तथा रामायण काल तक उन्होंने प्रायद्वीपीय भारत में अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया (शुक्ल, 1984,242-243)। रामायण काल के उपरान्त आर्यों का विस्तार दक्षिण की ओर हुआ तथा पुराणकाल तक सम्पूर्ण दक्षिणी भारत में हो गया था, जिससे अनार्यों का क्षेत्र दुर्गम वन्य क्षेत्रों में ही सीमित रह गया। भागवतपुराण के सन्दर्भों से स्पष्ट होता है कि व्याध, निषाद, शबर आदि आदिम प्रजातियाँ वनों एवं पर्वतीय क्षेत्रों में निवास करती थीं (7·2·50,4·14·46)। अनुमानतः शबरों (भीलों) का स्थान उत्तर पशिचम में रहा, जो आर्यों द्वारा पराजित होने पर बाध्य होकर मध्य भारत के वनों तथा पर्वतीय क्षेत्रों में शरण लिये। इनका अस्तित्व वर्तमान में भी है तथा अरावली, विन्ध्य एवं सतपुड़ा पर्वत और मध्य भारत के पठारी क्षेत्रों में इनका सान्द्रण अधिक है (गोस्वामी,1984,41-42)। व्याधों को काठियावाड़ के वन्य क्षेत्रों से सम्बन्धित किया गया है (1·30·33 तथा 11·30·6)। वस्तुतः व्याध एवं निषाद जातियाँ भी प्रायद्वीपीय पर्वतीय एवं दुर्गम वन्य भागों में निवास करती थीं, जिनमें वर्तमान

भागवतपुराणकालीन भारत
जातियाँ
वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय सीमायें
किलोमीटर
100 0 100 200 300 400 500
संकेत
आर्य
शबर, व्याध एवं निषाद
पुलिन्द
वानर
कीकट
किरात
अन्य
अनार्य
द क्षि ण सा ग र (क्षा र सा ग र)
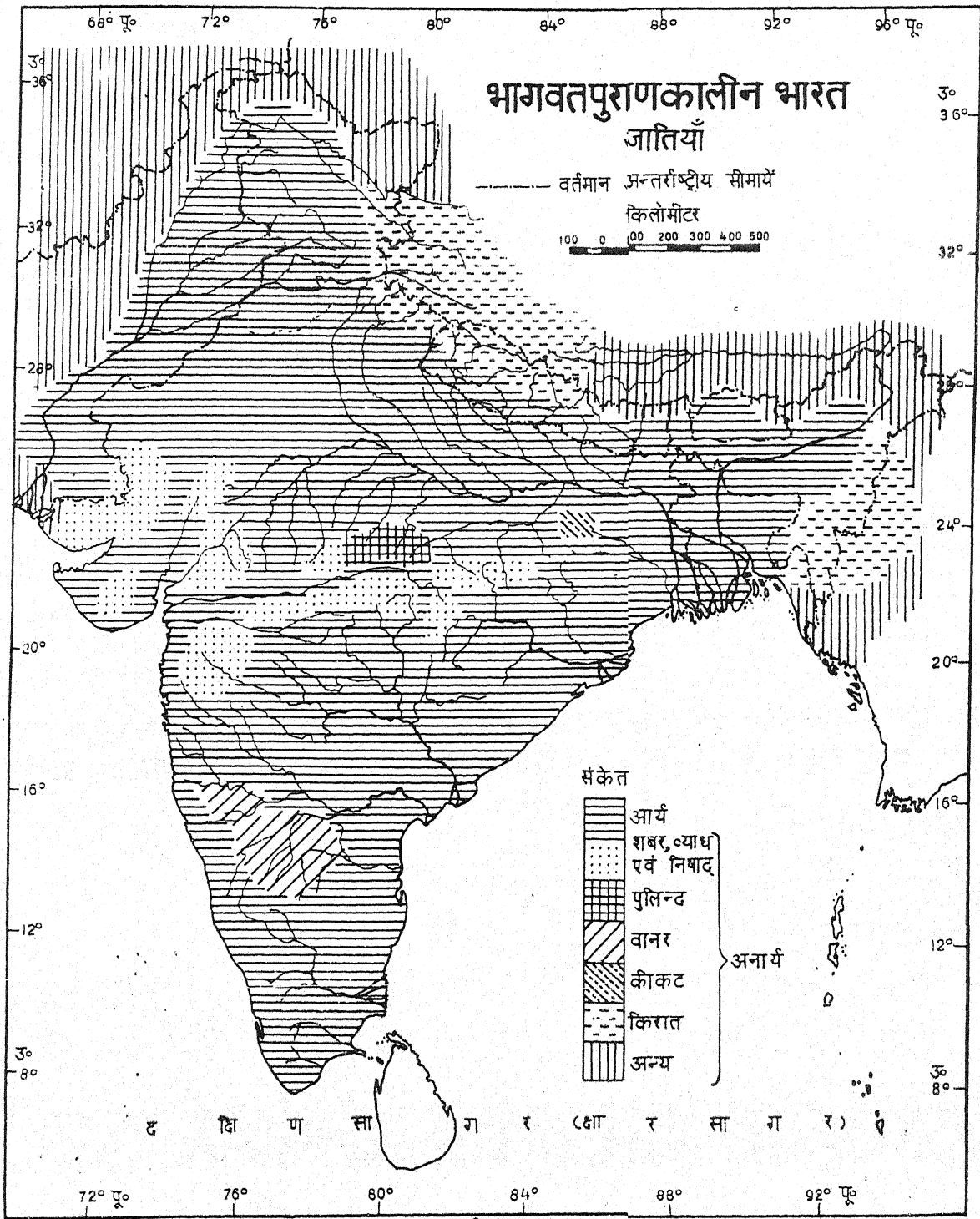
(चित्र-6·1)

मध्यप्रदेश, गुजरात , राजस्थान तथा महाराष्ट्र राज्य के पर्वतीय एवं वन्य भाग प्रमुख थे। स्थूल रूप से इनका निवास क्षेत्र 20 अंश उत्तरी अक्षांस से 25 अंश उत्तरी अक्षांस तथा 73 अंश पूर्वी देशान्तर से 75 अंश पूर्वी देशान्तर के मध्य पर्वतीय एवं दुर्गम क्षेत्रों में था।

वानर जो रामायण काल में किष्किन्धा जनपद में निवास करते थे, निस्सन्देह द्रविड़ प्रजाति के द्योतक थे। किष्किन्धा जनपद रामायण काल में सम्पन्न जनपद था जिसका विस्तार भीमा नदी से लेकर कावेरी नदी तक था। भागवतपुराण में जिस द्विविद वानर का उल्लेख मिलता है वह रामायण कालीन वानराधिपति सुग्रीव से सम्बन्धित था §10·67·2-13§। जिससे स्पष्ट होता है कि ये भागवतपुराण काल में भी उसी भूभाग में निवास कर रहे थे, किन्तु उनका क्षेत्र पुराणकाल में अत्यन्त संकुचित हो गया था। सम्भवतः आर्यों ने किष्किन्धा जनपद को विजित कर लिया था। अतः ये उसी भाग तथा समीपवर्ती भूभागों में वन्य एवं पर्वतीय क्षेत्रों में निवास कर रहे थे।

मगध का दक्षिणी भाग अर्थात् गया क्षेत्र "कीकट" कहलाता था §सरकार,1971,107§। पुलिन्दों को मत्स्यपुराण §114·48§, वायुपुराण §1·45·126§ तथा मार्कण्डेय पुराण §54·47§ में विन्ध्याचल में निवास करने वाली जाति बतलाया गया है। सरकार §1971,111§ ने इन्हें विन्ध्य पर्वत से सम्बन्धित किया है। यदि भागवतपुराण के अनुसार इनका सम्बन्ध किरात, हूण, यवन आदि जातियों से मानकर इनका निवास हिमालय पर्वतीय क्षेत्र माना जाय तो आसाम के दक्षिणी प्रदेश को पुलिन्दों की निवास भूमि माना जा सकता है।

किरातों का उल्लेख हिमालय पर्वत §कैलाश श्रेणी§ के सन्दर्भ में मिलता है §3·1·38§। जिससे स्पष्ट होता है कि ये तिब्बत में निवास करते थे। अवस्थी §1982,भाग प्रथम,90§ के अनुसार बिलोचिस्तान का कलात क्षेत्र ही किरातों का निवास किरात जनपद था। इनका पूर्वी सन्निवेश पूर्वी बंगाल या असम के वन्य एवं पर्वतीय भागों में स्थित था §चित्र-6·1§।

यवनों की स्थिति के बारे में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। भण्डारकर ने इन्हें उत्तरी पश्चिमी सीमा से मिले किसी क्षेत्र का निवासी बतलाया है §कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग-

एक, पृ0·29)। आभीर मूल रूप से हेरात और कन्दहार के मध्यवर्ती क्षेत्र में निवास करते थे, जो बाद में सिन्धु प्रदेश (सिर्सा क्षेत्र और उसके पूर्व) में आकर बस गये थे (सिंह,1972, 129) । सौवीर के पश्चिम उसके नये स्थान आभीर का उल्लेख भागवतपुराण में भी मिलता है (1·10·35)। सिन्धु नदी का डेल्टा सीथिया या शकस्थान था, यही शक देश था (अवस्थी, 1982,90)। इनका मूल निवास स्थान सीस्तान था, जो ईरान के उत्तरी पश्चिमी भाग तथा पर्वतीय प्रदेश में स्थित था (माथुर,1969,886 तथा रॉय चौधरी, पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया,526)।

पाँचवीं शती के आसपास उत्तरी पश्चिमी भारत में शक्तिशाली हूण जाति का प्रभुत्व था। जयचन्द्र विद्यालंकार के अनुसार हूण राज्य निश्चित रूप से वर्तमान ओक्सस की सहायक वक्षु तथा अक्षु नदियों के दोआब से सम्बन्धित था (द्विवेदी, 1969, 179-180)। "कंक" का प्रत्याभिज्ञान चीनियों द्वारा उल्लिखित कंग-कु से की गयी है जो सण्डियाना (समरकन्द एवं बुखारा) में स्थित था (अवस्थी,1982,104)। पार्जिटर के अनुसार शैलोदा नदी के तट पर बसे हुये "खस" पश्चिमी तिब्बत के निवासी थे (उद्घृत-अवस्थी,1982,105)। सिन्धु नदी के मुहाने के निकट बर्बीरिकम या बर्बरीक नाम का प्रसिद्ध व्यापारिक नगर था। इसके आसपास का भूखण्ड ही बर्बर जातियों का देश बर्बर था (अवस्थी,1982,90)।

उपरोक्त के अतिरिक्त अन्य सीमान्त प्रदेशीय अपर जातियों के स्थानों का प्रत्याभिज्ञान विवरण उपलब्ध न होने से कठिन है।

जनगणना -

भागवतपुराण में आधिकारिक रूप से जनगणना का प्रयोग मिलता है। भारतवासियों को अत्यन्त प्राचीन काल से ही संख्याओं एवं उसके दशगुणित या दशांश विधियों का ज्ञान हो चुका था। भागवतपुराण में शत, सहस्र (3·11·19), अयुत (5·16·11), लक्ष (5·21·7), नियुत (5·16·5), कोटि (3·11·40), अर्बुद सहस्र या खर्बुद (5·17·16) आदि का उल्लेख मिलता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इस ग्रंथ में आर्यो की सम्पूर्ण संख्या का

सन्दर्भ नहीं है। भागवतपुराण में उल्लेख है कि हिमालय की घाटी में 13 अयुत §1,30,000§ यक्ष निवास करते थे §4·10·11§। यवन ने तीन करोड़ म्लेच्छों की सेना लेकर मथुरा पर आक्रमण किया था §10·50·45§। मगध के शासक जरासन्ध ने सत्रह बार तेइस-तेइस अक्षौहिणी §21870 रथी, 21870 गजारोही, 109350 पैदल व 656000 अश्वारोही सैनिकों का योग = अक्षौहिणी§ सेना लेकर मथुरा पर आक्रमण किया था तथा प्रत्येक बार उसकी सम्पूर्ण सेना नष्ट हो जाती थी §10·50·42§। राजा उग्रसेन की सेना में एक नील सैनिक थे तथा यदुवंश के बालकों की शिक्षा देने के लिये तीन करोड़ अट्ठासी लाख आचार्य नियुक्त थे §10·90·41-42§। इन सन्दर्भों से तत्कालीन भारत में जनपद स्तर पर या विशेष जाति के सन्दर्भ में जनगणना का आंकलन किया जा सकता है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि उस समय शासकों द्वारा जनगणना का कार्य भी सम्पन्न कराया जाता था।

§ब§- धर्म एवं पर्यावरण -

"धर्म" शब्द भारतीय वांगमय में अतीव प्राचीन काल से प्रयुक्त होता आया है। इस शब्द का प्रयोग कई अर्थों में होता आया है। जब हम धर्म के स्वरूप की विवेचना करते हैं तो यह देखने की चेष्टा करते है कि आखिर धर्म है क्या? मानव, समाज में रहकर अपनी मेधा से उन कार्यों को करना चाहता था जिससे उसे सुख की उपलब्धि हो। सुख भी प्रत्येक मानव के लिये अपने-अपने मानसिक स्तर के अनुसार भिन्न-भिन्न वस्तुओं में निहित है। इसीलिये हमारे यहाँ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, ये चार पुरूषार्थ माने गये हैं। सामाजिक प्राणी होने के कारण मानव का प्रत्येक आचरण सामाजिक नियमों द्वारा नियंत्रित है। धर्म इतना व्यापक है कि मानव जीवन के सभी पुरूषार्थों पर छा जाता है तथा मनुष्य की उच्छृंखल प्रवृत्तियों पर नियंत्रण स्थापित करता है। भागवतपुराण काल में धर्म समाज सापेक्ष था, समाज निरपेक्ष नहीं। धर्मशास्त्रों में भी इसी प्रकार धर्म का अर्थ एक सम्प्रदाय नहीं लिया गया, अपितु मनुष्य के व्यक्तिगत एवं सामाजिक दोनों रूपों में कर्त्तव्य एवं करणीय आचरणों को ही धर्म कहा गया है। भागवतपुराण §4·14·15§ में यह स्पष्ट कहा गया है कि मनुष्य मन, वाणी, काया और बुद्धि के द्वारा धर्म का आचरण करते हुये शोक रहित लोक और मोक्ष को प्राप्त करता है।

विश्व में सब कुछ परिवर्तन शील है अतः: एक समय जो ग्राह्य है, दूसरे समय वही त्याज्य हो सकता है। एक समय जो श्लाघ्य है, दूसरे समय वही निंद्य हो सकता है। एक समय जो करणीय है, दूसरे समय वही अकरणीय हो सकता है। यही बात धर्म के सम्बन्ध में है। आज समाज को जिस वस्तु या क्रिया की आवश्यकता है, वही धर्म है, परन्तु कल के समाज के लिये जब वही अनुपादेय सिद्ध हो जायेगी तब उसी को अधर्म अभिहित किया जाने लगेगा। इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि धर्म अनित्य अथवा सर्वदा परिवर्तनशील ही है । कुछ कार्य ऐसे हैं जो युगों-युगों से धर्म माने जाते रहे हैं एवं भविष्य में भी माने जाते रहेंगे। अतः इस प्रकार समय को ध्यान में रखकर हम धर्म को दो श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं -

(1) सनातन धर्म तथा (2) युग धर्म।

1- <u>सनातन धर्म</u> (7·11·5,8·14·4)- सनातन धर्म वह है जो आदिकाल से चला आ रहा है तथा जो नित्य एवं शाश्वत है। वह आज भी धर्म माना जाता है एवं कल के समाज में भी धर्म माना जायेगा। इसके तीस लक्षण प्रोक्त हैं - सत्य, दया, तप, शौच, तितिक्षा, ईक्ष, शम, दम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, आर्जव, सन्तोष, समदर्शन, सेवा, उपरति, नृणांविपर्ययेहेक्षा, मौन, आत्मचिन्तन, प्राणियों को अन्नादि का यथायोग्य विभाजन, उनमें आत्म और देवता बुद्धि, सन्तों के परम आश्रय ईश्वर के नाम, गुण, लीला आदि का श्रवण, कीर्तन, स्मरण, सेवा, पूजा और नमस्कार, उनके प्रति दास्य, सख्य और आत्म-समर्पण (7·11·8-12)।

2- <u>युग धर्म</u> - युगधर्म के अन्तर्गत वे आचरण आते हैं जो कि देश व काल के अनुसार बदलते रहते हैं। तत्तत् काल के समाज की आवश्यकतानुसार जिन-जिन आचरणों को किसी समय विशेष में करणीय समझा जाता है, उन्हीं का समावेश युगधर्म के अन्तर्गत होता है। युगधर्म निरन्तर तत्कालीन परिस्थितियों से प्रभावित होता है और उन परिस्थितियों के परिणाम स्वरूप उसका रूप परिवर्तित होता रहता है। युगधर्म को प्रभावित करने वाले कई घटक हो सकते हैं यथा- राजनीतिक, भौगोलिक, आर्थिक परिस्थितियाँ आदि। भागवतपुराण(7·11·3)में भी कहा गया है कि वेददर्शी ऋषियों

ने युग-युग में प्रायः मनुष्यों के स्वभावानुसार उनके धर्म की व्यवस्था की है और यही धर्म उनके लिये इस लोक व परलोक में कल्याणकारी है। उदाहरणार्थ मीमांसा के अनुसार वेदविहित सद्कर्मो का अनुष्ठान ही धर्म है ﴾मीमांसा सूत्र, शाबर भाष्य-1·1·2﴿। इस प्रकार उस समय यज्ञानुष्ठान के अन्तर्गत हिंसा को भी पाप नहीं माना गया﴾1·8·52,4·25·8﴿। जब कि भागवतपुराण काल में यह मान्यता बदली और यज्ञ में हिंसा को पाप माना गया ﴾1·8·52,4·25·8﴿। भागवतपुराण के अनुसार भागवान की भक्ति या उपासना ही परम धर्म है ﴾6·3·22﴿। इस प्रकार वैदिक कर्मकाण्ड की भाँति धर्म का उद्देश्य अभीष्ट लौकिक सुखों की प्राप्ति नहीं है अपितु आत्म ज्ञान एवं आत्मिक सुख का साधन है﴾1·2·6﴿, किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि यह ग्रंथ वेद की प्रमाणिकता को अस्वीकार करता है क्योंकि यह उल्लेख है कि जो वेद विहित है वही धर्म है तथा जो वेद विहित नहीं, वह धर्म भी नहीं है ﴾6·1·40﴿। स्पष्ट है कि भारतीय परम्परा के अनुसार धर्म का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। जीवन यापन व उत्कर्ष का प्रत्येक सामाजिक अथवा व्यक्तिगत साधन धर्म के अन्तर्गत ही समाविष्ट था।

1- धर्म पर पर्यावरण का प्रभाव - किसी भी प्रदेश के भौतिक पर्यावरण का प्रभाव उस क्षेत्र के निवासियों की धार्मिक क्रियाओं में परिलक्षित होता है। भारतीयों को विशेष अधिकार है कि वे अपने धर्म के विषय में दृढ़ता पूर्वक कहें। धर्म मानव से मानव, काल-काल में एवं स्थान-स्थान में परिवर्तित होता है तथा वर्तमान हिन्दू धर्म समय-समय पर महत्वपूर्ण संशोधनों के पश्चात् वर्तमान स्वरूप को प्राप्त हुआ।

धर्म भौतिक पर्यावरण की उपज है तथा मानवीय क्रियाकलापों पर उस ﴾भौतिक पर्यावरण﴿ का प्रभाव अप्रत्यक्ष दृष्टिगत होता है। मनुष्य जब इस पृथ्वी पर अवतरित हुआ तो उसने भूतल के विविध स्वरूपों तथा अदृष्टव्य प्राकृतिक शक्तियों से भयभीत हुआ, क्योंकि इस भूतल पर असंख्य प्राकृतिक शक्तियाँ कार्य करती रहती हैं। मानव के अवचेतन मन को बार-बार आक्रान्त करने वाली प्राकृतिक घटनायें या क्रियायें निरन्तर होती रही होंगी। मानव की सहज प्रवृत्तियों को उत्तेजित करने में प्राकृतिक वातावरण एवं उसके आधार पर काल्पनिक वातावरण का विशेष हाथ रहा है। ये प्रवृत्तियाँ मनुष्य के चेतन और अचेतन मन में युग-युगान्तर

तक घनीभूत होती हैं। बाद में प्राकृतिक शक्तियों के प्रति मानव के मन में काल्पनिक और भ्रान्ति मूलक धारणाओं का विकास होता गया। प्रकृति में जन्म, अवतरण, आविर्भाव, प्राकट्य और प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रियायें चलती रहती हैं। भौतिक सत्ता और शक्ति का निपात, प्रसार और ह्रास निरन्तर होता रहता है। उसी क्रम में आकस्मिक, दिव्य और असाधारण शक्तियों का आविर्भाव हुआ करता है {पाण्डेय,1963,676}, जिनका मुख्य प्रयोजन असन्तुलित वातावरण को सन्तुलित करना होता है। इन प्राकृतिक व्यापारों को सामयिक {सूर्योदय, चन्द्रोदय, वर्षा आदि}, आकस्मिक {उल्कापात, भूकम्प, ज्वालामुखी, आँधी आदि} और गूढ़ {जन्म,मरण आदि} तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है।

जलवायु सम्बन्धी तथ्य मानवीय क्रियाकलापों को प्रभावित करने में महत्वपूर्ण उपादान रहे हैं। इसके अतिरिक्त स्थलाकृति, मृदा एवं जल के साथ सम्पर्क आदि अन्य कारक भी मानवीय क्रियाकलापों को प्रभावित करते रहे हैं। फलतः विविध प्रकार की प्रकृतिक शक्तियों के प्रति मानव का भयभीत होना स्वाभाविक था और स्वभावतः इसीलिये मनुष्य ने सभी प्राकृतिक शक्तियों को दैवी शक्ति मानकर उनकी पूजा करना या आराधना करना प्रारम्भ कर दिया होगा। आधार रूप से धर्म की संरचना महाशक्ति और उसकी पूजा की संकल्पना से हुयी है। यह मानव अथवा प्राकृतिक शक्तियों का मूर्तिकरण भी हो सकता है। पूजा धार्मिक अथवा अधार्मिक दोनों प्रकार की हो सकती है। प्राकृतिक दशा में मनुष्य को पूजा सामग्री के लिये जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती है, वह प्राकृतिक वातावरण से ही प्राप्त होती है जब कि द्वितीय अवस्था में मानवीय परिकल्पनाओं, जो प्रदेश विशेष की प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक तत्वों से प्रभावित होती है, पर आधारित प्रार्थना हो सकती है। भागवतपुराण काल का धर्म प्रधानतया वैदिक धर्म पर ही आधारित था तथा प्राकृतिक तत्वों की उपासना मुख्य विषय था। अतः पर्यावरण ने भागवतीय धर्म को दो प्रकार से नियन्त्रित किया -

{अ} सभी देवता प्राकृतिक शक्तियों का मानवीय करण या मूर्तिकरण थे जो भौतिक पर्यावरण से सम्बन्धित थे। तथा

{ब} यज्ञ सम्बन्धी सभी पदार्थ प्राकृतिक वातावरण से ही प्राप्त किये जाते थे।

2-देवी देवताओं का प्राकृतिक वातावरण से सम्बन्ध - - मनुष्य स्वयंभू नहीं है अपितु जन्म से ही पराश्रित है। मानव की सम्पूर्ण चेष्टायें कामनाओं की पूर्ति में विरत रहती हैं, एतदर्थ उसे दाता की आवश्यकता है। जो उसे देता है, उसकी कामनाओं की पूर्ति करता है, वही देवता है। माता, पिता, गुरु, अतिथि, विद्वान् आदि सभी कुछ न कुछ देते हैं इसीलिये देवता हैं। जागतिक व्यापार में योग देने वाली सारी भौतिक शक्तियाँ दाता का कार्य करती हैं, इसलिये वे सभी देवी या देवता हैं। मानसिक प्रतिभा एवं आध्यात्मिक शक्तियाँ भी अपने अवदान के कारण उसके लिये देवी या देवता हैं। इस जगत् के नाना ग्रह, नक्षत्र, पृथ्वी, वायु, अग्नि, मेघ, नदी, पर्वत, वन, लता, वृक्ष, समुद्र आदि सभी मनुष्य को किसी न किसी प्रकार कुछ न कुछ अवश्य देते हैं, इसलिये सभी देवता है। मनुष्य को जीवित रहने के लिये या भौतिक तथा आध्यात्मिक विकास के निमित्त प्रकृति की सर्वत्र आवश्यकता है। अन्न, जल, वायु, अग्नि, आकाश आदि के बिना उसका अस्तित्व ही असम्भव है। वह मातृवत् रत्नगर्भा पृथ्वी से क्या नहीं पा सका है और क्या नहीं पायेगा? केवल पृथ्वी ही नहीं, दिग-दिगन्त में व्याप्त सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र आदि सभी अपनी किरणों से उसका पोषण करते हैं। उनका कौन सा आलोक हमारे लिये कितना उपयोगी है, विज्ञान अभी पूर्ण रुप से स्पष्ट नहीं कर सका है, फिर भी अल्फा, बीटा, गामा या अन्य कास्मिक किरणों की तरह अनेक अज्ञात किरणों का उनका अवदान उन्हें देवता सिद्व करेगा। पुरूष अपने स्वाभाविक त्याग से वही करता आया है जो प्रकृति आयाचित रूप से देकर करती है। पुरूष और प्रकृति का यह देवत्व कार्य कालाधीन होकर भी सर्वव्यापक, सर्वकालिक और सर्वदेशीय होता है।

वैदिक एवं महाकाव्य काल के पश्चात् पुराण काल प्रारम्भ होता है । भागवतपुराण में प्रकृतिक तत्वों के वर्णन के सन्दर्भ भरे पड़े हैं। प्राकृतिक शक्तियों के अन्तर्गत मानव ने सूर्य, जो ब्रह्माण्ड का जनक, ऋतुकर्ता, पोषक, विश्व का संरक्षक एवं संहारक कहा गया है, के प्रभाव को देखा। गरजती पवनें, बरसते मेघ, सघन वन एवं विशाल नदियों की उदात्तता तथा अन्य प्राकृतिक तत्वों की ओर मानव स्वतः आकर्षित हुआ, फलतः उनको देवी या देवता मानकर पूंजा प्रारम्भ कर दी। इस प्रकार प्राकृतिक शक्तियों के साथ धर्म स्वतः सम्बन्धित हो गया।

देवी देवताओं का वर्गीकरण -

हम देवी देवताओं, पारलौकिक §आध्यात्मिक§ योनियों को निम्न प्रकार से वर्गीकृत कर सकते हैं -

1- **पार्थिव देवता -**

§अ§ पृथ्वी, अग्नि, नदियाँ, पर्वत, वृक्ष, जीवजन्तु एवं पक्षी ।

§ब§ दैवीय जातियाँ एवं ऋषि।

2- **अपार्थिव देवता -**

इनको चार समूहों में वर्गीकृत किया जा सकता है -

§अ§ वैदिक देवता, यथा- सोम, विष्णु, कुबेर, आदित्य, वायु, इन्द्र, अग्नि इत्यादि। जो यद्यपि मूलतः प्राकृतिक दृश्यों के प्रतिनिधि हैं, परन्तु मनुष्यवत् प्रतीकों के गुण प्राप्त किये हैं।

§ब§ देवत्व परिकल्पना या अमूर्त देवत्व वाले, यथा- धृति, स्मृति, मेधा, श्री, ह्री, कान्ति आदि।

§स§ आधुनिक देवता, यथा- दिशाः, विदिशाः, मासाः, संवत्सराः, वेदाः, मन्त्राः इत्यादि जो प्रारम्भिक वैदिक देवताओं की तरह हैं तथा जीववाद् एवं प्रकृतिवाद उद्भूत हैं।

§द§ ग्रह देवता, आश्रम देवता एवं वन देवता, जो देव शब्द तो प्राप्त किये हैं, किन्तु अलौकिक देवताओं के गुण नहीं धारण करते हैं।

1- <u>पार्थिव देवी-देवता, प्रादेशिक स्वरूपों में</u> - पार्थिव देवता प्रधानतया धरातलीय स्वरूपों एवं जीवजन्तुओं के प्रतीक हैं। प्राचीन भारतीयों ने भूतल के महत्व को बहुत पहले ही ज्ञात कर लिया था, अतः उन्होने पृथ्वी को "देवी" की संज्ञा प्रदान की §1·15·21§। इस

भूतल में ही मानव तथा सभी जीव जन्तुओं एवं वनस्पतियों का विकास होता है, इसीलिये उसे माता (अम्बा) की संज्ञा प्रदान की गयी (1·16·23)। उर्वर होने के कारण इसे "उर्वी" कहते हैं (1·7·18)। पृथ्वी से गो के समान अभीष्ट वस्तुओं की प्राप्ति होती है। अतः इसे "सर्वकामदुघा" कहा गया है (4·18·28)। पृथ्वी से मनुष्यों का खाद्यान्न प्राप्त होता है (4·18·12,27) तथा विभिन्न प्रकार की धातुयें प्राप्त होती हैं। (4·18·25)। पृथ्वी भूकम्पों से प्रभावित होती है (1·14·15,6·9·15) तथा विद्युत,गर्जन, वर्षा एवं दिग्गज आदि से भी प्रभावित होती है । पृथ्वी का केन्द्र मेरू (पामीर) पर्वत कहा गया है (5·16·5-7), जो प्राचीन अवधारणाओं को शुद्ध रूप में प्रकट करता है।

दैनिक अग्निहोत्र क्रिया एवं यज्ञादि उत्सवों में अग्नि को अत्यधिक सम्मान प्राप्त था। इसको कई विशेषणों यथा- अनल(5·9·6), पावक, पवमान, शुचि (4·24·3-4) इत्यादि से अलंकृत किया गया है। समस्त हव्यों की उत्पत्ति अग्नि से ही मानी गयी है। अग्नि प्रभु का मुख है । इसकी उत्पत्ति इसलिये हुयी है कि वेद के यज्ञयागादि कर्मकाण्ड पूर्ण रूप से सम्पन्न हो सके (8·5·35)। अग्नि तीन प्रकार की मानी गयी है - पावक, पवमान और शुचि (4·1·60,4·24·4)। अन्यत्र 49 अग्नियों का उल्लेख मिलता है जिनके नामों से वेदज्ञ ब्राह्मण आग्नेयी इष्टियाँ करते हैं (4·1·60-62)। पंचाग्नि का भी उल्लेख मिलता है (4·23·6)। ये पंचाग्नि, दक्षिण, गार्हपत्य, आहवनीय, सभ्य एवं आवसथ हैं (आप्टे, 1981,562)। ये अग्नियाँ हवन किये गये पदार्थों का भक्षण करती हैं (4·1·60)। आग्नीध्रशाला (4·5·14) की वेदी या यज्ञकुण्ड (4·5·15) ही अग्निस्थल है जहाँ उसे हव्य प्राप्त होता है। सम्भवतः आर्यों ने अग्नि की पूजा उसकी ऊष्मा के कारण प्रारम्भ की । उन्होंने अग्नि से वनों को नष्ट कर कृषि योग्य भूमि प्राप्त किया तथा अनार्यों के अधिवासों को नष्ट किया (1·15·8,10·58·25-27)।

प्राचीन भारत में नदी तट, जहाँ जल की उपलबधता तथा मृदा की उर्वरता थी, प्रधानतया मानव अधिवासित क्षेत्र थे। नदियों ने आर्यों के जीवन को इतना अधिक प्रभावित

किया कि उन्होंने उसे देवता के रूप में प्रतिष्ठित कर पूजा प्रारम्भ कर दिया। वैदिक काल में सरस्वती एवं सिन्धु नदियों को पवित्र माना जाता था, क्यों कि इन नदियों के तटवर्ती भागों में आर्यों का जमाव था। जब रामायण काल में आर्यों ने सम्पूर्ण उत्तरी एवं पूर्वी भारत के अधिकांश भागों पर अपना आधिपत्य कर लिया तो उन्होने गंगा, यमुना, सरयू आदि नदियों को पवित्र मानना प्रारम्भ कर दिया। इस काल में सरस्वती प्रधानतया विद्या की देवी के रूप में प्रतिष्ठित हुयी (शुक्ल,1984,250), किन्तु जब भागवतपुराण काल में आर्यों का विस्तार सम्पूर्ण उत्तरी एवं दक्षिणी भारत में हो गया तो उपरोक्त नदियों के साथ दक्षिणी भारत की कावेरी, वेणी, तुंगभद्रा, कृष्णा, वेण्या, भीमरथी, गोदावरी, निर्विन्ध्या, तापी, नर्मदा, महानदी आदि नदियों को भी पवित्र माना जाने लगा (5·19·17-18) तथा यह अवधारणा भी बनी कि नदियाँ इच्छाओं की पूर्ति करती हैं (1·10·5)। पवित्रता के कारण नदियों के तट, उद्‌गम स्थल तथा संगम स्थल पर यज्ञ कार्य सम्पन्न किये जाते थे (4·16·24, 9·20·25)। नदियाँ नागदुहिता या पर्वतपुत्री (10·7·36) एवं सिन्धुपत्नी (7·4·17, 10·90·23) कही गयी हैं।

सागरों का मानवीय करण या मूर्तिकरण (9·10·13) एक आदर्श निर्मलता है। सागर नागों, असुरों एवं दैत्यों का शरण स्थल है (6·4·19,10·16·64-67, 10·45·40)। इसका नामकरण सगर शासक के नाम पर हुआ जिसके साठ हजार पुत्रों ने पृथ्वी खोदकर इसका निर्माण किया था (9·8·5-10)। सागर की अगाध गहराई, उसकी विशालता आदि कारणों से भयभीत होकर ही मानव ने इसको देवता के रूप में प्रतिष्ठित किया। समुद्रों से अभीष्ट वस्तुओं की प्राप्ति होती है इसलिये यह एक प्रकार से लोक कल्याणकारी कार्य करने वाला सिद्ध हुआ तथा इसको देवत्व की संज्ञा प्रदान की गयी।

पर्वत विविध प्रकार के देवताओं के निवास स्थल कहे गये हैं। वे धीरता, दृढ़ता एवं विशालता के प्रतीक हैं (8·7·13,11·23·39)। मेरू (3·23·39,8·5·18,10·59·2) एवं कैलाश (4·6·8-9) देवताओं के निवास स्थल कहे गये हैं जब कि हिमालय पर्वत यक्ष, गन्धर्व, सिद्ध, किन्नर, अप्सरा, रक्ष आदि उपदेवताओं का निवास स्थान था (4·3·6-7,4·4·4)। त्रिकूट पर्वत सिद्ध, चारण, गन्धर्व, विद्याधर, नाग, किन्नर एवं अप्सराओं

का निवास स्थान था §8·7·1-2§। पर्वतों में हिमवान् सबसे महत्वपूर्ण, दुर्गम एव श्रेष्ठ था §11·16·21§। इसका मानवीय करण किया गया है। ये शंकर के श्वसुर तथा सती के पिता हैं §4·7·58,10·53·25§। पर्वतों की विशालता, जीवनदायिनी नदियों के उद्गम स्रोत §10·40·10§, बहुमूल्य खनिजों के भण्डार §1·6·12,3·8·30,4·6·10, 5·16·7, 8·2·2-3,8·6·35§, जलवायु कारकों में उनकी सक्रिय भूमिका §8·11·20,10·52·10§ आदि कारणों से ही इन्हें देवता के रूप में प्रतिष्ठित किया गया।

प्रारम्भ में मानव विकास क्रम के समय पशुपालन मानव का मुख्य उद्यम था तथा मानव की आजीविका जीव जन्तुओं पर ही आधारित थी और सम्भवतः इसीलिये मनुष्य ने जीवजन्तुओं को देवता के रूप में प्रतिष्ठित किया। जीव जन्तु, पक्षी, वृक्ष एवं वनस्पति प्रजापति कश्यप के पुत्र एवं पुत्रियाँ कहे गये हैं §6·6·25-29§। वृषभ शंकर का वाहन था §8·12·1-2§। समस्त कामनाओं की पूर्ति करने वाली दैवी गाय "कामदुघा" §9·10·53§, हविष्मती §9·15·24§ या हविर्धान्य §11·16·14§ का उल्लेख है। इन्द्र का श्वेत वर्ण ऐरावत गज §10·65·30,11·16·17§ तथा बलि का उच्चैः श्रवा अश्व §8·8·3,11·16·18§ देवता के रूप में प्रतिष्ठित हैं। पक्षियों के अन्तर्गत गरूड़ प्रधान पक्षी कहा गया है §11·16·15,10·59·18-20§ जिसे सुपर्ण §3·3·3§ गरूत्मान §3·19·11§, पतत्त्रिराज §5·20·8§, तार्क्ष्यसुत § 7·8·26§ आदि भी कहा गया है। यह विष्णु का वाहन था §3·21·22, 4·9·1§। नागों में शेषनाग §11·16·19§ तथा सर्पों में वासुकि §11·16·18§ देवत्व कोटि में हैं। वृक्षों के अन्तर्गत कल्पतरू §1·1·3§ देवत्व कोटि का है। इसके अतिरिक्त अश्वत्थ §11·16·21§, मन्दार §3·15·19§, हरिचन्दन §4·6·30§, पारिजात §4·30·32§ आदि भी देव वृक्ष थे §अमरकोश-1·1·50§। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि दैनिक क्रियाओं में प्रयुक्त होने वाले अधिकांश वृक्ष बिल्व, खदिर अश्वत्थ, देवदार, प्लक्ष एवं बांस थे, जो धार्मिक उत्सवों में प्रयोग में लाये जाते थे, उनको भी पवित्र माना जाता था। स्पष्टतः मानव के दैनिक जीवन क्रियाकलापों में जैववर्गों, वनस्पति वर्गों का प्रयोग ऐतिहासिक काल से ही होता रहा है और इसीलिये उनको देवता के रूप में प्रतिष्ठित किया गया।

2- <u>दैवी जातियाँ एवं ऋषि</u> - सुर, पितर, असुर, गन्धर्व, अप्सरस्, यक्ष, राक्षस (3·10·27-28), गुह्यक (4·6·34), नाग, सर्प एवं उरग (2·20·38), दैत्य, दानव (3·17·28), किन्नर, किम्पुरुष (2·10·37-39), भूत, प्रेत, पिशाच , विनायक, कूष्माण्ड, उन्माद, बेताल, यातुधान (2·10·37-39), मातृका, प्रमथ, विप्रराक्षस (6·8·24-25) आदि तथा ऋषि (4·18·14), सिद्ध (2·20·44), विद्याधर (2·1·36), साध्य (2·20·43), चारण (5·1·8) आदि दैवीय एवं अर्द्धदैवीय जातियों से सम्बन्धित हैं तथा उनके विशेष लक्षण या चिह्नों को धारण करते हैं। देव सृष्टि आठ प्रकार की बतलायी गयी हैं- देवता, पितर, असुर, गन्धर्व-अप्सरस्, यक्ष-रक्ष, भूत-प्रेत-पिशाच, सिद्ध-चारण- विद्याधर तथा किन्नर-किम्पुरुष-अश्वमुख (3·10·27-28)। देवताओं की दो कोटियाँ मानी गयी हैं - देवता एवं उपदेवता (6·1·33)। इन्द्रादि देवता तथा यक्ष-किन्नरादि उपदेवता (4·10·7) की श्रेणी में माने जाते थे। दैवीय एवं अर्द्धदैवीय जातियों के दो वर्ग थे - देवतानुयायी एवं देव विरोधी। गन्धर्व-किन्नर-किम्पुरुष आदि देवतानुयायी (5·5·21,6·7·2-4) तथा असुर, दैत्य , दानव आदि देव विरोधी थे (3·18·22-23)। इन दोनों के परस्पर संघर्ष के भी सन्दर्भ मिलते हैं (8·10· व 8·15)।

यक्ष एवं गुह्यक (यक्ष जैसी ही एक अर्द्ध देवों की श्रेणी, आप्टे,1981,350) तथा रक्षस् (राक्षस) कुबेर के अनुचर कहे गये हैं (4·6·28,34)। गुह्यकों या यक्षों को "पुण्यजन" भी कहा गया है (4·10·4)। इनका निवास हिमालय में कैलाश व सन्निकट क्षेत्रों में था (4·4·4,4·10·4-5)। यक्षराज कुबेर की राजधानी अलकापुरी कैलाश के समीप स्थित थी (4·6·23,28)। यक्ष एवं रक्ष बलशाली तथा युद्ध विद्या में निपुण थे (4·10·7-15) तथा आसुरी माया के ज्ञाता थे (4·10·28, 4·11·2)। यक्ष विमान विहारी भी थे (4·6·27)। यक्ष एवं रक्ष की उत्पत्ति की पौराणिक कथा का भी उल्लेख मिलता है (3·20·20-21)। रामायण काल में राक्षसों का अधिपति रावण था। वस्तुतः यक्षाधिपति कुबेर व राक्षसाधिपति रावण दोनों सौतेले भाई थे जो विश्रवा मुनि की सन्तान थे (4·1·36-37) तथा यक्षों की राजधानी पूर्व में लंका ही थी, किन्तु साम्राज्यवादी आकांक्षा के वशीभूत

रावण की क्रूरता के कारण यक्ष लंका त्यागकर हिमालय के अलकापुरी में अपना निवास बना लेते हैं §जायसवाल,1983,88§।

गन्धर्व संगीतज्ञ §नट, नर्तक व गायक§ के रूप में प्रसिद्ध थे §3·24·7,7·8·36§, अतः तत्सम्बन्धित गान्धर्व वेद का भी उल्लेख मिलता है §3·12·38§। अप्सरस् भी नृत्य, संगीत व क्रीड़ा में दक्ष होती थीं §3·24·7, 7·8·36§। इनका निवास कैलाश §4·6·9§ व त्रिकूट §8·2·5§ था। गन्धर्वों में विश्वावसु तथा अप्सरस् में पूर्वचित्ति श्रेष्ठ कहे गये हैं §11·16·33§। विद्वानों का मत है कि अप्सरस् देवताओं की गणिकाओं व वरांगनाओं से भिन्न नहीं थीं।

किन्नरों व किम्पुरुषों की उत्पत्ति ब्रह्मा जी ने अपने रूपवान् प्रतिबिम्ब से की थी §3·20·45§। किन्नर कैलाश पर्वत §4·6·9§ व त्रिकूट पर्वत §8·2·5§ में निवास करते थे। किम्पुरुषों को अन्तर्धान होना तथा विचित्र रूप धारण करने की शक्ति प्राप्त थी §4·18·20, श्रीधरी टीका§।

नाग, सर्प एवं उरग §2·10·38§ देवताओं के अनुयायी उपदेव माने जाते थे §6·7·2-4§। नाग कद्रू से तथा सर्प क्रोधवशा से उत्पन्न कश्यप की सन्तानें थीं §6·6·22-28§। इनका निवास रसातल व पाताल बतलाया गया है §5·24·31§। भोगवतीपुरी इनकी राजधानी थी §1·11·11§। सर्पों में वासुकि तथा नागों में शेषनाग को श्रेष्ठ व प्रमुख बतलाया गया है §11·16·18-19§।

असुर, दैत्य व दानव समवर्गी शब्द हैं किन्तु पर्यायवाची नहीं। ये प्रायः मिलकर देवताओं से युद्ध करते थे, अतः इन्हें कभी-कभी पर्यायवाची समझ लिया जाता था। दैत्य और दानव,दिति और दनु से उत्पन्न कश्यप की सन्तानें थीं §6·6·24,31, 6·18·11,19§। ये श्याम त्वचा, विकराल वदन, कराल दंष्ट्र तथा रक्तवर्णी केश वाले होते थे §3·19·8, 6·9·13-14,7·5·39§। ये देवताओं, ब्राह्मणों, गौओं और जीवों के शत्रु §3·18·22-23§ तथा यज्ञ में विघ्नकर्ता कहे गये हैं §6·9·31§। ये मांसाहारी तथा सुरा एवं आसव

के व्यसनी थे (4·18·16)। असुर मायावी होते थे तथा इच्छानुसार रूप धारण कर सकते थे (3·2·30, 3·19·22)। इनका निवास अतल, वितल, सुतल तथा रसातल बतलाया गया है (5·24·16,30)।

भूत, प्रेत, पिशाच आदि रूद्रानुचर थे (4·10·5,5·24·17, श्रीधरी टीका)। ये भयावने प्राणी थे (6·8·24), जो दिगम्बर (वस्त्रहीन) एवं मुक्तकेश (बिखरे हुये बाल) रूप में रहतेथे (3·20·40)। ये मनुष्य का कच्चा मांस खाते थे, इसीलिये इन्हें "पिशताशन" कहते थे (4·18·21)। रुधिर इनका पेय था (4·18·21)। इनका निवास कैलाश (4·10·5) व वितल (5·24·17) बतलाया गया है। ये गगनचारी थे तथा अन्तरिक्ष इनका विहार स्थल था (5·24·5)। इसी वर्ग में कूष्माण्ड, विनायक, यातुधान, प्रमथ, मातृका, ब्रह्म-राक्षस आदि भयावनी जातियाँ भी रखी गयी हैं (6·8·24-25)।

पौराणिक साधु सन्यासी वर्ग जो अव्यवस्थित रूप से ऋषि (4·18·14), महर्षि (4·6·41), परमर्षि (4·2·4), ब्रह्मर्षि , देवर्षि, राजर्षि (11·16·14), मुनि (1·2·3), सिद्ध (2·6·13), साध्य (3·20·43) आदि कहे गये हैं। ये गगनचारी हैं तथा भूतल में होने वाली घटनाओं के साक्षी हैं। पितर (3·20·43), विद्याधर (3·10·27-28,3·20·44) तथा चारण (3·20·44) आदि को भी इसी वर्ग में सम्मिलित किया गया है। ऋषियों का उपरोक्त वर्ग कहीं-कहीं पर एकाकी रूप से यथा- दुर्वासा (9·5·1), नारद (4·8·25) आदि, तो कहीं पर मिश्रित रूप से दृष्टव्य है। स्पष्टतः इनके तीन वर्ग हैं -

1- प्रथम समूह में सिद्ध, विद्याधर , साध्य, पितर एवं चारण सम्मिलित हैं। साध्य एवं पितर अदृश्य दैवी जातियाँ हैं जो श्राद्धादि के द्वारा प्रदत्त हव्य एवं कव्य (पिण्ड) अर्पण को ग्रहण करते हैं (3·20·42-43)। सिद्धों को अणिमादि अष्ट सिद्धियाँ, विद्याधरों को आकाशगमन आदि विविध सिद्धियाँ प्राप्त थीं (4·18·19)। सिद्धेश्वरों में कपिल (11·16·15), विद्याधरों में सुदर्शन (11·16·29) तथा पितरों में अर्यमा (11·16·15) श्रेष्ठ बतलाये गये हैं।

2- द्वितीय समूह बालखिल्यादि ऋषियों का है जिनकी संख्या 60 हजार बतलायी गयी है §5·21·17§।

3- तारों एवं नक्षत्रों का मानवीयकरण भी महत्वपूर्ण है जिनमें सप्तर्षि §12·2·27§ अर्थात् मारीचि, अंगिरा, अत्रि, पुलत्स्य, पुलह, क्रतु और वशिष्ठ §4·29·43§ मुख्य हैं। ये सप्तर्षि मण्डल में सात तारों का मानवीयकरण हैं।

उपरोक्त वर्णन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ऋषि एवं तपस्वी उस व्यक्ति को कहते थे जो समाधि, योग, तप, ऐश्वर्य तथा विद्या से युक्त होते थे तथा वैराग्यमय शरीर धारण करते थे §3·20·52-53§। वे अणिमादि अष्ट सिद्धियों व वरदान तथा श्राप देने की शक्तियों से युक्त होते थे। देवताओं के क्रियाकलापों में उनकी स्वच्छन्द पहुँच थी। भागवतपुराण में ऋषियों की संख्या अत्यधिक है अतः इस विषय में कुछ कहना अनावश्यक है।

2- <u>अपार्थिव देवता</u> - पौराणिक धर्म में अनेक अपार्थिव देवताओं की पूजा विहित की गयी जिनमें पंच देवताओं की आराधना प्रधान है। पंच देवों में विष्णु, शिव, शक्ति, गणेश और सूर्य सम्मिलित हैं। पुराणकाल में इन देवताओं से सम्बन्धित पृथक्-पृथक् वर्ग भी हो गये, जो हिन्दू धर्म के अन्तर्गत स्वतन्त्र समुदाय के रूप में विकसित हुये। विष्णु से वैष्णव धर्म शिव से शैव धर्म, शक्ति से शाक्त धर्म और सूर्य से सौर धर्म का उत्कर्ष हुआ, जिनके पृथक्-पृथक् दर्शन व पूजन पद्धतियाँ थीं। इन पंच देवों में भी त्रिदेवों §ब्रह्मा, विष्णु व महेश§ का मान एवं प्रभाव अधिक हुआ जिसकी पृष्ठ भूमि इन §त्रिदेवों§ का सृष्टि के उद्भव व प्रलय के आदि कारण के रूप में प्रतिष्ठित होना है। इन्हीं से प्रस्फुटित होकर यह चराचर जगत प्रलय काल में अथवा मोक्षावस्था में उन्हीं में लीन हो जायेगा। अन्य देवताओं से उनकी यही विशेषता है। भागवतपुराण में उल्लिखित प्रमुख देवताओं का संक्षिप्त वर्णन निम्नलिखित है -

1- <u>ब्रह्मा</u> - ब्रह्मा भगवान के गुणावतारों में से एक हैं §2·4·12, 10·3·20§, जिनकी

उत्पत्ति विष्णु भगवान की नाभि कमल से हुयी है §3·8·13-14§। ये सृष्टिकर्ता देव हैं §3·8·32-33, 3·10·1-28§। ब्रह्मा को विश्वकृत् §3·12·27§, विश्वसृग् §2·9·17§, प्रजापति §2·9·39,3·7·25§ लोकपितामह §3·10·1§, धातः §3·9·42§, सृष्टा §3·10·29§, पाद्म §3·12·9§, आदिदेव §3·8·17§ आदि भी कहा गया है। पुराणकाल में ब्रह्मा को वह स्थान नहीं प्राप्त था जो विष्णु व शिव को प्राप्त था। ब्रह्मा द्वारा शिव की स्तुति §4·6·22-50§ व विष्णु की स्तुति §3·9·1-25, 8·6·8-15§ के उल्लेख से स्पष्ट है कि त्रिदेव में इनका स्थान गौण था। जिस प्रकार विष्णु की उपासना को लेकर वैष्णव सम्प्रदाय तथा शिव की उपासना को लेकर शैव सम्प्रदाय चला उसी तरह ब्रह्मा की उपासना को लेकर कोई सम्प्रदाय नहीं चला तथा विष्णु, शिव, सूर्य जैसे ब्रह्मा के न मन्दिर बने, न मूर्तियाँ ही स्थापित हुयीं। यह अभाव इस तथ्य का प्रमाण है कि ब्रह्मा का तत्कालीन जनजीवन में कोई प्रभाव नहीं रहा तथा समाज में उनका धार्मिक महत्व न के समान था।

2- शिव - शिव भी भगवान विष्णु के गुणावतार हैं §2·10·43,10·3·20§। उत्पन्न होते ही रुदन के कारण इनका नाम रुद्र पड़ा §3·12·10§। इसी प्रसंग में रुद्र को देवों का पूर्वज भी बतलाया गया है §3·12·8§। रुद्र के ही मन्यु, मनु, महिनस, महान्, शिव, कृतध्वज , उग्रेरता, भव, काल, वामदेव और धृतव्रत नाम दिये गये हैं §3·12·12§। सम्भवतः यहाँ एकादश रुद्रों का एक रूप कर दिया गया है। हृदय, इन्द्रिय, प्राण, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी , सूर्य, चन्द्रमा और तप, ये रुद्र के निवास स्थान बतलाये गये हैं §3·12·11§।

वैदिक ग्रंथों में शिव का मुख्य रूप से घोर रूप ही उपलबध होता है, परन्तु पुराण में उन्हें निर्वैर, शान्त विग्रह तथा आत्माराम बतलाया गया है §4·2·2§। शिव का प्रिय निवास स्थान कैलाश था §4·6·8§। सिद्ध योगी के स्वरूप में वे भस्म, दण्ड, जटा, और मृगचर्म धारण करते हैं, रुद्राक्ष की माला धारण कर, योगपट्ट का आश्रय लेकर तर्कमुद्रा में आसीन हैं तथा सिद्ध, साधु एवं महर्षि गणों द्वारा सेवित हैं §4·6·36-41§, परन्तु अन्य §घोर§ रूप में वे चिता की अपवित्र भस्म को शरीर में लगाये, गले में नरमुण्डों की

माला धारण किये, अस्थियों के आभरण धारण किये, भूत प्रेत गणों से आवृत्त वर्णित हैं §4·2·14-16§। समुद्र मन्थन के समय विषपान कर चराचर जगत का उन्होने उपकार किया है। विषपान से उनका कण्ठ नीला पड़ गया, जिससे वे "नीलकण्ठ" कहलाये §8·7·42-43§।

शिव आर्य और अनार्य दोनो के देवता हैं। कल्याणकारी व विध्वंसक कार्यो के कारण उन्हें महादेव, हर, शिव, शंकर व रूद्र के नाम से जाना जाता है। वे प्रजाध्यक्ष भी कहे जाते हैं। "पशुपति" के रूप में वे पशुचारक के देवता हैं। शिव व शंकर के रूप में वे कृषकों के देवता हैं। अवनिाश चन्द्र दास §1971,445§ ने शिव का प्रत्याभिज्ञान सूर्य से किया है। ग्रीष्म ऋतु में जब सूर्य की प्रखर किरणों से सम्पूर्ण भूमण्डल अत्यन्त तप्त हो जाता है, चक्रवातों से वृक्ष गिर जाते हैं तथा वर्षा ऋतु के प्रारम्भिक चरण में विद्युत चमक तथा तीव्र पवन के झकोरों से सामान्य जनजीवन नष्ट हो जाता है, स्पष्टतः शिव का यह रौद्र रूप है। वर्षा समाप्ति के बाद स्वच्छ आकाश, महामारियों व कीटाणु रहित स्वच्छ पवन, वर्षा के कारण ठण्डी पवनों व उत्तम तापमान तथा खाद्यान्नों के विकास के लिये उचित वर्षा व ताप कल्याणकारी स्वरूप को प्रदर्शित करते हैं। शिव के ये दो रूप स्पष्टतः प्राकृतिक पर्यावरण से ही सम्बन्धित हैं।

3- <u>विष्णु</u> - भागवतपुराण में विष्णु के दो रूप उपलबध होते हैं। एक तो विष्णु का स्वतन्त्र रूप से वर्णन मिलता है और दूसरे कृष्ण की विष्णु के साथ एकरूपता दर्शित की गयी है। इनमें अधिकांशतः कृष्ण व विष्णु की एकरूपता का ही दर्शन होता है। कहीं विष्णु को गुणावतार माना गया है तो कहीं पर परमतत्व के रूप में वर्णन किया गया है। तीनों गुणों §रज, सत्व व तम§ के ब्रह्मा, विष्णु व शिव अवतार बतलाये गये हैं §2·4·12, 10·3·2·§। ब्रह्मा व शिव दोनों परमात्मा विष्णु में विराजमान हैं। ब्रह्मा, विष्णु व शिव का वास्तव में एकत्व है §4·7·50-52§। त्रिदेवों में विष्णु को सर्वश्रेष्ठ सम्मानित किया गया है §5·5·22, 10·89·15§। ब्रह्मा द्वारा विष्णु के पद प्रक्षालन का उल्लेख है, यही जल गंगा के रूप में प्रवाहित होता है जिसे शिव अपने मस्तक पर धारण करते हैं §1·18·21§। इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि पुराणों की साधारण प्रवृत्तियों के अनुसार त्रिदेवों में परस्पर सौहार्द्र

व एकता की भावना है। उनमें छोटे-बड़े की कल्पना निरी साम्प्रदायिकता है।

विष्णु को कार्य जगत् की स्थिति, परिपालनकर्ता, सृष्टि कर्ता एवं संहार कर्ता कहा गया है ‧2·7·40-41‧। विष्णु का आयाम अत्यन्त विशाल है। व्यापक होने के कारण ही उन्हें "विष्णु", विजयी होने के कारण "जिष्णु" दुःख और पाप हरने के कारण "हरि", अपनी ओर आकृष्ट करने के कारण "कृष्ण", बिकुण्ठ धाम के अधिपति होने के कारण "बैकुण्ठ" तथा क्षर अक्षर पुरुष से उत्पन्न होने के कारण "पुरुषोत्तम" कहा गया है। इन्हें उपेन्द्र ‧उप + इन्द्र‧ भी कहा जाता है। विष्णु ने वामन के रूप में अपने तीन कदमों से सम्पूर्ण विश्व को नापा था ‧8·20·11-34‧। यह आख्यान यह सिद्ध करता है कि विष्णु सूर्य का प्रतीक है। सूर्य प्रातः, मध्याह्न एवं सांयकाल में अपनी किरणों से सम्पूर्ण पृथ्वी को नापते हैं। सूर्य के तीन कदमों से ब्रह्माण्ड के नापने के भी सन्दर्भ मिलते हैं ‧8·20·11-34‧। उनसे आशय आकाश, अन्तरिक्ष व पृथ्वी से है जहाँ सूर्य अपना मार्ग तय करता है। विष्णु ‧सूर्य‧ को वामन इसीलिये कहा जाता है, क्योंकि वह सूर्य से अत्यन्त छोटा ‧वामन के आकार का‧ दिखाई देता है। विष्णु के विभिन्न अवतार भूमण्डल पर जीवन के विकास की व्याख्या करते हैं ‧शुक्ल, 1984,256-257‧।

आधुनिक ज्ञान के आलोक में अवतारवाद की व्याख्या -

विष्णु के साथ ही उनके अवतारों को भी देवता माना गया तथा उनकी पूजा का विधान किया गया। भागवतपुराण के अनुसार यद्यपि अवतारों की संख्या असंख्य है ‧1·3·26-28‧, किन्तु 10 अवतार मुख्य हैं - मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध, तथा कल्कि। अन्य अवतारों में सनकादि, नारद, नर-नारायण, कपिल, दत्तात्रेय, यज्ञ, ऋषभ, पृथु, धन्वन्तरि, मोहिनी, व्यास, ध्रुव नारायण, हयग्रीव, गजेन्द्रोद्धारक, हंस आदि का उल्लेख मिलता है ‧1·3,2·7,10·40,11·4‧।

अवतारवाद पौराणिक धर्म की अति महत्वपूर्ण विशिष्टता है। धार्मिक दृष्टिकोण

से इसका प्रधान प्रयोजन धर्म स्थापन तथा अधर्म विनाशन था ﴾म0पु0,34·12﴿ , परन्तु इसका अन्तर्वैज्ञानिक महत्व भी है। मत्स्य कूर्मादि उपरोक्त 10 अवतारों का विवेचन विकास क्रम की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण है। अवतारवादी आख्यानों के प्रसंग में आने वाले कतिपय घटनात्मक कार्य व्यापार, उदाहरणार्थ-वानरों द्वारा निर्मित पत्थरों का पुल, वन में निवास की परम्परा, अजिन एवं वल्कल का वस्त्रों के रूप में प्रयोग, वराह द्वारा दाँत का प्रयोग, नृसिंह द्वारा नख का प्रयोग , वामन के हाथ में दण्ड, परशुराम द्वारा कुल्हाड़ी या परशु का प्रयोग, राम द्वारा धनुष वाण का प्रयोग इत्यादि उपकरण मानवशास्त्रीय दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। इस अवतारवादी धारणा में विकासोन्मुख प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं। उनका क्रमबद्ध विवेचन करने पर एक स्वतन्त्र अवतारवादी क्रम से विकसित मानव सभ्यता के विकास क्रम का पता लगता है।

डार्विन का विकासवाद का सिद्धान्त मूलतः अवतारवाद का सिद्धान्त है। सृष्टि एवं सभ्यता के विकासवादी अध्ययन के क्रम में विकास की अपेक्षा अवतार अधिक वैज्ञानिक प्रतीत होता है। प्राकृतिक विज्ञानों के विकास और अवतारवादी विकासवाद में प्रमुख साम्य यह प्रतीत होता है कि दोनों ही सूर्य सेपृथ्वी ग्रह का अवतरण, पृथ्वी पर जलजीवों का आविर्भाव , जलजीवों से जलपशु, जलपशु से जल-स्थली उभयपशु, उभयपशु से सरीसृप पशु पक्षी, सरीसृपसे पशु, पशु से पशु मानव, पशुमानव से मानव और मानव से मेधावी मानव के आविर्भाव जैसा मिलता जुलता क्रम मानते हैं, किन्तु दोनों के अध्ययन एवं विश्लेषण की पद्धतियों में मुख्य अन्तर यह है कि प्राकृत विज्ञानवेत्ता एवं मानवशास्त्री जहाँ भूगर्भ शास्त्रीय पद्धतियों एवं उपादानों के अध्ययन द्वारा वस्तुनिष्ठ भौतिक पदार्थो या स्थूल शारीरिक पक्षों के विश्लेषण द्वारा सृष्टि एवं मानव सभ्यता का विकास क्रम निर्धारित करते हैं, वहाँ पौराणिक अवतारवादी अध्येताओं ने विभिन्न युगों के प्रतिनिधि प्रतीकों के द्वारा शक्ति, बल, पराक्रम तथा भौतिक, जैविक, पाशविक, शारीरिक, सामूहिक और आत्मिक शक्तियों का अवतरण क्रम निर्धारित किया है।

अवतारवादी पुराण प्रतीकों का भूगर्भीय युग विभाजन की दृष्टि से तुलनात्मक

अध्ययन अधिक युक्ति संगत है। दोनों का तुलनात्मक रूप निम्नलिखित क्रम में प्रस्तुत किया जा सकता है {पाण्डेय,1963,663-665 तथा होम्स,1975,105} -

	युग क्रम	पुराप्रतीक	भूगर्भिक समय
1-	अस्तित्व	विष्णु	-
2-	आदि सृष्टा युग	प्रजापति	-
3-	अजीव युग {ऐजोइक युग}	अदिति-कश्यप	2 अरब वर्ष पूर्व
4-	मनोजीवि युग {साइकोजोइक युग}	मनु	-
5-	अति सुपरा जीव युग या प्रथम जल जीव युग {आर्किजोइक युग}	लघु मत्स्य	1 अरब 75 करोड़ वर्ष पूर्व
6-	सुपरा जीवयुग या जल जीव युग {प्रोटेरोजोइक युग}	मत्स्य	1 अरब 10 करोड़ वर्ष पूर्व
7-	पुरा जीवयुग {पैल्योजोइक युग}	महामत्स्य	35 करोड़ वर्ष पूर्व

{बृहत् जलजीवयुग के बाद सरीसृप युग का प्रारम्भ }

8-	मध्य जीव युग {मेसोजोइक}	सरीसृप-नाग {पशु} सरीसृप-गरूड़ {पक्षी}	19 से 12 करोड़ वर्ष पूर्व
9-	नवजीव यूग {सेनोजोइक}	वराह, स्तन्धय-अश्व, गो	7 करोड़ वर्ष पूर्व

नवजीव युग

1-	प्रातिनूतन युग {इओसीन}	स्तन्धय-अश्व, गो एन्थ्रोपोऑयड-लंगूर	7 करोड़ वर्ष पूर्व
2-	आदि नूतन युग {ओलिगोसीन}	किन्नर {अश्वमुख+ मनुष्यवत शरीर	5 करोड़ वर्ष पूर्व
3-	प्रातिनूतन या हिम युग प्लीस्टोसीन	नृसिंह-एन्थ्रोपोमार्फस या वानर {विकल्पेन नरः} हरि-ह्यूमैनॉयड	10 लाख वर्ष पूर्व
4-	सर्वनूतन युग {रीसेन्ट}	किम्पुरुष, यक्ष-प्राचीन मानव, वामन-मेधावी मानव	25000 वर्ष पूर्व

वामन या मेधावी मानव युग	अति प्राचीन-बालखिल्य
	प्राचीन-सनत्कुमार
	परवर्ती प्राचीन-वामन

<u>मानव सभ्यता युग</u> -

1-	परशुराम युग -	परशुराम	भ्रमणशील या फिरन्दर मानव तथा पशुपालक।
2-	रामयुग	राम	पशुपालक, कृषक मानव, राजतन्त्रीय।
3-	कृष्ण युग-	कृष्ण-	पशुपालक, कृषक, औद्योगिक, प्रजातन्त्रीय, संगठित प्रजातन्त्रीय, चिन्तक।
4-	बुद्ध युग-	बुद्ध-	पशुपालक, कृषक, औद्योगिक, व्यापारिक, प्रजातन्त्रीय, अहिंसक।
5-	कल्कि युग-	कल्कि-	भावी मानव एवं उसकी सभ्यता का प्रतीक।

विशुद्ध भूभौतिकी दृष्टि से भूगर्भीय विकास क्रम का वैज्ञानिक महत्व हो सकता है, किन्तु मनोवैज्ञानिक विकास क्रम की दृष्टि से पुराणप्रतीकों के आधार पर किया गया मनो-भौतिक या मानसिक भौतिक विकास क्रम अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। सृष्टि क्रम को अधिक श्रृंखला बद्ध करने के लिये अवतारवादी पुराण प्रतीकों के साथ पौराणिक सृष्टि परम्परा के अन्य प्रतीकों को भी सम्मिलित किया गया है। इस क्रम का आरम्भ होता है सनातन सत्ता या चरम अस्तित्व के प्रतीक विष्णु से §3·8·15§, जो देश और काल से परे स्वतन्त्र अस्तित्व का द्योतक है। अतः इस सत्ता को किसी युग से सम्बन्धित नहीं किया जा सकता है। प्रजापति §6·4·19-20§ सृष्टि रचना या सृष्टि क्रम के प्रथम उपक्रम के द्योतक हैं। अदिति और कश्यप §6·6·25-42§ का सृष्टि रचना में तृतीय स्थान है। वास्तविक भूगर्भीय युग का आरम्भ इन्हीं के काल से जान पड़ता है। इनमें अजीव युग के तत्व लक्षित होते हैं। कश्यप, प्रजापति के उन तत्वों से युक्त हैं, जिनमें सृष्टि उत्पत्ति के अनेक तत्व विद्यमान हैं। मनोचेतना को शरीर और चेतना से युक्त जीव का आदि कारण माना जा सकता है। भूतों में विद्यमान मनोचेतना ही

जीवोत्पत्ति की क्षमता रखती है। मनु§3·12·53-56§ इस परिकल्पना के मूलाधार जान पड़ते हैं। "मनु" शब्द एक व्यक्ति को नहीं बल्कि एक वंशानुगत क्रम का भी वाचक है। §वैदिक माइथोलॉजी,265,उद्धृत पाण्डेय,1963,666§। सृष्टि विकास के मूल में जो प्रथम जीवसत्ता उत्पन्न हुयी थी, वह जलीय प्ररस §प्रोटोप्लैस्मिक§ सत्ता थी। न्यष्टि या न्यूक्लियस के साथ मिलकर प्रथम "जीवकोशा" के रूप में प्रादुर्भूत हुयी। सम्भवतः प्रथम जीवकोशा का ज्ञापक पौराणिक लघुमस्त्य §8·24·12§ है। लघु मत्स्य एक ऐसा प्रतीक है, जिसमें एक कोशीय "अमीबा" या "कामरूपी" के सभी गुण लक्षित होते हैं। लघु मत्स्य को आदि जीव या उद्भिज् दोनों का प्रतीक माना जा सकता है। पुराणों में वर्णित प्रलयावस्था §8·24·32-33§ सृष्टि के जलयुग का द्योतक है। भागवतपुराण में एक ऐसे मत्स्य का उल्लेख है जो उत्तरोत्तर वर्द्धनशील है तथा मनु उसके स्थान परिवर्तन §जलपात्र-सरोवर-नदी-समुद्र§ में सहायक हैं §8·24·11-23§। इस कथा में मत्स्य का आकार परिवर्तन दिक्काल सापेक्ष है। मत्स्य का स्थानान्तरण एवं परिवर्तन एक ओर तो जलजीवों के युग सापेक्ष वैशिष्ट्योद्भव का परिचायक जान पड़ता है, जिसमें मनु जैसे मनः शक्ति का विशेष योग रहा है। मनःशक्ति की प्रेरणा से लघुमत्स्य, मत्स्य रूप में आता है। मत्स्य से लेकर बृहद् मत्स्य तक की क्रिया में जीव विकास के परिपोषण का एक कोश से बहुकोशीय होने की प्रक्रिया तथा स्थानगत और कालगत परिवर्तन या नभ्युद्भव का भान होता है।

समुद्र में आकर बृहद् रूप में मत्स्य के पराक्रम का सक्रिय रूप लक्षित होता है। वह अब श्रृंगतनु के रूप में मनु शक्ति का रक्षक है तथा अखिल सृष्टि के बीज और औषधियों की भी वह रक्षा करता है §8·24·33-36§। इस रूप में बृहत् मत्स्य सरीसृप युग के प्रारम्भिक पशुओं का भी द्योतक है, क्योंकि सरीसृप युग के जीव बहुत भयंकर और विशालाकार माने जाते हैं। सर्वप्रथम इनका विकास जल में ही हुआ और बाद में इनका सम्बन्ध जल एवं स्थल दोनों से हो गया। सहस्रों युगों के पश्चात् समुद्र में मिट्टी का स्तर ऊपर उठने लगा और जल धीरे-धीरे समुद्र में बहकर जाने लगा। परिणामतः जलीय जीवों के रहने के लिये जल एवं स्थल दो स्थान हो गये। कूर्मावतार का कूर्म

§2·7·13§ इस युग का प्रतिनिधिक पुराण प्रतीक माना जा सकता है। मत्स्य के अनन्तर कूर्म में ही सर्वप्रथम चौपाये जानवरों से मिलते जुलते पाद, शिर, ग्रीवा आदि का विकास दृष्टिगत होता है। इसी युग में जल व स्थल में रहने वाले सरीसृपों तथा इन सरीसृपों से उड़नशील सरीसृपों का उद्भव हुआ। लगभग जुरैसिक युग में इनके उड़ने की क्षमता का विकास हुआ। कश्यप की दो पत्नियाँ कद्रू एवं विनता से क्रमशः नाग और गरूड़ उत्पन्न हुये §6·6·21-22§। इनमें नाग सरीसृप प्राणियों के प्रतीक थे तथा पौराणिक गरूड़ को उड़नशील सरीसृप या प्रचीन पक्षी के समानान्तर प्रतीक मान सकते हैं। गरूड़ एवं नागों का संघर्ष §10·44·36,10·59·7§ विकासवाद की दृष्टि से "अस्तित्व के लिये संघर्ष" का परिचायक प्रतीत होता है।

सरीसृप जीव युग के अनन्तर प्राणिवैज्ञानिक स्तनन्धय या मैमल्स प्राणियों का युग मानते हैं जो पौधों एवं निकृष्ट जीवों या पृथ्वी खोदकर कन्दमूलादि का भक्षण करते थे। फलतः इन पशुओं में तेज चाल और नुकीले दाँत तथा मुख का विकास हुआ। परिणामतः वराह युग में कूर्मवत् चाल एवं मुख वाले प्राणियों का रूपान्तरण तीव्रगामी तथा खोदकर खाने वाले उस वराह §3·13·18-23§ के रूप में हुआ। इस युग में संघर्ष अपनी पूर्ण गति में था। अश्व, गो, वृषभ आदि का भी उद्भव इसी युग में हुआ परन्तु अस्तित्व के लिये संघर्ष में सर्वाधिक कठोर होने के कारण वराह अपने युग का वास्तविक रूप से प्रतिनिधित्व करता है।

नृसिंह युग का प्रारम्भ वहाँ से सम्भव प्रतीत होता है जहाँ से वराह, कूर्म और मत्स्य कोटि के प्राणियों में अनेकानेक भयंकर जीव जन्तुओं और उनकी विभिन्न उपजातियों का प्रचार हुआ। इन जीवों में परस्पर ईर्ष्या, द्वेष, हिंसा, आक्रमण अदि मनोवृत्तियों एवं व्यापारों का विकास हुआ। ये खाद्य पदार्थ या अन्य आवश्यकताओं को लेकर परस्पर संघर्ष करने लगे। इस पशु संघर्ष में जीव का वास्तविक चयन किया हुआ जीव नृसिंह §2·7·14§ माना जा सकता है जो परक्रम एवं संघर्ष में अद्वितीय है। नृसिंह अर्द्धमानव एवं अर्द्धपशु के रूप में था §7·8·18-19§। दो पैरों से चलने वाले अनेक जीवों का

विकास नृसिंह युग में ही हुआ। इनमें हयग्रीव §2·7·11§, किन्नर §2·10·38§ जैसे पुराण प्रतीकों को परिगणित किया जा सकता है। इनके अतिरिक्त दो पादों से चलने वाले तथा दो अग्र पादों, नखों एवं मुख का प्रयोग करने वाले लंगूर या बन्दर, गिव्वन, औरंग उतांग, चिम्पनजी, गुरिल्ला और वनमानुष आते हैं जो आकृतिगत विशेषताओं की दृष्टि से मनुष्य और पशु दोनों से मिलते जुलते हैं। ये पुराण प्रतीक नृसिंह की तरह नखदार पंजे और मुख का प्रयोग करते हैं। संस्कृत में वानर को वा नरः, अथवा नरः, विकल्पेन नरः या विकल्प से नर भी माना जा सकता है। सम्भवतः इन्हीं से विकसित एक निकृष्ट कोटि के मानव की रूपरेखा मिलती है जिसे किम्पुरुष §2·10·38§ कहा गया है। तथापि नृसिंह इस युग का विशिष्ट पुराण प्रतीक अधिक उपयुक्त होता है। वस्तुतः नृसिंह कथा में पशुमानव सन्धि युग की अन्योक्ति अन्तर्भुक्त है क्योंकि नृसिंह हिरण्यकशिपु का वध सन्ध्या §दिन व रात्रि का सन्धि समय§ व चौखट §गृह के अन्दर व बाह्य का सन्धि स्थान§ में करते हैं §7·4·36,7·8·29§। वस्तुतः लंगूर से लेकर नेंडर थल मानव तक या हयग्रीव से लेकर किम्पुरुष तक की विकास अवस्था का द्योतक पशु मानव नृसिंह माना जा सकता है।

नृसिंह के अनन्तर जीवन विकास की द्वितीय अवस्था में लघु मानव या वामन §2·7·11§ का रूप प्रस्तुत किया जा सकता है क्यों कि पशु मानव रूप से जब मानव रूप का प्रादुर्भाव हुआ, तो उस प्रारम्भिक काल में आदिम मानव निश्चय ही शारीरिक और मानसिक दोनों दृष्टियों से सम्पूर्णतः विकास की अवस्था तक नहीं पहुंच सका होगा। उस काल में विशाल पशुओं और दैत्याकार भयंकर प्राणियों के मध्य में अनुपात की दृष्टि से वह छोटा रहा होगा किन्तु बुद्धि और मानसिक शक्ति की दृष्टि से उनकी अपेक्षा वह अधिक शक्तिशाली और पराक्रमी रहा होगा। इस प्रकार शरीर से लघु और बुद्धि से विराट् मानव अपने युग की अवस्था का द्योतक माना जा सकता है। वामन को प्रथम मेधावी मानव के समानान्तर देखा जा सकता है। मेधावी मानव की परम्परा में आने वाले "चान्स-लेडमानव" आकार में छोटा था और उसकी खोपड़ी विशाल थी। वामन चान्सलेड मानव की परम्परा के निकट प्रतीत होता है। वामन के अतिरिक्त वामन युग में "बालखिल्य"

जैसे मानव प्रजाति का अस्तित्व मिलता है जिनका आकार अत्यन्त लघु था §5·21·17§। ये "एन्थ्रोपोआएड्स" की तरह की आदतों से युक्त लक्षित होते हैं। नृसिंह युग के अन्तिम वर्ग किम्पुरुष तथा वामन युग के प्रारम्भिक बालखिल्यों में अन्तर यह है कि कम्पुरुष आचार-विचार और स्वभाव में पशुत्व के अधिक निकट है जब कि बालखिल्य मनुष्य या मानस तत्व के। वामन युग के प्राचीन पुरुषों में सनत्कुमारों का भी नाम लिया जा सकता है। इनके नामों के साथ सम्बद्ध सन्, सनातन, कुमार जैसे शब्द §1·3·6§ मानव सृष्टि के विकास की ही अवस्था को व्यंजित करने वाले "प्रतीकार्थ" प्रतीत होते हैं। भौतिक दृष्टि से गार्हस्थ बन्धन से मुक्त होकर लघुकुमारों की अवस्था में इनकी स्वेच्छा-चारिता आदिम मानव के कार्य व्यापारों तथा रूपों से बहुत कुछ साम्य रखती है, किन्तु बालखिल्यों और कुमारों में तुलना करने पर बालखिल्य अधिक पुरातन तथा कुमार परवर्ती पुरातन जान पड़ते हैं। यद्यपि इन सभी को वामन युग में ही ग्रहण किया गया है परन्तु प्रतीकात्मक प्रतिनिधित्व की दृष्टि से वामन की अवस्था अन्त में ही लक्षित होती है। वामन युग मनुष्य के उद्भव एवं विकास का ही युग नहीं है, अपितु मनुष्य की आदिम सभ्यता का प्रारम्भ भी उसी युग से विदित होता है।

मनुष्य इस सृष्टि रचना की अन्यतम कृति है। वामन शारीरिक और मानसिक विकास के आनुपातिक सम्बन्ध के द्योतक हैं। वामन के बाद मनुष्य का सम्बन्ध प्रकृति के विभिन्न साधनों और उपादानों से होता गया। वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये कतिपय उपकरणों के रूप में ऐसे माध्यम साधनों का आविष्कार कर प्रयोग करता गया, जिसके फलस्वरूप मानव सभ्यता का विकास होता गया। अतः मानव सभ्यता के आरम्भिक विकास प्रतीकों में परशुधारी परशुराम §9·15,9·16§ को ग्रहण किया जा सकता है। इसी से परशुराम युग को जीवन विकास युग की अपेक्षा मानव सभ्यता विकास युग कहना अधिक युक्ति संगत होगा। परशु और धनुषवाण लिये परशुराम का रूप वन में निवास करने वाले उस शिकारी मानव का प्रतीक है, जिस समय वह घने जंगलों में ही अपना विकास स्थल बनाकर "नवपाषाणयुग" के शिकारी मानव की तरह जीवन व्यतीत करता था। परशुराम का आयुध कुल्हाड़ी के समान परशु आदिम युग

के आयुधों में विशिष्ट स्थान रखता था। मानव शास्त्रियों के मतानुसार पुरापाषाण युग के प्रमुख महत्व के तीन सांस्कृतिक तत्वों में एक हाथ की कुल्हाड़ी का उपयोग भी रहा है। बाद में उसने दूरवेधी धनुषवाण का आविष्कार किया। इसके अतिरिक्त मानव सभ्यता के विकास एवं विस्तार में अग्नि का सर्वाधिक योग रहा है। परशुराम का सम्बन्ध जिस भृगु वंश से है, वैदिक मंत्रों के अनुसार वह वंश अग्नि का आविष्कारक भी रहा है। इस प्रकार अग्नि के अवतरण और मनुष्यों तक उसे पहुँचाने की पुराकथा प्रमुखतः मातरिश्वन् और भृगुओं से सम्बद्ध है §मैक्डोनल,प्र0सं0,266-267§। शिकारी युग के पश्चात् पशु-पालन युग का प्ररम्भ हुआ। पशुपालन युग में सर्वाधिक उपयोगिता की दृष्टि से अश्व एवं गो अधिक लोकप्रिय रहे। भागवतपुराण में परशुराम की आनुवंशिक परम्परा से सम्बन्धित गाधि द्वारा ऋचीक से एक सहस्र विशेष कोटि के अश्वों की माँग §9·15·6§ तथा परशुराम जी की कामधेनु गौ का अपहरण §9·15·25-28§ का उल्लेख पशुपालन युग के तत्कालीन महत्व को ही प्रदर्शित करती है। इस प्रकार मानव सभ्यता के विकास की दृष्टि से परशुराम शिकारी मानव तथा भ्रमणशील पशु मानव युग का प्रतिनिधत्व करने वाले पुराण प्रतीक का मानव है।

प्राचीन ऐतिह्य की एक महत्वपूर्ण सभ्यता का अस्तित्व धनुष बाण के बल पर व्यापक बना हुआ था। भारतवर्ष की सभ्यता एवं संस्कृति में भी तीर धनुष का अपना योगदान रहा है। राम §9·10,9·11§ इस युग की सभ्यता एवं संस्कृति के अन्यतम पुराण प्रतीक जान पड़ते हैं। उनके समस्त चरित्र में धनुर्वेद की प्रमुखता है। तत्कालीन भारत आर्यावर्त एवं दक्षिणावर्त दो भागों में विभक्त था, जो सांस्कृतिक दृष्टि से भिन्न थे। राम ने समस्त भारतवर्ष को एक सांस्कृतिक सूत्र में बांधने का कार्य किया। अतः राम अखिल भारतीय सांस्कृतिक ऐक्य के भी पुराण प्रतीक हैं। सीता का हल के फाल से सम्बन्धित होना तथा राजा जनक का हल चलाना कृषि युग के प्राधान्य का प्रतीक है §9·13·18§।

श्री राम की तरह श्रीकृष्ण भी पौराणिक प्रतीक शैली में भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति

के एक विशिष्ट युग के द्योतक प्रतीत होते हैं। पुराण प्रतीक बलराम और श्रीकृष्ण भारतीय सांस्कृतिक जीवन यापन के प्रमुख साधन कृषि और पशुपालन के व्यंजक हैं। कर्म एवं कर्म के भोग की वृद्धि इस युग का वैशिष्ट्य है।

श्रीकृष्ण युग में वैदिक पौरोहित्य से आक्रान्त भोगवाद चरम सीमा पर पहुँच गया था । अनेक वर्षों तक चलने वाले विशालकाय यज्ञों और उनमें प्रयुक्त होने वाले पशु मेध निश्चय ही हिंसा के प्रति वितृष्णा का भाव संचित करने लगे थे। इसके प्रतिक्रिया स्वरूप तृतीय या चतुर्थ शताब्दी में भोग से विरक्त एवं निवृत्तिमार्गी कतिपय सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होने हिंसा के स्थान में अहिंसा का और तपस्या, आत्मिक साधना, त्याग, उत्कर्ष तथा करूणा से पूरित निवृत्तिमार्गीय जीवन का आदर्श प्रवर्तित किया। बुद्ध की धर्म दर्शनायें अधिक लोकप्रिय एवं जनग्राह्य हुयीं। इसके अतिरिक्त श्रीकृष्ण युग में जिस प्रजातन्त्र का उद्भव हुआ, बुद्ध के युग में उनका अत्यधिक विस्तार हुआ। इस प्रकार बुद्ध श्रीकृष्णोत्तर भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के द्योतक विशिष्ट पुराण प्रतीक विदित होते हैं।

पुराण प्रतीक कल्कि सम्भावनात्मक कल्पना की देन है। पूर्णानुभूत घटनाओं का आधार लेकर तथा वर्तमान दुरवस्थाओं का एक मार्मिक रूप उसमें समाहित कर दोनों के कलुष या "कल्क" से युक्त कल्कि युग की आगमिष्यत रूपरेखा प्रस्तुत की गयी है। कल्कि युग में जागतिक एवं विनाशकारी संघर्ष के उपरान्त नयी सृष्टि के प्रादुर्भाव की परिकल्पना की गयी है। वर्तमान युग में अणु और परमाणु शक्ति की भयानकता को देखते हुये इस परिकल्पना को अधिक असम्भाव्य नहीं कहा जा सकता है ﴾पाण्डेय, 1963, 665-690﴿।

4- <u>शक्ति</u> - शक्ति ﴾देवी﴿ की पूजा अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित है। शक्ति को नारी रूप में अभिव्यक्त किया गया है जिसके दिव्य स्वरूप को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया गया है। सृष्टि की प्रक्रिया में नारी का योगदान स्पष्टतः अभूत पूर्व है। शक्ति का प्रारम्भिक रूप शिव की पत्नी उमा हैं। हिन्दू धर्म में विष्णु एवं शिव के अतिरिक्त यदि

किसी देवता की महिमा और गरिमा चरम सीमा तक पंहुची है तो वह केवल शक्ति §दुर्गा§ थी। वैष्णव एवं शैव सम्प्रदाय की तरह परवर्ती काल में शाक्त साम्प्रदाय का भी उदय हुआ, जो अत्यन्त प्रभाव कारी रहा। कालान्तर में शक्ति के अनेक नाम जुट गये, जो उनके विकसित होने वाले क्रमिक रूप के परिचायक हैं। अम्बिका अथवा पार्वती §10·52·42, 10·53·44-49§, कात्यायनी §10·22·1-6§, भद्रकाली §5·9·12§, दुर्गा §10·56·35§, योगमाया §10·2·6§, विजया, वैष्णवी, कुमुदा, चण्डिका, कृष्णा, माधवी, कन्यका, माया, नारायणी, ईशानी, शारदा §10·2·11-12§ आदि विभिन्न नाम उनको प्रदान किये गये, जो उत्तरोत्तर वृद्धिशील स्वतन्त्र अस्तित्व को स्पष्ट करते हैं, न कि दूसरे देवताओं के प्रभाव को।

5- सूर्य - द्यु लोक और अन्तरिक्ष का सबसे महत्वपूर्ण यह देवता ताप और प्रकाश का अदितीय स्रोत है §2·6·16, 5·21·3§, जिसकी स्थिति द्यावा §स्वर्ग§ और पृथ्वी के मध्य §ब्रह्माण्ड के केन्द्र में§ बतलायी गयी है §5·20·43§। सूर्य के द्वारा ही दिशा, आकाश, द्युलोक §अन्तरिक्ष§, भूर्लोक, स्वर्ग, रसातल, तथा अन्य समस्त भागों का विभाग होता है §5·20·45§। सूर्य दिन रात्रि का हेतु है। सूर्य की उत्तरायण, दक्षिणायन व वैषुवत् गतियों §5·21·3§ से दिन व रात्रि हृस्व व दीर्घ होते हैं§5·21·6§ तथा ऋतु परिवर्तन सम्भव होता है §5·21·13§। सूर्य अपनी रश्मियों से वाष्पीकरण द्वारा जलवृष्टि भी करते हैं §4·16·6,4·22·56§। इसी जीवन दायिनी प्राकृतिक शक्ति के कारण सूर्य को समस्त जीव समूह का अधिष्ठाता §5·20·46§ अर्थात् स्थावर एवं जंगम जगत के प्राणियों की आत्मा तथा उन्हें पोषण करने वाला §पूषा-12·11·39§ कहा गया है। ताप एवं प्रकाशपुंज सप्त रश्मि रूप अश्वों §5·21·15§ से वाहित रथ पर समारूढ़ सूर्य धाता, अर्यमा, मित्र, वरूण, इन्द्र आदि बारह रूपों से भी समीकृत किये गये हैं §12·11·33-44§ जिसमें इनकी सूर्य के समान ही प्राणियों एवं वनस्पतियों को प्रसव करने के साथ ही पालन पोषण करने की आलौकिक शक्ति समाहित है §द्विवेदी, 1985,239§। स्पष्टतः भौगोलिक वातावरण में तापक्रम एवं वर्षा प्रमुख होने से सूर्य जलवायु का अधिष्ठाता स्वरूप है। सूर्य की उपरोक्त विशेषताओं के कारण ही इसे देवता के रूप में प्रतिष्ठापित किया गया।

भागवतपुराण में सूर्य को विष्णु का रूप बतलाया गया है (5·20·5, 12·11·29-30)। सूर्य की गणना दस अधिष्ठातृ देवताओं में की गयी है (2·5·30)। सूर्य पूजा का संकेत मात्र मिलता है (5·7·13-14· 5·12·12, 5·20·5)। सूर्य पूजा के लिये दीपदान दिया जाता था (1·11·4)।

6- इन्द्र - इन्द्र को मघवन् (8·11·38), महेन्द्र (6·8·3), लोकेश (10·25·16), सहस्राक्ष (6·8·1), शतक्रतु (6·9·42), वज्रधर (6·11·9), शक्र (6·11·23), सुरेन्द्र (6·12·1) आदि भी कहा गया है। कृषि का परिणाम इन्द्र के अधीन है (10·24·10)। ये वर्षा करने वाले मेघों के स्वामी हैं, जो प्राणियों को तृप्त करने वाला एवं जीवनदान देने वाला जल बरसाते हैं (10·24·8)। इसीलिये तत्कालीन भारतीय इन्द्र यज्ञ किया करते थे (10·24·9)। उनचास् मरूद्गण उनके सहायक हैं तथा ऐरावत गज उनका वाहन है (10·25·7)। अष्टधार वाला (8·11·28) तथा सौ गांठों वाला वज्र (6·12·25) उनका प्रमुख आयुध है। पूर्वयुग में पर्वत जब पक्षों से उड़ा करते थे तथा गिरकर प्रजा का विनाश करते थे, तब इन्द्र ने वज्र से उनके पक्ष काट डाले थे (8·11·34)। ये पूर्व दिशा के देवता हैं तथा देवधानी इनकी पुरी है (5·21·7)।

वैदिक भारतीयों ने इन्द्र को एक प्रबल भौतिक शक्ति माना है, जो उनकी सैनिक विजय एवं साम्राज्यवादी विचारों का प्रतीक है। वृत्रवध, जिसका उल्लेख भागवतपुराण में भी है (6·12·5-30), के सम्बन्ध में विद्वानों का मत है कि वृत्र अनावृष्टि का दानव है और उन बादलों का प्रतीक है जो वर्षा नहीं करते हैं। इन्द्र नें अपने वज्र के प्रहार से अनावृष्टि रूपी वृत्र का वध कर जल को मुक्त करते हैं, जिससे पृथ्वी पर वर्षा होती है (पाण्डेय, 1978, 100)।

पौराणिक देवमण्डल में इन्द्र का वह स्थान नहीं है जो वैदिक देवमण्डल में था तथापि उन्हें सुरेश्वर (6·9·4) व लोकेश (10·25·16) कहा गया है तथा 49 मरूद्गण, अष्टवसु, एकादश रूद्र, आदित्य, ऋभुगण, विश्वेदेव, साध्यगण, अश्विनौ, सिद्ध,

चारण, गन्धर्व, मुनिगण, विद्याधर , अप्सरस्, किन्नर, नाग आदि सभी उनके सेवक कहे गये हैं ﴾6·7·2-6﴿।

7- वरूण - वरूण को पांपति ﴾3·17·29﴿, जलेश ﴾3·18·1﴿ एवं प्रचेतस् ﴾2·3·7﴿ भी कहा गया है। समुद्र उनका निवास स्थान है। वह जलचरों में श्रेष्ठ एवं उनका स्वामी कहा गया है ﴾11·16·17﴿, वे पश्चिम दिशा के लोकपाल हैं ﴾3·17·27-28﴿ तथा पश्चिम में स्थित निम्लोचनीपुरी उनकी राजधानी है ﴾5·21·7﴿। पाश उनका प्रमुख आयुध है ﴾6·8·13﴿। जलचर उनके सैनिक हैं ﴾3·17·25﴿। वे समुद्र में अपार कोष छिपाकर रखे हैं ﴾4·22·59﴿। अतः कोष की प्राप्ति के लिये वरूण की उपासना करने को कहा गया है ﴾2·3·7﴿।

8- चन्द्रमा - चन्द्रमा प्रभु का मन कहा गया है ﴾8·5·34﴿, इसीलिये देवताओं में उसे विशेष सम्मान प्राप्त था। वे वृक्षों ﴾8·5·34﴿, औषधियों ﴾4·30·14﴿ एवं वन के स्वामी ﴾8·18·5﴿ कहे गये हैं। अन्नमय एवं अमृतमय होने के कारण वे समस्त जीवों के प्राण हैं। ये ही देवता, पितर, मनुष्य, भूत, पशु, पक्षी, सरीसृप, वृक्षादि समस्त प्राणियों का पोषण करते हैं, इसलिये वे "सर्वमय" कहे गये है ﴾5·22·10﴿। मेरू के उत्तर में स्थित विभावरीपुरी उनकी राजधानी है ﴾5·21·7﴿। भोगों के लिये चन्द्रमा की उपासना करने को कहा गया है ﴾2·3·9﴿। स्पष्टतः तत्कालीन आर्यो के जीवन में सूर्य के बाद चन्द्रमा का प्रभाव महत्वपूर्ण था, इसीलिये चन्द्रमा को देवता मानकर उनकी पूजा की परम्परा चली।

8- यम - ऋग्वेदीय धारणानुसार यम आदि पुरूष थे, जब कि पौराणिक काल में वे मृत्यु के देवता माने गये हैं। महिष उनका वाहन है, दण्ड उनका आयुध है ﴾5·10·17﴿। उनके दो रूप हैं - यमराज एवं धर्मराज। यमराज रूप से दुष्ट मनुष्यों को दण्ड देकर नरकादि भेजते हैं ﴾5·26·6,37﴿ तथा धर्मात्मा मनुष्य को स्वर्गादि में भेजकर पुरस्कृत करते हैं ﴾पाण्डेय, 1978, 534﴿। दक्षिण में स्थित यमालय उनका निवास स्थान है ﴾5·26·37﴿। संयमनीपुरी उनकी राजधानी है ﴾5·21·7﴿। वे सूर्य के पुत्र तथा

पितरों के स्वामी हैं §5·26·6§। दण्डधारियों में वे श्रेष्ठ कहे गये हैं §11·16·18§।

उपरोक्त देवताओं के अतिरिक्त द्वादश आदित्य §6·6·39§, एकादश रुद्र §6·6·17-18§, दस प्रजापति §3·12·22§, अष्ट वसु, 49 मरुत् §6·7·2§, दिग्देवता §5·14·9§, अष्ट लोक पाल §5·16·29§, दो अश्विन §6·10·17§, ऋभुगण §6·10·17§, विश्वेदेव §6·10·17§, निऋति, वायु §6·3·14§ तथा अन्य अनेक देवताओं का उल्लेख मिलता है, परन्तु उन सबका यहाँ पर वर्णन करना सम्भव नहीं है।

3· धार्मिक संस्कार या आचार -

भारतीय संस्कृति धर्म से कुछ इतर वस्तु नहीं है और भारतीय धर्म इतना व्यापक है कि उसके परिवेश में संस्कृति के सभी तत्व समाविष्ट हो जाते हैं। भारतीय हिन्दू धर्म में मानव द्वारा अच्छे व्यवहार को ही आचार कहा गया है। अच्छा व्यवहार उसे कहते हैं जिसमें स्वयं हमारा और सम्पूर्ण विश्व का हित है। इसके विपरीत अनाचार है। जो भी व्यवहार सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत उपयोगी होने से करणीयता को प्राप्त हो जाता है, वही परम्परा से पुष्ट होकर आचार बन जाता है। अतः आचार निर्णय की पृष्ठभूमि पूर्णरूपेण समाजनिष्ठ है।

आचार विषयक मान्यतायें देश और काल के अनुसार बदलती रहती हैं। सामाजिक मान्यताओं के परिवर्तित होने पर आचार में भी परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। अतः यह सुनिश्चित है कि विभिन्न युगों एवं विभिन्न समाजों में आचार विषयक सामाजिक चेतना विभिन्न रूप धारण करती है, किन्तु इन सबका कारण प्रकृति की जटिलता तथा मानवीय क्षेत्र की विविधता है। तत्तत् काल के विभिन्न विचारक एवं मनीषी स्व-स्वमतानुसार विभिन्न विधि-निषेधों का निरूपण करते हैं §11·21·7§। इन सबका उद्देश्य एक ही है कि मनुष्य अपने को सामाजिक इकाई के रूप में रखकर अपना जीवनयापन कर सके तथा धर्मपालन कर सके §11·21·4§।

सांस्कृतिक दर्शन के लिये आचार का महत्व अत्यन्त गरिष्ठ है। आचार की आधार

शिला पर ही सामाजिक नियमों की व्यवस्था का निर्माण होता है। आचार मीमांसा एक गूढ़ विषय है, क्योंकि किन्हीं कार्यो की गणनामात्र कर देने से ही आचार का वास्तविक ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता है। मनुष्य एक बुद्धिमान प्राणी है। कार्यो को करने का आदेश मात्र उसे सन्तुष्ट नहीं करता है। एक ही कार्य तत्तत् परिस्थितियों, देश एवं काल के परिप्रेक्ष्य में परीक्षित होता है तथा तत्तत् व्यक्ति विशेष के लिये वह भेद को प्राप्त करता है। एक कार्य किसी के लिये करणीय है तो दूसरे के लिये वही कार्य अकरणीय हो सकता है। किसी देशकाल में वह करणीय हो सकता है जब कि दूसरे काल में वही त्याज्य हो सकता है। इसी आधार पर भागवतपुराण में गुण दोष का विधान किया गया है। इसे ही शुद्धि-अशुद्धि अथवा शुभ-अशुभ कहा गया है ﴾11·21·2-3﴿। किसी भी कार्य का ठीक-ठाक परीक्षण हो सके, इसीलिये एक ही समान वस्तु में गुण-दोष, शुद्धि-अशुद्धि अथवा शुभ-अशुभ का विधान किया जाता है ﴾11·21·4﴿। कहीं पर गुण भी दोष हो सकता है तो कहीं पर दोष गुण हो सकता है ﴾11·21·16﴿। पतितों के एक समान कार्य पतित लोगों के लिये पाप नहीं है जबकि श्रेष्ठ लोगों के लिये वही पाप है ﴾11·21·17﴿। सन्ध्या-वन्दन, जप-तप आदि ब्राह्मणों के लिये गुण है जब कि शूद्रों के लिये दोष है। सन्तान की कामना के लिये स्त्री संग गृहस्थ के लिये गुण, जबकि सन्यासी के लिये दोष है ﴾11·21·17﴿। इसीलिये गुण-दोष का विचार आचार नियमों के लिये किया जाता है ﴾11·21·7﴿।

भारतीय संस्कृति में आचार का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। हिन्दू विधान का विकास यह प्रदर्शित करता है कि आचार ने, जो कि विधि विधान का मूल है, हिन्दू विधि विधान के निर्माण में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। कोई भी मनुष्य अपने जीवन में तब तक पूर्णता को प्राप्त नहीं कर सकता है जब तक वह आचार एवं व्यवहार का समुचित रूपेण पालन नहीं करता है।

भागवतपुराण कालीन समाज में प्रचलित आचारों को निम्न प्रकार से वर्गीबद्ध कर अध्ययन कर सकते हैं -

§अ§ सामान्य आचार	- अतिथि सत्कार एवं भिक्षा दान।
§ब§ अनिवार्य आचार	- §क§ दैनिक संस्कार
	§ख§ विशेष समयों पर सम्पन्न होने वाले विशिष्ट संस्कार एवं उत्सव।
§स§ स्वैच्छिक आचार	- कुछ निश्चित आकांक्षाओं की पूर्ति हेतु समाज के विशिष्ट वर्ग द्वारा प्रतिपादित निश्चित आचार।

§अ§ सामान्य आचार -

अतिथि सत्कार - अतिथि पूजन पंच महायज्ञों में से एक है। प्राचीन काल से ही आतिथ्य भारतीय शिष्टाचार की एक प्रमुख विशेषता रही है। अतिथि सत्कार के पीछे एक मात्र प्रेरक शक्ति सार्वभौम दया भावना थी, किन्तु इस कर्त्तव्य भावना को महत्ता देने के लिये धार्मिक ग्रन्थों ने अनेक प्रेरक प्रंसग जोड़ दिये। भारतीय संस्कृति में अतिथि का अत्यन्त पूजनीय स्थान रहा है। भागवतपुराण में अतिथि को धर्म का स्वरूप कहा गया है §6·7·30§। अतिथि सत्कार के नियम हैं - आगे बढ़कर स्वागत करना §10·80·18§, यदि अतिथि समवयस्क है तो आलिंगन द्वारा §10·80·18§ तथा यदि ज्येष्ठ है तो चरणों में सिर रखकर या सिर झुकाकर तथा अन्यों से हाथ मिलाकर स्वागत करना एवं अभिवादन करना §1·13·5,37§, आसन देना §1·13·6§, पैर धोने के लिये जल देना §पाद्य§ या स्वयं पैर धोकर चरणोदक सिर पर धारण करना §10·80·20-21§, दधि, अक्षत, जलपूर्ण पात्र, माला एवं गन्ध आदि से सत्कार करना §10·41·30, 10·80·20§, मधुपर्क, निर्मल वस्त्र, ताम्बूल, गाय आदि भेंट देना तथा "स्वागतम्"इस प्रकार कहना §10·53·33,10·80·22§, अतिथि की कुशल क्षेम पूँछना §10·38·38, 10·39·4§, भोजन कराना, तदुपरान्त मुखवास, गन्ध माला आदि प्रदान करना §10·38·39-40§।

राजा भी अभ्यागत ब्राह्मण §अतिथि§ का आसन से उठकर स्वागत करते थे और आसन प्रदान करते थे। भोजन के उपरान्त चरण स्पर्श करके कुशल क्षेम पूँछते थे कि

आपका धर्म तो निर्बाध रूप से पालन हो रहा है या नहीं, उसे राजा से तो किसी प्रकार का कष्ट नहीं है। इसके उपरान्त अपने योग्य सेवा के विषय में पूँछते थे §10·52·30-35§। राजा के यहाँ जाने पर नागरिकों द्वारा राजा को कुछ न कुछ भेंट अवश्य दी जाती थी। इस भेंट को "उपायन" कहा जाता था §10·39·11-12,10·80·13-14§। वनवासी ऋषि भी अतिथि राजा का स्वागत करते थे और उन्हें आशीर्वाद प्रदान करते थे। अनेक भेंट आदि भी ऋषियों द्वारा राजा को प्रदान की जाती थीं §10·79·7-8§।

भिक्षा दान - दान धर्म के चार चरणों में से एक है §12·3·18§। अन्य आश्रमों से गृहस्थ धर्म श्रेष्ठ माना जाता था, क्योंकि इसी के द्वारा अन्य आश्रम के लोगों का परिपालन होता था और गृहस्थों का मुख्य धर्म दान था। द्विजातियों का परम कर्त्तव्य यज्ञ, अध्ययन और दान बतलाया गया है §7·11·13§। दान लेने का अधिकार केवल ब्राह्मणों को था §11·17·40§।

दान में अपर व्यक्ति को अपनी वस्तु का स्वामी बना दिया जाता है। भागवतपुराण में धन संग्रह को हेय बतलाया गया है §7·14·7§। दानादि का वास्तविक उद्देश्य प्राणियों में अन्नादि का संविभाग था §7·14·7-11§। इस प्रकार यहाँ साम्यवादी प्रवृत्ति के प्राचीन रूप के दर्शन होते हैं। दान के विषय में कहा गया है कि जो दुराग्रही एवं मूर्ख लोग शास्त्र की दृष्टि से देने योग्य वस्तु का दान नहीं देते हैं अथवा दान नहीं लेते हैं, वे दोनों ही शोचनीय हैं §4·27·25§।

दान में देने वाली वस्तुये अनेक थीं, पर गो, अन्न, भूमि एवं स्वर्ण मुख्य थे §1·13·30, 6·14·34§। गो दान की महिमा सर्वाधिक एवं सर्वविदित है। इसका भूयशः उल्लेख मिलता है। दान तीन प्रकार के माने गये हैं - नित्य, नैमित्तिक एवं काम्य। जो प्रतिदिन किया जाय §यथा-पंचयज्ञ में वैश्वेदेव के उपरान्त अन्नदानादि, 7·14·25§, उसे नित्य, जो किन्हीं विशिष्ट अवसरों §यथा ग्रहण आदि, 10·82·2-9§ पर दिया जाय, उसे नैमित्तिक तथा जो सन्तानोत्पत्ति, विजय, समृद्धि, स्वर्ग आदि के लिये दिया जाय §7·14·26, 10·5·3§, उसे काम्य कहते थे।

वाटिका, कूपादि का समर्पण "ध्रुवदान" कहा जाता था {काणे, 1980, भाग प्रथम, 452}। भागवतपुराण {7·15·48-49} में "इष्टापूर्त" का उल्लेख मिलता है। विविध प्रकार के यज्ञ "इष्ट" तथा देवालय, वाटिका, कूप , तड़ाग आदि बनवाना तथा प्याऊ आदि लगाना "पूर्त" कर्म कहे गये हैं। वस्तुतः पूर्तकर्म ध्रुवदान ही है।

{ब} अनिवार्य आचार -

{क} दैनिक आचार या संस्कार - दैनिक आचार के अन्तर्गत प्रमुख विषय हैं - ब्रह्ममुहूर्त में शय्या से उठना, शौच, आचमन, दन्तधावन, स्नान, तर्पण, सन्ध्योपासन , जप , होम, दान, अग्निहोत्र, पँचयज्ञ आदि {6·19·3, 10·70·4-10, 11·17·24-34, 50, 11·18·36, 11·21·14}।

शौच - आर्यो की दृष्टि शौच की ओर विशेष थी। शौच एक गुण है जिसकी प्राप्ति के लिये कुछ नियमों का पालन आवश्यक था। शुच्याचारता बाह्य भी होती थी तथा आन्तरिक भी। आन्तरिक शौच तप, संयम, सूनृतावाद आदि द्वारा सम्पादित किया जाता है तथा बाह्य शौच में स्नान, आचमन, दन्तधावन, स्थान, वस्त्र आदि की सफाई सम्मिलित है।

स्नान - स्नान, दान, तप, हरिस्मरण आदि से चित्त की शुद्धि होती है और शुद्ध होकर ही त्रिवर्गो {द्विजों} को विहित कर्मो का आचरण करने को कहा गया है {11·21·14}। स्नान तीन प्रकार का होता है - नित्य {आवश्यक प्रतिदिन वाला, 11·17·34}, नैमित्तिक {किन्हीं विशेष अवसरों पर किया जाने वाला, यथा- ग्रहण स्नान, 10·82·9} तथा काम्य {किसी फल प्राप्ति की इच्छा से किया जाने वाला}। वानप्रस्थी को त्रिकाल {प्रातः, मध्याह्न एवं सायं} स्नान अनिवार्य कहा गया है {11·18·3}। गृहस्थ को प्रातः एवं सायं स्नान करना आवश्यक होता था।

तर्पण - गृहस्थ के धार्मिक कृत्यों में तर्पण का विशेष महत्व है। देवों, ऋषियों एवं पितरों को जल देकर परितुष्ट करना तर्पण है। तर्पण दो प्रकार से किया जाता है - {क} स्नान करने के पश्चात् आर्द्र वस्त्र धारण किये हुये जल में खड़े रहकर तथा {ख} स्नान करने

के उपरान्त जल से निकलकर शुष्क वस्त्र धारण कर पृथ्वी पर ﴾10·70·6-7﴿। तत्कालीन समाज में तर्पण व्यवस्था के रूप में नहीं, अपितु व्यवहार रूप में भी प्रतिष्ठित था।

सन्ध्योपासन - रात्रि और दिन के सन्धिकाल को सन्ध्या कहते हैं। अतः सन्ध्यायें दो होती है - उषा काल एवं सायं काल। इन सन्धि कालों में जिस धार्मिक दैनिक क्रिया की व्यवस्था की गयी, उसे सन्ध्या या सन्ध्योपासन ﴾10·70·6, 11·17·26,34﴿ कहते हैं। प्रातः कालीन सन्ध्या पूर्वाभिमुख होती है।

जप - मंत्र जप की अति प्राचीन परम्परा का पुराणों में भी प्रतिपादन किया गया है। गायत्री जप सन्ध्योपासन का एक भाग था ﴾11·17·26 तथा काणे, 1980,भाग प्रथम, 377﴿। पूजाविधान के अन्तर्गत जहाँ वैदिक मन्त्रों का प्रयोग किया जाता था, वहीं तत्तत् देवों की उपासना के लिये पौराणिक मन्त्रों का भी प्रचलन हुआ ﴾4·8·54,6·5·28, 8·16·39﴿।

अग्निहोत्र ﴾3·13·36,7·14·16,7·15·48﴿- यह प्रातः एवं सायं अग्नि की उपासना के साथ सम्पन्न किया जाता था जिसमें दुग्ध, यवागु, तण्डुल, दधि और घृत की आहुति दी जाती थी। यह यज्ञ पति पत्नी द्वारा गार्हपत्य अग्नि में किये जाते थे।

पंच महायज्ञ ﴾10·69·24﴿- गृहस्थ के जीवन यापन हेतु अनेक विधि निषेध बनाये गये, उनमें विशेष उल्लेखनीय कर्म पंचमहायज्ञों का है। वैदिक काल से ही पँचमहायज्ञों के सम्पादन की व्यवस्था पायी जाती है। ये पंच महायज्ञ निम्नलिखित हैं ﴾7·14·15, 11·17·50﴿-

﴾क﴿- ब्रह्मयज्ञ - स्वाध्याय या वेदाध्यन ब्रह्म यज्ञ है जिससे ऋषियों की पूजा सम्पन्न होती थी ﴾7·14·15,11·17·50﴿। वैदिक साहित्य को शुद्ध एवं अक्षत रखने के उद्देश्य से ही प्रत्येक गृहस्थ को उसके वाचन का विधान किया गया था।

﴾ख﴿- देवयज्ञ - देवता का नाम लेकर "स्वाहा" ﴾11·17·50﴿ शब्द के उच्चारण

के साथ अग्नि को हवि या एक समिधा डालना देव यज्ञ है। अग्नि में होम §हुतानल, 10·70·6§ सम्बन्धी प्राचीन विचार परवर्ती काल में निम्न भूमि में चला गया और उसका स्थान देवपूजा या मूर्ति पूजा ने ले लिया, जिसका सविस्तार वर्णन आगे किया जायेगा।

§ग§- भूतयज्ञ - इस यज्ञ के द्वारा व्यवस्थाकारों ने समाज के समक्ष सार्वभौम एकता का उच्च आदर्श स्थापित किया है। मनुष्य का मनुष्य के प्रति ही नहीं वरन् समस्त जड़ एवं चेतन जगत् के निम्नातिनिम्न अंश के प्रति भी कर्त्तव्य है। इस भावना से प्रेरित होकर समस्त प्राणिमात्र को बलि §पक्वान्न§ देने की योजना बनायी गयी थी। भूतयज्ञ में बलि अग्नि में न देकर पृथ्वी पर दी जाती है।

§घ§- पितृयज्ञ - पितृयज्ञ तीन प्रकार से सम्पादित होता था - तर्पण, बलिहरण एवं श्राद्ध द्वारा । इन तीनों का उद्देश्य पितरों को प्रसन्न करना था। तर्पण में तिल भी प्रयुक्त होते थे। इसीलिये "तिलापः" शब्द तर्पण का वाचक बन गया था §10·12·15§। बलिहरण में बलि §पक्वान्न§ का शेषांश पितरों को "स्वधा" §11·17·50§ शब्दों के साथ दक्षिण में छोड़ दिया जाता था।

श्राद्ध §7·8·44§ गृहस्थ का अनिवार्य कर्तव्य माना जाता था। प्रतिदिन के श्राद्ध में कम से कम एक ब्राह्मण को भोजन कराया जाता था §7·15·3§। भागवतपुराण में कहा गया है कि श्राद्ध कर्म में अधिक विस्तार नहीं करना चाहिये, क्योंकि देशकालोचित श्रद्धा, पदार्थ, पात्र और पूजन आदि ठीक-ठीक नहीं हो पाते §7·15·4§। केवल सम्पन्न द्विजों को अपनी सामर्थ्य के अनुसार आश्विन मास के कृष्ण पक्ष में महालय श्राद्ध करना चाहिये। इसके अतिरिक्त अयन, विषुव, व्यतीपात, दिनक्षय, ग्रहण आदि तथा अन्य निर्देशित तिथियाँ भी इस कार्य के लिये महत्वपूर्ण हैं §7·14·19-24§। श्राद्ध में दिये गये अन्न को "कव्य" कहा जाता था §4·18·18,7·15·2§। श्राद्ध में मांस प्रयोग निषिद्ध माना गया है §7·15·7§, परन्तु पूर्णतया वर्जित नहीं प्रतीत होता है §9·6·6§। स्पष्टतया श्राद्ध में मांस का प्रयोग पूर्ववर्ती काल में ही होता था, निषेध परवर्ती काल में ही हुआ।

§ड० §- नृयज्ञ - इसे मनुष्य यज्ञ या अतिथि यज्ञ भी कहा जाता था। अतिथि सत्कार एवं उसे भोजन देना अतिथि यज्ञ कहलाता है, जिसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है।

उपरोक्त यज्ञों में जिन देवताओं, ऋषियों, पितरों, समस्त प्राणियों एवं अतिथियों की पूजा की जाती थी, वे सब भगवान के रूप कहे गये हैं §7·14·15,11·17·50§। पंचयज्ञ करने के उपरान्त शेषान्न से ही गृहस्थ को अपना जीवन निर्वाह करने को कहा गया है §7·14·14§। इन पंचमहायज्ञों में पुरोहितों की आवश्यकता नहीं होती थी। पंचयज्ञों का मुख्य उद्देश्य है - विधाता, ऋषियों, पितरों, जीवों व सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड §जिसमें असंख्य जीव रहते हैं§ के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन। जब कि अन्य यज्ञों का उद्देश्य स्वर्ग, सम्पत्ति व पुत्रकामना है। अतः अन्य यज्ञों से इन पंच महायज्ञों में अधिक नैतिकता, अध्यात्मिकता, प्रगतिशीलता एवं सदाशयता देखने को मिलती है। कालान्तर में इन पंचमहायज्ञों के उद्देश्यों में परिवर्तन हुआ तथा यह माना जाने लगा कि मनुष्य अपने दैनिक जीवन में जो पांच हिंसायें §कण्डनी, पेषणी, चुल्ली, जलकुम्भी तथा प्रमार्जनी§ करता है उन्हीं के अपोदनार्थ पंचयज्ञ विहित हैं §म0पु0-53·16§।

§ख§- विशिष्ट संस्कार एवं उत्सव - जन्म से मरण पर्यन्त मनुष्य का जीवन संस्कार विहित है। यद्यपि संस्कारों में शुद्धीकरण की भावना सदैव रही है तथापि उनकी उपयोगिता धार्मिक अनुष्ठानों के रूप में अधिक विकसित हुयी। विविध संस्कार मानव जीवन के विविध शारीरिक, मानसिक, चारित्रिक, मनोवैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक अवस्थाओं के द्योतक हैं। भागवतपुराण में विविध संस्कारों का स्वरूप अपने पौराणिक रूप में मिलता है किन्तु संस्कार विधि का उल्लेख नहीं मिलता है। गर्भ धारण से लेकर अन्त्येष्टि संस्कार जिनके होते हैं वही "द्विज" कहलाते थे §7·15·52§। निम्नलिखित संस्कारों का उल्लेख तत्तत् प्रसंगों में मिलता है -

1- निषेक या गर्भाधान §7·15·52§ - गर्भाधान संस्कार क्रिया निषेक या ऋतु संगमन

के उपरान्त किया जाता था और वह गर्भाधान को दृढ़ करता था।

2- <u>पुंसवन</u> §6·19·2§ - गर्भ के प्रतिष्ठित हो जाने पर गुणवान् पुत्र की प्राप्ति की कामना के लिये यह संस्कार मार्गशीर्ष के शुक्लपक्ष में किया जाता है। इस संस्कार विधि का सविस्तार उल्लेख मिलता है §6·19·2-24§।

3- <u>जातकर्म</u> - पुत्र उत्पन्न होने के बाद यह संस्कार किया जाता है। इस समय ब्राह्मणों द्वारा स्वस्तिवाचन कराया जाता है। देवताओं व पितरों की पूजा की जाती है §6·14·33, 10·5·1-3§। जात कर्म के अवसर पर प्रजातीर्थ §नाल कटने से पूर्व के समय§ में ब्राह्मणों को गोदान किया जाता है §1·2·14§।

4- <u>औत्थानिक</u> §10·8·11§- यह संस्कार नामकरण से पूर्व किया जाता है। इस दिन सूतक समाप्त हो जाता है तथा शिशु की माता पवित्र कर्मों को करने योग्य मानी जाने लगती है।

5- <u>नामकरण</u> §10·8·11§ - शिशु के नाम रखने के दिन यह संस्कार सम्पन्न होता है। ब्राह्मण ही शिशु का नाम रखते थे और ज्योतिष के आधार पर शिशु के भविष्य में कथन करते थे §1·12·17, 29, 18·8·12-20§।

6- <u>उपनयन</u> §5·9·4§- समस्त संस्कारों में उपनयन संस्कार महत्वपूर्ण है। यह मनुष्य को अपने सांस्कृतिक विकास हेतु सन्नद्ध करता है। इसी के पश्चात् वह आचार्य के व्यक्तिगत सम्पर्क में आकर विविध विद्याओं का अध्ययन करता है और व्यावहारिक रूप से अपने व्यक्तित्व के उन्नयन का दीर्घ प्रयास प्रारम्भ करता है।

7- <u>यज्ञोपवीत</u> §7·12·4§ - विद्याध्यन प्रारम्भ करने से पूर्व कुलपुरोहित द्वारा बालक को यज्ञोपवीत §सूत्र§ धारण कराकर यह संस्कार किया जाता है §10·45·26-30§।

8- <u>समावर्तन</u> §5·9·4§ - अध्ययन के उपरान्त गुरुगृह से लौटते समय का संस्कार समावर्तन कहा जाता है।

9- विवाह §11·5·11§ - विवाह संस्कार को सर्वोत्कृष्ट महत्ता प्रदान की गयी है। विवाह का उद्देश्य गृहस्थ होकर देवों के लिये यज्ञ करना तथा सन्तानोत्पत्ति करना है। ब्रह्मचर्याश्रम् के बाद गृहस्थाश्रम स्वीकार करने के लिये अपने अनुरूप एवं शास्त्रोक्त लक्षणों से सम्पन्न सवर्ण एवं कुलीन कन्या से विवाह करने को कहा गया है §11·17·39§।

10- अन्त्येष्टि या निर्हरण §1·9·46, 7·15·52§ - यह मनुष्य का अन्तिम संस्कार है जो उसकी मृत्यु के बाद किया जाता है।

§स§- स्वैच्छिक आचार -

वैदिक युग में पूजा अर्चना की विधि यज्ञानुष्ठान थी। विभिन्न फलों की प्राप्ति के लिये यथा- स्वर्ग, पुत्र, राज्य प्राप्ति, शत्रु विनाश इत्यादि के लिये अनेक प्रकार के यज्ञ सम्पन्न किये जाते थे। इन यज्ञों में पशु हिंसा यहाँ तक कि परवर्ती युग में नर बलि की भी प्रथा चल पड़ी थी। अतः यज्ञीय हिंसा के फलस्वरूप ही बौद्ध धर्म ने प्रबलता से अपनी जड़ जमायी। बौद्ध धर्म एवं जैन धर्म के बढ़ते प्रभाव से वैदिक धर्मावलम्बियों को यह भय हुआ कि समस्त भारत भूमि में बौद्ध धर्म एवं जैन धर्म छा न जाये। ऐसी परिस्थितियों में भक्ति प्रधान धर्म का उदय हुआ। भागवत धर्म भक्ति प्रधान था। इस भक्ति प्रधान धर्म ने एक नया रूप अपनाया । इस धर्म ने वैदिक धर्म का विरोध नहीं किया, अपितु उसके दोषों का परिहार करके भक्ति के नवीन प्राणों का संचार किया। इस धर्म में यज्ञीय हिंसा के दोष का निराकरण किया गया §1·8·52, 4·25·7-8§। मद्यपान एवं पशु हिंसा का जो वैदिक विधान था , उसका वास्तविक अर्थ एक नये रूप में दिखाया गया। सुरा को सूंघ लेना मात्र ही सुरापान है तथा पशु को स्पर्श कर लेना मात्र ही पशु बलि है, हिंसा नहीं §11·15·13§। यथार्थतः कुछ पाखण्डी लोगों द्वारा ही यज्ञों में हिंसा का प्रचलन किया गया था §10·20·23§।

यज्ञ विविध प्रकार के होते थे। प्रकृति एवं विकृति भेद से दो प्रकार के माने गये हैं §5·7·5§। सम्पूर्ण अंगों से युक्त यज्ञों को प्रकृति यज्ञ तथा किसी अंग से रहित

यज्ञ को विकृति यज्ञ कहते थे। श्रौत और स्मार्त्त भेद से इन्हें दो वर्गों में रखा जा सकता है §5·14·30,11·18·7§। स्मार्त्त या गृह्य यज्ञों का वर्णन गृह्य सूत्रों, जो स्वयं स्मृति साहित्य के अन्तर्गत हैं, में मिलता है। इस कारण इन्हें स्मार्त्त यज्ञ कहते हैं। इन्हें धनी, निर्धन, विद्वान एवं सामान्य जन सरलता से कर सकता था। इनके लिये न विशेष वेदी की आवश्यकता थी और न पुरोहितों की। श्रौत यज्ञों में बड़े-बड़े यज्ञ आते हैं जिनके सिद्धान्तों और प्रक्रियाओं का वर्णन संहिताओं और ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलता है §अग्निहोत्री, 1963,515§। यज्ञों के लिये यज्ञ §3·13·38§ के अतिरिक्त याग §10·24·1§, मख §1·15·9-10§, क्रतु §3·13·38§, सत्र §1·1·4§ आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है जो विविध प्रकार के यज्ञों के द्योतक हैं। सोम रहित §जिनमें सोम की आहुति नहीं दी जाती थी§ साधारण यज्ञों को यज्ञ, याग, मख आदि तथा सोम सहित यज्ञों को क्रतु §3·13·38§ कहा जाता था। दीर्घ काल तक चलने वाले यज्ञों को "सत्र" §1·1·4,1·1·21,4·2·34§ कहा जाता था। इन दीर्घकालिक सत्रों का प्रचलन उत्तरकाल §पतंजलि के पूर्व ही§ बन्द हो गया था। स्पष्टतः यज्ञों को निम्न प्रकार से वर्गीकृत कर अध्ययन कर सकते हैं §काणे,1980, भाग प्रथम, 177§-

§क§- स्मार्त्त यज्ञ -

1- पंचमहायज्ञ §10·69·24§- ब्रह्म यज्ञ, देव यज्ञ, पितृ यज्ञ, भूत यज्ञ, और नृयज्ञ §11·17·50§।

2- पाक यज्ञ §6·19·22§- अष्टका, पार्वण - स्थालीपाक, श्राद्ध, श्रावणी, आग्रहायणी, चैत्री तथा आश्वयुजी, इनका उल्लेख भागवतपुराण में नहीं मिलता है।

3- हविर्यज्ञ - अन्याधान, अग्निहोत्र §5·7·5§, दर्शपूर्णमास §7·15·48§, आग्रयण §10·20·48§, चातुर्मास्य §7·15·48§, निरूढ़ पशु बन्ध एवं सौत्रामणी। पशु यज्ञ §7·15·48§ इसी के अन्तर्गत था। इन यज्ञों में होम होता था, सोम नहीं।

§ख§- श्रौत यज्ञ -

सोमयज्ञ §5·7·5§- अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ, षोड़शी, वाजपेय, अतिरात्र

तथा आप्तोर्याम §3·12·40§। इन यज्ञों में सोम की आहुति दी जाती थी। राजसूय §1·9·41§ एवं अश्वमेध §1·8·6§ आदि भी इसी के अन्तर्गत थे, परन्तु ये विशुद्ध सोमयज्ञ नहीं थे। गोसव §3·12·40§ तथा बृहस्पति सव §4·3·3§ भी सोम यज्ञ माने जाते थे।

भागवतपुराण में उल्लिखित उक्त यज्ञों में पंच यज्ञ तथा अग्निहोत्र का उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है। शेष यज्ञों का संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार से है -

1- दर्शपूर्णमास - 'दर्श' का अर्थ है अमावस्या तथा 'पूर्णमास' का अर्थ है पूर्णमासी। अतः दर्शपूर्णमास से तात्पर्य वे कर्म हैं जो अमावस्या एवं पूर्णमासी को सम्पन्न किये जाँय। दर्शपूर्णमास "इष्टि" थी। इष्टि का अर्थ है ऐसा यज्ञ, जो यजमान एवं उसकी पत्नी द्वारा चार पुरोहितों की सहायता से सम्पन्न होता है §काणे,1980, भाग-प्रथम,513-514 व 524§।

2- चातुर्मास्य - चातुर्मास्य यज्ञों का अनुष्ठान चार-चार मास में किया जाता था। चातुर्मास्य तीन हैं - वैश्वदेव, वरुण प्रघास तथा साकमेध। इनमें से प्रत्येक प्रति चौथे मास के अन्त में किया जाता था। इसीलिये इन्हें चातुर्मास्य की संज्ञा मिली। वैश्वदेव फाल्गुन या चैत्री पूर्णमासी को, वरुण प्रघास आषाढ़ी तथा साकमेध कार्त्तिकी पूर्णिमा को निष्पन्न होता था। इनसे तीन ऋतुओं यथा-बसन्त, वर्षा एवं हेमन्त के आगमन का संकेत मिलता है।

3- आग्रयण - यह वह इष्टि है जिसे सम्पादित किये बिना नवीन अन्नों का प्रयोग अहिताग्नि नहीं किया जा सकता था। यह कृत्य शरद् ऋतु की पूर्णिमा या अमावस्या के दिन §नये धान्य चावल के उत्पन्न होने पर§ किया जाता था। आग्रयण दो शब्दों से मिलकर बना है - अग्र एवं अयन। अग्र का अर्थ है -"प्रथम फल" तथा अयन का अर्थ है- "खाना"। इस कृत्य के देव इन्द्र एवं अग्नि थे।

4- पशु यज्ञ - जिन यज्ञों में पशु बलि दी जाती थी, उन्हें पशु यज्ञ कहा जाता था। यह यज्ञ पूर्वकाल में ही होता था। मध्य युग में बहुत कम तथा परवर्ती काल में ये यज्ञ बन्द हो गये थे।

5- अग्निष्टोम - अग्निष्टोम साम के प्रयोग के कारण इसे अग्निष्टोम क्रतु कहते थे। यह क्रतुओं में सबसे सरल तथा सर्वाधिक प्रचलित यज्ञ था। यह सभी सोमयज्ञों की प्रकृति रूप है। इसके तीन भेद होते थे- एकाह (एक दिन वाला), अहीन (एक दिन से लेकर बारह दिनों तक चलने वाला) तथा सत्र (जो बारह दिनों से अधिक, शत, सहस्र वर्षो तक चलता था)। इसमें 16 ऋत्विज होते थे। इस यज्ञ को बसन्त में प्रारम्भ किया जाता था तथा छाग की बलि दी जाती थी (अग्निहोत्री, 1963, 520)।

6- वाजपेय - अन्न को "वाज" तथा पेय को "पान" कहते हैं। इन दोनों की प्राप्ति के लिये ही वाजपेय यज्ञ किया जाता था (शांखायन श्रौत सूत्र 15·1·4-6)। यह शरद् ऋतु में किया जाता था। आधिपत्य एवं समृद्धि का अभिलाषी व्यक्ति इसको करता था। ब्राह्मण एवं क्षत्रिय ही इसके अधिकारी होते थे, वैश्य नहीं। यह यज्ञ 17 दिन तक चलता था। प्रजापति के लिये 17 पशुओं की बलि दी जाती थी। अर्थात् 17 की संख्या इसकी विशेषता है (काणे, 1980, भाग प्रथम, 557-558)।

7- उक्थ - इसमें अग्निष्टोम के स्तोत्रों एवं शास्त्रों के अतिरिक्त अन्य तीन स्तोत्र (उक्थ स्तोत्र) एवं शस्त्र (उक्थ शस्त्र) पाये जाते थे और इस प्रकार सांयकालीन सोमरस निकालते समय गाये जाने वाले स्तोत्र एवं कहे जाने वाले (शस्त्र) छन्द कुल मिलाकर 15 होते थे। पशु के अभिकांक्षी लोगों द्वारा ही यज्ञ का सम्पादन किया जाता था। इसमें अग्निष्टोम यज्ञ के साथ बलि दिये जाने वाले पशुओं के अतिरिक्त बकरी की भी बलि दी जाती थी।

8- षोड्शी - इसमें उक्थ के 15 स्तोत्रों एवं शस्त्रों के अतिरिक्त एक अन्य स्तोत्र एवं शस्त्र का गायन तथा पाठ होता था जिसे तृतीय सवन में षोड्शी के नाम से जाना जाता था। इस यज्ञ में इन्द्र के लिये एक भेंड़ा भी दिया जाता था। शक्ति के अभिकांक्षी लोग इस यज्ञ का सम्पादन करते थे।

9- अतिरात्र - यह एक अहोरात्र में समाप्त होता था। इसीलिये इसे अतिरात्र कहते थे। इसमें 29 स्तोत्र एवं 29 शस्त्र होते हैं। सोमरस निकालने के दिन सरस्वती को एक भेंड़ की बलि दी जाती थी। सन्तति की कामना से इस यज्ञ का सम्पादन किया जाता था।

10- आप्तोर्याम - यह अतिरात्र का विस्तार मात्र है। इसमें 33 स्तोत्र एवं 33 शस्त्र होते थे। इसका नाम आप्तोर्याम इसलिये पड़ा कि इसके द्वारा अभिकांक्षित वस्तु प्राप्त होती थी।

11- गोसव - जिस यज्ञ के अन्त में यजमान को विशिष्ट रीति से अभिषेक करना होता था, उन यज्ञों को "सव" कहते थे। ये सब सोमरस, पशवंगो एवं पुरोडाश के हवन प्रधान कार्यो से सम्पन्न किये जाते थे (अग्निहोत्री, 1963,526)। गोसव सम्भवतः इसी प्रकार का सोमयज्ञ था।

12- बृहस्पति सव - वाजपेय यज्ञ करने के उपरान्त ही बृहस्पति सव नामक महायज्ञ किया जाता था (4·3·3)।

13- राजसूय - यह पूर्णतया सोम यज्ञ नहीं है प्रत्युत एक ऐसा जटिल यज्ञ है, जिससे पृथक-पृथक इष्टियाँ सम्पादित होती हैं और एक लम्बी अवधि तक चलता रहता है। यह यज्ञ केवल क्षत्रियों द्वारा सम्पन्न किया जाता था। इस यज्ञ की दीक्षा फाल्गुन मास के शुक्ल पक्ष के प्रथम दिन ली जाती थी। इस यज्ञ से नृपत्व की प्राप्ति होती थी।

14- <u>अश्वमेध</u> - यह अत्यन्त प्राचीन यज्ञ था। सार्वभौम या अभिषिक्त राजा ही यह यज्ञ कर सकता था। फाल्गुन मास के शुक्ल पक्ष के अष्टमी या नवमी अथवा ज्येष्ठ या आषाढ़ मास के इन्हीं तिथियों में अश्वमेघ यज्ञ का प्रारम्भ किया जाता था। इसमें अश्व की बलि दी जाती थी । सभी पदार्थों के इच्छुक, सभी विषयों के अभिलाषियों तथा अतुल समृद्धि के कांक्षियों द्वारा यह यज्ञ किया जाता था। इस यज्ञ की प्रक्रिया भी राजसूय यज्ञ के समान दीर्घ एवं जटिल थी।

वस्तुतः प्राचीन काल में शासकों द्वारा यज्ञों का उद्देश्य स्वर्ग या सुखों का प्राप्त करना न होकर अपनी प्रजा का हित चिंतन अथवा साधारण मानव के लिये एक आदर्श उपस्थित कर उन्हें कर्मपथ पर आरूढ़ कराना था। प्रजा की उन्नति एवं सुख स्पष्टतः दो बातों पर निर्भर है -
(क) अनुकूल ऋतु एवं (ख) उपार्जन करने के लिये आवश्यक साधन। यज्ञ करने का विचार इन दोनों विषयों को प्राप्त करना है। अनुकूल ऋतु से आशय यज्ञानुष्ठान द्वारा वायुमण्डलीय प्रदूषण को समाप्त करना था। परिणामतः समयानुकूल वर्षा की प्राप्ति एवं पर्याप्त धनधान्य के उत्पादन से प्रजा का सुखी होना। इसके अतिरिक्त यज्ञ के द्वारा मजदूरी , पुरस्कार एवं दान के रूप में मजदूरों, सैनिकों, ऋत्विजों एवं भिक्षुकों को प्रचुर धन मिल जाता था जिससे वे अपने धन की वृद्धि कर सकें। वेदों में तीन प्रकार के कर्मों का उल्लेख है- (क) नित्यकर्म - अर्थत्यय नहीं, (ख) नैमित्तिक कर्म - अल्प धन की आवश्यकता तथा (ग) काम्य कर्म - स्वर्ण एवं रजत का पर्याप्त व्यय। मनु के अनुसार तीनों उच्चवर्णों को अपने एवं अपने कुटुम्ब के भरण पोषण के निमित्त अत्यल्प धन रखकर अपनी स्थिति के अनुसार शेष द्रव्य से बहुव्यय साध्य यज्ञों का अनुष्ठान करना आवश्यक है। यद्यपि यह नियम धार्मिक जान पड़ता है किन्तु वास्तव में यह आर्थिक है। इन क्रियाओं से सभी लोगों के पास बराबर-बराबर धन बँट जाता है। अतः प्राचीन हिन्दू समस्त लौकिक कर्म अपने स्वार्थ के लिये न करके मानव जाति के कल्याण या समाज के हित के उद्देश्य से ही किया करते थे। इन यज्ञों का दूसरा सबसे बड़ा लाभ

यह था कि दीर्घकाल तक चलने वाले इन यज्ञों से राष्ट्र की सांस्कृतिक एकता में समृद्धि होती थी, क्योंकि विविध जनपदों के शासक व पुरोहित इनमें सम्मिलित होकर अपने साहित्यिक एवं सांस्कृतिक विचारों का आदान-प्रदान करते थे।

§द§ अन्य धर्मिक क्रियायें –

प्रतिमा पूजन – भागवतपुराण में जिन देवी देवताओं की पूजा की जाती थी, उन देवी देवताओं की मूर्ति पूजा भी प्रचलित हो गयी थी, तथा मूर्ति पूजा की परम्परा भागवद्धर्म का अभिन्न अंग बन गयी थी। मूर्ति के लिये प्रतिमा §10·12·39§ तथा मूर्ति पूजा के लिये अर्चा §11·27·12§ शब्द का प्रयोग मिलता है। प्रतिमा आठ प्रकार की बतलायी गयी है §11·27·12§ – शैली §पाषाणी§, दारुमयी §काष्ठ से बनी§, लौहमयी §धातु की§, लेप्या §मृत्तिका§, लेख्या §चित्र§, बालुका, मणिमयी तथा मनोमयी §मानसी§। सभी प्रकार की प्रतिमा के दो मुख्य भेद किये गये हैं – चल एवं अचल । अचल प्रतिमा से तात्पर्य उन प्रतिमाओं से है जिनकी एक स्थान पर प्रतिष्ठा कर दी जाती है तथा इनके पूजन में प्रतिदिन आह्वान एवं विर्सजन नहीं होता है §11·27·13§। प्रतिमा पूजन के साथ ही उस काल में मन्दिरों की प्रतिष्ठा बढ़ी और वे सामूहिक पूजा के स्थान बन गये। मन्दिरों को भी पूजा योग्य माना जाने लगा और मन्दिरों का मार्जन, सिंचन आदि भी पुण्य कार्य माना जाने लगा §9·4·18§।

वर्तमान कुछ विद्वानों व समाज सुधारकों ने पुराणकालीन भारतीयों द्वारा प्रचलित मूर्तिपूजा को अन्ध विश्वास बतलाकर प्रतिमा पूजन का खण्डन किया, वह उचित नहीं, क्यों कि प्राचीन भारतीयों की इस परम्परा में मनोवैज्ञानिक रहस्य है। सभी मनुष्यों का मानसिक स्तर एक सा नहीं होता है। अतः सभी प्रकार के मनुष्यों से निर्गुण एवं निराकार ब्रह्म के ध्यान की अपेक्षा नहीं कर सकते हैं, अतः उन लोगों के लिये जिनका मानसिक स्तर उच्चकोटि का नहीं है, प्रतिमा पूजन प्रथम सोपान माना गया। वस्तुतः एकाग्रता के साधन के रूप में मूर्तिपूजा का विधान किया गया तथा विरोधियों ने उसे साध्य समझ लिया। जब कोई साधक अपनी साधना प्रारम्भ करता है तो सर्वप्रथम उस प्रतिमा को

ही आराध्यदेव मानकर चलता है किन्तु जैसे जैसे साधक का ध्यान परिपक्व होता जाता है, वैसे-वैसे ही वह सत्य के निकट आता जाता है। भागवतपुराण में तत्तत् प्रसंगों में मूर्तिपूजा का बड़ा ही तात्विक विवेचन किया गया है। वास्तव में ईश्वर सर्वत्र व्याप्त है। वे समस्त जीव जन्तुओं में जीव रूप में निवास करते हैं §7·14·37§, किन्तु अज्ञानता के कारण प्रत्येक मनुष्य जीवों में निवास करने वाले उस पुरुष §ईश्वर§ की उपासना नहीं कर सकता है। इसीलिये प्रतिमा पूजन का विधान किया गया§7·14·39§। प्राणियों के प्रति भेद दृष्टि प्राणियों में आत्म रूप से उपस्थित भगवान की अवज्ञा है तथा उसकी मूर्तिपूजा विडम्बना है §3·29·21§, परन्तु अर्चा §मूर्ति पूजा§ में लगा हुआ चित्त ही विकार शून्य होकर परमात्मा को प्राप्त कर सकता हैं §3·29·20§। अतः मनुष्य को अपने धर्म में प्रवृत्त होकर तब तक अर्चा में लगा रहना चाहिये, जब तक उसे अपनी आत्मा एवं प्राणियों में स्थित परमात्मा का अनुभव नहीं हो जाता है §3·29·25§। उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मूर्ति पूजा को नकारा नहीं जा सकता है।

तीर्थ सेवन - भागवत धर्म में पूजार्चा के अन्य आचारों के साथ ही तीर्थ सेवन का भी महत्व प्रतिपादित किया गया। भगवान की अर्चा से सम्बन्धित तीर्थों को पुण्यतम प्रदेश माना गया है। तीर्थों पर जाकर किया गया पुण्य सहस्र गुना फलदायक होता है §7·14·33§। तीर्थों में जाकर स्नान, पितर, ऋषि व देवतर्पण तथा ब्राह्मणों को गोदान आदि का विधान किया गया है §3·3·25-28§। भगवद्भक्ति को प्राप्त करने के लिये तीर्थों को भी साधन बतलाया गया है §1·2·16§। तीर्थों का दर्शन, स्पर्श और अर्चन करने से मनुष्य पवित्र हो जाता हैं §10·86·52§। तीर्थाटन की यम नियमों के अन्तर्गत गणना की गयी है §11·19·34§। तीर्थों की सूची बहुत लम्बी है अतः उनका उल्लेख अनावश्यक है।

तीर्थयात्रा से केवल पुण्य ही नहीं प्राप्त होते हैं अपितु देश-देशान्तर की भाषा, संस्कृति एवं भौगोलिक परिवेश का ज्ञान भी होता है। अतः भारतीयों ने तीर्थ यात्रा को धर्मिक क्रियाकलापों के साथ सम्भवतः इसीलिये जोड़ दिया कि देश का प्रत्येक नागरिक

अपने देश या राष्ट्र के भौगोलिक, सांस्कृतिक, आर्थिक व राजनीतिक परिवेश से पूर्णतया परिचित हो सके तथा राष्ट्र की एकता अखण्डता में सक्रिय सहयोग कर सके। तर्पण का मंत्र भी हमें यही शिक्षा देता है।

व्रत - भागवतीय पूजार्चा के आधारों के अन्तर्गत व्रतों का स्थान अन्यतम है। उपवास व्रत का मुख्य अंग है। व्रतों के दिन ही ब्राह्मणों को दान दिया जाता था §8·9·14§। भागवतीय परम्परा में एकादशी व्रत का अधिक महात्म्य बतलाया गया है। इस दिन निराहार रहा जाता है तथा द्वादशी लगने पर पारणा की जाती थी §9·4·29,10·28·1§। पुंसवन व्रत का एक वर्ष तक पालन किया जाता था §6·18·19-54§। यह व्रत मार्गशीर्ष की शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को प्रारम्भ किया जाता था। इसके अनुष्ठान से सभी कामना पूर्ण हो जाती हैं §6·19·25-28§। सन्तान की कामना के लिये पयोव्रत का भी उल्लेख है जिसमें फाल्गुन मास के शुक्ल पक्ष में केवल दूध पीकर रहा जाता था §8·16·24-62§। वार्षिक पर्वो का भी उल्लेख है §11·11·36-37§।

व्रत या उपवास रखने पर स्वास्थ्य सम्बन्धी विकारों को दूर करने में सहायता मिलती है। यदि नियमित रूप से प्रति सप्ताह एक दिन उपवास किया जाय तो उदर सम्बन्धी सभी रोगों का निदान स्वयमेव हो जाता है। अतः स्वास्थ्य की दृष्टि से ही व्रतों का विधान रखा गया प्रतीत होता है ।

संदर्भ

1- अग्निहोत्री,पी0डी0 §1963§, पतंजलि कालीन भारत,पटना।

2- अवस्थी,ए0बी0एल0 §1982§, प्राचीन भारतीय भूगोल, भाग- प्रथम,लखनऊ।

3- आप्टे,वी0एस0 §1981§, संस्कृत हिन्दी कोश, वाराणसी।

4- काणे, पी0वी0 §1980§, धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग §हिन्दी अनुवाद§, लखनऊ।

5- गोस्वामी, दुर्गाबिन §1984§, "भारत में भील जनजातियों का पारिस्थैतिक अध्ययन", वि0शी0भू0प0,अंक-3,संख्या-2, बस्ती।

6- घुर्ये,जी0एस0 §1961§, कास्ट, क्लास एण्ड ऑकुपेशन, बम्बई।

7- जार्डन,टी0जी0 एवं राक्ेन्ट्री,एल0 §1938§, दि ह्यूमैन मौजैक, लन्दन।

8- जायसवाल,एम0 §1983§, वाल्मीकियुगीन भारत,इलाहाबाद।

9- टेलर,जी0 §1960§, ज्यॉग्राफी इन दि ट्वैन्टियथ सेन्चुरी, लन्दन।

10- तिवारी,आर0सी0 एवं त्रिपाठी,एस0 §1988§, "सांस्कृतिक भूगोल- परिभाषा, विषय क्षेत्र तथा अध्ययन तत्व", भूविज्ञान, अंक-3,संख्या-1,वाराणसी।

11- दास,ए0सी0 §1971§, ऋग्वैदिक इण्डिया, वाराणसी।

12- दास, ए0सी0 §1979§, ऋग्वैदिक कल्चर, वाराणसी।

13- द्विवेदी,के0एन0 §1969§, कालिदास की कृतियों में भौगोलिक स्थलों का प्रत्याभिज्ञान, कानपुर।

14- पाण्डेय,कपिलदेव §1963§, मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, वाराणसी।

15- पाण्डेय,वी0सी0 §1960§, भारतवर्ष का सामाजिक इतिहास, इलाहाबाद।

16- पाण्डेय, राजबली §1978§, हिन्दू धर्मकोश, लखनऊ।

17- प्रभु,पी0एन0 §1958§, हिन्दू सोशल ऑर्गनाइजैशन, बम्बई।

18- मजूमदार,डी0एन0 §1958§, रैसेज एण्ड कल्चर्स ऑफ इण्डिया, बम्बई।

19- माथुर,वी0के0 §1969§, ऐतिहासिक स्थानावली, नई दिल्ली।

20- मिश्र, के0पी0 §1982§, सांस्कृतिक भूगोल, कानपुर।

21- मिश्र,जे0एस0 §1986§, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पटना।

22- मैक्डोनेल,ए0ए0 एवं कीथ, ए0बी0 §1962§, वैदिक इण्डेक्स, भाग-प्रथम, वाराणसी।

23- मैक्डोनल,ए0ए0 §प्र0सं0§, वैदिक माइथोलॉजी §हिन्दी अनुवाद§,वाराणसी।

24- रिजले,एच0§1915§, दि पीपुल ऑफ इण्डिया, कलकत्ता ।

25- वैगनर,पी0एल0 एवं मिक्सेल,, एम0डब्ल्यू0 §सम्पा0,1962§, रीडिंग्स इन कल्चरल ज्यॉग्रफी, शिकागो।

26- शर्मा,आर0एल0 §प्र0सं0§, नृतात्विक भूगोल, कानपुर।

27- शर्मा, आर0एल0 §द्वि0सं0§, प्रजातीय भूगोल, कानपुर।

28- शर्मा,जे0एल0 §1984§, श्रीमद् भागवत का सांस्कृतिक अध्ययन,जयपुर।

29- शुक्ल, आर0के0 §1984§, रामायणः ए स्टडी इन ऐंशियंट इण्डियन ज्यॉग्रफी §शोध प्रबन्धः §, झाँसी।

30- शुक्ल,एच0§1977§, लंका की खोज, इलाहाबाद।

31- सक्सेना,डी0पी0 §1976§, रीजनल ज्यॉग्रफी ऑफ वैदिक इण्डिया,कानपुर।

32- सरकार,डी0सी0 §1971§, स्टडीज इन दि ज्यॉग्रफी ऑफ ऐन्शियंट एण्ड मेडिवल इण्डिया, वाराणसी।

33- सिंह, एम0 आर0§1972§,ज्यॉग्रफिकल डाटा इन दि अर्ली पुराणाज- ए क्रिटिकल स्टडी, कलकत्ता।

34- सौर, कार्ल ओ §1927§, रीसेण्ट डेवलपमेण्ट्स इन कल्चरल ज्यॉग्रफी, इन चार्ल्स,ए0एलवुड §सम्पा0§, रीसेण्ट डेवलपमेण्ट्स इन सोशल साइन्सेज, फिलाडेल्फिया।

35- स्पेन्सर, जे0ई0 एवं थामस, डब्ल्यू0एल0 §1971§,एशिया ईस्ट बाई साउथ, ए कल्चरल ज्यॉग्रफी, न्यूयार्क।

36- होम्स,ए0 §1975§, प्रिन्सिपल्स ऑफ फिजिकल ज्यॉलॉजी, लन्दन।

अध्याय - सप्तम्

प्रादेशिक भूगोल

भूगोल का बाह्य स्वरूप काल विशेष की ज्वलन्त समस्याओं, उपलब्ध ज्ञान पुंज, विश्लेषण क्षमता तथा परिप्रेक्ष्य परिधि के अनुसार परिवर्तित होता रहा, परन्तु किसी काल विशेष में प्रचलित भूगोल की सर्वप्रमुख संकल्पना को सर्वथा अनुचित तथा अनुपयोगी एवं पूर्ववर्ती या परवर्ती काल की संकल्पना को सार्थक या श्रेयस्कर मानना भ्रामक होगा। उल्लेख्य है कि प्राचीन काल में तत्कालीन शैक्षणिक एवं वैचारिक पृष्ठभूमि तथा सैद्धान्तिक अथवा व्यवहारिक धरातल पर ज्वलन्त समस्याओं के निराकरण के सभी सामाजिक विज्ञानों के समानान्तर भूगोल की अध्ययन परिधि भी विस्तृत एवं संकुचित होती रही है। भारत के प्राचीन ग्रन्थों में प्रचुर भौगोलिक सूचनाओं पर स्पष्टतः भारत में भूगोल की परम्परा किसी भी अन्य सांस्कृतिक क्रोड क्षेत्र से अधिक प्राचीन एवं सतत् है। प्राचीन भारतीय दार्शनिक प्रकृति को सजीव तत्व मानकर पर्याप्त चिन्तन किया करते थे। इस अवधि में भूगोल विशुद्ध विवरणात्मक एवं तथ्य संकलन परक था। इसके अन्तर्गत प्रत्यक्ष दृष्टिगत तत्वों के वितरण पर विशेष ध्यान दिया जाता था। भौगोलिक तथ्यों के एकत्रीकरण एवं वितरण की यह प्रवृत्ति भारत में निर्बाध रूप से ग्यारहवीं शदी तक चलती रही है। ज्ञात भूतल विशेषतया बृहत्तर भारत के सन्दर्भ में विभिन्न प्रदेशों एवं स्थानों तथा तत्सम्बन्धित भौगोलिक तथ्यों का निरूपण पौराणिक भूगोल का प्रमुख पक्ष रहा है।

प्रस्तुत अध्ययन के इस अध्याय के प्रथम भाग में प्रदेश की संकल्पना तथा उनके प्रकारों का अध्ययन किया गया है तथा द्वितीय भाग में तत्कालीन ज्ञात विश्व का, उपलब्ध सन्दर्भो के आधार पर बृहद्, मध्यम एवं लघु स्तरीय प्रादेशिक इकाइयों में वर्गीकृत कर प्रत्येक प्रदेश का प्रत्याभिज्ञान तथा आधुनिक भौगोलिक ज्ञान के परिप्रेक्ष्य में भौगोलिक तथ्यों का विश्लेषण किया गया है। स्पष्टतः प्रादेशिक भूगोल का मुख्य उद्देश्य पृथ्वी अथवा उसके किसी क्षेत्र/प्रदेश की समग्र विशेषताओं को समझकर तथा पृथक्-पृथक् प्रदेशों में विभक्त कर समस्त भौतिक एवं मानवीय तथ्यों का विश्लेषण एवं संश्लेषण करना है §वूलरिज एवं ईस्ट, 1970, 141§।

§अ§- प्रादेशिक संकल्पना -

भौगोलिक अध्ययन में प्रादेशिक उपागम केन्द्रीय अवधारणा रही है

§हैगेट, 1965, 24।§। यदि प्रदेश को भौगोलिक चिन्तन का मूलाधार कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी तथापि प्रदेश की संकल्पना भौगोलिक चिन्तन के इतिहास में अति विवादग्रस्त भी रही। यह विवाद मुख्यतया प्रादेशीकरण की पद्धति या विधि को लेकर प्रकट होता है, परन्तु इसका मूल प्रदेश की संकल्पना की अस्पष्टता में निहित है। अतएव प्रदेश की संकल्पना को स्पष्ट करने के लिये इसके उद्भव-विकास पर दृष्टिपात करना आवश्यक है।

प्रदेश की संकल्पना का उद्भव एवं विकास -

प्रदेश की संकल्पना का बीजारोपण आधुनिक भूगोल के उदय के पूर्व ही हो गया था। स्ट्रैबो चिरसम्मत शास्त्रीय काल का प्रमुख भूगोल वेत्ता था जिसने भौगोलिक ज्ञान को प्रादेशिक रूप में प्रस्तुत किया। इसके बाद खोजयुग व पुनर्जागरण काल में इसमें कोई विशेष प्रगति नहीं हुई। 18वीं शताब्दी से लेकर 19वीं शताब्दी के अन्त तक पृथ्वी तल का क्रमबद्ध भौगोलिक अध्ययन करने के लिये जर्मनी, फ्रान्स तथा ब्रिटिश भूगोल वेत्ताओं द्वारा प्रदेश की संकल्पना का प्रतिपादन किया गया, परन्तु प्रदेश की सीमा निर्धारण के लिये जर्मन भूगोल वेत्ताओं §आचेनवाल, सुसमिल्च तथा बुर्स्चिग आदि§ द्वारा प्रतिपादित "सांख्यिकीय-राजनैतिक विचारधारा" उपयुक्त प्रमाणित नहीं हुआ। अतः विद्वानों ने प्रदेश की सीमा निर्धारण के लिये प्राकृतिक सीमाओं के प्रयोग को उचित ठहराया। इस प्रकार जर्मनी में "शुद्ध भूगोल" का उदय हुआ जिसके प्रवर्त्तक बुआचे, गैट्टरर, हम्मेयर तथा ज्यूने आदि थे। 20 वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ब्लाश, हरबर्टशन तथा हेटनर ने भूगोल को प्रादेशिक समाकलन के विज्ञान के रूप में देखा। 1925 के बाद भूगोल के प्रादेशिक समन्वयन की संकल्पना स्थापित होने के बाद प्रदेश की अवधारणा एवं प्रादेशीकरण की वस्तुनिष्ठ पद्धति की समीक्षा की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित हुआ। तत्पश्चात् आर्थिक तत्वगत प्रदेशों के निरूपण की ओर भी गया तथा भूगोल के वैज्ञानिकतावादी दौर में प्रदेश को नये परिप्रेक्ष्य में देखा जाने लगा। प्रादेशीकरण की प्रक्रिया में भी उन्हीं सिद्धान्तों का अनुसरण किया जाने लगा जो अन्य विज्ञानों की तत्वगत इकाइयों के वर्गीकरण में अपनाये

जाते हैं तथापि वर्तमान में प्रदेश निरूपण की आवश्यकता बनी हुई है क्यों कि क्रान्तिकारी भूगोलवेत्ताओं को ऐसे प्रदेशों का निरूपण करना होता है जो जीवन के गुणात्मक स्तर की दृष्टि से विषम भूवैन्यासिक अन्र्तसम्बन्धों के फलस्वरूप विशेष ध्यान दिये जाने के पात्र हैं।

प्रदेश की संकल्पना –

ऐतिहासिक विकास के परिप्रेक्ष्य में प्रदेश की संकल्पना तथा क्षेत्रीय विभाजन का मुख्य उद्‌देश्य प्रदेशों की प्राप्ति ही है जिनमें से प्रत्येक में समाकलित तत्वों के निरन्तर सम्बन्ध निर्देशित किये जाँय एवं उनमें अधिकतम स्थानिक अन्तर्सम्बन्ध होने चाहिए (हार्टशोर्न, 1968,129)। आधुनिक भूगोल की शोध अग्रभूमि चाहे जो भी रही हो, भौगोलिक विश्लेषण की आधारभूत इकाई प्रदेश ही है। प्रदेश का आधार त्याग देने पर विवरण या विश्लेषण अव्यवस्थित एवं निरर्थक हो जाता है। स्पष्टतः जैसे कोई क्रमबद्ध विज्ञान अपने अध्ययन तत्व को कुछ महत्वपूर्ण वर्गों में व्यवस्थित करके विश्लेषण करता है उसी भाँति भूगोलविद् प्रदेशों की परिसीमा में भौगोलिक विवेचन, विश्लेषण करने को बाध्य है।

प्रदेश की अनिवार्यता होते हुए भी भूगोलवेत्ता प्रदेश की संकल्पना के प्रति बहुत स्पष्ट नहीं रहे हैं। प्रादेशिक समन्वयन के युग में भी प्रादेशिक भूगोल प्रस्तुत करने का मन्तव्य किसी महाद्वीप, देश अथवा अन्य भूखण्डों का भौगोलिक विवरण प्रस्तुत करना रहा है तथापि भूगोलवेत्ताओं का एक वर्ग प्रदेश की संकल्पना को परिष्कृत करने के प्रति सचेष्ट रहा है और अब इतना निर्विवाद माना जाने लगा है कि प्रदेश कोई भूखण्ड (क्षेत्र) मात्र नहीं है वरन् एक ऐसा क्षेत्र है जो कुछ विशेषताओं से युक्त है। मतभेद केवल उन विशेषताओं की प्रकृति को लेकर रहा है जिनके उपलब्ध होने पर ही किसी क्षेत्र को प्रदेश की संज्ञा दी जा सकती है परन्तु उक्त मतभेद होते हुए भी प्रदेश में निम्न समान तत्व मिलते हैं :-

1- प्रदेश एक ऐसा भूखण्ड है जिसमें किसी न किसी प्रकार की समरूपता दृष्टव्य है।

2- कोई क्षेत्र तभी प्रदेश है जब उसमें विशिष्टता व्याप्त हो।

3- प्रदेश आकार-विस्तार में किसी भी प्रकार का हो सकता है।

4- प्रदेशों में पदानुक्रम व्यवस्था मिलती है।

5- प्रदेश के मध्यवर्ती क्रोड में सर्वाधिक विशिष्टता परिलक्षित होती है जब कि सीमान्तों की ओर क्रमशः क्षीण होती जाती है।

6- प्रदेश की सीमा चिरस्थायी न होकर परिवर्तनशील होती है।

7- प्रदेश भूतल का ऐसा भूखण्ड होता है जो त्रिविमीय है।

प्राचीन भूगोलवेत्ताओं ने भूगोल में प्रदेश की संकल्पना का विकास इस दृष्टिकोण से किया कि एक बृहत्तर क्षेत्र को भागों में विभक्त कर उसके प्रत्येक भाग का समाकलित रूप में अध्ययन किया जा सके। वैदिक काल में आर्यों ने प्रदेश के महत्व को समझा तथा उनको भौतिक, राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक तत्वों के आधार पर वर्गीकृत किया (सक्सेना, 1976, 121-125)। भागवत पुराण काल तक प्रादेशिक संकल्पना का पर्याप्त विकास हो चुका था। भागवतपुराण में द्वीपों को विविध वर्षों में एवं वर्षों को विविध मध्यम एवं लघुस्तरीय प्रदेशों में वर्गीकृत कर भौगोलिक विवरण प्रस्तुत किया गया तथा प्रादेशिक अवधारणा को स्पष्ट करने के लिये राष्ट्र, देश, राज्य, जनपद एवं विषय आदि शब्दों का प्रयोग किया गया।

प्रदेशों के प्रकार -

प्रादेशिक विश्लेषकों के अनुसार तीन प्रकार के प्रदेश होते हैं - प्राकृतिक प्रदेश, संस्थापित प्रदेश तथा अभिधेयार्थ प्रदेश (चक्रवर्ती, 1986, 41)। चक्रवर्ती के अनुसार प्रकृतिक प्रदेश से आशय ऐसे सांस्कृतिक, सामाजिक समूह से है जिनकी सीमायें कभी भी निर्धारित नहीं की जा सकती हैं। सभी सामाजिक समूहों की संस्कृति का एक लम्बा इतिहास रहा है तथा ये समूह समय-समय पर स्थानान्तरित भी होते रहे हैं। इनकी सीमायें विस्तृत एवं संकुचित होती रही हैं। ऐसे प्राकृतिक प्रदेशों को जो धर्म, संस्कृति, रीतिरिवाज आदि की दृष्टि से एक थे, आधुनिक युग में सांस्कृतिक प्रदेश भी कहे जा

सकते हैं, परन्तु प्रादेशीकरण हेतु उपलब्ध तथ्यों की अस्पष्टता एवं भिन्नता के कारण इसका सही ढंग से सीमांकन नहीं किया जा सकता है।

प्रादेशिक पदानुक्रम -

आरोही मापनी प्रतिरूपों के अनुसार पृथ्वी तल को प्रदेशों में या बृहद् प्रदेशों को उपप्रदेशों में विभाजित करने की प्रणाली को प्रादेशिक पदानुक्रम कहा जाता है। पुराणों में वर्णित जल थल वितरण सम्बन्धी सात महाद्वीप एवं महासागर पाये जाते हैं जिनकी स्थिति सकेन्द्रीय मानी गयी है। इस प्रकार प्रादेशिक भूगोल के अन्तर्गत द्वीप §महाद्वीप§ बृहद् प्रदेश के रूप में हैं। प्रत्येक द्वीप में पाये जाने वाले वर्षों को आकार एवं विशेषता के आधार पर मध्यगत प्रदेश कहा जा सकता है। दिक् या दिशा के आधार पर निर्धारित किये गये राष्ट्रों §देशों§ को लघु प्रदेश के अन्तर्गत रखा जा सकता है। यथा-जम्बू द्वीप के विविध वर्षों में भारतवर्ष एक मध्यम आकार का प्रदेश है तथा दिशा के आधार पर निर्धारित प्राच्य, प्रतीच्य, उदीच्य, दक्षिणापथ एवं मध्य देश लघु स्तरीय प्रदेश के द्योतक हैं। यदि भारतवर्ष को बृहद्, मध्यम एवं लघु स्तरीय प्रादेशिक पदानुक्रम में विभक्त किया जाय तो देश शब्द बृहद् आकार के प्रदेश का द्योतक हैं। देश शब्द की व्युत्पत्ति "दिश्" धातु से हुई है जिससे आशय दिशा या प्रदेश से है। प्रदेश शब्द मध्यम आकार के प्रदेश को इंगित करता है जब कि लघु आकार के प्रदेश के लिये जनपद शब्द का प्रयोग किया गया है। अतः भारत की प्रारम्भिक परिकल्पना के अन्तर्गत प्रादेशिक विभाजन का आधार दिशा §एक प्राकृतिक तथ्य§ माना गया। इन प्रदेशों का सीमांकन नदियों, पर्वतों, वनों, मरूस्थलों अथवा समुद्रों द्वारा किया जाता था।

§ब§ - भूमण्डल का ज्ञान एवं उसके प्रदेश -

1- <u>भूमण्डल का ज्ञान</u> - पुराणकारों ने प्रादेशिक भूगोल का वर्णन दो दृष्टियों से किया है-§क§- समस्त विश्व का प्रादेशिक भूगोल तथा §ख§- भारतवर्ष का प्रादेशिक भूगोल। आधुनिक वैज्ञानिक युग में परिज्ञात तथा बहुशः वर्णित समस्त भूमि खण्ड पुराणकारों को

सर्वथा ज्ञात थे और उन्होंने इसका वर्णन यथार्थता से किया है। त्रुटि इतनी है कि इन स्थलों का प्रत्याभिज्ञान वर्तमान समय में निस्संदिग्ध रूप से नहीं हो पा रहा है।

वैदिक काल एवं महाकाव्य काल की तुलना में पौराणिक काल में विश्व के भौगोलिक ज्ञान का विस्तार तीव्र गति से हुआ। पृथ्वी के विभिन्न महाद्वीपों एवं महासागरों के विषय में अधिकाधिक तथ्यों को एकत्रित करने के लिये पौराणिक ऋषियों, शासकों, व्यापारियों आदि ने लम्बी-लम्बी यात्रायें कीं §1·16·11-12, 5·1·30,5·13·1§, तथा पृथ्वी के विविध द्वीपों एवं स्थानों का निरीक्षण किया §3·23·43§, जिससे भौगोलिक वर्णनों में यथार्थता है। इसलिये इस युग को तथ्य अन्वेषण युग भी कहा जा सकता है। पुराणस्थ संकेत को आधार मानकर ही कप्तान स्पीक ने अफ्रीका के नील नदी के उद्‌गम का पता लगाया था §उपाध्याय,1978,317§। स्पष्टतः पौराणिक भूभागीय विवरण कल्पनाप्रसूत न होकर भौगोलिक अन्वेषणों एवं ठोस अनुभवों पर आधारित है तथापि उसकी कुछ भौगोलिक सामग्री इतनी उलझी हुई है कि उसके आधार पर विश्व का सम्पूर्ण मानचित्र निर्मित कर सभी स्थानों का प्रत्याभिज्ञान करना अत्यन्त दुरूह कार्य है।

पृथ्वी के सप्त द्वीपों की कल्पना तो पौराणिक भूगोल की निजी विशिष्टता है। ये सप्तद्वीप पूर्वी गोलार्द्ध में स्थित थे जिनमें जम्बू द्वीप का प्रत्याभिज्ञान बड़े ही सांगोपांग रूप में यथार्थतः हो सकी है। पूर्वी गोलार्द्ध के अतिरिक्त पश्चिमी गोलार्द्ध की भी जानकारी तत्कालीन भारतीयों को थी। अधोलोक §अतल, वितल, सुतल, तलातल, रसातल, महातल और पाताल -5·24·7§ जिन्हें भूविवर भी कहा गया है, वस्तुतः पश्चिमी गोलार्द्ध के ही भूभाग हैं §उपध्याय,1978,344-345§। तलातल नामक पाताल लोक में त्रिपुरा-धिपति मय का निवास था §5·24·28§। यह उल्लेख बहुत महत्वपूर्ण है। मध्य अमेरिका के मुख्य प्रदेश मैक्सिको की प्राचीन संस्कृति मय संस्कृति के नाम से विख्यात है और वहाँ के निवासी उस प्राचीन संस्कृति के प्रचुर उपासक हैं। मय §विश्वकर्मा या त्वष्टा§ अद्‌भुत कुशल अभियन्ता था §1·15·8,3·1·36,10·58·24, 27, 10·67·7, 10·75·37§। युधिष्ठिर के राजप्रासाद की रचना मय ने ही की थी जिसके गच को

देखने से भ्रम हो जाता था कि वह जल है या स्थल है §10·58·27, 10·75·37§। मैक्सिको में मय लोगों के प्रासाद भी इसी नमूने के थे जो आज भी विद्यमान हैं और अपनी अनुपम कला के द्वारा वर्तमान वैज्ञानिक युग के अभियन्ताओं को भी आश्चर्यचकित कर रहे हैं §उपाध्याय,1978,347§। मयासुर माया के लिये भी प्रसिद्ध था §5·24·9§। स्पेन के इतिहास में वर्णित इन जातियों में से अन्यतम जाति "इन्का" की पहचान भी इन असुरों से की जा सकती है जो अत्यन्त समृद्ध थे तथा तिलिस्मों के ज्ञाता थे। ये दक्षिणी अमेरिका के पेरू, इक्वेडोर, चिली तथा अर्जेन्टाइना के कुछ भागों में निवास करते थे §धर्मयुग,20 सितम्बर 1984, 25-26, उद्धृत उपाध्याय,1978,346-347§। इनके तिलिस्म असुरों की विलक्षण माया ही हो सकती है। फलतः आसुरी माया से सम्पन्न इन्का लोगों को तथा विशाल प्रसादों के निर्माता एवं मय संस्कृति के उपासक मैक्सिकन लोगों को पाताल लोक का अधिवासी मानने में किसी प्रकार का अनौचित्य प्रतीत नहीं होता है। मैक्सिको के लोगों का आचार-विचार, रहन-सहन, भोजन का प्रकार आदि आज भी भारतीय है §उपाध्याय, 1978,345§। कुंवर लाल व्यास शिष्य §1986,28§ ने भी तलातल का प्रत्याभिज्ञान मध्य अमेरिका के देशों से किया है। अतः समग्र अमेरिका का प्रत्याभिज्ञान पाताल से करना यथार्थ, प्रमाणिक एवं वैज्ञानिक है §चित्र-7·7§।

भागवतपुराण में उल्लेख है कि सात द्वीपों §जम्बू, प्लक्ष, शाल्मली, कुश, क्रौंच, शाक व पुष्कर, जो पूर्वी गोलार्द्ध में स्थित हैं§ से आगे लोकालोक पर्वत है। यह पृथ्वी के चतुर्दिक सूर्य द्वारा प्रकाशित एवं अप्रकाशित प्रदेशों के मध्य उनका विभाग करने के लिये स्थित है §अर्थात् जब सप्त द्वीप या पूर्वी गोलार्द्ध में प्रकाश रहता है, उस समय लोकालोक पर्वत के पश्चिम का भूभाग अप्रकाशित रहता है§ मेरू §पामीर पठार§ पर्वत तक जितना अन्तर है उतनी ही भूमि पुष्कर द्वीप को आवृत्त करने वाले शुद्धोद सागर के आगे है §5·20·34-35§। लोकालोक पर्वत पृथ्वी की परिधि का चतुर्थांश है तथा सूर्य के प्रकाशित एवं अप्रकाशित भूभागों के मध्य में स्थित होने के कारण इसका नाम "लोकालोक" पड़ा §5·20·36,38§। इस वर्णन के आधार पर लोकालोक पर्वत निस्सन्देह उत्तरी अमेरिका एवं दक्षिणी अमेरिका में उत्तर-दक्षिण विस्तृत राकी एवं एण्डीज पर्वत

श्रृंखला है तथा इसके पश्चिम स्थित उत्तरी व दक्षिणी अमेरिका का विस्तृत भूभाग उक्त वर्णित भूभाग है जिसका भागवतपुराणकार ने नामकरण नहीं किया। जब सप्त द्वीपों §पूर्वी गोलार्द्ध§ में प्रकाश रहता है तो यह भूभाग §उत्तरी व दक्षिणी अमेरिका§ अप्रकाशित रहता है। इसे ही पूर्व में "पाताल" के नाम से स्पष्ट किया जा चुका है। इस भूभाग के आगे कांचन भूमि का विस्तार है जो दर्पण के समान स्वच्छ है। यहाँ गिरी हुई कोई वस्तु पुनः प्राप्त नहीं होती। इसलिये यहाँ देवताओं के अतिरिक्त कोई प्राणी निवास नहीं करता है §5·20·35§। स्पष्टतः यह हिमाच्छादित ध्रुवीय प्रदेश §ग्रीन लैण्ड§ है। चमकीले हिम के कारण इसे कांचन भूमि की संज्ञा दी गयी । हिम दर्पण के समान स्वच्छ व प्रकाश का परावर्तक होता है। इस ध्रुवीय प्रदेश का अधिकांश भाग अब भी रिक्त §जनसंख्या विहीन§ है।

यम लोक §यमसादन या यमालय-3·30·23, 5·26·37§ जिसकी स्थिति दक्षिण में बतलायी गयी है, का प्रत्याभिज्ञान दक्षिणी ध्रुव के चतुर्दिक स्थित अण्टार्कटिका भूखण्ड से की जा सकती है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि पुराणकालीन भारतीय पूर्वी गोलार्द्ध के लगभग सम्पूर्ण भूभागों सहित पश्चिमी गोलार्द्ध के भी समस्त भागों से अवगत थे।

2- द्वीप एवं वर्ष - पुराणों के भौगोलिक वर्णन का मुख्य विषय द्वीपों एवं उनके वर्षों का वर्णन है। पृथ्वी के ज्ञात स्थल खण्डों को सप्तोदधि में विभाजित किया गया। सात ही क्यों? जिस काल में पुराणों एवं अन्य प्राचीन ग्रन्थों में भूतल को सात खण्डों में विभाजित किया गया, उस समय आर्य सप्तसैन्धव व्यवस्था से सुपरिचित हो चुके थे। लगभग इसी समय §ई0सन् का प्रारम्भिक काल§ यूनान में भी पृथ्वी को सात जलवायु खण्डों, स्ट्रैबो द्वारा पृथ्वी को सात खण्डों में विभाजित किया गया था। अतः पुराणों में वर्णित सप्तोदधि की व्याख्या तथ्यात्मक है एवं इनके बदलते हुए वर्णन उपलब्ध विकसित ज्ञान से सम्बन्धित है। इतना अवश्य है कि सात द्वीप, सात वर्ष, सात पर्वत, सात नदी समूह, सात शासक आदि शब्दों के प्रयोग का अन्तर्मन या दर्शन से अधिक सम्बन्ध रहा होगा, फलतः अल्प भ्रान्ति मिलती है।

"द्वीप" शब्द को पुराणों में किसी एक स्पष्ट अर्थ सम्बोधन से नहीं जोड़ा जा सका। कहीं द्वीप का अर्थ समूह से है यथा- शाक द्वीप तो कहीं द्वीप का अर्थ प्रायद्वीप से हैं यथा - कुश द्वीप। द्वीप के आकार की कोई सीमा नहीं है। जम्बू द्वीप के भारतवर्ष एवं उत्तर कुरू वर्ष इतने बड़े हैं कि वे स्वयं अपने आप में द्वीप हैं। कई अस्पष्टताओं के होते हुए भी द्वीपों के बारे में कुछ प्रारम्भिक तथ्य अधिक स्पष्टता से समझाये गये हैं यथा ‍{जैन,1986,145-146} -

1- द्वीप चतुर्दिक अथवा दो ओर से सागर, जलाशय अथवा महत्वपूर्ण नदी से घिरे हैं। इसमें भी जो सागर जिस द्वीप को आवृत्त कर स्थित है उसके नाम व लक्षण दिये गये हैं।

2- प्रत्येक द्वीप का शासक स्वतन्त्र एवं भिन्न लक्षणों वाले प्रदेश का अधिपति माना गया अर्थात् प्रत्येक द्वीप की भौतिक दृश्य भूमि के साथ-साथ वहाँ की सांस्कृतिक दृश्य भूमि के भी अपने स्वतंत्र लक्षण रहे होंगे। अतः सात द्वीप समूह का अर्थ यह भी हुआ कि सात प्रकार के मानव समूहों के प्रदेश।

3- जिस द्वीप से {पौराणिक भारतीयों का} अधिक निकट सम्बन्ध रहा या जिसके बारे में नियमित जानकारी मिल सकी, उसे अधिक स्पष्टता से समझाया गया यथा - जम्बू द्वीप के प्रत्येक वर्ष का पर्याप्त वर्णन मिलता है।

4- अधिकांश पुराणों में द्वीपों की दिशानुसार स्थिति समझाने का प्रयास किया गया है जिससे उनके विस्तार, महत्ता एवं अन्य तथ्यों का पता चलता है।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि पौराणिक "द्वीप" से आशय महाद्वीप अथवा विस्तृत क्षेत्र से था जिसकी सम्भवतः निश्चित प्रायः प्राकृतिक सीमा रही होगी। द्वीपों के अधिकांश भाग को जल से आवृत्त माना गया। वर्षा एवं वनस्पति की प्रकृति तथा पर्वत को प्रायः द्वीपों के नाम का आधार माना गया है। सात द्वीपों का सम्बन्ध सम्भवतः एशिया एवं निकट के भागों में सात विशिष्ट एवं स्वतन्त्र साम्राज्यों से भी रहा

होगा। पौराणिक सप्त द्वीप एवं उनके चतुर्दिक विस्तृत सप्त सागर तालिका 7·। में स्पष्ट किये है ﴾चित्र-7·।﴿

तालिका 7·।

पौराणिक सप्त द्वीपोदधि

क्र0सं0	सागर एवं द्वीप	भागवत, गरुड़, वामन, ब्रह्म, लिंग, मार्क0, कूर्म, ब्रह्माण्ड, अग्नि, वायु, देवी, विष्णु पुराण	मत्स्य पुराण	वराह पुराण	स्कन्द पुराण	महाभारत एवं पद्म पुराण
1·	द्वीप	जम्बू	जम्बू	जम्बू	जम्बू	जम्बू
1·अ-	सागर	क्षार	क्षार	क्षार	क्षार	-
2·	द्वीप	प्लक्ष	शक	शक	शक	शक
2·अ-	सागर	इक्षुरस	दुग्ध	दुग्ध	दुग्ध	-
3·	द्वीप	शाल्मली	कुश	कुश	पुष्कर	कुश
3·अ-	सागर	सुरा	घृत	दधि	सुरा	-
4·	द्वीप	कुश	क्रौन्च	क्रौन्च	कुश	क्रौन्च
4·अ-	सागर	घृत	दधि	घृत	दधि	-
5·	द्वीप	क्रौन्च	शाल्मल	शाल्मल	क्रौन्च	पुष्कर
5·अ-	सागर	दधि	सुरा	सुरा	घृत	-
6·	द्वीप	शाक	गोमेद	गोमेद	शाल्मल	-
6·अ-	सागर	क्षीर	इक्षुरस	इक्षुरस	इक्षुरस	-
7·	द्वीप	पुष्कर	पुष्कर	पुष्कर	गोमेद	-
7·अ-	सागर	स्वादुद	स्वादुद	स्वादुद	स्वादुद	-

अ= सागर से आवृत्त

﴾स्रोत - अली, 1966, पृ0-28-29﴿

भागवतपुराण के अनुसार राजा प्रियव्रत ने भूमण्डल का विभाजन सात द्वीपों में किया था तथा प्रत्येक की नदी, पर्वत, वन आदि से सीमा निश्चित की थी§5·1·39·40§। इन द्वीपों का नामकरण वृक्षों, घासों, पर्वतों आदि के आधार पर हुआ, यथा जम्बू, प्लक्ष, तथा शाल्मली द्वीपों का नामकरण क्रमशः जम्बू, प्लक्ष एवं शाल्मली वृक्षों के आधार पर हुआ जो यहाँ बहुतायत से पाये जाते थे। कुश द्वीप नामकरण कुश घास तथा पुष्कर द्वीप का पुष्कर§कमल§ के आधार पर हुआ। क्रौंच पर्वत का नाम है जो क्रौंच द्वीप के अभिधान का हेतु है। प्रत्यक का विभाजन दो, सात या नौ वर्षों में किया गया तथा इन वर्षों का नामकरण वहाँ के शासकों के नाम पर किया गया §तालिका संख्या7-2§। "वर्ष" से आशय वर्षा से है अस्तु वर्षा पर आधारित द्वीपों का विभाजन जलवायु प्रदेशों को व्यक्त करता है जो पुराणों में "वर्ष" §खण्डकान्§ के नाम से जाने जाते हैं। प्रत्येक द्वीप में सातमर्यादा पर्वत तथा सात मुख्य नदियों का उल्लेख मिलता है। प्रत्येक वर्षो के अन्तर्गत भी कुल पर्वत, अन्य पर्वत तथा नदियों के वर्णन उपलब्ध हैं ।

तालिका - 7·2

दीपान्तर्गत वर्ष

क्रम संख्या	दीप	वर्ष								
		1	2	3	4	5	6	7	8	9
1-	जम्बू	भारत	किम्पुरूष	हरि	इलावृत	रम्यक	हिरण्मय	कुरू	भद्राश्व	केतुमाल
2-	प्लक्ष	शिव	यवस्	सुभद्र	शान्त	क्षेम	अमृत	अभय	-	-
3-	शाल्मली	सुरोचन	सौमनस्य	रमणक	देव	पारिभद्र	आप्यायन	अविज्ञात	-	-
4-	कुश	वसु	वसुदान	दृढ़रुचि	नाभिगुप्त	स्तुत्यव्रत	विविक्त	वामदेव	-	-
5-	क्रौंच	आम	मधुरुह	मेघपृष्ठ	सुधामा	भ्राजिष्ठ	लोहितार्ण	वनस्पति	-	-
6-	शक	पुरोजव	मनोजव	पवमान	धूम्रानीक	चित्ररेफ	बहुरूप	विश्वधार	-	-
7-	पुष्कर	रमणक	धातकि	-	-	-	-	-	-	-

§स्रोत - भागवतपुराण§

जम्बू द्वीप

(चित्र-7·2)
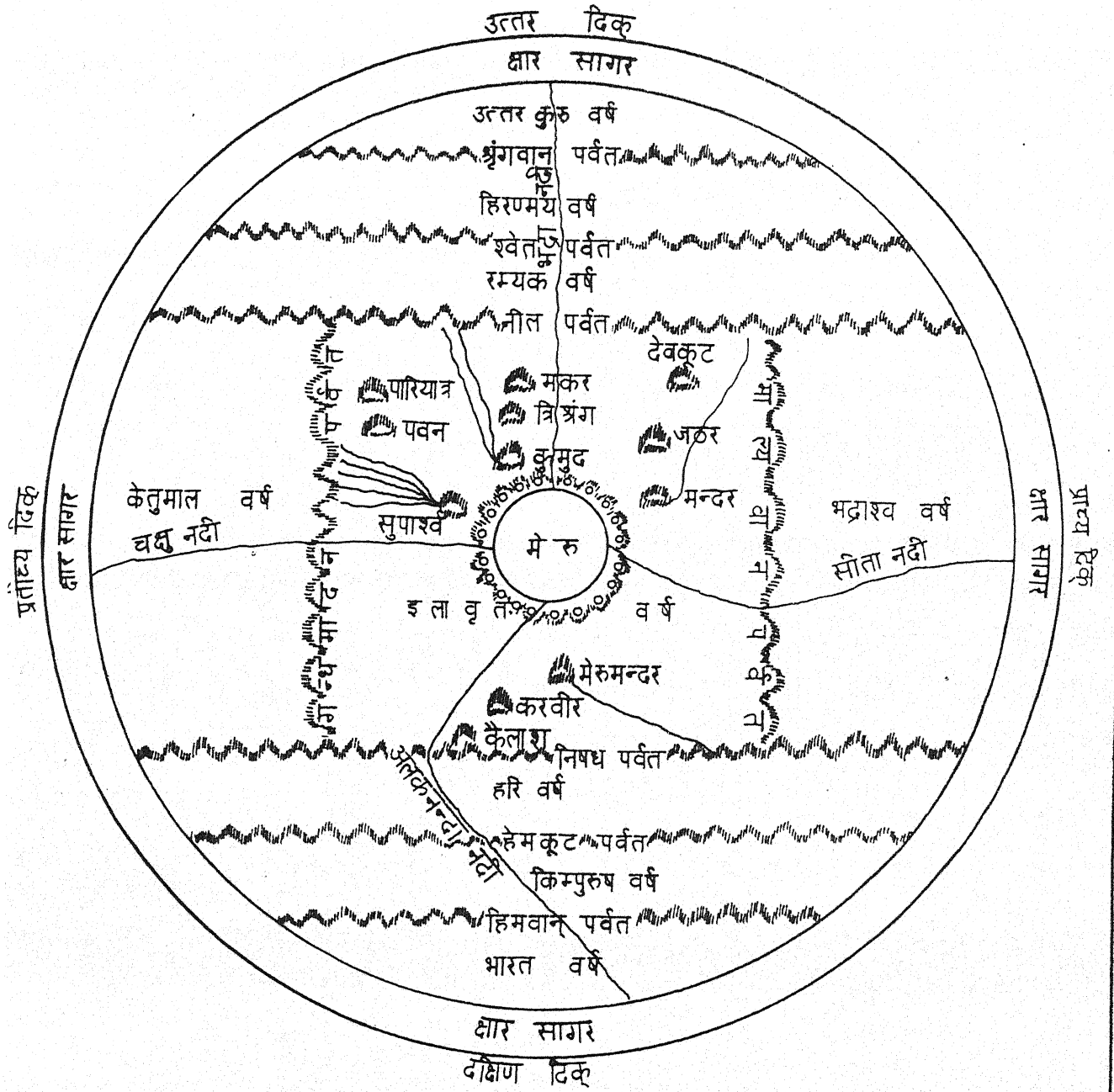
भूमण्डल के उक्त सातों द्वीपों में पूर्व-पूर्व की अपेक्षा आगे-आगे के द्वीप का परिमाण द्विगुणित है और ये समुद्र के बाह्य भाग में पृथ्वी के चतुर्दिक विस्तृत हैं। सप्त समुद्र सप्त द्वीपों की परिखा §खाई§ के समान स्थित हैं और परिमाण में अपने अन्तर्भाग में स्थित द्वीपों के समान हैं। इनमें से एक-एक क्रमशः पृथक्-पृथक् सातों द्वीपों को आवृत्त कर स्थित हैं §5·1·32-33§। जम्बू द्वीप, भूमण्डल रूप कमल के कोशस्थानीय जो सात द्वीप हैं, उनमें सबसे अन्दर का कोश है। इसका विस्तार एक लाख योजन है और यह कमल पत्र के समान गोलाकार है §5·16·5 चित्र 7·3§। भागवतपुराण में वर्णित भिन्न-भिन्न द्वीपों एवं वर्षों का प्रादेशिक भूगोल निम्नवत् है -

1- जम्बू द्वीप - इस भूभाग के शासक प्रियव्रत पुत्र आग्नीध्र थे §5·2·1 §। इन्होंने जम्बू द्वीप का विभाजन नौ वर्षों में किया तथा उनका नामकरण पुत्रों के नाम पर किया §5·2·21§। प्रत्येक वर्ष का विस्तार 9 हजार योजन §72000 मील§ कहा गया है तथा इनकी सीमाओं का विभाजन आठ पर्वत करते हैं §5·16·6§। ये वर्ष इलावृत, भद्राश्व, केतुमाल, रम्यक, हिरण्मय, उत्तर कुरु, हरि, किम्पुरुष, भारत आदि हैं §5·16·7-10§ जिनका प्रादेशिक वर्णन पुराणानुसार निम्नवत् है§चित्र-7·2·,7·4§ -

§क§- <u>इलावृत वर्ष</u> - जम्बू द्वीप के मध्य में इलावृत वर्ष स्थित है जिसके मध्य में कुल पर्वतों का राजा मेरु पर्वत स्थित है जो भूमण्डल रूप कमल की कर्णिका के समान है। " यह सुवर्णमय है और एक लाख योजन ऊँचा है। इसका विस्तार शिखर पर 32 हजार और तलहटी में 16 हजार योजन है तथा 16हजार योजन भूमिके अन्दरप्रविष्ट है"। मेरु का प्रत्याभिज्ञान वर्तमान पामीर से किया गया है। यहाँ से लम्बी-लम्बी पर्वत मालायें विभिन्न दिशाओं में फैली हुई हैं। इलावृत वर्ष के उत्तर में नील, श्वेत और श्रृंगवान नाम के तीन पर्वत हैं जो रम्यक, हिरण्मय और कुरु नामक वर्षों की सीमा का निर्धारण करते हैं। वे पूर्व से पश्चिम तक क्षार समुद्र तक विस्तृत हैं। इनमे से प्रत्येक की चौड़ाई 2 हजार योजन तथा लम्बाई पूर्व की अपेक्षा उत्तर दशमांश से कुछ अधिक है एवं चौड़ाई, ऊँचाई सभी की समान है §5·16·7-8§। इन तीनों पर्वतों

जम्बू पद्म
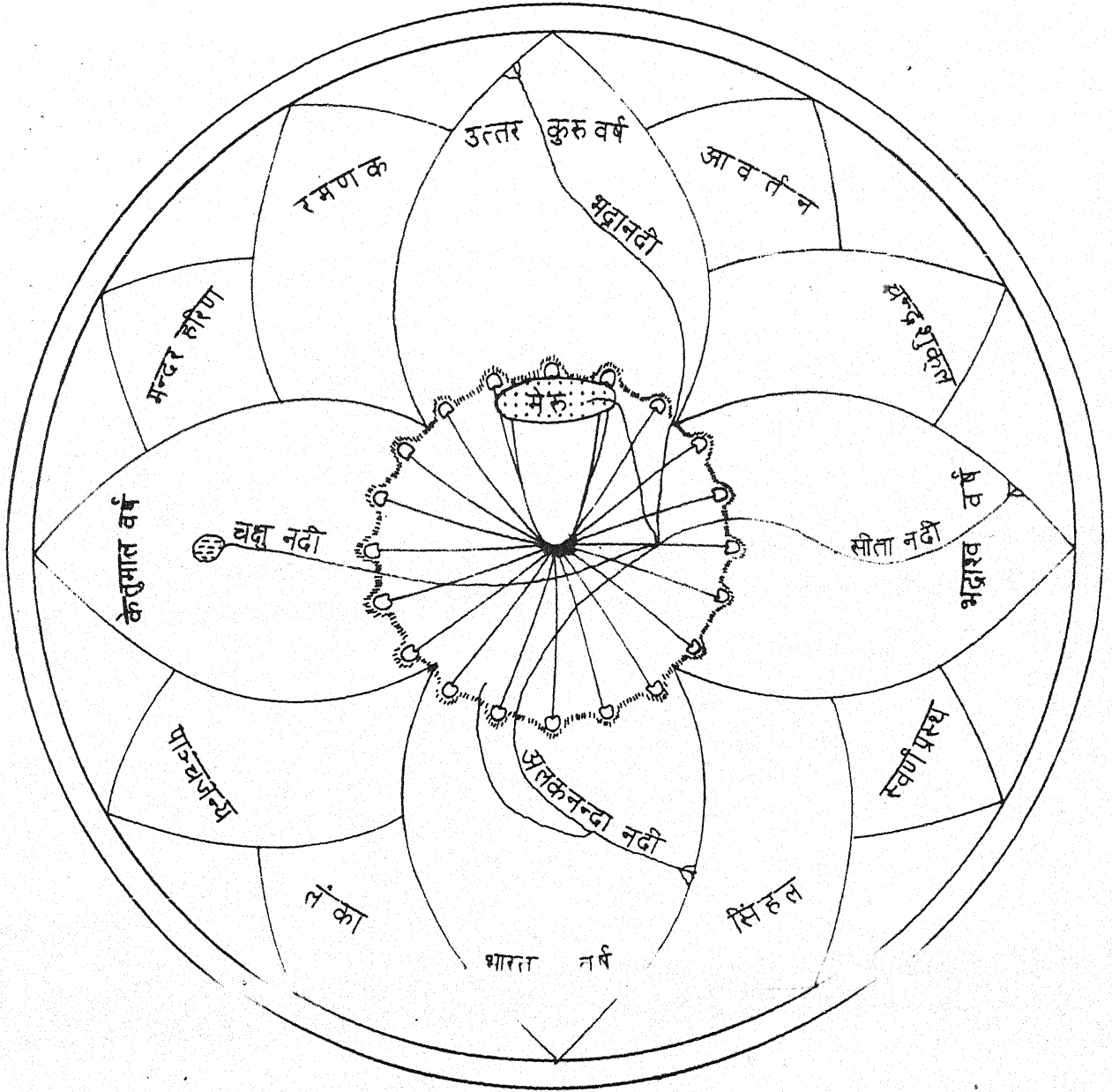
(चित्र-7.3)

का प्रत्याभिज्ञान क्रमशः जरफ्शान-ट्रान्स-अलाई-तियानशान श्रृंखला, करताउ-किरघिज-केतमान श्रृंखला तथा नुरताओं-तुर्किस्तान-अत्बशी श्रृंखला से किया गया है ﴾अली, 1966, 53﴿।

इसी प्रकार इलावृत वर्ष के दक्षिण की ओर निषध, हेमकूट और हिमालय नाम के तीन पर्वत हैं, जिनका प्रत्याभिज्ञान क्रमशः हिन्दुकुश-क्युनलुन श्रृंखला, लद्दाख-कैलाश-ट्रान्स-हिमालयन श्रृंखला तथा बृहद् हिमालय श्रेणी से किया गया है ﴾अली, 1966, 53﴿। नीलादि पर्वतों के समान ये भी पूर्व-पश्चिम की ओर विस्तृत हैं तथा दस-दस हजार योजन ऊँचे हैं। इनसे क्रमशः हरिवर्ष, किम्पुरुष वर्ष तथा भारतवर्ष की सीमाओं का विभाजन होता है। इलावृत वर्ष के पूर्व व पश्चिम की ओर उत्तर में नील पर्वत तथा दक्षिण में निषध पर्वत तक विस्तृत गन्धमादन और माल्यवत् ﴾हिन्दुकुश का उत्तरी भाग-ख्वाजा मोहम्मद श्रेणी और सरिकॉल श्रेणी, अली, 1966, 59﴿ नाम के दो पर्वत हैं। "इनकी चौड़ाई दो-दो हजार योजन है और ये भद्राश्व एवं केतुमाल नामक दो वर्षों की सीमा निश्चित करते हैं। इनके अतिरिक्त मन्दर, मेरु मन्दर, सुपार्श्व और कुमुद नाम के चार पर्वत दस-दस हजार योजन ऊँचे व इतने ही चौड़े हैं जो मेरु के चतुर्दिक अवष्टम्भ गिरि के रूप में स्थित हैं ﴾यहाँ कुछ काल्पनिक वर्णन भी किया गया है﴿। इन पर्वतों पर उनकी केतु के समान क्रमशः आम, जामुन, कदम्ब और वट के चार वृक्ष हैं जो प्रत्येक 1100 योजन ऊँचा है और इतने ही विस्तार वाले हैं। इन पर्वतों पर चार सरोवर हैं जो क्रमशः दुग्ध, मधु, इक्षुरस और मीठे जल से भरे हैं। इन पर क्रमशः नन्दन, चैत्ररथ, वैभ्राजक और सर्वतोभद्र नाम के चार दिव्य उपवन भी हैं ﴾5.16.9-15﴿।"

मन्दर पर्वत के उत्संग में 1100 योजन ऊँचा देवताओं का आम्र वृक्ष है। इन वृक्षों के फलों का प्रवाहित रस अरुणोदा नाम की नदी कहलाती है। यह नदी मन्दराचल के शिखर से गिरकर इलावृत वर्ष के पूर्वी भाग को सींचती है। इस वर्णन से यह प्रतीत होता है कि अरुणोदा का उद्गम ऐसे वन से रहा होगा जहाँ आम्रवृक्षों की बहुलता थी।

अली के अनुसार अरूणोदा नाम की झील मेरू ‡पामीर‡ के उत्तर-पशिचम में स्थित करकुल है जो किजिल-सु के उद्गम स्थान के निकट है ‡अली,1966,101‡। मेरू मन्दर पर्वत के शिखर पर विशाल जम्बू वृक्ष स्थित है जिसके फलों के रस के प्रवाहित होने से जम्बू नदी उद्भूत होती है जो इलावृत वर्ष के दक्षिणी भूभाग को सींचती है। कुमुद पर्वत पर शतवल्श नामक वट वृक्ष है जिसकी जटाओं से उद्भूत नद इलावृत वर्ष के दक्षिणी भूभाग को सींचती है। इस नदी के दोनों किनारों पर जम्बूनद नामक स्वर्ण प्राप्त होता है। सुपार्श्व पर्वत पर विशाल कदम्ब वृक्ष है जिसके कोटरों से पाँच मधुधारायें निकलकर इलावृत वर्ष के पशिचमी भूभाग को सींचती हैं। कुमुद पर्वत पर शतवल्श नामक वट वृक्ष है जिसकी जटाओं से उद्भूत नद इलावृत वर्ष के उत्तरी भाग को सींचते हैं ‡5·16·16-25‡। सुपार्श्व का प्रत्याभिज्ञान अली ने किरघिस्तान के पर्वतीय क्षेत्र से तथा कुमुद का प्रत्याभिज्ञान अक्-ताओ-रंगन-ताओ से किया है ‡अली,1966,78 व 92‡।

उपरोक्त के अतिरिक्त मेरू के मूल देश में उसके चतुर्दिक् कमल कर्णिका केसर के समान कुरंग, कुरर, कुसुम्भ, वैकंक, त्रिकूट, शिशिर, पतंग, रूचक, निषध, शिनीवास, कपिल, शंख, वैदूर्य, जारूधि, हंस, ऋषभ, नाग, कालंजर और नारद, ये बीस पर्वत स्थित हैं ‡चित्र-7·2,7·3‡। मेरू के पूर्व में जठर और देवकूट ‡कुरूकताघ और अल्ताइन ताग-नानशान-त्सिलिंग, अली,1966,99-100‡ नामक दो पर्वत हैं जो 18-18 हजार योजन लम्बे और दो-दो हजार योजन ऊँचे व चौड़े हैं। इसी प्रकार पशिचम की ओर पवन और पारियात्र, दक्षिण की ओर कैलाश और करवीर तथा उत्तर की ओर त्रिश्रृंग और मकर नामक पर्वत स्थित हैं। इन आठ पर्वतों से आवृत्त सुवर्णगिरि मेरू स्थित है जो ब्रह्मा का निवास स्थान है। मेरू का शिखर भाग समचौरस तथा एक करोड़ योजन विस्तार में है ‡5·16·26-29‡। भागवतपुराण के इस वर्णन से स्पष्ट है कि इलावृत वर्ष का मध्यस्थ मेरू, पामीर गाँठ या पठार है तथा इलावृत वर्ष पामीर के चतुर्दिक विस्तृत मध्य एशिया का भूभाग है।

भागवतपुराण के अनुसार गंगा का उद्गम मेरू पर्वत का शिखर है। स्वर्गलोक

से गंगा मेरु के शिखर पर गिरती है। वहाँ से सीता, अलकनन्दा, चक्षु और भद्रा के नाम से चार धाराओं में विभक्त हो जाती है तथा पृथक्-पृथक् चारों दिशाओं में प्रवाहित होती हुई समुद्र में गिर जाती है। इनमें सीता मेरु के शिखर से गिरकर केसराचलों के सर्वोच्च शिखरों से होकर नीचे की ओर प्रवाहित होकर गन्धमादन के शिखरों पर गिरती है और भद्राश्व वर्ष को प्लावित कर पूर्व में स्थित खारे समुद्र में मिल जाती है। इसी प्रकार चक्षु माल्यवत् के शिखर पर पंहुच कर अनुपरत् वेग से केतुमल वर्ष में प्रवाहित होती हुई पश्चिम समुद्र में मिल जाती है। भद्रा मेरु पर्वत के शखर से उत्तर की ओर प्रवाहित होती है तथा एक पर्वत से दूसरे पर्वत पर जाती हुई अन्त में श्रृंगवान के शिखर से गिरकर उत्तर कुरु देश में प्रवाहित होकर उत्तर की ओर समुद्र में मिल जाती है। अलकनन्दा मेरु शिखर से दक्षिण की ओर गिरकर तीव्र वेग से हिमालय के शिखरों को चीरती हुई भारतवर्ष में आती है, तत्पश्चात् दक्षिण समुद्र में मिल जाती है। प्रत्येक वर्ष में मेरुपर्वत से निकलने वाली और भी बहुत से नद और नदियाँ हैं §5·17·4-10§।

उपरोक्त नदियों में सीता का प्रत्याभिज्ञान तारिम नदी से किया गया है जो कुनलुन से निकलकर पश्चिम से पूर्व को प्रवाहित होती हुई लोपोनोर झील में गिर जाती हे §विद्यालंकार,1980,11 व 76§। कोलब्रुक तथा विल्सन के अनुसार चक्षु, आक्सस §आमू दरिया§ का प्राचीन संस्कृत नाम है जो अरल सागर में गिरती है §माथुर,1969, 325§। भद्रा वर्तमान साइबेरिया में प्रवाहित होने वाली इर्टिश नदी है जो आर्कटिक महासागर में गिरती है §अली,1966,चित्र संख्या-8§। अलकनन्दा भारत में प्रवाहित होने वाली गंगा नदी है। इन चारों नदियों का उद्गम स्थान मध्य एशिया है। इसीलिये सम्भवतः इन्हें गंगा की शाखायें मानी गयी हैं।

§ख§- <u>भद्राश्व वर्ष</u> - भद्राश्व वर्ष की स्थिति इलावृत वर्ष के पूर्व में है। इलावृत वर्ष के पूर्व में स्थित माल्यवान् पर्वत §सरिकॉल श्रेणी§ इलावृत वर्ष व भद्राश्व वर्ष की सीमा का विभाजन करता है §5·16·10§। यह पर्वत उत्तर में नील §जरफ्शान-ट्रान्स-

अलाई-तियानशान§ से लेकर दक्षिण में निषध §हिन्दुकुश-क्युनलुन§ तक विस्तृत है। यहाँ के निवासी हयग्रीव की उपासना करते हैं §5·18·1§।

उपरोक्त के अतिरिक्त भागवतपुराण में अन्य भौगोलिक वर्णन भद्राश्व वर्ष का नहीं प्राप्त होता है किन्तु मेरू के पूर्व में स्थित होने के कारण इस प्रदेश को निस्संदिग्ध रूप से पूर्वी एशिया के भूभाग में स्थित माना जा सकता है। वर्तमान चीन इसी भूभाग में स्थित है । अली के अनुसार भद्राश्व वर्ष तारिम व ह्वांग हो नदी का बेसिन प्रदेश अर्थात् सम्पूर्ण सिक्यांग और उत्तरी चीन का भूभाग है। उनके अनुसार भद्राश्व वर्ष का समीपवर्ती सीमा पर्वत नील त्यानशेन पर्वत है। वर्तमान बाउदल, बरकोल, करलिक तथा ताघ पर्वत श्रेणियाँ भी इसी नील पर्वत में सम्मिलित हैं। निषध क्युनलुन पर्वत श्रृंखला है §अली, 1966, 99§।

§ग§- <u>केतुमाल वर्ष</u> - इलावृत वर्ष के पश्चिम में केतुमाल वर्ष स्थित है। इलावृत वर्ष व केतुमाल वर्ष का सीमा विभाजन गन्धमादन पर्वत द्वारा होता है§5·16·10§। पौराणिक वर्णनानुसार केतुमाल वर्ष के उत्तर में नील पर्वत §जरफ्शान-ट्रान्स-अलाई-तियानशान§, पूर्व में गन्धमादन §हिन्दुकुश की ख्वाजा मोहम्मद श्रेणी § और दक्षिण में निषध पर्वत §हिन्दुकुश-क्युनलुन§ तथा पश्चिम में पश्चिम सागर §कैस्पियन सागर§ स्थित है §5·16·10, अली, 1966, 88§।

§घ§- <u>रम्यक वर्ष</u> - रम्यक वर्ष इलावृत वर्ष के उत्तर में स्थित है। इसके दक्षिण में नीलपर्वत है जो इलावृत वर्ष व रम्यक वर्ष को विभक्त करता है। इसी वर्ष में मनु को मत्स्यावतार के दर्शन हुए थे §5·18·24§। रम्यक वर्ष के उत्तर में श्वेत पर्वत है जिसको पार करके हिरण्मय वर्ष आता है। इसके पूर्व और पश्चिम में सागर है §5·16·8§। अली के अनुसार रम्यक वर्ष नुर-ताओ-तुर्किस्तान श्रेणियाँ और जरफ्शान हिसार श्रेणियों से आवृत्त प्रदेश है। इनके अनुसार जरफ्शान हिसार श्रेणी ही नील पर्वत है तथा नुर-ताओ-तुर्किस्तान श्रेणियाँ ही श्वेत पर्वत हैं §अली 1966, 83§।

§ड० §-<u>हिरण्मय वर्ष</u> - हिरण्मय वर्ष की स्थिति श्वेत पर्वत के उत्तर में तथा श्रृंगवान पर्वत के दक्षिण में है। पूर्व और पश्चिम में क्षार सागर है §5·16·8§। यहीं पर हिरण्यवती नदी प्रवाहित होती है। अली के अनुसार श्रृंगवान पर्वत करताओ-किरघिज-केतमान श्रेणियाँ हैं तथा सोग्दियाना व हिरण्यवती §जरफ्शान§ का बेसिन प्रदेश ही हिरण्मय वर्ष है §अली,1966,53 तथा 84§। यहाँ के निवासी भगवान् कच्छप की उपासना करते है §5·18·29§।

§च§- <u>उत्तर कुरु वर्ष</u> - इसकी स्थिति जम्बू द्वीप के ठीक उत्तर में है। इसके दक्षिण में श्रृंगवान पर्वत तथा उत्तर में सागर है। पर्व व पश्चिम में क्षार सागर है §5·17·8 तथा 5·16·8§। इस प्रकार यह वर्ष तीन ओर से समुद्र से आवृत्त है। अली §1966, 85§ के अनुसार उत्तर कुरु इर्टिश, ओब, इशिम और तोबोल नदियों का बेसिन प्रदेश है। यह आधुनिक पश्चिमी साइबेरिया का क्षेत्र है। यहाँ के निवासी भगवान वराह की उपासना करते हैं §5·18·34§।

§छ§- <u>हरिवर्ष</u> - हरिवर्ष की स्थिति इलावृत वर्ष के दक्षिण में है। इलावृत वर्ष और हरिवर्ष की सीमा का विभाग निषध पर्वत करता है §5·16·9§। हरिवर्ष की दक्षिणी सीमा में हेमकूट पवर्त स्थित है §5·16·9§। हेमकूट लद्दाख-कैलाश की पर्वत श्रृंखला है §अली,1966,53§। स्पष्टतः हरिवर्ष हिन्दुकुश कुनलुन के दक्षिण में तथा हिमालय के उत्तर में चीन के दक्षिणी प्रदेश तक का भाग है। यहाँ के निवासी नृसिंह की उपासना करते है §5·18·7§।

§ज§- <u>किम्पुरुष वर्ष</u> - इस वर्ष की स्थिति उत्तर में हेमकूट §लद्दाख-कैलाश श्रेणी§ तथा दक्षिण में हिमवान् §हिमालय§ के मध्य में है §5·16·9§। इस वर्णन के अनुसार यह लद्दाख-तिब्बत का भूभाग होना चाहिये। यहाँ के निवासी राम की उपासना करते हैं §5·19·1-2§।

§झ§- <u>भारतवर्ष</u> - तीन ओर से सागर से आवृत्त भारतवर्ष की स्थिति जम्बू द्वीप के

ठीक दक्षिण में है। इसकी उत्तरी सीमा में हिमवान् पर्वत स्थित है {5·16·9, चित्र-7·4}। इस वर्ष का नाम पूर्व में अजनाभ वर्ष था {5·7·3}। अजनाभ का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है - अज {अजन्मा विष्णु} के नाभिकमल पर स्थित देश। उक्त शब्द यह प्रदर्शित करता है कि आदि सृष्टि {मानव की उत्पत्ति} यहीं हुई तथा यहीं से सभ्यता विकसित होकर अन्य देशों को प्रसरित हुई। भागवतपुराण में आर्यों की उस प्रतापी शाखा मनु के वंशज "भरत" का उल्लेख है जिसने अनार्य एवं आर्य दोनों को विजित कर "भरत" नाम की यज्ञाग्नि प्रज्वलित करने के साथ ही ज्ञान प्रधान संस्कृति "भारती" को प्रतिष्ठापित करते हुए देश के अन्य भूभागों को भी भौगोलिक एवं सांस्कृतिक एकता के सूत्र में बाँध कर "भारत" अथवा "भारतवर्ष" अभिधान प्रदान किया {5·4·9,5·7·3,11·2·17}, वहीं तत्कालीन सिन्धु नदी ने भी इस तपस्वी देश के {हिन्दू या इण्डोस} नामकरण में अपरिहार्य पृष्ठभूमि अर्पित करते हुए अपने भौगोलिक वैशिष्ट्य से जनमन को भी आकर्षित किया है।

भौतिक स्थलाकृति की दृष्टि से भारत वर्ष के उत्तर में स्थित हिमवान् पर्वत {5·16·9}, नदी घाटियों के समतल मैदानी प्रदेश {4·21·11, 12·1·39}, दक्षिणी प्रायद्वीपीय पठारी भाग, राजस्थान का मरूस्थलीय भाग {धन्व-9·4·22,10·86·20} तथा समुद्रतटवर्ती भूभाग {10·67·5} मुख्य हैं। हिमवान् पर्वत भारतवर्ष का वर्ष पर्वत है {5·16·9} तथा महेन्द्र {गंजाम से लेकर पाण्ड्य देश तक पूर्वी घाट की पर्वत श्रेणी}, मलय {नीलगिरि की पश्चिमी शाखा}, सह्य {पश्चिमी घाट की पर्वत श्रृंखला}; शुक्तिमान {सेहोआ और कांकर के दक्षिण स्थित पहाड़ियाँ जो छत्तीसगढ़ को बस्तर से पृथक् करती हैं}, ऋक्ष {विन्ध्य की मध्यवर्ती श्रेणी}, विन्ध्य {वर्तमान विन्ध्य का पूर्वी भाग} तथा पारियात्र {विन्ध्य की पश्चिमी उत्तरी श्रृंखला जिसमें अरावली की पहाड़ियाँ सम्मिलित हैं}, ये सात कुल पर्वत है {5·19·16, 10·79·16, आप्टे, 1981, 287}। इनके अतिरिक्त मंगलप्रस्थ, मैनाक {गंगा से व्यास नदी तक विस्तृत शिवालिक पर्वत श्रृंखला}, त्रिकूट {नासिक के पास जुनार पहाड़ी}, ऋषभ {मदुरा में स्थित पलनी पहाड़ियाँ},कूटक,कोल्लक,देवगिरि ऋष्यमूक {तुंगभद्रा के तट पर अनगण्डी के समीप स्थित पर्वत} श्रीशैल {दक्षिणी भारत का श्री पर्वत}, वेंकट

§तिरूपति के निकट तिरूमलाई पर्वत§, वारिधार, द्रोण §देहरादून के निकट की पर्वत श्रृंखला§, चित्रकूट §बुन्देलखण्ड के बाँदा जिले में स्थित पर्वत श्रेणियाँ§, गोवर्द्धन §वृन्दावन के निकट स्थित पर्वत§, रैवतक §गुजरात में जूनागढ़ के समीप स्थित गिरिनार पहाड़ी, ककुभ, नील §कोयम्बटूर जिले में स्थित पर्वत§, गोकामुख, इन्द्रकील, कामगिरि, कालंजर §बुन्देलखण्ड के बाँदा जिले में स्थित पर्वत§, प्रवर्षण §माल्यवान् पर्वत का एक भाग§ आदि पर्वतों का उल्लेख मिलता है §5·8·30,5·19·16,10·52·10§।

भारतवर्ष की नदियों में चन्द्रवसा §मलय गिरि पर प्रवाहित होकर पश्चिमी सागर में गिरने वाली नदी§, ताम्रपर्णी §वर्तमान ताम्रपर्णी§, अवटोदा, कृतमाला §वैगई नदी, शर्मा,1977,400§, कृष्णा, वैहायसी, कावेरी, वेणी §कृष्णा की सहायक नदी, काणे, 1975 भाग-3,1486§, भीमरथी §भीमा नदी§, गोदावरी, निर्विन्ध्या §चम्बल की सहायक वर्तमान नेवज नदी, कान्तवाला, 1964,368§, पयोष्णी §दक्षिण भारत की पैनगंगा, शर्मा,1977,403§, तापी §ताप्ती नदी§, रेवा या नर्मदा, सुरसा §उड़ीसा की एक छोटी नदी§, चर्मण्वती §चम्बल§, सिन्धु, अन्ध, §भागलपुर में गंगा से मिलने वाली चान्दन या अन्धेला नदी§, शोण §सोन§, महानदी, वेदस्मृति §चम्बल की सहायक बनास नदी§, ऋषिकुल्या, त्रिसामा, कौशिकी §कोसी§, मन्दाकिनी §अलकनन्दा की सहायक नदी, नौटियाल,1984, 117§, यमुना, सरस्वती, दृषद्वती, सरयू, रोधस्वती, सप्तवती, सुषोमा §अटक जिले में प्रवाहित होने वानी सोहन नदी, उपाध्याय, 1958,466§, शतद्रू §सतलज§, असिक्नी या चन्द्रभागा §चेनाव§, मरुद्वृधा §चेनाव की सहायक मरूबर्दवान नदी, उपाध्याय,1958,466§, वितस्ता §झेलम§, विश्वा,गंगा, वैतरणी §विन्ध्य से निर्गत उड़ीसा की एक नदी§, इक्षुमती §फर्रुखाबाद के समीप प्रवाहित होने वाली ईखन नदी§, सुनन्दा, नन्दा §नन्दाकिनी नदी, नौटियाल,1984,115-116§, चक्र नदी §गण्डकी§, गोमती, अलकनन्दा §गंगा की प्रमुख सहायक नदी§, पम्पा §तुंगभद्रा की सहायक नदी§, प्रतीची, वटोदका, विपाशा §व्यास§ आदि का उल्लेख है §1·8·42, 2·2·7,4·28·35, 5·7·10,5·10·1, 5·17·5, 5·19·18, 8·1·18, 8·4·23,10·79·11-12, 11·5·40, चित्र 7·8§।

जम्बू दीप के आठ उपदीप -

उपरोक्त वर्षों के अतिरिक्त जम्बू दीप के आठ उपदीपों - स्वर्णप्रस्थ, चन्द्रशुक्ल, आवर्तन, रमणक, मन्दरहरिण, पांचजन्य , सिंहल और लंका हैं जो जम्बू दीप के चतुर्दिक स्थित हैं §5·19·29-30§। इनका प्रत्याभिज्ञान क्रमशः सुमात्रा, फिलीपाइन दीप, ब्रिटिश दीप, नार्वे तथा स्वीडन, नोवा जेम्ल्या, जापान, श्रीलंका और श्रीलंका से किया गया है §दुबे,1967,84 चित्र-7·2,7·4§।

2- प्लक्ष दीप -

जम्बू दीप अपने ही समान परिमाण और विस्तार वाले क्षार समुद्र से परिवेष्टित है। इस क्षार समुद्र से आगे प्लक्ष दीप स्थित है जो क्षार समुद्र से दिगुणित विस्तार वाला है। इस दीप में एक सुवर्णमय प्लक्ष §पाकर§ का वृक्ष स्थित है जिसके कारण ही इस दीप का नाम प्लक्ष दीप हुआ। यहाँ सात जिह्वाओं वाले अग्निदेव §सम्भवतः सात अवनालिकाओं वाला जवालामुखी पर्वत§ स्थित है। यहाँ के शासक प्रियव्रत पुत्र इध्मजिह्व थे, जिन्होंने इस दीप को सात वर्षों में विभक्त किया और अपने सात पुत्रों के नाम पर उनका नामकरण किया। इन वर्षों के नाम शिव, यवस्, सुभद्र, शान्त, क्षेम, अमृत व अभय हैं। इस दीप के सात मर्यादा पर्वत - मणिकूट, वज्रकूट, इन्द्रसेन, ज्योतिष्मान, सुपर्ण, हिरण्यष्ठीव और मेघमाल हैं तथा सात महानदियाँ- अरूणा, नृम्णा, आँगिरसी, सावित्री, सुप्रभाता, ऋतम्भरा और सत्यम्भरा हैं। यहाँ हंस, पतंग, ऊर्ध्वायन और सत्यांग नामक चार वर्ण के लोग निवास करते हैं जो सूर्य की उपासना करते हैं §5·20·1-6§।

3- शाल्मली दीप -

प्लक्ष दीप अपने ही विस्तार वाले इक्षुरस के समुद्र से आवृत्त है। उससे आगे उसके दो गुने परिमाण वाला शाल्मली दीप है जो उतने ही विस्तार वाले सुरोद §मदिरा§ सागर से परिवेष्टित है। यहाँ विशाल शाल्मलि का वृक्ष है जो गरूड़ का निवास स्थान है। यही वृक्ष इस दीप के नामकरण का हेतु है। इस दीप के अधिपति यज्ञबाहु थे।

इन्होंने इस द्वीप के सुरोचन, सौमनस्य, रमणक, देववर्ष, पारिभद्र, आप्यायन और अविज्ञात नाम से सात विभाग किये तथा इनका शासन इन्हीं नाम वाले अपने पुत्रों को दे दिया। स्वरस्, शतश्रृंग, वामदेव, कुन्द, मुकुन्द, पुष्पवर्ष और सहस्रश्रुति यहाँ के सात प्रमुख पर्वत तथा अनुमति, सिनीवाली, सरस्वती, कुहू, रजनी, नन्दा और राका ये सात प्रमुख नदियाँ हैं। यहाँ श्रुतधर, वीर्यधर, वसुन्धर और इषन्धर नाम के चार वर्ण के लोग निवास करते हैं जो चन्द्रमा की उपासना करते हैं (5.20.7-11)।

4- कुश द्वीप -

सुरोद सागर से आगे उससे द्विगुणित परिमाण वाला कुशद्वीप है जो अपने ही समान विस्तार वाले घृत सागर से आवृत्त है। इस द्वीप में कुशों का झाड़ पाया जाता है जो इस द्वीप के नामकरण का हेतु है। इस द्वीप के अधिपति हिरण्यरेता थे जिन्होंने वसु, वसुदान, दृढ़रुचि, नाभिगुप्त, स्तुत्यव्रत, विविक्त और वामदेव नाम से इस द्वीप के सात विभाग किये तथा इन्हीं नाम वाले पुत्रों को उनका शासक बनाया। यहाँ चक्र, चतुश्रृंग, कपिल, चित्रकूट, देवानीक, ऊर्ध्वरोमा और द्रविण नामक सात मर्यादा पर्वत स्थित हैं तथा रसकुल्या, मित्रविन्दा, श्रुतविन्दा, देवगर्भा, घृतच्युत, और मन्त्रमाला नामक सात मुख्य नदियाँ हैं। यहाँ कुशल, कोविद, अभियुक्त और कुलक वर्ण के लोग निवास करते हैं जो हरि की उपासना करते हैं (5.20.13-17)।

5- क्रौन्च द्वीप -

घृत समुद्र से आगे उससे द्विगुणित परिमाण वाला क्रौन्च द्वीप है जो अपने ही समान विस्तार वाले दुग्ध समुद्र से घिरा है। यहाँ क्रौन्च नामक एक विशाल पर्वत है जो इस द्वीप के नामकरण का हेतु है। इस द्वीप के अधिपति महाराज घृतपृष्ठ थे जिन्होंने आम, मधुरुह, मेघपृष्ठ, सुधामा, भ्राजिष्ठ, लोहितार्ण तथा वनस्पति नाम से इस द्वीप को सात वर्षो में विभक्त किया तथा प्रत्येक का शासन उन्हीं नाम वाले अपने पुत्रों को दे दिया। इस द्वीप में शुक्ल, वर्धमान, भोजन, उपबर्हिण, नन्द, नन्दन और सर्वतोभद्र

नाम के सात मर्यादा पर्वत स्थित हैं तथा अभया, अमृतौघा, आर्यका, तीर्थवती, वृत्ति-रूपवती, पवित्रवती और शुक्ला नाम की सात प्रमुख नदियाँ हैं। यहाँ पुरूष, ऋषभ, द्रविण और देवक नाम के चार वर्ण के लोग निवास करते हैं जो अपोदेवता की उपासना करते हैं ‹5·20·18-23›।

6- शाक द्वीप -

क्षीर ‹दुग्ध› समुद्र से आगे उसके चतुर्दिक बत्तीस लाख योजन विस्तार वाला शक् या शाक द्वीप है जो अपने ही समान परिमाण वाले दधिमण्डोद ‹मट्ठे› सागर से आवृत्त है। यहाँ शक नामक एक विशाल वृक्ष है जो इस द्वीप के नाम का कारण है। मेधातिथि नामक यहाँ के शासक ने अपने पुत्रों के नाम पर इसके पुरोजव, मनोजव, पवमान, धूम्रानीक, चित्ररेफ, बहुरूप तथा विश्वाधार, ये सात विभाग किये तथा उनका शासन उन्हीं नाम वाले अपने पुत्रों को दे दिया। यहाँ ईशान, ऊरुश्रृंग, बलभद्र, शतकेसर, सहस्रस्रोत , देवपाल और महानस नाम के सात मर्यादा पर्वत तथा अनघा, आर्युदा, उभय स्पृष्टि, अपराजिता, पन्चपदी, सहस्रश्रुति और निजधृति नाम की सात प्रमुख नदियाँ स्थित हैं। यहाँ ऋतव्रत, सत्यव्रत, दानव्रत, और अनुव्रत नाम के चार वर्ण के लोग निवास करते हैं जो वायु रुप श्री हरि की उपासना करते हैं ‹5·20·24-27›।

7- पुष्कर द्वीप -

दधिमण्डोद उदधि से आगे उससे द्विगुणित परिमाण वाला पुष्कर द्वीप है जो चारों ओर से अपने ही समान विस्तार वाले स्वादूदक या शुद्धोदक समुद्र से घिरा है। विशाल पुष्कर ‹कमल› इस द्वीप के अभिधान का हेतु है। इस द्वीप के मध्य में पूर्वी और पश्चिमी विभागों की मर्यादा निश्चित करने वाला मानसोत्तर नाम का एक ही पर्वत है जो 10 हजार योजन ऊँचा व इतना ही लम्बा है। यहाँ के शासक वीतिहोत्र ने इस द्वीप को रमणक और धातकि नाम से दो वर्षों में विभक्त कर उनका शासन इन्हीं नाम वाले अपने दो पुत्रों को दे दिया। यहाँ के निवासी ब्रह्मा की उपासना करते हैं ‹5·20·29-33›।

द्वीपों का प्रत्याभिज्ञान -

पौराणिक साहित्य में द्वीपों की संख्या तथा उपद्वीपों की संख्या में विविधता मिलती है इसी आधार पर इनके प्रत्याभिज्ञान में पाश्चात्य जगत् तथा भारतीय विद्वानों में मतैक्य नहीं है, फिर भी निम्नलिखित आधारभूत तथ्यों के आधार पर भूतल की प्रादेशिक इकाई के रूप में पौराणिक द्वीपों का प्रत्याभिज्ञान किया जा सकता है §अली,1966,37-39§-

1- पौराणिक द्वीप से आशय ऐसे स्थल भाग से है जो जल, दलदल, उच्चपर्वतीय अथवा सघन वनों से आवृत्त हो तथा साधारणतया अपारगम्य हो। इस प्रकार से द्वीप साधारणतया स्थलाकृतिक अथवा जलवायु प्रदेश को प्रदर्शित करते हैं।

2- द्वीप शब्द राष्ट्र या राज्य से सम्बन्धित था जो मानव अधिवासित क्षेत्र था। इस भाँति प्राकृतिक प्रदेशों के साथ ही साथ छोटे या बड़े मानव समृद्ध प्रदेश के द्योतक थे। परवर्ती अर्थ में ये मानव प्रदेश के रूप में विस्तृत एवं संकुचित होते रहे हैं। फलतः विविध पुराणों में उनकी स्थिति के विषय में भिन्नता स्वभाविक है।

3- पुराणों में जब सम्पूर्ण भूमण्डल का वर्णन किया गया है तो इससे आशय अधिवासित अथवा अधिवास योग्य विश्व से हैं। स्पष्टतः सप्त द्वीपों के वर्णनों में तथा विश्व के प्रादेशिक विभाजन में निर्जन, मरूस्थलीय या रिक्त भूमि को कोई महत्व नहीं दिया गया। दूसरे शब्दों में हम विश्व के मानचित्र में इनकी स्थिति प्रदर्शित करना चाहें तो रिक्त प्रदेशों को ध्यान में नहीं रखना होगा।

4- जब हम ईसा से हजारों वर्ष पूर्व के भारतीय भूगोल का अध्ययन करते हैं तो हमें तत्कालीन जलवायु दशाओं, वनस्पति, धरातलीय तथ्यों एवं जनसंख्या के वितरण पर भी दृष्टिपात करना होगा तथा इनमें कलक्रमानुसार उत्पन्न परिवर्तनों को भी ध्यान में रखना होगा।

पुराणों के सप्त द्वीपों के प्रत्याभिज्ञान में अनेक सिद्धान्त अपनाये गये

हैं जो उनके प्रत्याभिज्ञान के आधार पर वर्गीकृत किये जा सकते हैं। यह वर्गीकरण निम्न आधारों पर है -

1- यह कि सप्त द्वीपों की कथा काल्पनिक है। यह विचार अस्पष्ट है क्यों कि पौराणिक साहित्य में स्पष्ट विसंगतियों के बावजूद कुछ द्वीपों के वर्णन में यथार्थता का चित्रण है।

2- यह कि पौराणिक सप्त द्वीप और कुछ नहीं, बल्कि सप्त तारा सम्बन्धी क्षेत्र है अर्थात् काल्पनिक गोलाकृतियाँ हैं, जो पृथ्वी की परिक्रमा करते है। यदि द्वीपों के वर्णनों में भारतीय मनीषियों का यह आशय होता तो कुछ और गोलाकृतियों यथा-महर्लोक, तप लोक, सत्य लोक, आदि का वर्णन होता। इसके अतिरिक्त द्वीपों में वर्णित पर्वत एवं नदियाँ यथार्थता का बोध कराती हैं तथा द्वीप विविध वर्षों में विभक्त किये गये हैं।

3- यह कि सप्त द्वीप भूतल पर विविध भौगोलिक कालों में क्रमिक परिवर्तनों को प्रदर्शित करते हैं। यह विचार स्पष्टतः क्लिष्ट कल्पना है क्यों कि पौराणिक विश्व के जीव जन्तु, मानव आदि नूतन भौगर्भिक काल से सम्बन्ध रखते हैं न कि प्राचीन भौगर्भिक काल से।

4- §अ§- यह कि सप्त द्वीपों से आशय प्राचीन सात जलवायु प्रदेशों से है।

§ब§- यह कि सप्त द्वीपों से आशय वर्तमान एशिया, यूरोप, अफ्रीका, उत्तरी अमेरिका, दक्षिणी अमेरिका एवं अण्टार्कटिका महाद्वीपों से है।

§स§- यह कि सप्त द्वीपों से आशय प्राचीन विश्व के विविध भूभागों से है।

जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है कि पौराणिक सप्त द्वीपी विभाजन काल्पनिक न होकर यथार्थ है। विविध विद्वानों ने जलवायु, नदियों, पर्वतों, वनस्पति, जनसमूह आदि तथ्यों के आधार पर इन द्वीपों का प्रत्याभिज्ञान करने का प्रयास किया जो तालिका नं0- 7·3 से स्पष्ट है ।

तालिका - 7·3

द्वीपों का प्रत्यभिज्ञान

क्र0 सं0	द्वीप	कृष्णामाचर्लू §1947,पृ0-49 -62§	क्लिफोर्ड §1908,पृ0-245-376§	गेरिनी §1900,पृ0-8, 164-165,237, 244,725§	अय्यर[x]	अली §1966,पृ0-26-44, चित्र-3§	त्रिपाठी §1969,पृ0-179, चित्र-5§
1-	जम्बू	भारत तथा चीन का अधिकांश भाग	भारत	भारत	भारत	भारत प्रायद्वीप,चीन एवं रूस का मध्य तथा पश्चिमी भाग	भारत प्रायद्वीप,रूस एवं चीन
2-	प्लक्ष	आधुनिक फारस की खाड़ी के देश	एशिया माइनर तथा आर्मीनियाँ	अराकान एवं वर्मा	तार्तरी	भूमध्यसागर तटवर्ती भूभाग	ईरान
3-	शाल्मली	सोमाली§अफ्रीका§	बाल्टिक एवं एड्रियाटिक सागर के पास	मलय प्रायद्वीप	सारमैतिया?	उष्णकटिबन्धीय अफ्रीका §मेडागास्कर सहित§	पूर्वीअफ्रीका §मिश्र,सूडान,इथियोपिया, केन्या,तंजानिया,युगाण्डा तथा साउदी अरब
4-	कुश	ग्रीस तथा सीमावर्ती क्षेत्र	सिन्धु से लेकर फारस की खाड़ी तथा कैस्पियन सागर तक का भाग	सुण्डा द्वीप समूह	ईरान,अरब एवं इथोपिया	मध्यपूर्व या अरब देश	ईरान,ईराक,टर्की,सीरिया,जार्डन
5-	कौन्च	यूरोप का अधिकांश भाग	जर्मनी,फ्रांस एवं इटली	दक्षिणी चीन	एशिया माइनर या अनातूलिया	यूरोप	यूरोप
6-	शाक	बाल्टिक सागर से लेकर बुखारा तक	ब्रिटिश द्वीप समूह	कम्बोज§कम्बोडिया§, स्याम थाईलैण्ड	साइथिया	मानसून एशिया,कम्बोज, थाइलैण्ड,वियतनाम,लाओस, दक्षिणी पूर्वी चीन,मलाया, वर्मा	तुर्कमेनिस्तान,बुखारा,उत्तरी ईरान
7-	पुष्कर	आधुनिक बुखारा	आइसलैण्ड	उत्तरी चीन एवं मंगोलिया	तुर्किस्तान	पूर्वी साइबेरिया,कोरिया, उत्तरी पूर्वी चीन,जापान, मन्चूरिया	मध्य अमेरिका
		§चित्र - 7·5§	§चित्र - 7·5§	§चित्र - 7·5§		§चित्र - 7·6§	§चित्र - 7·6§

[x] अंक-15,संख्या-1,पृ0-62,संख्या-2,पृ0-119-127,संख्या-3,पृ0-238-245,अंक16,संख्या-4,पृ0-273-282,अंक17,संख्या-1,पृ0-30-45,संख्या-2,पृ0-94-105§

पौराणिक सप्तद्वीप
पुष्कर द्वीप
क्रौञ्च द्वीप
प्लक्ष द्वीप
जम्बू द्वीप
कुश द्वीप
किलोमीटर
1000 0 1000 2000 3000 4000
(अली के अनुसार)
कौञ्च
कुश
शाक
प्लक्ष
पूर्व विदेह
किलोमीटर
2000 0 4000 8000
(मायप्रसाद त्रिपाठी के अनुसार)
द्वीप सागर
1· जम्बू 1· क्षार
2· प्लक्ष 2· इक्षुरस
3· शाल्मली 3· सुरा
4· कुश 4· घृत
5· क्रौञ्च 5· दधि
6· शाक 6· दुग्ध
7· पुष्कर 7· जल
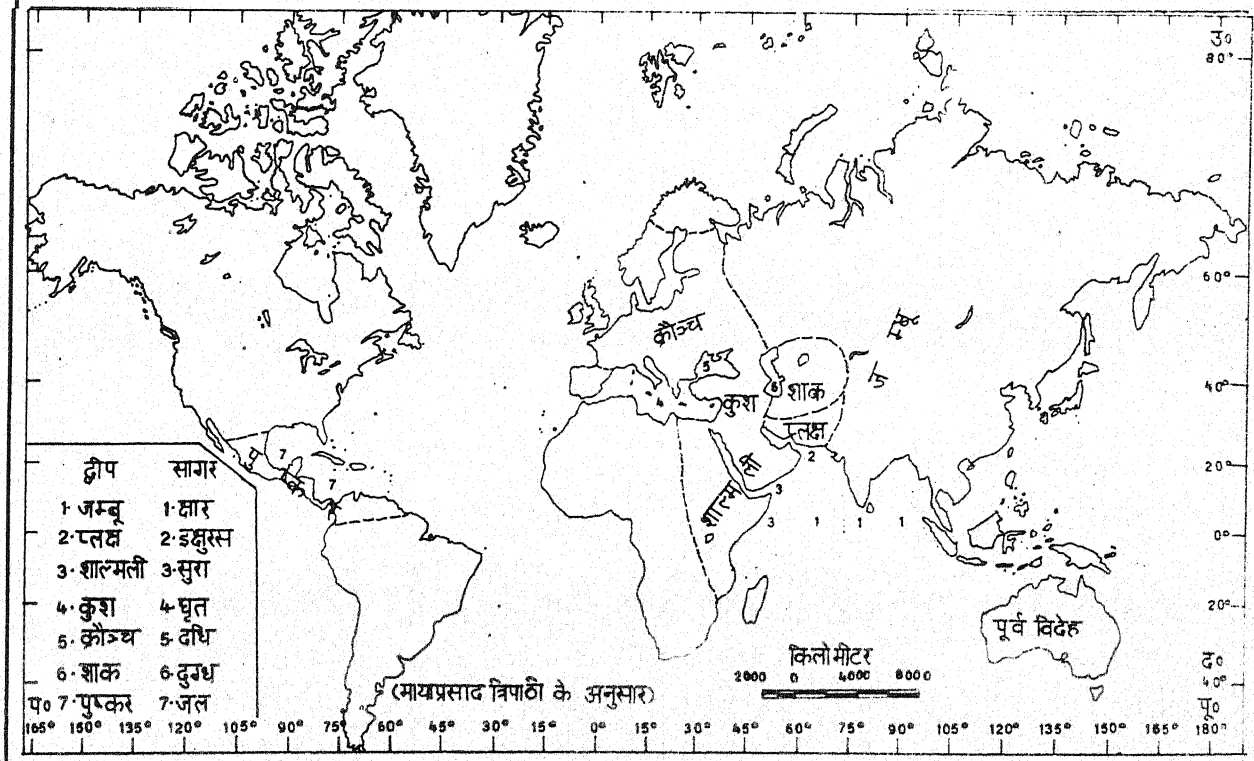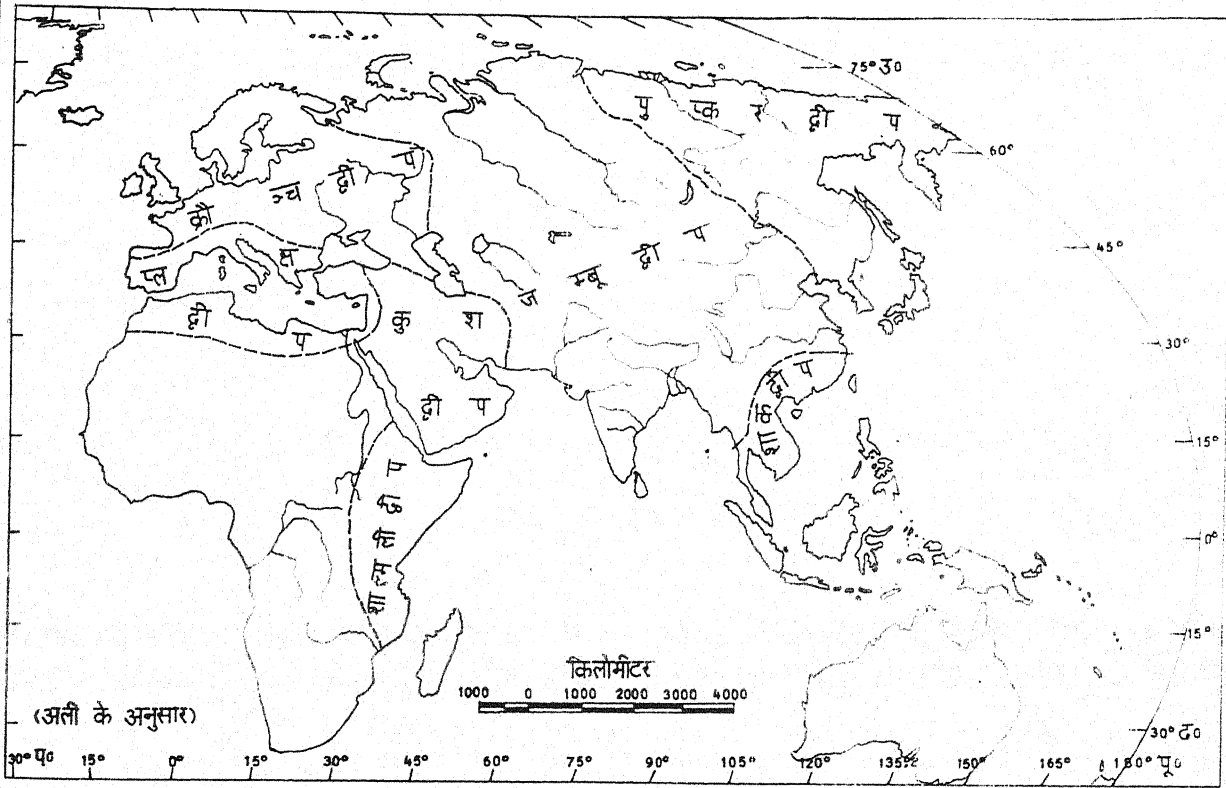
(चित्र-7.6)

पौराणिक सप्तद्वीप

(विल्फोर्ड के अनुसार)

(गेरिनी के अनुसार)

15° 0° 15° 30° 45° 60° 75° 90° 105° 120° 135° 150° 165° 180° पू0

75° — उ0

60°

शा क द्वी प

क्रौञ्च द्वीप

शुक्लपर्वत

कुश

उ0

45°

30°

प्लक्ष द्वीप

जम्बू द्वीप

15°

सुरोद सागर

शाल्मली

0°

किलोमीटर

1000 0 1000 2000

द0

15°

15° प0 0° 15° 30° 45° 60° 75° 90° 105° 120° पू0 135° 150°

(कृष्णामाचर्लू के अनुसार)
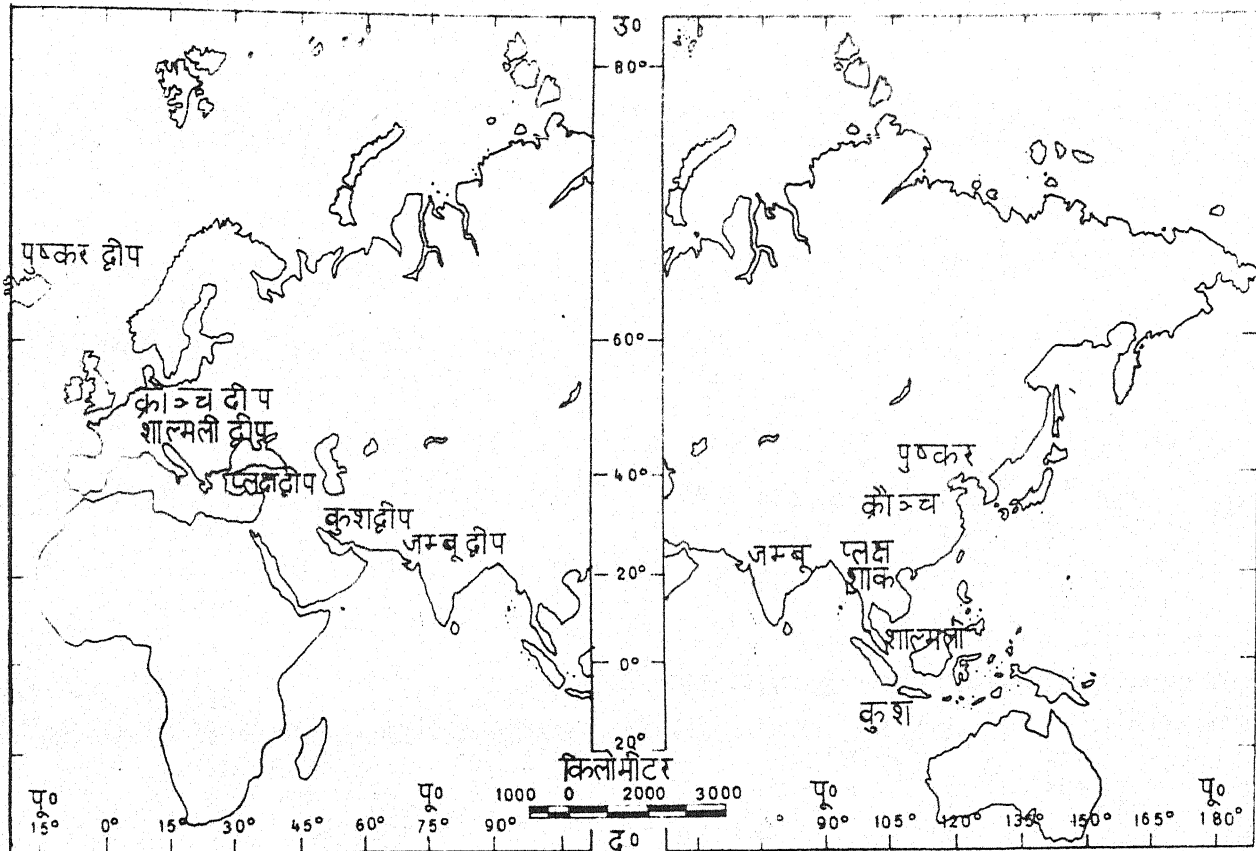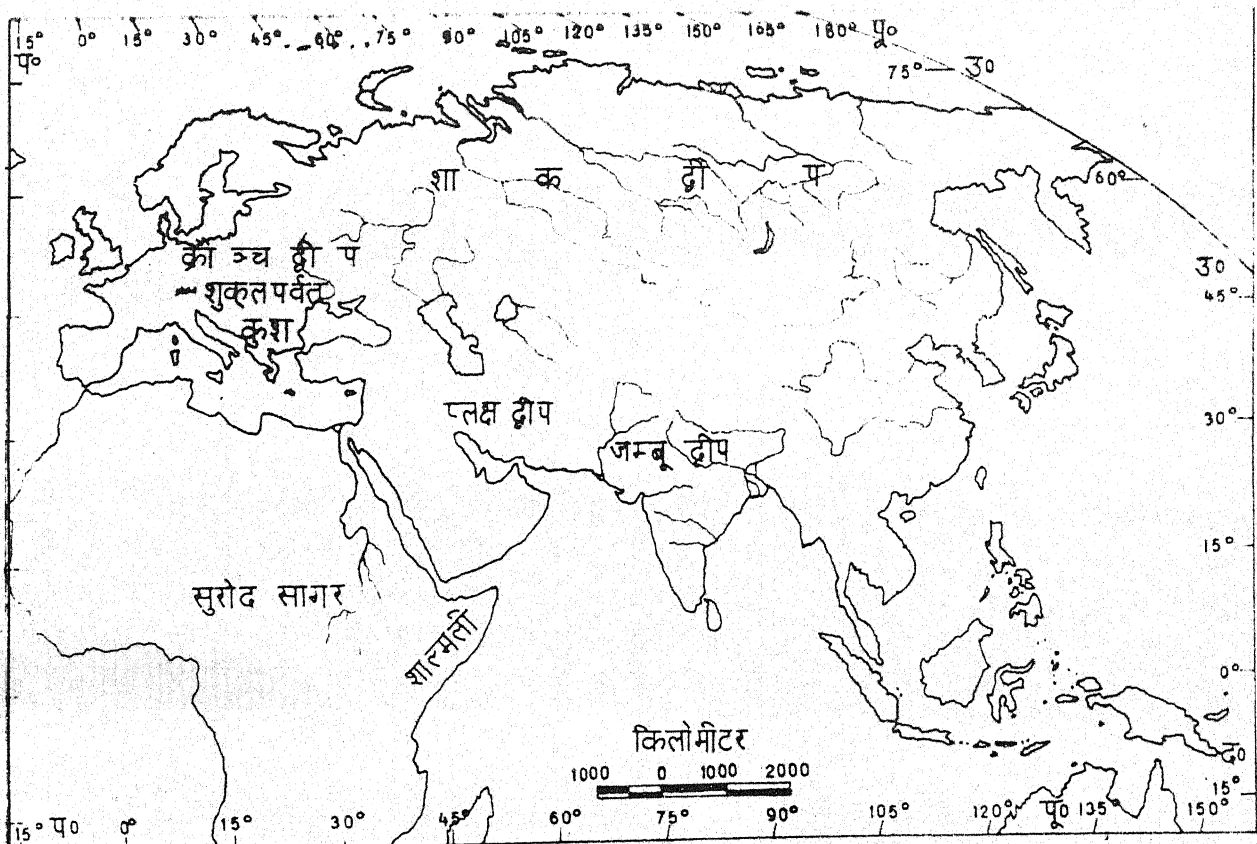
(चित्र-7.5)

द्वीपों के विस्तार व तुलनात्मक स्थिति के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। तालिका-7·3 तथा चित्र 7·5 व 7·6 को देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि गेरिनी, क्लिफोर्ड, अय्यर व त्रिपाठी ने द्वीपों की स्थिति को जम्बू द्वीप से एक ही दिशा में - पूर्व या पश्चिम में स्थित बतलाया है। यथा गेरिनी ने जम्बू द्वीप से शेष छः द्वीपों को पूर्व में स्थित माना जब कि क्लिफोर्ड, अय्यर व त्रिपाठी ने पश्चिम में स्थित बतलाया। उनका यह निर्णय विचित्र एवं भ्रम पूर्ण है क्योंकि पुराणों में द्वीपों को मेरू एवं जम्बू द्वीप से दोनों ओर स्थित होने की बात कही गयी है। यदि पुराणों का यह तथ्य मान लिया जाय कि जम्बू द्वीप के मध्य में मेरू स्थित है एवं वर्तमान का दक्षिणी तट से उत्तरी तट तक का मध्यवर्ती एशिया ही जम्बू द्वीप है तो शेष द्वीपों को पुराणों के दिशाक्रम में बिठा पाना या स्थिति निश्चित करना अधिक तर्क संगत हो सकेगा। पुराणों में जम्बू द्वीप के सन्दर्भ में शेष सभी द्वीपों की स्थिति स्पष्टतः दिशानुरूप समझायी गयी है अतः जम्बू द्वीप के पूर्व में तीन द्वीप तथा पश्चिम में तीन द्वीप स्थित होने चाहिये। भागवतपुराण के वर्णन के अनुसार चित्र-7·7 में यह स्थिति पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है। जम्बू द्वीप शेष छः द्वीपों के मध्य में स्थित है। दिशाक्रमानुसार प्लक्ष द्वीप जम्बू के पश्चिम में, शाल्मली पूर्व में, कुश दक्षिण-पश्चिम में, क्रौन्च उत्तर-पश्चिम में, शक दक्षिण पूर्व में तथा पुष्कर उत्तर पूर्व में स्थित बतलाया गया है। अतः चित्र-7·7 के अनुसार द्वीपों का जो दिशाक्रम एवं स्थिति निर्धारित की गयी है वह अधिक युक्ति संगत माना जाना चाहिये।

क्लिफोर्ड महोदय के प्रत्याभिज्ञान में दो तथ्य स्पष्ट होते हैं -

(क) सप्त द्वीप जलवायु प्रदेशों को इंगित करते हैं। एवं

(ख) ये द्वीप ऐसे भिन्न भौगोलिक प्रदेशों से सम्बन्धित हैं जिनका प्रत्याभिज्ञान वर्तमान नामों के परिप्रेक्ष्य में आवश्यक है।

कृष्णामाचर्लू महोदय ने भाषा की समानता के आधार पर प्रत्याभिज्ञान करने का प्रयास किया है। सैयद मुजफ्फर अली ने स्पष्ट किया है कि अधिकांश विद्वानों

ने नदियों एवं पर्वतों द्वारा पौराणिक द्वीपों के प्रत्याभिज्ञान में आधार भूत अशुद्धियाँ की हैं तथा उनके ये प्रयास सन्तोषप्रद नहीं है §अली,1966,39§। उनके अनुसार किसी भी बृहद् प्रदेश में कोई भी व्यक्ति अपने तर्कों की सुगमता के आधार पर नदियों एवं पर्वतों का नामकरण कर सकता है, अस्तु ये प्रयास भ्रमात्मक हैं। उल्लेख्य है कि जलवायु एवं प्राकृतिक वनस्पति जो किसी क्षेत्र के व्यक्तित्व को उभाड़ने का प्रयास करते हैं, द्वीपों के प्रत्याभिज्ञान में अधिक सहायक कारक हो सकते हैं। जब हम किसी द्वीप को मानव प्रदेश के रूप में अभिज्ञापित करते हैं तो स्पष्टतः जनसंख्या वितरण, जलवायु एवं प्राकृतिक वनस्पति से प्रभावित होता है और इसी आधार पर अली महोदय ने सप्त द्वीपों का प्रत्याभिज्ञान किया है जो तर्कसंगत एवं प्रशंसनीय है परन्तु दुर्भाग्य से ऐतिहासिक पक्षों, घटनाओं एवं स्थानों के नाम परिवर्तन में मूक हैं। भागवत पुराण कालीन सप्त द्वीपों का प्रत्याभिज्ञान निम्न प्रकार से किया जा सकता है -

1- जम्बू द्वीप - जम्बू द्वीप के विस्तार के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। क्लिफोर्ड, गेरिनी एवं अय्यर ने भारतीय उपमहाद्वीप या भारतवर्ष को ही जम्बू द्वीप माना है परन्तु वे मेरू की स्थिति ठीक-ठीक नहीं बता पाये। भागवतपुराण के वर्णनानुसार जम्बू द्वीप का विस्तार भारतवर्ष के दक्षिणापथ से लेकर उत्तर कुरू वर्ष तक है। इसके मध्य में मेरू का विस्तार है। मेरू के शिखर का विस्तार §10 हजार योजन § एवं वहाँ की वनस्पति व नदियों के वर्णन से स्पष्ट है कि यह पर्वत न होकर पर्वताधिराज पठार या विश्व की छत पामीर पठार माना जाना चाहिये जहाँ से अन्य पर्वत फैले हैं क्योंकि मेरू के चार प्रमुख पर्वत व कई सहायक पर्वत भी बतलाये गये। मेरू के चतुर्दिक विस्तृत जम्बू द्वीप के नौ वर्षों का प्रत्याभिज्ञान पूर्व में किया जा चुका है। अतः स्पष्टतः जम्बू द्वीप भारत प्रायद्वीप, चीन एवं रूस का मध्य तथा पश्चिमी भाग है।

2- प्लक्ष द्वीप - इस द्वीप में प्लक्ष नामक फलदार वृक्ष पाया जाता है तथा प्रकृतिक उपवन मिलते हैं। हेरोडोटस ने भूमध्यसागरीय प्रदेशों में "पिलूग्सी" जाति के मानव समूह एवं अंजीर के वृक्ष का वर्णन किया है। इसी भाँति क्लिफोर्ड ने दक्षिणी इटली में

प्रागैतिहासिक "प्लेसिया" नगर होने एवं वहाँ के मानव समूह को आज भी दक्षिणी इटली में मिलने की बात कही। अतः प्लिग्सी एवं प्लेसिया दोनों ही एक प्रदेश से सम्बन्धित हैं। इनका प्लक्ष से भी सम्बन्ध है। अयूयर ने प्लक्ष को ही अंजीर का वृक्ष माना है। यहाँ के पर्वत एवं प्राकृतिक उपवन दर्शनीय बतलाये गये हैं §जैन,1986,152§। भागवतपुराण के अनुसार यहाँ के निवासी बुद्धिमान, शक्ति सम्पन्न, पराक्रमी, आकर्षक, स्वस्थ एवं अधिक आयु वाले होते हैं तथा उन्हें थकावट, पसीना आदि नहीं होता है §5·20·4-6§। स्पष्टतः यह प्रदेश अनुकूल एवं स्वास्थ्यप्रद जलवायु वाला भाग रहा होगा। यहाँ के उपवन का अर्थ है यहाँ की वनस्पति सदा हरी भरी एवं खुले वन वाली होनी चाहिए। सात जिह्वाओं वाले अग्निदेव की उपस्थिति §सात ज्वालामुखी नलिकाओं या क्रेटर युक्त क्रियाशील ज्वालामुखी, 5·20·2§ से स्पष्ट है कि यह ज्वालामुखी वाला क्षेत्र है।

उपरोक्त सभी वर्णनों से शीतल जलवायु वाले भूमध्यसागरीय प्रदेश जहाँ कि स्वस्थ एवं बुद्धिमान मानव जाति अनुकूल प्राकृतिक परिवेष में निवास करती आयी है। यहाँ प्रारम्भ से ही अंजीर वृक्ष प्राकृतिक रूप से उत्पन्न होते रहे हैं। भूमध्य सागर में आज भी अनेक क्रियाशील ज्वालामुखी पाये जाते हैं।

3- <u>शाल्मली दीप</u>- इस दीप की स्थिति के बारे में विद्वानों में मतभेद है। गैरिनी ने इसे मलय प्रायदीप, क्लिफोर्ड ने मध्य एवं पशिचमी यूरोप तथा अली ने उष्णकटिबन्धीय अफ्रीका में स्थित बतलाया है। अयोध्या प्रसाद जायसवाल ने भागवतपुराण व रामायण के वर्णनों के आधार पर शाल्मली दीप का प्रत्याभिज्ञान कोरिया, जापान व रूस के कुछ भाग से किया है जो तर्क संगत है। शाल्मली दीप सुरा या मदिरा सागर से आवृत्त है §5·20·7§, जिसे रामायण में लोहित सागर कहा गया है। सुरा सागर का प्रत्याभिज्ञान द्वितीय अध्याय में पीत सागर से किया जा चुका है। पूर्वी एशिया का उपरोक्त भूभाग पीत सागर से सम्बद्ध है। यहाँ शाल्मली वृक्ष पाया जाता है §5·20·8§। यह वृक्ष विशाल होता है जो मानसून एशिया, चीन तथा कोरिया के सभी स्थानों में पाया जाता है। बसन्त ऋतु में इसके ऊँचे-ऊँचे वृक्ष रक्तवर्णी पुष्पों से लदकर कोरिया भूभाग को

भागवतपुराणकालीन विश्व

चित्र 7.7

भागवतपुराणकालीन भारत
वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय सीमायें
किलोमीटर
100 0 100 200 300 400 500
68° पू0
72°
76°
80°
84°
88°
92°
96° पू0
उ0 36°
32°
28°
24°
20°
16°
12°
8° उ0
निषध
कैलाश
शाल्व
कुरु
मरुधन्व
शूरसेन
सिन्धु
सौवीर
आनर्त
विन्ध्य
विदर्भ
आन्ध्र
कोशल
विदेह
प्राग्ज्योतिष
किरात
नर्मदा नदी
तापी नदी
महानदी
कृष्णा नदी
कावेरी नदी
गंगा नदी
यमुना नदी
शोण नदी
चर्मण्वती नदी
सिन्धु नदी
दक्षिण सागर (क्षार सागर)

(चित्र-7.8)
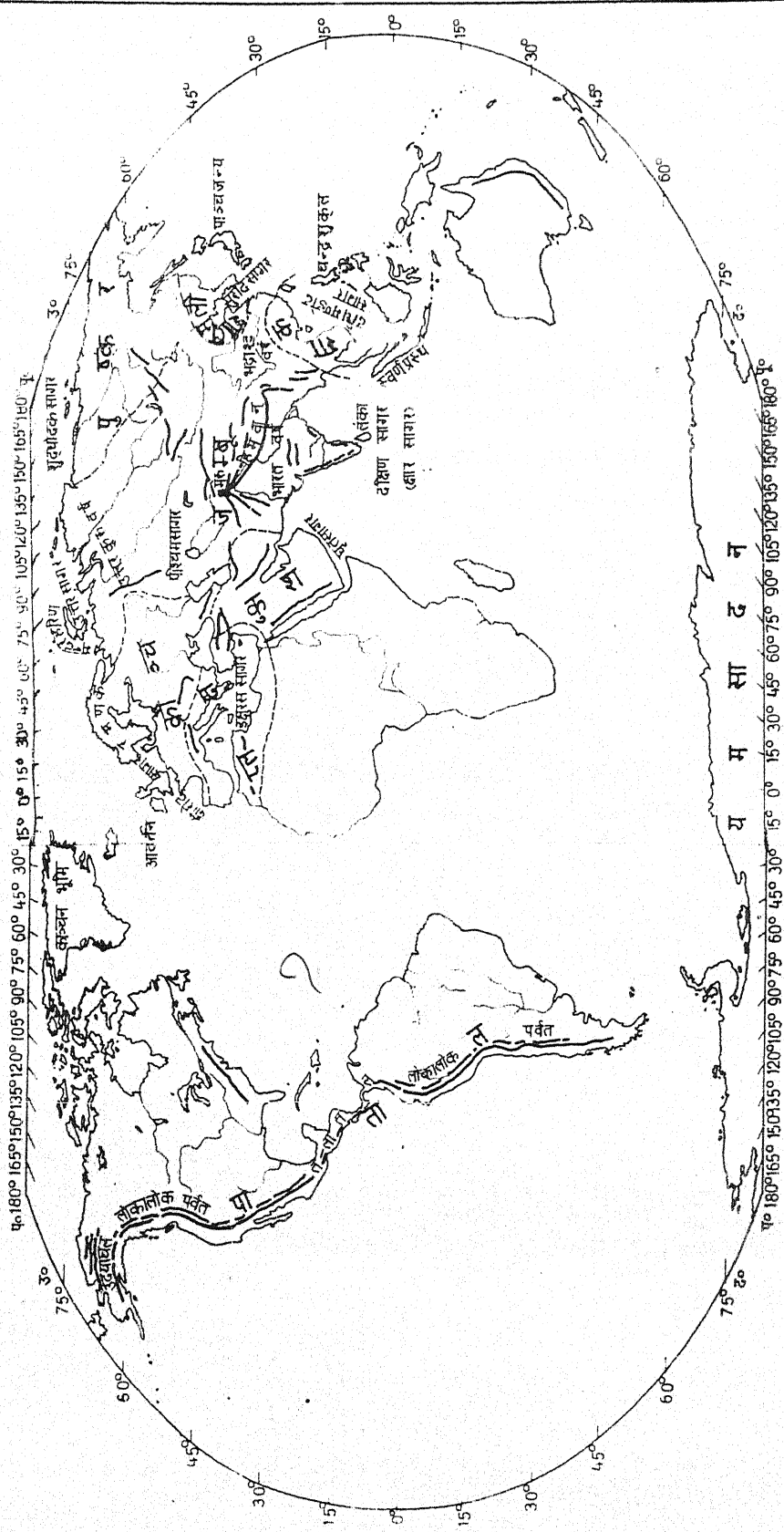
आकर्षक बना देते रहे होंगे जिससे तत्कालीन नाविकों ने इस भूभाग को शाल्मली दीप नाम दे दिया होगा। यहाँ गरूड़ का निवास स्थान भी बतलाया गया है §5·20·8§। पुराणों में कोरिया के उत्तरी क्षेत्र को कंक कहा गया है। सर डडले स्टाम्प के अनुसार कोरिया के दो उत्तरी भाग उत्तरी कंक्यो तथा दक्षिणी कंक्यो के नाम से प्रसिद्ध हैं। कंक पक्षी गरूड़ वंश के ही थे। सम्भवतः पौराणिक गरूड़ ने कोरिया के उत्तरी पर्वतीय भाग को अपना निवास स्थान बनाया था। यहाँ के शासक यज्ञबाहु थे §5·20·9§। आज भी कोरिया के सम्पन्न परिवारों की पोशाक "यज्ञवान" कही जाती है जो यज्ञबाहु का रूपान्तर मात्र है। राजवंश होने के कारण कोरिया के सैनिक और सिविल अधिकारी "यज्ञवान" कहे जाते हैं। दक्षिणी कोरिया के तीन नगरों के नामों में यज्ञबाहु की ध्वनि निकलती है यथा-यज्ञयज्ञ, यज्ञदोंक या यज्ञदत्त और यज्ञचोंन §जायसवाल, 1983, 25-40§।

दीपों की तुलनात्मक स्थिति के सम्बन्ध में भी पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है कि शाल्मली दीप पूर्व में स्थित होना चाहिये। अतः भागवतपुराण के सन्दर्भों व उक्त विवेचन के आधार पर निस्सन्देह शाल्मली दीप का प्रत्याभिज्ञान कोरिया, मंचूरिया व रूस के कुछ भाग से करना अधिक तर्कसंगत है §चित्र-7·7§।

4- कुश दीप - पद्मपुराण के अनुसार कुश दीप जम्बू से प्लक्ष की दिशा में एक दीप है। पुराणों के अनुसार इस दीप में कुश व झाड़ियाँ अधिक उत्पन्न होती हैं। इस दीप के सम्बन्ध में निम्न तथ्य उल्लेखनीय हैं §जैन, 1986, 15§-

§क§ यहाँ इन्द्र की कृपा से ही वर्षा होती है।

§ख§ नदियों में जल इन्द्र की कृपानुसार मिलता है। नदियों के शाखाओं की बात नहीं कही गयी।

§ग§ यहाँ के निवासी नदियों का ही पानी पीते हैं अर्थात् अन्य साधनों से जल उपलब्ध नहीं है।

§घ§ यहाँ अग्नि को प्रभु हरि का श्री विग्रह मानकर पूजा की जाती है।

उपर्युक्त सभी तथ्यों से स्पष्ट होता है कि -

{क} कुश द्वीप में वर्षा यदाकदा होती है, जो होती है उससे मुख्य नदी में ही सामान्यतः जल उपलब्ध रहता है।

{ख} यहाँ की वनस्पति घास, झाड़ी आदि बतलायी गयी हैं।

{ग} नदी के अतिरिक्त कुऐं, झील आदि से जल उपलब्ध नहीं है।

स्पष्टतः यह अर्द्धशुष्क प्रदेश है। इस प्रदेश में प्राचीन काल से ही अग्नि की पूजा होती रही है। प्राचीन काल से अग्निपूजक देश तो फारस व उसके निकटवर्ती भाग हैं जो अर्द्धशुष्क है। सम्भवतः आज से कुछ सहस्र वर्ष पूर्व कुश द्वीप की जलवायु अधिक अनूकूल {आर्द्र अथवा शीतल} रही होगी जिससे अधिकांश बड़ी नदियों में जल मिल जाता रहा होगा। यहाँ के पर्वतों से बहुमूल्य पत्थर निकाले जाते थे। बेबीलोन एवं एसीरिया सभ्यता काल में पश्चिमी एवं उत्तरी फारस प्रदेश से कई प्रकार के बहुमूल्य पत्थर एवं धातु निकालने का उल्लेख है। क्लिफोर्ड, अय्यर, अली एवं त्रिपाठी आदि विद्वानों ने इस द्वीप का प्रत्याभिज्ञान मध्यपूर्व या अरब देशों से ही किया है।

5- क्रौन्च द्वीप - इस द्वीप के समुद्री तट पर विशाल क्रौन्च पर्वत की स्थिति बतलायी गयी है। अधिकांश पुराणों में इसका अधूरा एवं अस्पष्ट वर्णन मिलता है। द्वीपों की तुलनात्मक स्थिति के अनुसार इसकी स्थिति जम्बू द्वीप के उत्तर पश्चिम में होना चाहिये। पुरानी दुनियाँ के यूरेशिया के ज्ञात भाग में जम्बू के उत्तर पश्चिम में यूराल पर्वत का पश्चिमी भाग ही ऐसा शेष भूभाग है जो अधिक दूर, दुर्गम व प्रायः अज्ञात प्रदेश रहा हो, जिसके सम्बन्ध में कम ज्ञान पुराण काल में रहा होगा। क्रौन्च पर्वत के अतिरिक्त यहाँ की जलवायु व वनस्पति आदि का वर्णन नहींमिलता है।यहाँ के निवासी जलदेवताकी उपासना करते हैं {5·20·22}, जो जल {समुद्र} के अधिक विस्तार व प्रभाव को स्पष्ट करता है। क्रौन्च द्वीप {यूरोप} का उत्तरी व पश्चिमी भाग तो समुद्र से आवृत्त ही था, सम्भवतः दक्षिणी पूर्वी एवं पूर्वी भाग भी समुद्र से आवृत्त था। इसके दक्षिण पूर्व में कृष्ण सागर व कैस्पियन सागर स्थित है। कैस्पियन सागर वर्तमान विश्व का

सबसे विशाल अन्तर्देशीय समुद्र है। विद्वानों का मत है कि प्राचीन युग में यह अपने से पश्चिम में स्थित कृष्ण सागर से आरम्भ होकर, अरल सागर से लेकर साइबेरिया के उत्तरी भाग में विस्तृत आर्कटिक महासागर से संयुक्त था। महान् हिमयुग में यह अपने क्षेत्रफल में घटने लगा जिससे कृष्ण सागर तथा अरल सागर के साथ इसका भौगोलिक सम्बन्ध विच्छिन्न हो गया। अपनी विशालता के कारण ही वह यूरेशियन भूमध्य सागर के नाम से विख्यात था §उपाध्याय, 1978, 327-328§। आज इसका पानी खारा है, परन्तु कभी यह अति मीठे जल का सागर था। इसका प्रमाण यह है कि कैस्पियन सागर से पृथक्कृत बालकश विश्व की मीठे पानी की विशाल झील मानी जाती है। प्राचीन युग में मीठे पानी के कारण ही कैस्पियन सागर को ईरानवासी "शीरवान्" नाम से पुकारते थे। फारसी "शीर" शब्द संस्कृत "क्षीर" शब्द ही है। अतः कृष्ण सागर, कैस्पियन सागर, बाल्टिक सागर, उत्तरी सागर, इंग्लिश चैनल एवं विस्के की खाड़ी से आवृत्त यूरोप का अधिकांश भाग ही क्रौन्च द्वीप है। अधिकांश विद्वानों ने इस द्वीप की स्थिति यूरोप में ही मानी है।

6- <u>शाक द्वीप</u> - स्पत द्वीप व्यवस्था में शाक द्वीप की स्थिति जम्बू द्वीप के दक्षिण-पूर्व में होनी चाहिये। प्रमुख पुराणों के अनुसार यहाँ प्रवाहित सात प्रधान नदियों की अनगिनत शाखायें हैं जिनमें सदैव जल रहता है। यहाँ इन्द्र सदा कृपालु रहता है §मत्स्य पुराण, अध्याय-122, जैन, 1986, 150§। इन तथ्यों से स्पष्ट है कि यह भूतल का अधिक वर्षा वाला भाग है। यहाँ की प्रमुख वनस्पति शाक अर्थात् शाल या सागवान है। साल या सागवान आर्द्र मानसूनी वनों का ही वृक्ष है और भारत §जम्बू द्वीप" से बाहर पूर्व की ओर ही इसके वन पाये जाते हैं । इस प्रकार यह आर्द्र मानसूनी उष्ण कटिबन्धीय प्रदेश है जिसमें मध्य एवं दक्षिणी वर्मा, मलेशिया, थाइलैण्ड, कम्बोज, लाओस, वियतनाम एवं निकटवर्ती भाग इसमें आते हैं। यह दधिमण्डोद §मट्ठे§ सागर से आवृत्त हैं। दक्षिणी चीन सागर में चलने वाले टाइफूनों से यहाँ का जल मट्ठे की तरह विक्षोभ के कारण प्रायः अशान्त रहता है। यहाँ के निवासी वायु रूप श्री हरि की उपासना

करते हैं जो टाइफून के प्रभाव को ही इंगित करता है। विष्णु पुराण §2·4·70§ के अनुसार यहाँ सूर्योपासक जातियाँ निवास करती हैं। ऐसी कुछ सूर्योपासक जातियाँ मध्यवर्ती भारत एवं दक्षिणी राजस्थान में विस्तृत हैं जो अपने को शाक द्वीपी ब्राह्मण वंश का बतलाते हैं। उनके अनुसार सूर्य रथ पर आरूढ़ होकर उनके देश से ही यात्रा प्रारम्भ करता है। अतः इससे भी स्पष्ट है कि शाक द्वीप भारत के पूर्व की ओर का आर्द्र मानसूनी उष्ण कटिबन्धीय प्रदेश ही है §जैन, 1986, 150§।

7- पुष्कर द्वीप - पुराणों के अनुसार यह जम्बू द्वीप के पूर्व में स्थित है। इस द्वीप के दो वर्ष है। दन दोनों की सीमा का विभाजन करने वाला पर्वत मानसोत्तर है। यह उत्तर दक्षिण दिशा में प्रायः अर्द्ध चन्द्रकार में फैला हुआ है। पुराणों के अनुसार इसका पूर्वी भाग देवरमण तुल्य है तथा बाह्य तट पर शुद्धोद सागर का विस्तार है। यहाँ कमल पर्याप्त उत्पन्न होता है। इस भाग की जलवायु वर्ष भर सम रहती है तथा मौसम सुहावना एवं अनुकूल बना रहता है। इसके विपरीत इसका दूसरा आन्तरिक भाग प्रायः अन्धकारमय बतलाया गया। वहाँ की जलवायु कठोर, कम वर्षा वाला, अज्ञात प्रदेश, हिंस्र पशु व हिंस्र मानव समुदाय का निवास स्थल बतलाया गया §जैन, 1986, 152-153§।

प्राचीन ग्रंथों की उपर्युक्त विवेचनाओं से स्पष्ट है कि यह ऐसा भूखण्ड होना चाहिये जिसके तट पर मीठे जल वाला सागर हो, तट की जलवायु सम, आकर्षक व स्वास्थ्यप्रद हो, जहाँ जलाशयों में कमल अधिक्ता से उत्पन्न होता हो। यह एशिया का उत्तरी पूर्वी भाग §पूर्वी साइबेरिया§ ही हो सकता है। अली ने पुष्कर द्वीप के दोनों वर्षों को विभाजित करने वाले मानसोत्तर पर्वत का प्रत्याभिज्ञान खिंगन एवं सिखोत एलिन पर्वत से किया है। इस पर्वतक्रम के पूर्वी भाग एवं तट की जलवायु क्यूरोसीवो धारा के उष्ण प्रभाव से सम एवं आकर्षक बनी रहती है। यहाँ आज भी कमल अधिक्ता से उत्पन्न होते हैं। अन्य प्राकृतिक वनस्पति सीमित है। यहाँ मानव बसाव अति प्राचीन काल से है। पूर्व में यहाँ गौर वर्ण की एनू §उत्तरी जापान वासी§ जाति के पूर्वज

रहे होंगे, जिन्हें हराकर पीत वर्ण वाली मंगोल या मंगोल मिश्रित जाति सम्पूर्ण प्रदेश में फैल गयी। जब कि खिंगन के पश्चिम का भाग आज भी मरूस्थलीय, प्रतिकूल जलवायु वाला, वनस्पति विहीन प्रदेश है। इस प्रकार जम्बू द्वीप के पूर्व का यह द्वीप पौराणिक व्यवस्थाओं को समझाने वाला भूप्रदेश एशिया में अन्यत्र नहीं खोजा जा सकता (जैन, 1986, 152- 153, चित्र-7·7)।

3- भारतवर्ष का प्रादेशिक विभाजन -

पुराणकालीन भारतीय ऋषि मनीषी भारत के भौगोलिक स्वरूप से सर्वथा परिचित थे क्योंकि ऋषियों के स्वच्छन्द विचरण तथा राजाओं के युद्ध यात्राओं के माध्यम से भारत के विस्तृत क्षेत्र का परिचय मिल जाता था। भारतवर्ष जैसे विस्तृत भूभाग में अलंघ्य जलराशि के अभाव में इस प्रकार का व्यापक भ्रमण-विचरण सर्वथा सम्भव था। अतएव वैदिक काल से लेकर पुराण काल तक प्रादेशिक भूगोल सम्बन्धी ज्ञान का उत्तरोत्तर विकास होता गया। वस्तुतः भारत में स्थित प्रादेशिक तत्वों यथा- नदियों, पर्वतों आदि का प्रत्यक्ष ज्ञान पौराणिक काल में ही प्राप्त हो गया था।

पुराणकालीन भारतीयों को अपने देश की वास्तविक आकृति एवं आकार का यथार्थ ज्ञान था। उन्होंने भारत को एक विषम चतुर्भुज के आकार से युक्त क्षेत्र बतलाया जिसके पश्चिम में सिन्धु नदी, उत्तर में हिमालय पर्वत तथा दक्षिण एवं पूर्व में समुद्र थे (कनिंघम, एंशियण्ट ज्यॉग्रफी ऑफ इण्डिया, पृ०6, उद्धृत सिंह, 1982, 31)। मार्कण्डेय पुराण (54·59, उद्धृत-अवस्थी, 1982, 210) में भारत वर्ष को कार्मुकाकार बतलाया गया है जिसके तीन ओर सागर तथा उत्तर में प्रत्यंचा की तरह हिमालय स्थित था। भागवत-पुराण के अनुसार भारत की उत्तरी सीमा में हिमालय पर्वत श्रेणी, उत्तरी पश्चिमी सीमा में निषध (हिन्दुकुशक्युनलुन - 5·16·9) तथा दक्षिण की ओर समुद्र स्थित था (5·17·9)। भारत के पश्चिम की प्रकृतिक सीमा सिन्धु नदी थी परन्तु पश्चिम में शक्तिशाली राजाओं द्वारा इस सीमा का बार - बार उल्लंघन किया गया। फलतः अधिकांश विद्वानों ने सिन्धु के पश्चिम स्थित सम्पूर्ण अफगानिस्तान को भारत का ही एक भाग माना (कनिंघम, 1971, 22-25)। पूर्व में भारत का विस्तार प्राग्ज्योतिष

§10·52·2, ब्रह्मपुत्र नदी की सम्पूर्ण घाटी, भूटान सहित आधुनिक असम§ तथा मणिपुर §9·22·32§ तक था §चित्र-7·8§।

भारतवर्ष के प्रादेशिक विभाजन की परम्परा वैदिक काल से रही है। वैदिक साहित्य में उपलब्ध सन्दर्भों के आधार पर सक्सेना §1977,101§ ने भारतवर्ष को पाँच प्रदेशों §मध्य देश, प्राच्य, प्रतीच्य, उदीच्य और दक्षिणापथ§ में विभक्त किया। जनपदों के प्रत्याभिज्ञान एवं स्थिति निर्धारण में प्रो0 अली §1966,133§ ने पौराणिक साक्ष्यों के आधार पर ही उनका वर्गीकरण निधार्रित किया है। भागवतपुराण में भारत को पाँच प्रकार के प्रदेशों में विभक्त किया गया है §9·1·41, 9·2·16, 9·6·5, 9·23·5-6§, जिसका क्रमबद्ध स्वरूप विष्णु, वायु और मत्स्य पुराण में भी मिलता है §कनिंघम, 1971,20§। पुराण वर्णित पाँच प्रादेशिक विभाजन निम्न हैं §चित्र- 7·9§ -

§क§- <u>उदीच्य या उत्तरापथ</u> - प्राचीन भारत के उत्तर पश्चिम का भाग उत्तरापथ कहलाता था जिसके अन्तर्गत प्रधानतया सिन्धु नदी का प्रवाह क्षेत्र सम्मिलित था। पश्चिम में इसका विस्तार काबुल नदी तक, पूर्व में सतलज नदी तक तथा उत्तर में सिन्धु के उत्तर तक था। अर्थात् इस भूभाग में काश्मीर एवं आस पास की पहाड़ियों सहित पंजाब, सिन्धु पार सम्पूर्ण अफगानिस्तान तथा सरस्वती नदी के पश्चिम सतलज प्रान्त सम्मिलित थे §कनिंघम,1971, 22-23§।

स्थलाकृतिक दृष्टि से इस भूभाग के दो स्पष्ट विभाग किये जा सकते हैं - हिमालय पर्वतीय भाग तथा नदियों का मैदानी प्रदेश। उत्तरी भाग में हिमालय पर्वत श्रृंखला, हेमकूट, §लद्दाख-कैलाश श्रेणी§ और उत्तरी पश्चिमी भाग में निषध §हिन्दुकुश-क्युनलुन श्रेणी§ पर्वत स्थित थे तथा दक्षिणी भाग में सिन्धु, वितस्ता, असिक्नी या चन्द्र-भागा, विपाशा एवं शतद्रु का बेसिन प्रदेश विस्तृत था §5·16·9, 5·19·18§। वैदिक काल में इन पाँच नदियों का बेसिन प्रदेश "पन्चनद" कहलाता था जो कृषि उत्पादों की दृष्टि से महत्वपूर्ण था।

भागवतपुराण के सन्दर्भों से प्रतीत होता है कि इस भूभाग के पर्वतीय प्रदेश

भागवतपुराणकालीन भारत
प्रादेशिक विभाग
वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय सीमायें
किलोमीटर
100 0 100 200 300 400 500
कम्बोज
काश्मीर
कैकय
क
शाल्व
कुरु
पाञ्चाल
कोशल
विदेह
प्रागज्योतिष
सौवीर
ख
ग
अवन्ति
मगध
घ
सुह्म
आनर्त
हैहय
विदर्भ
कलिंग
आन्ध्र
ङ
कर्णाटक
प्रदेश
क - उदीच्य
ख - प्रतीच्य
ग - मध्य
घ - प्राच्य
ङ - दक्षिणापथ
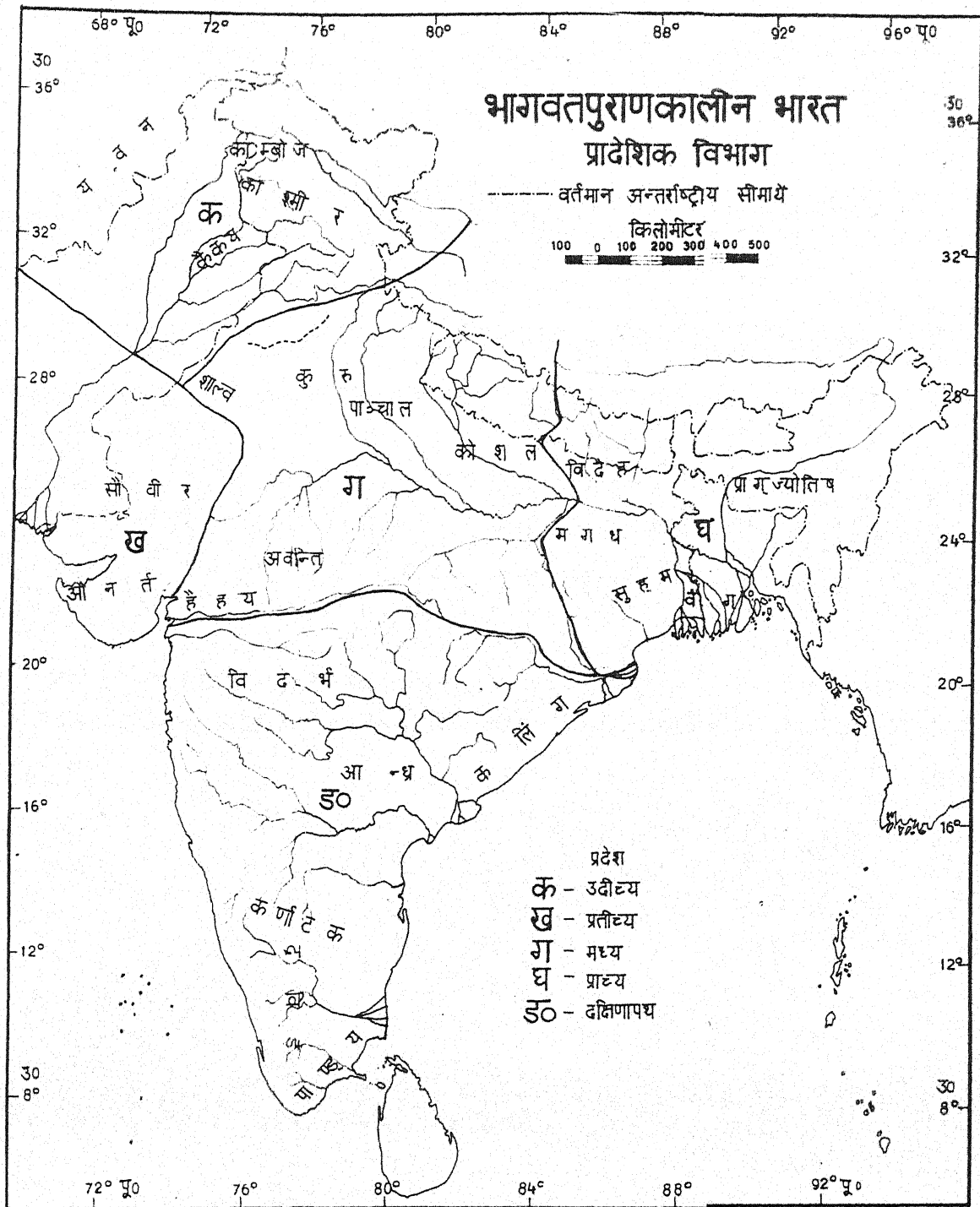
(चित्र-7.9)

की जलवायु समशीतोष्ण थी {3·23·39}। पर्वतीय प्रदेश के निम्न भागों में अर्द्ध उष्ण कटिबन्धीय वनों वाले अश्वत्थ, प्लक्ष, न्यग्रोध, पारिजात, असन, अर्जुन, आम्र, मधूक, जम्बू, प्रियाल, वेणु आदि वृक्ष, ऊँचे भागों में सरल, देवदारू आदि के वृक्ष तथा अधिक ऊँचे भागों में भूर्ज वृक्ष पाया जाता था {4·6·10-21}। इन वनों में विविध प्रकार के वन्य जीव जन्तु {मृग, शाखामृग, सिंह, ऋक्ष, शल्लक, गवय, शरभ, व्याघ्र, रूरू, महिष आदि} निवास करते थे {4·6·20-22}।

इस प्रदेश के उत्तरी एवं पश्चिमी भाग में शक, वाह्लीक, यवन, काम्बोज, किरात, आभीर, दरद, हूण, म्लेच्छ आदि अनार्य जातियों के जनपद स्थित थे जब कि नदियों के बेसिन में कैकेय, मद्र, यदु, उशीनर आदि आर्य जातियों के जनपद स्थित थे। वर्तमान जम्मू काश्मीर भूभाग में काश्मीर जनपद स्थित था।

{ख}- <u>प्रतीच्य</u> - थार के मरूस्थल का विस्तार इसी प्रदेश में था जिसे मरूधन्व {1·10·35}, मरू {10·71·21} या धन्व {10·86·20} कहा गया है। जलाभाव वाले इस क्षेत्र में सरस्वती नदी प्रवाहित होती थी {9·4·22}। अरावली की पूर्वी सीमा पर पारियात्र पर्वत {विन्ध्य की पश्चिमी उत्तरी श्रृंखला, अरावली पहाड़ियों सहित} स्थित था {5·19·16} तथा पश्चिमी भाग में सिन्धु नदी {5·19·18} प्रवाहित होती थी। शुष्क जलवायु के कारण यहाँ उष्ण कटिबन्धीय शुष्क मरूस्थलीय वनस्पति पायी जाती थी। ऐसी वनस्पति में ऐसे वृक्षों एवं झाड़ियों की अधिकता होती है जो जल की कमी को सहन करने में सक्षम होते हैं। वृक्षों की जड़ें लम्बी, पत्तियाँ कम तथा कांटे अधिक होते हैं यथा -खर्जूर {4·6·18}, कण्टक द्रुम {बबूल या कीकर, 9·11·19}, अर्क {10·30·9} आदि। उष्ट्र मरूस्थलीय भाग का प्रधान पशु था जो लम्बे मरूस्थलीय मार्गो को पार करने के लिये सवारी के रूप में तथा बोझा ढोने के लिये प्रयुक्त होता था {10·71·16}। वन्य जन्तुओं में मृग {4·29·20} का उल्लेख है।

इस प्रदेश के प्रमुख जनपद सिन्धु, सौवीर, आभीर, सुराष्ट्र, आनर्त्त, अर्बुद, सारस्वत, मरूधन्व, शूर, बर्बर आदि थे। मरूधन्व {1·10·35} का तात्पर्य उजाड़

प्रदेश से होता है ﴾आप्टे, 1981,778﴿, किन्तु इस भूभाग के सौराष्ट्र, सौवीर ﴾3·1·24﴿, प्रभास क्षेत्र ﴾3·3·25-28﴿ आदि की भूमि उर्वर थी तथा ये जनपद धनधान्यों से सम्पन्न थे। सिन्धु जनपद उत्तम नस्ल के अश्वों के लिये प्रसिद्ध था ﴾10·69·35﴿।

बर्बर जनपद के निवासी बर्बर अनार्य जाति थी जो सिन्धु नदी के मुहाने के समीप निवास करती थी ﴾अवस्थी,1982,90﴿। सुराष्ट्र और आनर्त्त जनपदों में यदु जाति निवास करती थी जिनका प्रमुख शासक कृष्ण था तथा राजधानी द्वारका थी ﴾10·50·42-58﴿। द्वारका इस प्रदेश का ही नहीं बल्कि तत्कालीन भारत का सर्वप्रमुख नगर एवं बन्दरगाह था जो राजमार्गों द्वारा हस्तिनापुर, इन्द्रप्रस्थ, मथुरा, मिथिला, अयोध्या, गिरिव्रज, भोजकट, शोणितपुर, काशी, कुण्डिनपुर आदि नगरों से सम्बन्धित था। प्रभास इस प्रदेश का मुख्य तीर्थ स्थान था ﴾10·78·18-19﴿।

﴾ग﴿- मध्य देश - यह ऊपरी एवं मध्य गंगा बेसिन का प्राचीन नाम था जिसके अन्तर्गत आगरा एवं अवध प्रदेश सम्मिलित थे। यह प्रदेश पश्चिम में सतलज नदी से लेकर पूर्व में गण्डकी नदी तक तथा उत्तर में हिमालय पर्वत पाद प्रदेश से लेकर दक्षिण में नर्मदा एवं महानदी तक विस्तृत था।

धरातलाकृतिक दृष्टि से इस प्रदेश के तीन भाग किये जा सकते हैं - उत्तर में हिमालय पर्वतीय भाग ﴾5·16·9﴿, दक्षिण में विन्ध्य पर्वत श्रृंखला एवं उसका पाद प्रदेश ﴾5·19·16﴿ तथा मध्य में गंगा एवं उसकी सहायक नदियों ﴾5·19·18﴿ द्वारा निर्मित समतल मैदानी भाग। हिमालय व विन्ध्य के अतिरिक्त द्रोण ﴾देहरादून के निकट की पर्वत श्रृंखला﴿, मैनाक ﴾गंगा से व्यास नदी तक विस्तृत शिवालिक पर्वत श्रृंखला﴿, गोवर्द्धन ﴾वृन्दावन के निकट स्थित पर्वत﴿, ऋक्ष ﴾विन्ध्य की मध्यवर्ती श्रेणी﴿, पारियात्र ﴾विन्ध्य की पश्चिमी उत्तरी श्रृंखला, अरावली पहाड़ियों सहित﴿, चित्रकूट ﴾बुन्देलखण्ड के बाँदा जिले में स्थित काम्तानाथ गिरि﴿, कालन्जर ﴾बाँदा जिले में स्थित पर्वत﴿ ﴾5·19·18﴿ आदि पर्वतीय भागों का भी उल्लेख है। हिमालय से उद्भूत सरस्वती, दृषद्वती, गंगा, यमुना, सरयू, गोमती, इक्षुमती, चक्रनदी या गण्डक आदि, तथा विन्ध्य

श्रेणी से उद्भूत चर्मण्वती, वेदस्मृति, निर्विन्ध्या, शोण आदि इस भूभाग की प्रमुख नदियाँ थीं §5·19·18§।

वृन्दावन वर्णन §10·20§ से स्पष्ट होता है कि यहाँ की जलवायु मानसूनी थी। ग्रीष्मकाल में उच्च ताप के कारण भयंकर गर्मी §10·15·47-48, 10·22·30§ तथा शीतकाल में कड़ी ठण्डक पड़ती थी §10·22·13§। अधिकांश वर्षा ग्रीष्मकाल में होती थी §10·20·3-31§। शीतकाल में भी शीतोष्ण कटिबन्धीय चक्रवातों से यदा कदा वर्षा हो जाती थी §10·25·2-33§। उक्त मानसूनी जलवायु का प्रभाव मध्य देश की प्राकृतिक वनस्पति पर स्पष्ट परिलक्षित होता है। इस भूभाग में उष्ण कटिबन्धीय मानसूनी पतझड़ वनों का विस्तार था। ग्रीष्म ऋतु के आते ही इन वनों के वृक्षों की पत्तियाँ झड़ जाती हैं। वृक्ष सघन नहीं होते फलतः वृक्षों के नीचे सूर्य प्रकाश पंहुचते रहने से इषीक या मुंज §10·19·2,5§, काश, कुश, दूर्वा, यवस्, वीरण §10·11·51§ आदि घासें उग आती हैं। प्रमुख वृक्ष अश्वत्थ, प्लक्ष, न्यग्रोध, अशोक, प्रियाल, असन, कोविदार, जम्बू, बिल्व, बकुल, आम्र, कदम्ब, नीम, अर्जुन, ताल §10·10·23, 10·15·21, 10·30·5-9§ आदि थे। हिमालय पर्वत पाद प्रदेश में अर्द्ध उष्ण कटिबन्धीय वनों का विस्तार था §4·6·10-21§। पारियात्र, ऋक्ष, विन्ध्य, चित्रकूट, कालन्जर आदि पर्वतीय भाग सघन वनों से आच्छादित थे तथा सम्पूर्ण देश के एकीकरण के लिये गहन अवरोध थे। मध्य देश के मैदानी भाग में नैमिषारण्य §1·1·4§ §लखनऊ से 45 मील उत्तर पश्चिम में स्थित§, कुरूजांगल §गंगा एवं उत्तरी पान्चाल के मध्य का क्षेत्र, 1·4·6§, खाण्डव वन §मेरठ से दिल्ली तक का प्रदेश, 1·15·8§, मधुवन §मथुरा के समीप यमुना के दोनों किनारों पर विस्तृत, 4·8·42§, वृन्दावन §10·11·35-36§, बदरीवन §सरस्वती नदी के पश्चिम तट पर स्थित शम्याप्रास आश्रम के चतुर्दिक विस्तृत, 1·7·1-3§, हिमालय पर्वतीय क्षेत्र में चैत्ररथ वन §देहरादून व मसूरी के चतुर्दिक विस्तृत वन, 3·23·40§, नन्दन वन §3·23·40§, सौगन्धिक वन §4·6·23§, कैलाश वन §4·6·10-21§ आदि तथा विन्ध्य क्षेत्र में दण्डकारण्य §9·11·19§, पलाशाशोक वन §ऋक्ष पर्वत पर विस्तृत, 4·1·17-18§ आदि वनों का विस्तार था।

इन वनों में सिंह, व्याघ्र, सूकर, महिष, रूरू,शरभ, गवय, खंग, हरिण, शल्लक, ऋक्ष आदि विविध प्रकार के वन्य जन्तु निवास करते थे §4·6·20-21,10·58·13-15§।

गंगा एवं यमुना के तटवर्ती भागों के विस्तृत चरागाहों में पशुपालन कार्य होता था जहाँ गो एवं वृष के अतिरिक्त महिषी एवं अजा भी पाली जाती थीं §1·10·4, 9·20·26, 10·5·3, 10·11·28-29, 10·19·1-6, 10·37·26-27, 10·38·8§।

यह प्राचीन आर्यावर्त्त §9·6·5,9·16·22§ का भूभाग था जो अति प्राचीन काल से निवसित था एवं इसके अन्तर्गत भारत के अधिकांश समृद्ध एवं सर्वाधिक जनपूर्ण जनपद स्थित थे। कुरु, पांचाल, शाल्व, शूरसेन, काशी, उत्तरकोशल, कुरूजांगल, मत्स्य, ब्रह्मावर्त, सृन्जय, अवन्ति, हैहय, कुन्ति, मालव, चेदि, कारूष, पुलिन्द, निषध आदि इस प्रदेश के प्रमुख जनपद थे।

समतल मैदानी भाग होने के कारण मध्य देश में परिवहन पथों का सर्वाधिक विकास हुआ था। इन्द्रप्रस्थ, हस्तिनापुर, मथुरा, वाराणसी, अयोध्या, मिथिला, अवन्तीपुर, कौशम्बी, कान्यकुब्ज, शाबस्तीपुरी, भृगुकच्छ, माहिष्मती आदि इस भूभाग के प्रमुख नगर थे जो राजमार्गों द्वारा एक दूसरे से अन्तर्सम्बन्धित थे। मथुरा, वाराणसी, अयोध्या, इन्द्रप्रस्थ, भृगुकच्छ, माहिष्मती आदि तत्कालीन भारत के प्रमुख व्यापारिक केन्द्र भी थे। कुरू क्षेत्र में स्थित समन्तपन्चक §10·82·2-14§, नैमिष §10·78·20§, प्रयाग §10·79·20§ आदि तत्कालीन भारत के प्रसिद्ध तीर्थ इसी प्रदेश में स्थित थे।

§घ§- प्राच्य - निम्न गंगा एवं ब्रह्मपुत्र का बेसिन प्राच्य प्रदेश कहलाता था । इस प्रदेश की पश्चिमी सीमा गण्डकी नदी तथा उत्तरी एवं उत्तरी पूर्वी सीमा हिमालय प्रदेश से निर्धारित की जा सकती है। दक्षिण में बंगाल की खाड़ी या पूर्व सागर स्थित था। वर्तमान बिहार राज्य, पश्चिमी बंगाल, असम व अन्य पूर्वी राज्य इस प्रदेश के अन्तर्गत सम्मिलित थे।

इस प्रदेश के उत्तरी एवं पूर्वी भाग में सघन वनों से आच्छादित पर्वत श्रेणियों का विस्तार था। इस भूभाग में अंग, बंग ,सुह्म, पुण्ड्र, प्राग्ज्योतिष, विदेह, मगध, कीकट, मणिपूर आदि जनपद स्थित थे। प्राग्ज्योतिष को प्राचीन भारत में कामरूप भी कहा जाता था जिसकी सीमायें चीन के सू प्रान्त के दक्षिण बर्बरों की सीमाओं से मिलती थीं। दक्षिण पूर्व के वनों में जंगली हाथी प्रचुर संख्या में मिलते थे (कनिंघम,1971, 333)। भागवतपुराण काल में भी प्राग्ज्योतिष उत्तम किस्म के हस्तियों के लिये प्रसिद्ध था (10·59·37)। मगध एवं प्राग्ज्योतिष तत्कालीन भारत के अत्यन्त समृद्ध एवं प्रसिद्ध जनपद थे। गिरिव्रज, प्राग्ज्योतिषपुर, मिथिला, चम्पापुरी आदि इस प्रदेश के प्रमुख नगर थे। गया एवं गंगासागर संगम ये दो प्रसिद्ध तीर्थस्थल इसी भूभाग में स्थित थे (10·79·11)।

(ड०)- दक्षिणापथ - दक्षिण का प्रायद्वीपीय भाग मुख्य रूप से दक्षिणापथ कहलाता था। दक्षिणापथ में पश्चिम स्थित नासिक से लेकर पूर्व में स्थित गंजाम (कलिंग) तक तथा उत्तर में नर्मदा एवं महानदी से लेकर दक्षिण में कुमारी अन्तरीप तक का सम्पूर्ण पठारी क्षेत्र सम्मिलित था।

धरातलाकृतिक दृष्टि से समुद्र तटवर्ती भूभाग (10·67·5) एवं नदी घाटियों को छोड़कर सर्वत्र यह भू भाग विषम था। प्रायद्वीपीय पठार के पश्चिम में उत्तर से दक्षिण सह्य पर्वत श्रृंखला का विस्तार था तथा पूर्वी भाग में महेन्द्र (गंजाम से लेकर पाण्ड्य देश तक पूर्वी घाट की पर्वत श्रेणी) एवं प्रवर्षण (कृष्णा एवं पेन्नर नदियों के मध्य स्थित माल्यवान् पर्वत श्रृंखला का एक भाग) पर्वत स्थित थे (5·19·16)। शक्तिमान (सेहोआ और कांकर के दक्षिण स्थित पहाड़ियाँ जो छत्तीसगढ़ को बस्तर से पृथक् करती हैं), त्रिकूट (नासिक के पास जुनार पहाड़ी), ऋषभ (मदुरा में स्थित पलनी पहाड़ियाँ), ऋष्यमूक (तुंगभद्रा के तट पर अनगण्डी के समीप स्थित पर्वत), श्री शैल (श्री पर्वत), वेंकट (तिरुपति के निकट तिरुमलाई पर्वत), नील (नीलगिरि) व अन्य अनेक पर्वत इसी प्रदेश में स्थित थे। पश्चिमी सागर (अरब सागर) में गिरने वाली नर्मदा, तापी

§ताप्ती§ व चन्द्रवसा §मलय पर्वत पर प्रवाहित§ तथा पूर्व सागर §बंगाल की खाड़ी§ में गिरने वाली महानदी, गोदावरी, कृष्णा, भीमरथी §भीमा§, वेणी §कृष्णा की सहायक§, कृतमाला §वैगई§, पयोष्णी §पेनगंगा§, सुरसा, ऋषिकुल्या, पम्पा §तुंगभद्रा की सहायक§, ताम्रपर्णी आदि इस प्रदेश की प्रमुख नदियाँ थीं §5·19·18, 10·79·11-12§।

दक्षिणापथ के अधिक वर्षा वाले भागों §त्रिकूट, सह्याद्रि से सम्बन्धित§ में उष्णार्द्र सदाबहार वनस्पति पायी जाती थी §8·2 ·19§। इस प्रकार के वनों में मुख्य रूप से वंश, चम्पक, बकुल, अशोक,कुम्भ, नालिकेर आदि वृक्ष पाये जाते थे §8·2·1-22§। बेंत, सोम आदि की लतायें तथा नल के झाड़ §8·2·17,20,11·16·16§ भी इन्हीं वनों में पाये जाते थे। चौड़े बालूदार समुद्र तटों में समुद्र तटीय प्राकृतिक वनस्पति पायी जाती थी जिनमें नालिकेर §8·2·11§ तथा पूग §9·11·28§ वृक्षों की अधिकता थी। मलय पर्वत §नीलगिरि की पश्चिमी शाखा§ में चन्दन वृक्ष के वनों का विस्तार था §7·5·17,10·35·21§। शेष भाग में उष्ण कटिबन्धीय मानसूनी वन तथा अर्द्ध उष्ण कटिबन्धीय मानसूनी वन पाये जाते थे। दक्षिणापथ के सघन वनों में सिंह, व्याघ्र, गज, खंग, हरिण, शरभ, वृक, वराह, महिष, ऋक्ष, शल्य, गोपुच्छ, शालावृक, मर्कट आदि वन्य जन्तु निवास करते थे §8·2·21-22§।

इस भूभाग के प्रमुख जनपद द्रविड़, पाण्ड्य, केरल, कलिंग, विदर्भ, आन्ध्र, कर्णाटक, कोंक, वेंक, कुटक, त्रिगर्त, दक्षिण कोसल आदि थे। कुण्डिनपुर, भोजकट, दक्षिण मथुरा, कांची आदि इस प्रदेश के प्रमुख नगर थे एवं शूर्पारक, गोकर्ण व कन्या देवी §कन्या कुमारी§ समुद्र तट में स्थित प्रमुख पत्तन थे। प्रायद्वीपीय पठार का विषम धरातल परिवहन पथों के विकास में बाधक था तथापि द्वारका से भोजकट §10·61·26-40§, द्वारका से कुण्डिन पुर §10·53·4-7§, कुण्डिनपुर से भोजकट, चेदि से कुण्डिनपुर §10·53·14-15§ तथा पूर्वी एवं पश्चिमी समुद्रतटीय भागों के सहारे उत्तर से दक्षिण विस्तृत आयाम वाले राजमार्गों का विकास हुआ था §10·79·9-29§।

भागवतपुराण के सन्दर्भों से स्पष्ट होता है कि इस प्रदेश के तीर्थों विशेषकर

द्रविड़ देश के तीर्थों का अत्याधिक महत्व था। महेन्द्र पर्वत पर स्थित परशुराम आश्रम, श्री शैल, वेंकटाचल, कामकोष्णी पुरी, कांची, श्रीरंग, दक्षिणमधुरा, सेतु बन्ध, अगस्त्य आश्रम, कन्या कुमारी, गोकर्ण, आर्या देवी, शूर्पारक आदि प्रसिद्ध तीर्थ स्थल इसी प्रदेश में स्थित थे §10·78·17-40, 10·79·9-29§।

4- लघु प्रदेशों §जनपदों§ का विस्तृत अध्ययन -

पुराण काल में जनपद प्रादेशिक भूगोल के अध्ययन की सबसे महत्वपूर्ण इकाई थी। तत्कालीन भारत वर्ष अनेक जनपदों में विभक्त था तथा प्रत्येक जनपद सांस्कृतिक, राजनैतिक, भौगोलिक और भाषा की दृष्टि से एक स्वभाविक इकाई होता था।

"जनपद" शब्द की उत्पत्ति एवं उसका अर्थ -

"जनपद" शब्द "जन" और "पद" दो शब्दों से मिलकर बना है। संज्ञा के रूप में इसका अर्थ जनसमूह, कुल अथवा गोत्र है। "पद" शब्द का तात्पर्य "स्थान" से है पर इसको भूमि अथवा क्षेत्र के अर्थ में भी प्रयोग किया गया है §तैत्तरीय ब्राह्मण-2·3·9·9§। इस प्रकार "जनपद" शब्द से तात्पर्य एक ऐसे क्षेत्र से है जहाँ एक ही वंश के, एक ही धर्म एवं एक ही राजनीतिक विश्वास के मानने वाले लोग रहते हों। स्पष्टतः जनपद एक प्रादेशिक क्षेत्रीय इकाई है जिसका प्रयोग विभिन्न आकार के प्रदेश के अर्थ में किया गया है। प्राचीन भारतीय साहित्य में इस शब्द का प्रयोग बहुधा जन समुदाय, वंश, राष्ट्र §याज्ञवल्क्य स्मृति-1·360§, साम्राज्य अथवा मानव द्वारा बसे हुए देश §कालिदास, रघुवंश,9·4, मेघदूत-48§ के अर्थ में किया गया है। वस्तुतः जन या विशिष्ट लोगों की निवास भूमि होने के कारण ही विशेष भूभाग जनपद कहलाते थे।

जनपद के सामान्य तथ्य -

जनपद में जन या विशेष क्षत्रिय वर्ग के अतिरिक्त ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य

और शूद्र भी बड़ी संख्या में निवास करते थे। बहुधा जनपदों के शासक वे ही क्षत्रिय थे, जिनका उनमें निवास था और जिनके कारण उन जनपदों का नाम पड़ा, ऐसे जनपदों का नामोल्लेख बहुवचन में होता था यथा कुरूवः, पांचालाः, केकयाः, शाल्वाः, विदर्भाः, निषधाः, विदेहाः, कोशलाः आदि (10·2·3, 10·82·13), परन्तु कुछ क्षत्रिय जन ऐसे थे जिनका शासन अपने निवास से भिन्न प्रदेश पर था। वे वहाँ के शासक तो थे परन्तु निवासी नहीं। ऐसी स्थिति में वह उनका देश या विषय (9·21·33) मात्र माना जाता था, जनपद नहीं और उस देश या विषय का प्रयोग एक वचन में होता था यथा- अंग क्षत्रिय का विषय या देश आंग (एक वचन), जनपद अंग (बहुवचन) अथवा सुह्म क्षत्रिय का विषय सौह्म (एक वचन), जनपद सुह्म (बहुवचन) कहलाता था (अग्निहोत्री, 1963, 409)।

दो पड़ोसी जनपदों के नामों के युग्म एक साथ प्रसिद्ध थे यथा-सिन्धु-सौवीर (5·10·1), कुरू-मधु (1·11·9), कौंक-वेंक (5·6·7) आदि। जो जनपद बृहद् विस्तार में थे उनके कई प्रान्तों या अवयवों के दिशावाची शब्द जोड़कर पृथक्-पृथक् नाम भी पड़ते थे यथा- पांचाल के दो भाग - उत्तर पांचाल एवं दक्षिण पांचाल (4·25·50-51), कोशल के दो भाग- उत्तर कोशल एवं दक्षिण कोशल (5·19·8, 9·10·42, 9·10·22)।

जनपदों के राजा "जनपदी" तथा अन्य जन जानपद (10·36·24, 10·39·12) या राष्ट्रक (10·43·20) कहलाते थे तथा पुर या राजधानी के लोगों का समूह पौर (12·2·21) या नागर (10·43·20) कहा जाता था। यह इस तथ्य की द्योतक है कि तत्कालीन जनता में नागरिकता के भाव विद्यमान थे तथा वह अपने जनपद के प्रति आत्मीयता का अनुभव करती थी। जनपद की राजनीतिक सीमायें बदलती रहती थीं किन्तु उनके सांस्कृतिक जीवन का प्रवाह अटूट था। भाषाओं की इकाई के रूप में कितने ही प्राचीन जनपद अभी तक शेष रह गये हैं यथा- ब्रज बोली का शूरसेन जनपद, अवधी या कोशली भाषा का कोशल जनपद, मागधी का मगध जनपद आदि।

जनपद का विकास -

किसी जनपद की अष्टि {बीज}, वंश या कुल था जिसके सदस्य किसी एक ही पूर्वज के सन्तति थे। शनैः-शनैः वृद्धि होने पर वह कुल अनेक कुलों में विकसित हुआ। अनेक कुल मिलकर एक विशेष जाति बनी। इस प्रकार एक ही जाति के जनसमूह द्वारा निवसित क्षेत्र जनपद कहलाया। स्पष्टतः जनपद या जातीय भूमियों के विकास की तीन अवस्थायें देखी जाती हैं {अग्रवाल, 1969, 58-59} -

प्रथम अवस्था - यह घुमन्तू कबीलों का युग था, वे "जन" कहलाते थे {आप्टे, 1981, 395}। फिरन्दर अवस्था में जन का सम्बन्ध भूमि से निश्चित नहीं हुआ था। एक जनपद के सदस्य आपस में रक्त सम्बन्ध से बंधे थे।

द्वितीय अवस्था - घुमन्तू जन कालान्तर में स्थान विशेष में बस गया। उसका वह पद या ठिकाना जनपद कहलाया। जन के जो क्षत्रिय थे, जनपद का स्वामित्व उन्हीं के हाथ में गया और इसीलिये जनपद का नाम भी वही हुआ जो जन क्षत्रियों का था यथा- कुरूवः क्षत्रियाः और कुरूवः जनपद। यही कारण है कि संस्कृत साहित्य में जनपद नाम बहुबचनान्त ही मिलते हैं। प्रत्येक शब्द के दो-दो अर्थ हैं यथा- कुरूवः का अर्थ कुरु क्षत्रिय लोग तथा कुरूओं का प्रदेश।

तृतीय अवस्था - जब जनपद का नाम क्षत्रिय विशेष के नाम पर पड़ गया तब उस क्षत्रिय विशेष के अतिरिक्त और भी लोगों का आकर बस जाना स्वाभाविक था। पृथक्-पृथक् पेशे, वर्ण एवं जातियों के लाग वहाँ आकर बस गये और इस प्रकार सम्मिलित जनपदीय जीवन का विकास हुआ। इन पेशेवर जातियों का जनपदीय जीवन के आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण योगदान रहा। जनपदीय जीवन में इतर लोगों के भर जाने पर भी राजनैतिक जीवन प्राचीन जन के उत्तराधिकारी क्षत्रियों के हाथ में ही रहा। इतर जनों से इनकी पृथकता सूचित करने के लिये ये क्षत्रिय लोग "जनपदिन्" कहे जाने लगे। जहाँ तक भौगोलिक नामों का सम्बन्ध है, जन और जनपद की पूर्ववर्ती स्थिति

में जन से जनपद नाम पड़ा यथा-कुरूओं से कुरूवः जनपद, किन्तु उत्तरकालीन स्थिति में जनपद के नाम से जनपद स्वामी क्षत्रियों का नाम पड़ा हुआ समझा गया जैसे कुरूवः जनपद जिनका निवास स्थान था वे क्षत्रिय कुरूवः जनपदिनः कहलाये। इस प्रकार जनपद शब्द का प्रयोग एक प्रादेशिक इकाई अथवा वहाँ के जनसमुदाय दोनों के लिये किया जाने लगा।

जनपद के भौतिक तत्व -

जनपद एक क्षेत्रीय इकाई थी जिसमें भौगोलिक तत्वों की समांगता एवं एकरूपता होती थी। प्रत्येक जनपद अपने भौगोलिक व्यक्तित्व में विशिष्ट होता था। यद्यपि जनपद में भूभाग साहचर्य स्पष्ट रूप से विद्यमान होता था परन्तु विशिष्टतः सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक एकरूपता से ही इसका विकास होता था §सक्सेना, 1977, 98§।

मानव आवास हेतु उपलब्ध सुविधायें किसी भी जनपद की स्थिति निर्धारण में एक प्रमुख कारक होती थी। इसमें जनसुरक्षा तथा अभिगम्यता की सरलता दोनों ही मूलभूत कारक माने जाते थे। जनपदों के विकास काल में भारत के प्रादेशिक लक्षणों को नदी, पर्वत, वन तथा मरूभूमि के आधार पर निर्धारित किया जाता था क्योंकि ये भौतिक लक्षण ही जनपदों के सीमांकन में सहायक होते थे §पाणिनि अष्टाध्यायी, 4·2·124§। बहुधा जनपदों का विकास नदी मैदानों में हुआ जहाँ पर पर्याप्त स्थान, अभीष्ट मात्रा में जल तथा सुगम अभिगम्यता उपलब्ध होती है। अतः सदावाही सरितायें अधिकांशतः जनपदों की सीमायें निर्धारित करती थीं §अली, 1966, 170-173§। प्राचीन भारत में सिन्धु, गंगा, सरस्वती, यमुना आदि नदियों के किनारे सर्वप्रथम एवं अनेक संख्या में विख्यात जनपद इसी कारण से विकसित हुए। स्पष्टतः जनपदों की स्थिति की निम्न चार दिशायें थीं।

§क§ दो नदियों के मध्य में जनपदों की स्थिति। यथा-

जनपद	सीमा नदियाँ एवं उनका क्षेत्र	स्थिति
1- पांचाल	यमुना एवं घाघरा के मध्य	उत्तरी पश्चिमी उत्तर प्रदेश
2- कोसल	गोमती एवं राप्ती के मध्य	अवध (उत्तर प्रदेश)
3- कुरु	सरस्वती एवं यमुना के मध्य	पश्चिमी उत्तर प्रदेश
4- केकय	झेलम एवं चेनाव के मध्य	पंजाब
5- ब्रह्मावर्त	सरस्वती एवं दृषद्वती के मध्य	पूर्वी पंजाब
6- विदेह	राप्ती एवं कोसी के मध्य	बिहार

(ख) किसी नदी के दोनों ओर एक ही जनपद का विकास। यथा-

1- सिन्धु नदी के दोनों ओर सिन्धु जनपद।

2- यमुना नदी के दोनों ओर शूरसेन जनपद।

3- झेलम नदी के दोनों ओर काश्मीर जनपद।

4- सरस्वती नदी के दोनों ओर सारस्वत जनपद।

(ग) जनपदों की स्थिति की तृतीय अभिमुखता यह थी कि जनपद की एक ओर की सीमा नदी मानी जाती थी तथा अन्य ओर वन, पर्वत अथवा मरुभूमि। यथा-मगध तथा अंग जनपदों की उत्तरी सीमा गंगा नदी बनाती थी तथा दक्षिणी सीमा पहाड़ियों से निर्धारित होती थी। मत्स्य जनपद की पूर्वी सीमा में यमुना नदी तथा पश्चिम में मरुभूमि व अरावली पर्वत स्थित थे।

(घ) जनपदों की स्थिति की चतुर्थ दशा के अन्तर्गत वे जनपद सम्मिलित हैं जो किसी नगर अथवा प्रदेश के नाम से विख्यात हुए । यथा- काशी (काशी नगर), गन्धार (एक प्रदेश), मालव (मालवा पठार), अर्बुद (अर्बुद पर्वत) आदि (सक्सेना, 1977, 98-99, अली, 1966, 170-73)।

प्राचीन भारतीय साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि भारतीय विद्वानों ने

जनपदों के भौतिक लक्षणों के अन्तर्गत अधिकांशतः धरातलीय अभिमुखता को ही महत्व दिया था। इसके अतिरिक्त किसी-किसी जनपद का सम्बन्ध वहाँ के वनों सेभी स्थापित किया यथा- कुरु जांगल। जलवायु सम्बन्धी तथ्यों का बहुधा अभाव जान पड़ता है।

जनपद के सांस्कृतिक तत्व -

जनपद के सभी कार्यों के संचालन में शासक समुदाय के लोगों का ही निर्णय कार्यान्वित किया जाता था। इस प्रमुख समुदाय के लोग रक्त, कार्य एवं विचारों से समांगी होते थे अतः उनको "सजनपदा" कहा जाता था ﴾अष्टाध्यायी - 6·3·85﴿। इन समांगी लोगों के अतिरिक्त अन्य समुदाय के लोग गौण माने जाते थे जो शासित लोगों के रूप में निवास करते थे। स्पष्टतः प्रत्येक जनपद में जनसंख्या तो विविध होती थी पर वहाँ के निवासियों की जीवन पद्वति, विचार एवं कार्य समांगी होते थे। इस प्रकार प्रत्येक जनपद का सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इकाई के रूप में अपना निजी व्यक्तित्व होता था। वहाँ एक ही भाषा का प्रयोग होता था। एक ही प्रकार के धार्मिक एवं रीति रिवाज होते थे और एक ही शासन होता था। वेदों में पन्चकृष्ट्या, पन्चजनाः , पंत्रक्षितिः शब्दों का प्रयोग अनु, द्रुह्यु, पुरु, तुर्वशु तथा यदु नामक पाँच प्रमुख जातियों के लिये किया गया था। कालान्तर में इनमें से प्रत्येक जाति के नाम से एक-एक जनपद का विकास हुआ जिनमें से प्रत्येक में कृषि, राजनीति एवं प्रशासनिक कार्यों की समांगता परिलक्षित होती है ﴾सक्सेना, 1977, 99﴿। भागवतपुराण ﴾9·23·1-6﴿ में भी अंग, वंग, सुह्म, पुण्ड्, आन्ध्र, कलिंग आदि पूर्व दिशा के छः समांगी जनपदों का उल्लेख है जो वैदिक कालीन अनु के ही वंशज थे।

प्रत्येक जनपद के सांस्कृतिक विकास का स्तर दूसरे जनपद से भिन्न होता था। मध्यदेश में स्थित कुरु, पांचाल, काशी, कोशल, विदेह आदि जनपद सर्वोच्च सांस्कृतिक विकास के स्तर पर समझे जाते थे, उनमें से प्रत्येक जनपद के पृथक्-पृथक् प्रमुख लक्षण थे। भरत जनपद सैनिक एवं धार्मिक विधि विधान में अग्रणी माना जाता था

तथा कुरू, पांचाल आदि जनपदों को वैदिक संस्कृति का प्रतिनिधि माना जाता था §सक्सेना, तत्रैव§। वैदिक साहित्य में आर्यो द्वारा निवसित जनपदों को विकसित माना जाता था तथा उन्हें आदर की दृष्टि से देखा जाता था जबकि अनार्य जनों वाले जनपदों को दलित क्षेत्र के रूप में समझा जाता था §मुकर्जी, 1964, 92§। भागवतपुराण में कीकट जनपद को दलित एवं अपवित्र माना गया है §7·10·19, 11·21·8§ जब कि मथुरा §10·74·37§, कुरू §10·84·43, 55 व 56§, आनर्त §प्रभास क्षेत्र- 11·6·35-37§, काशी §12·13·17§ आदि जनपदों को श्रेष्ठ एवं पवित्र माना गया है।

जनपदों की आर्थिक विशेषतायें -

प्राचीन भारत में व्यवसायिक संरचना तत्कालीन समाज का प्रमुख अंग था। व्यवसाय एक प्रकार से पैतृक धरोहर समझी जाती थी। इसी कारण आर्थिक कार्यो के विशिष्टीकरण में किसी जाति अथवा वर्ग विशेष का ही एकाधिकार था। इस आधार पर प्रत्येक जनपद किसी एक प्रकार के आर्थिक कार्य में विशिष्टीकरण प्राप्त करता था। भारत के वैदिककालीन जनपद अनु, द्रुह्यु, पुरु, तुर्वश और यदु की विशेष योग्यता कृषि कार्य में थी जब कि सिन्धु घाटी में स्थित पर्वतीय प्रदेश गन्धार ऊन उद्योग के लिये विख्यात था तथा विदेह जनपद की आर्थिक विशेषता पशुपालन थी §सक्सेना, 1977, 100§। भागवतपुराण कालीन सिन्धु जनपद उत्तम नस्ल के अश्वों §10·69·35§ तथा प्रग्ज्योतिष उत्तम नस्ल के हस्तियों §10·59·37§ के लिये प्रसिद्ध था।

प्राचीन भारत में जनपदों की संख्या में वृद्धि -

प्राचीन भारत में जनपदों की संख्या भारतवर्ष के प्रदेशिक ज्ञान के साथ-साथ बढ़ी। सर्वप्रथम ऋग्वैदिक काल में सप्त सिन्धु प्रदेश ही भारत की सीमा व्यक्त करता था जिसमें कुरू, पुरु, भरत आदि 19 जनपदों का उल्लेख मिलता है। तदोपरान्त उत्तर वैदिक काल में भारत के अन्य भागों का ज्ञान बढ़ा और सप्त सिन्धु प्रदेश के साथ

आर्यावर्त प्रदेश भी जुड़ गया। बाद में दक्षिणी भारत के भौगोलिक ज्ञान में वृद्धि हुई और वैदिक काल के अन्त तक भारत में लगभग 42 जनपद हो गये जिनमें कुछ पूर्णतः आर्यों द्वारा निवसित तथा कुछ अनार्य जनपद सम्मिलित थे (सक्सेना, 1977, 10)। महाकाव्य काल में जनपदों की संख्या अत्यधिक हो गयी। रामायण में लगभग 62 जनपदों (शुक्ल, 1984, 314-333) तथा महाभारत में तत्कालीन ज्ञात विश्व में लगभग 160 जनपदों का उल्लेख मिलता है (पाण्डे, 1980, 119-146)। पाणिनि ने 55 (अग्रवाल, 1969, 60-76) तथा पतंजलि ने लगभग 77 जनपदों (अग्निहोत्री, 1963, 89-114) का उल्लेख किया है। बौद्ध, जैन एवं कौटिल्य काल में 16 महाजनपदों का उल्लेख मिलता है।

पुराण काल तक प्राचीन भारत में जनपदों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि हो चुकी थी। पुराणों में वर्णित जनपद कम से कम 204 हैं। विभिन्न पुराणों से यदि नाम एकत्रित किये जाँय तो संख्या और भी हो सकती है पर उसमें सन्देह यह भी है कि एक ही जनपद दूसरे पुराण में अन्य नाम से निर्दिष्ट हो अथवा सांस्कृतिक एवं समय की शक्तियों द्वारा कुछ जनपद विस्मृत हो गये हों अथवा उनके नाम परिवर्तित हो गये हों।

जनपदों का प्रादेशिक वर्गीकरण -

भारतवर्ष के प्रादेशिक विभाजन के अनुसार भारत वर्ष में पाँच मुख्य प्रदेश थे, जिनका सीमांकन पूर्व में किया जा चुका है। अतः इसी आधार पर जनपदों का प्रादेशिक वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है -

(क)- मध्यदेशीय जनपद (मध्य क्षेत्र)।

(ख)- उत्तरापथ या उदीच्य जनपद (उत्तरी-पश्चिमी क्षेत्र)।

(ग)- प्राच्य जनपद (पूर्वी क्षेत्र)।

(घ)- प्रतीच्य या अपरान्त जनपद (पश्चिमी क्षेत्र)।

(ङ)- दक्षिणापथ जनपद (दक्षिणी क्षेत्र)।

§क§ मध्यदेशीय जनपद

1- कुरू - पुराणकाल में कुरू अत्यधिक प्रसिद्ध जनपद था। यहाँ की भाषा, व्यवहार, आचार और दर्शन ही इस क्षेत्र की प्रसिद्धि का मूल कारण था। इसकी स्थिति वर्तमान दिल्ली-मेरठ प्रदेश में थी। भागवतपुराण में प्राप्त सन्दर्भों के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन कुरू तीन भागों में विभक्त था - कुरू क्षेत्र §1·10·34,9·14·33§, कुरू §देश§ §1·11·9,2·7·35§ व कुरू जांगल §1·4·6, 1·10·34§।

कुरूओं का कर्षित क्षेत्र कुरू क्षेत्र यमुना के पश्चिम का सम्पूर्ण प्रदेश था। इसमें सरस्वती व दृषद्वती के मध्य की उपजाऊ भूमि सम्मिलित थी। इस क्षेत्र में सरस्वती नदी प्रवाहित होती थी §9·14·33§। यह पवित्र धर्म क्षेत्र माना जाता था §10·82·5, 10·84·43§। पुराण प्रसिद्ध समन्तपंचक तीर्थ यहीं स्थित था §10·82·5§।

गंगा और यमुना की मध्यवर्ती भूमि कुरू या कुरू देश कही जाती थी जिसकी राजधानी हस्तिनापुर थी §1·10·7§।

कुरूओं का अनुर्वर प्रदेश कुरूजांगल उनके राज्य के पूर्व में स्थित वन्य भाग का नाम था जो गंगा एवं उत्तरी पांचाल के मध्य स्थित था। यह वन्य भाग सरस्वती के तट पर स्थित काम्यक वन तक विस्तृत था। खाण्डव वन भी इसमें सम्मिलित था।

2- पान्चाल - पान्चालों से सम्बद्ध या अधिष्ठित होने के कारण इस जनपद का नाम पान्चाल पड़ा §9·21·33§। ये पान्चाल मुद्गल, यवीनर, बृहदिषु, काम्पिल्य और संजय थे §9·21·31-32§। यह कुरू जनपद के पूर्व में स्थित था। वर्तमान बरेली, बदायूँ, फर्रुखाबाद तथा समीपवर्ती जिले एवं उत्तर प्रदेश का मध्यवर्ती दोआब पान्चाल प्रदेश था। इस प्रकार पान्चाल उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में चम्बल तक विस्तृत था §कनिंघम,1971,245§। इस जनपद के शासक पुरन्जन रहे §2·27·6§ तथा राजधानी पुरन्जनपुरी थी जिसे यवनों ने अक्रान्त किया था §4·28·2-13§। यह जनपद उत्तर एवं दक्षिण दो भागों में विभक्त था §4·25·50-51§। इन दोनों

के मध्य की सीमा गंगा नदी बनाती थी। गंगा नदी के उत्तर रोहेलखण्ड का भाग उत्तर पान्चाल कहलाता था जिसकी राजधानी अहिच्छत्रा या पुरंजनपुरी §आधुनिक रामनगर, बरेली§ थी। गंगा के दक्षिण स्थित मध्य गंगा का दोआब क्षेत्र दक्षिण पांचाल कहलाता था जो चम्बल नदी तक विस्तृत था। इसकी राजधानी काम्पिल्य §फर्रुखाबाद§ थी।

3- कुरू जांगल - कुरू का यह वन्य भाग भागवतपुराण काल में जनपद के रूप में प्रसिद्ध था §1·10·34, 3·1·24§, जो गंगा एवं उत्तरी पांचाल के मध्य स्थित था।

4- शाल्व §10·2·3§- शाल्व अत्यन्त प्राचीन जाति थी जो पश्चिम से बलूचिस्तान और सिन्ध होती हुई राजस्थान के बीकानेर में बस गयी थी §अग्रवाल, 1969,70§। शाल्वों की राजधानी शाल्वपुर थी जिसे सौभ नगर भी कहते थे।

5- शूरसेन - तत्कालीन भारत का यह प्रसिद्ध जनपद था। इसे मधु जनपद भी कहते थे §10·86·20§। इसकी राजधानी मथुरा थी §10·1·27§ जहाँ चित्रकेतु §6·14·10§, उग्रसेन §10·1·69§, शूरसेन §10·1·27§, कंस §10·1·69§ एवं वज्र §1·15·39§ आदि राजाओं ने शासन किया। यह वर्तमान मथुरा जिले के आसपास का ही भू भाग था जिसकी उत्तरी सीमा में कुरू, दक्षिण में चम्बल नदी व मत्स्य जनपद, पश्चिम में मत्स्य व ब्रह्मावर्त जनपद तथा पूर्व में पांचाल जनपद स्थित था तत्कालीन भारत में यह जनपद पशुपालन के लिये विख्यात था §10·24·21§। मधुवन §1·10·26§,वृन्दावन §10·11·28§, तालवन§10·15·27§, इषीकाटवी §10·19·2§, अशोक वन §10·23·21§, अम्बिका वन §10·34·1§ आदि वन्य क्षेत्र इसी जनपद में स्थित थे जहाँ के विस्तृत चरागाहों में पशुपालन कार्य होता था। कृषि की दृष्टि से यहाँ की भूमि उर्वर थी तथा खाद्यान्नों का प्रचुर उत्पादन होता था §6·14·10§। मथुरा के अतिरिक्त वृन्दावन इस जनपद का दूसरा प्रमुख नगर था।

6- मत्स्य - यह अति प्राचीन जनपद था जो हस्तिनापुर से द्वारका जाने वाले

मार्ग में पड़ता था §10·71·22§। धन धान्य से सम्पन्न §3·1·24§ यह जनपद कुरू के दक्षिण व शूरसेन के पश्चिम स्थित था। इसके पूर्व में यमुना नदी स्थित थी जो उसे दक्षिण पांचाल से पृथक् करती थी। सम्भवतः चम्बल नदी इसकी दक्षिणी सीमा बनाती थी। अर्थात् वर्तमान अलवर, जयपुर और भरतपुर का कुछ क्षेत्र ही मत्स्य जनपद था §कान्तावाला,1964,362§। राजस्थान का वर्तमान वैराट प्राचीन मत्स्य जनपद की राजधानी विराट नगर थी §उपाध्याय,1949,85§।

7- <u>काशी या काशि</u> - काशि जनपद एवं राजधानी दोनों का नाम था तथा राजधानी को वाराणसी भी कहा जाता था §10·84·55, 10·66·10 व 42§। यह समृद्ध शाली जनपद §10·66·41§ अत्यन्त पवित्र एवं तीर्थस्थल के रूप में विख्यात था §12·13·17§। इस जनपद के उत्तर में कोशल, पूर्व में मगध और पश्चिम में वत्स जनपद स्थित थे §लाहा,1972,162§। यह जनपद गंगा के उत्तरी तट से लेकर गोमती के दक्षिणी तट तक विस्तृत था।

8- <u>उत्तर कोशल</u> §9·10·42§ - कृषि सम्पन्न इस जनपद के शासक महाकाव्य काल में राम रहे §9·10·4, त्रिपाठी एवं सिंह,1984,17§ जिन्होने कौशल्यपुर §10·58·34§ को अपनी राजधानी बनायी, जिसे अयोध्या या साकेत भी कहते थे। सम्पूर्ण कोसल §उत्तर एवं दक्षिण§ का विस्तार अधिक व्यापक था जो सामान्यतया उत्तर में हिमालय श्रेणियों, पूर्व में विदेह तथा मगध, दक्षिण में विन्ध्य श्रृंखलाओं तक तथा पश्चिम में यमुना नदी तक था। भागवतपुराण के सन्दर्भो §5·19·8, 9·10·4,29,42,9·11·22§ से स्पष्ट होता है कि राम के शासन काल से ही यह जनपद आन्तरिक रूप से दो भागों में विभक्त हो गया था - उत्तर कोसल एवं दक्षिण कोसल। यह रूप होने पर भी प्रभुता उत्तर कोशल की ही थी जिसकी राजधानी अयोध्या या साकेत से ही कोसल का प्रशासन होता था। राम के शासनोपरान्त उनके छोटे पुत्र लव उत्तर कोशल के शासक हुए जिन्होंने श्रावस्ती या शरावती §वर्तमान सहेत-महेत, गोंडा§ को अपनी राजधानी बनाया तथा बड़े पुत्र कुश दक्षिण कोशल के शासक हुए जिन्होने स्वयं अपने नाम पर

कुशावती या कुशस्थली बसाकर उसे अपनी राजधानी बनाया।

सामान्यतः उत्तर कोशल में अवध खण्ड ग्रहण किया जा सकता हैं जिसका विस्तार उत्तर में राप्ती और गण्डकी नदियों से लेकर दक्षिण में गंगा नदी तक निर्धारित किया जा सकता है। दक्षिण कोसल का विस्तार उत्तर में गंगा से लेकर सुदूर दक्षिण §विन्ध्याचल के दक्षिण§ तक था §द्विवेदी,1969,150§। कनिंघम §1971,349§ के अनुसार ताप्ती नदी पर बुरहानपुर तथा गोदावरी नदी पर नान्देड़ से लेकर चस्तिगढ़ में रत्नपुर तक तथा महानदी के उद्‌गम स्थल के समीप नवगढ़ तक के क्षेत्र पर दक्षिण कोसल का विस्तार था।

9- <u>ब्रह्मावर्त</u> - यह जनपद सरस्वती नदी के तट पर स्थित था §4·19·1§। बार्हिष्मती नगरी इसकी राजधानी थी §3·22·28-32§। यह अत्यन्त उर्वर एवं समृद्धशाली जनपद था §4·19·1-9§। राजा पृथु इस जनपद के शासक रहे जिन्होने यहाँ सौ अश्वमेध यज्ञ किये थे §4·19·1§। यह पंजाब का वह भाग था जो सरस्वती एवं दृषद्वती नदियों के मध्य स्थित था अर्थात् वर्तमान पूर्वी पंजाब व हरियाणा के पटियाला, अम्बाला, कर्नाल, पानीपत, हिसार आदि जिलों का भू प्रदेश ब्रह्मावर्त के अन्तर्गत ग्रहण किये जा सकते हैं। कुरु क्षेत्र ब्रह्मावर्त का ही एक विशाल भू भाग था।

10- <u>मालव</u> §12·1·38§- भारत के प्राचीन गणराज्य मल्लोई की स्थिति 327 ई0पू0 में पंजाब में रावी व चिनाव के संगम के निकट थी। कालान्तर में ये अन्य भागों में जाकर फैल गये। इनकी मुख्य शाखा वर्तमान मालवा §मध्य प्रदेश§ में जाकर बस गयी और वह क्षेत्र मालव या मालवा कहलाया §माथुर, 1969, 738-739§।

11- <u>कुन्ति</u> §10·54·58,10·86·20§- यमुना और चम्बल के कांठे में प्राचीन कुन्ति जनपद स्थित था जो अब भी कोंतवार §ग्वालियर क्षेत्र में स्थित§ कहलाता है।

12- <u>चेदि</u> - कृष्ण का प्रतिद्वन्दी दमघोष पुत्र- शिशुपाल इस जनपद का शासक था §7·1·13,9·24·39-40§। यह आधुनिक बुन्देलखण्ड एवं निकटवर्ती क्षेत्र का द्योतक है।

13- <u>कारूष या करूष</u> §10·78·4,10·66·1§- कारूष वैवस्वत मनु का एक पुत्र था जिसने सर्वप्रथम बिहार के इस क्षेत्र §जिला-शाहाबाद§ में राज्य किया §माथुर, 1969,174§।

14- <u>निषध</u>§12·2·3§- महाभारत काल में राजा नल यहाँ के शासक थे जिसकी राजधानी नलपुर थी। सरकार §1971,44§ निषध को पारियात्र पर्वत से सम्बन्धित कर नलपुर §नरवर, जिला-शिवपुरी, मध्यप्रदेश§ के आसपास के क्षेत्र को निर्दिष्ट करते हैं। वस्तुतः नरवर §नलपुर§ के आधार पर प्राचीन निषध का विस्तार चर्मण्वती और सिन्धु नदियों के मध्यवर्ती भाग में मानना उचित है जो मालवा पठार का उत्तरी भाग है।

15- <u>हैहय</u> - यह खानदेश ओर दक्षिण मालवा का भाग था जो हैहयवंशी कार्तवीर्य अर्जुन द्वारा शासित था §9·15·17§। इसकी राजधानी माहिष्मती थी जो नर्मदा के उत्तरी तट पर अवस्थित थी §9·15·20 व 22§। मुंशी के मतानुसार हैहय या अनूप जनपद की पूर्वी सीमा में चर्मण्वती व अवन्ति राज्य, पश्चिम में §अरब§ सागर, उत्तर में आनर्त्त §वर्तमान उत्तरी गुजरात का भाग§ राज्य तथा दक्षिण में नर्मदा नदी स्थित थी §उद्धृत, द्विवेदी,1969, 166-167§।इनके अनुसार भृगुकच्छ एवं माहिष्मती व्यापारिक एवं राजनैतिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण थे। वस्तुतः भृगुकच्छ पश्चिमी तट का एक प्रमुख बन्दरगाह था जिसका पृष्ठ प्रदेश समृद्ध था §8·18·21-32§।

16- <u>अवन्ति</u> - इस जनपद की राजधानी अवन्तीपुर थी जो शिक्षा का प्रसिद्ध केन्द्र था §10·45·3§। इसे उज्जयिनी भी कहा जाता था जो वर्तमान उज्जैन है। सरकार §1971,97§ ने अवन्ति को उज्जैन के आसपास का प्रदेश §ग्वालियर तक विस्तृत§ स्वीकार किया है। स्थूल रूप से अवन्ति आधुनिक मालवा, निमाड़ एवं मध्यप्रदेश में इनके निकटवर्ती भागों को द्योतित करती है।

17- <u>पुलिन्द</u> - भागवतपुराण में जिन म्लेच्छ जातियों के साथ इनकी गणना की गयी

है उनमें हूण, आभीर, कंक, यवन, खस, अन्ध्र §2·4·18§ आदि सीमान्त प्रदेशों की बाह्य जातियाँ हैं किन्तु किरात, पुलिन्द आदि तो प्रागैतिहासिक काल से ही भारतीय आदिम जातियों के रूप में निवसित रही हैं। इनका स्वतन्त्र राज्य था, जिनकी राजधानी पुलिन्द नगर थी। अतः इन्हें म्लेच्छ मानना उचित नहीं है। सम्भव है समय-समय पर आन्तरिक अशान्ति §लूटपाट§ उत्पन्न करने के कारण अथवा शिकार व अन्य निकृष्ट जीविका ग्रहण करने के कारण इन्हें भी म्लेच्छ माना गया हो। मत्स्यपुराण §114·48§, वायुपुराण §1·45·126§ तथा मार्कण्डेयपुराण§54·47§ में इन्हें विन्ध्याचल में निवास करने वाली जाति बतलाया गया है। पार्जिटर §मार्कण्डेय पुराण, अनुवाद पृ0·316,335,338§ ने इनकी कई शाखायें मानी हैं यथा - पश्चिमी शाखा, हिमालयन शाखा, दक्षिणी शाखा। इनकी दक्षिणी शाखा का सम्बन्ध विन्ध्ययन श्रेणी से था तथा हिमालयन शाखा का सम्बन्ध असम से था §सरकार,1971,111§। यदि भागवतपुराण के अनुसार इन्हें सीमान्त प्रदेशीय जाति माना जाय तो इन्हें आसाम के दक्षिणी प्रदेश से ही सम्बन्धित किया जा सकता है।

§ख§ उत्तरापथ या उदीच्य जनपद

1- बाह्लिक - बाह्लिक अभिधान का हेतु वाह्लिक वंश था §12·1·34 तथा शर्मा,1984,292§। वाह्लिक वंशी शासकों ने अन्ध्र, कोसल, विदूर और निषध जनपदों में भी शासन किया था §12·1·35§। अग्रवाल §प्र0सं0,163§, मोतीचन्द्र §द्विवेदी, 1969,179-180§, सरकार §1971,236§, कान्तवाला §1964,306-307§ आदि विद्वान् एक मत से वर्तमान उत्तरी अफगानिस्तान के बलख प्रदेश को वाह्लीक या वाह्लिक §वैक्ट्रिया§ स्वीकारते हैं। अली §1966,142§ इस प्रत्याभिज्ञान के विपरीत मत रखते हैं। उन्होंने इस जनपद का प्रत्याभिज्ञान बोलन, नरी एवं गोरव नदी घाटियों के विस्तृत भूभाग से किया है।

2- यवन - ये ग्रीक वंशीय आयोनियन लोग थे §इण्डियन कल्चर, भाग-2, पृ0· 343§, जिन्हें उत्तरी पश्चिमी भारत के राजनीतिक इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त

है §कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग-1,पृ0.225§। भागवतपुराण में इन्हें म्लेच्छ कहा गया है §9·20·30,10·50·45§। इन्होंने पांचाल §4·28·1-24§ और मथुरा §10·50·44-47§ को आक्रान्त किया था। यह तिरस्कृत एवं असंस्कृत जाति मानी जाती थी §12·1·39-40§ जो उत्तर दिशा में निवास करती थी §9·23·16§।

यवन प्रदेश की ठीक स्थिति के बारे में अभी तक विद्वानों में मतैक्य नहीं है। भण्डारकर इसे भारत की उत्तरी पश्चिमी सीमा से मिला क्षेत्र मानते है §कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग-1,पृ0-29§ जिसे ईसा पूर्व 550 के लगभग ग्रीक या यवनों ने बसाया होगा §अग्निहोत्री,1963,93§।

3- <u>काम्बोज</u> - यहाँ के शासक ने युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में भाग लिया था §10·75·12§। इसकी स्थिति के विषय में भी विद्वानों में एकमत नहीं है। चार्ल्स इलियट §अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, चतुर्थ सं0,पृ0·193§ ने इसे तिब्बत या हिन्दुकुश प्रदेश के अन्तर्गत माना है। राय चौधरी §पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया,308§ ने काश्मीर के पुँछ के आसपास के स्थान को, जिसमें काफीरिस्तान भी सम्मिलित है, प्राचीन काम्बोज माना है। अग्रवाल §1969,60§ के अनुसार आधुनिक पामीर और बदख्शाँ का सम्मिलित प्राचीन नाम काम्बोज था।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर काम्बोज काश्मीर के उत्तर में पामीर बादख्शाँ प्रदेश के अन्तर्गत ग्रहण किया जाना चाहिये।

4- <u>काश्मीर</u> - भागवतपुराण में काश्मीर के लिये काश्मीर मण्डल §12·1·39§ शब्द का प्रयोग मिलता है जो यह सूचित करता है कि तत्कालीन भारत में वर्तमान काश्मीर के विस्तृत भूभाग को ही काश्मीर समझा जाता था। पश्चिम में सिन्धु नदी से लेकर पूर्व में रावी नदी तक तथा उत्तर में सिन्धु नदी से लेकर दक्षिण में नमक की पहाड़ियों तक का क्षेत्र इस राज्य में सम्मिलित था जिसकी राजधानी अधिस्तान या अधिष्ठान §वर्तमान श्रीनगर§ थी §कनिंघम,1971,73-76 तथा लाहा, 1972,583§।

5- <u>केकय</u> - शिवि के पुत्र कैकेय के नाम पर इसका नाम पड़ा §9·23·3§। केकयों के कुरुओं एवं यदुओं से घनिष्ठ सम्बन्ध थे §10·75·12 तथा 10·84·55-56§। तत्कालीन भारत का यह सबल जनपद था §10·72·13§ जिसकी राजधानी गिरिव्रज §गिरिझाक या जलालपुर§ थी। लाहा §1972,165§ ने शाहपुर तथा सरकार §1971,34 व 109§ ने झेलम जिले से इस जनपद को समीकृत किया है। वस्तुतः झेलम-चिनाव के मध्य के क्षेत्र §शाहपुर-झेलम§ को ही केकय मानना उचित है।

6- <u>मद्र</u> - यह भी सैन्य दृष्टि से सबल जनपद था §10·72·13§। इस जनपद की स्थिति आधुनिक स्यालकोट और रावी तथा चेनाब नदियों के मध्य स्थित क्षेत्र में थी §लाहा,1972,177 तथा डे, 1979,116§।

7- <u>उशीनर</u> - इस जनपद के अभिधान का हेतु शिवि के पिता उशीनर थे §9·23·2-3§। रावी एवं चेनाब के मध्य का निचला भूभाग, जो मद्र के दक्षिण में था, उशीनर कहलाता था।

8- <u>यदु</u> - यदु अनार्य या म्लेच्छ जाति थी §12·1·36§। इस जनपद के शासक ने युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में भाग लिया था §10·75·12§। वैदिक काल में इस जनपद की स्थिति परुष्णी §रावी§ के पश्चिम वितस्ता के आसपास थी §द्विवेदी,1985, 290§।

9- <u>किरात</u> - यह अपराधी एवं असंस्कृत जाति मानी गयी है §2·4·18, 9·20·30§। यह जनपद सम्भवतः तिब्बत में स्थित था। अवस्थी §1982,90§ के अनुसार यह विलोचिस्तान का कलात क्षेत्र था। ये पूर्वी क्षेत्र में भी निवास करते थे §वि0पु0-2·3·8§। इससे स्पष्ट होता है कि इनका पूर्वी सन्निवेश पूर्व बंगाल या असम के वन्य एवं पर्वतीय भाग में स्थित था।

§ग§ प्राच्य जनपद

1- <u>अंग</u> - इस जनपद को अंग ने बसाया था §9·23·5-6§। तत्कालीन अंग

जनपद के शासक रोमपाद रहे जिनके शासन काल में यहाँ दीर्घावधि तक अकाल पड़ा था §9·23·7-8§। यह गंगा का तटवर्ती जनपद था §9·23·3§। यह बिहार प्रान्त के भागलपुर और मुंगेर जिलों के आसपास का क्षेत्र था जिसकी राजधानी गंगा तट पर स्थित चम्पा §भागलपुर जिले का चम्पापुर ग्राम§ थी। चम्प नदी अंग के पश्चिम में स्थित थी जो इसे मगध से पृथक् करती थी §लाहा,1972,345§।

2- वंग - इस जनपद को वंग ने बसाया था §9·23·5-6§। पार्जिटर ने वंग का परिचय वर्तमान मुर्शिदाबाद, नदिया, फरीदपुर, जैसोर, पवना, तथा राजशाही §कुछ भाग§ जिलों के सम्मिलित स्वरूप से कराया है §द्विवेदी,1969,155§। ईसा पूर्व छठी शताब्दी में वंग देश अत्यन्त समृद्ध जनपद था, जिसका मुख्य आधार कृषि था। पद्मा के किनारे तेजपात, इलायची, आदि मसालों, आम, केला, नारियल, अनार, महुआ, कटहल आदि का प्रचुर उत्पादन होता था। पाट के वस्त्र तथा मलमल के उत्पादन व व्यापार के लिये भी वंग जनपद प्रसिद्ध था §हंस,1985,29§।

3- सुह्म - सुह्म ने इस जनपद को बसाया था §9·23·5-6§। दक्षिणी पश्चिमी बंगाल और बंगाल की खाड़ी के तटवर्ती प्रदेश का नाम ही सुह्म था जिसकी राजधानी ताम्रलिप्ति §तामलुक§ थी। सरकार इसे राढ़ से अभिन्न मानते हैं §द्विवेदी, 1969,154§। राढ़, बंगाल का वह भाग था जो गंगा के पश्चिम में पड़ता था और जहाँ तामलुक, मिदनापुर, हुगली और वर्दवान के प्रान्त सम्मिलित थे।

4- पुण्ड्र - इस जनपद के अभिधान का हेतु पुण्ड्र थे जिन्होंने इसे बसाया था §9·23·5-6§। बंगाल में गंगा की मुख्य धारा पद्मा के उत्तर में स्थित प्रदेश को प्राचीन काल में पुण्ड्र कहते थे। प्राचीन काल में यह देश ऊनी कपड़ों और पौंडे या गन्ने के लिये प्रसिद्ध था §माथुर,1969,563§।

5- विदेह - यह एक प्राचीन जनपद था जो ब्राह्मण काल से पूर्व संस्कृत हो चुका था। शतपथ ब्राह्मण §1·4·1·10§ के अनुसार विदेह में आर्य संस्कृति के प्रथम प्रवर्तक

विदेघ माथव थे, जिन्होने यहाँ अपना उपनिवेश स्थापित किया था (मैक्डोनल एवं कीथ, 1962, 333-334)। वैदिक काल से लेकर बौद्ध काल तक विदेह भारतीय संस्कृति का महान केन्द्र रहा। इस जनपद के शासक जनक (10·86·27) सुसंस्कृत व्यक्ति थे। वे ब्राह्मण युग के महान ऋषि, श्रेष्ठ यज्ञकर्ता तथा संस्कृति एवं दर्शन के महान संरक्षक थे (आश्वालायन श्रौत सूत्र- 10·3,14)। इन्हें विदेह (9·10·11) या मैथिल (9·13·13) भी कहा जाता था। इनके नाम पर ही इस जनपद का नाम विदेह या मिथिला तथा राजधानी विदेहपुरी, जनकपुरी या मिथिला कहलायी।

विदेह को तीरभुक्ति भी कहा जाता था। यह वर्तमान तिरहुत का नाम था जिसे सदानीरा (गण्डकी) नदी कोसल से पृथक् करती थी। यह पूर्व में कौशिकी, दक्षिण में गंगा, पश्चिम में सदानीरा और उत्तर में हिमालय से घिरा जनपद था (लाहा, 1972, 397)।

6- <u>मगध</u> - तत्कालीन भारत का यह प्रसिद्ध एवं शक्तिशाली जनपद था (10·50·2-42) जिसका शासक जरासन्ध था (10·50·2)। इसकी राजधानी गिरिव्रज (राजगीर) थी (10·72·16)। गिरिव्रज के अतिरिक्त गया भी इस जनपद का प्रमुख नगर था जो तीर्थस्थल के रूप में प्रसिद्ध था (10·79·11)। यह दक्षिणी बिहार के आधुनिक पटना एवं गया का प्रतिसम्बन्धी है।

7- <u>कीकट</u> - वैदिक साहित्य में कीकट एक असंस्कृत एवं घृणास्पद जाति का नाम था (मैक्डोनल एवं कीथ, 1962, 130)। सम्भवतः इसी जाति के कारण ही इसका नाम कीकट पड़ा। भागवतपुराण में भी यह अपवित्र कहा गया है (7·10·19, 11·21·8)। बुद्ध ने कीकट देश में जन्म लिया था (1·3·24)। सरकार (1971, 107) के अनुसार मगध का दक्षिणी भाग ही कीकट कहलाता था। मगध के दो भाग थे - पटना क्षेत्र एवं गया क्षेत्र। पटना क्षेत्र मगध एवं गया क्षेत्र कीकट कहलाता था।

8- <u>प्राग्ज्योतिष</u> - यह पूर्वी भारत का प्रसिद्ध जनपद था जिसकी राजधानी प्रागज्यो-तिषपुर थी (10·59·2), जहाँ भौम ने शासन किया था (10·59·1)। इसे कामरूप

भी कहा जाता था। कनिंघम ﴾1971,332,333﴿ के अनुसार ब्रह्मपुत्र नदी की सम्पूर्ण घाटी अथवा कूंच बिहार अथवा भूटान सहित आधुनिक आसाम इसमें सम्मिलित था।

9- मणिपुर - यह भारत की पूर्वी सीमा पर स्थित अति प्राचीन प्रदेश या स्थान था। इस प्रदेश का शासक अर्जुन पुत्र बभ्रुवाहन था ﴾9·22·32﴿। सम्भवतः यह वर्तमान मनीपुर का ही क्षेत्र है।

﴾घ﴿-प्रतीच्य या अपरान्त जनपद·

1- सिन्धु - इसकी प्रसिद्धि अति प्राचीन काल से ही श्रेष्ठ अश्वों के लिये थी ﴾9·1·25,10·69·35﴿। रायचौधरी के अनुसार इसमें झालावाड़ तथा मुल्तान के प्रदेश सम्मिलित थे ﴾पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, 619﴿। अग्रवाल ﴾1969,62﴿ ने इसे सिन्धु सागर के दोआब का प्रदेश माना है। वस्तुतः सिन्धु जनपद का विस्तार सिन्धु नदी के दोनों ओर उसकी मध्यवर्ती घाटी में था। इसके उत्तर पूर्व में केकय,उत्तर पश्चिम में गान्धार, दक्षिण पूर्व में सौवीर एवं मद्र तथा पूर्व में मत्स्य, ब्रह्मावर्त आदि जनपद स्थित थे।

2- सौवीर - सिन्धु-सौवीर का एक साथ उल्लेख ﴾5·10·1﴿ स्पष्ट करता है कि यह सिन्धु से लगा हुआ जनपद था। सिन्धु व सौवीर पृथक्-पृथक् जनपद थे ﴾1·10·35, 9·1·23﴿ किन्तु उनका शासक एक ﴾रहूगण﴿ था ﴾5·10·1﴿। कनिंघम ﴾1971, 330-331﴿ के अनुसार बदरी अथवा एडर प्रदेश ﴾खम्भात की खाड़ी के ऊपर का क्षेत्र﴿ सौवीर कहलाता था। सरकार ﴾1971,113﴿ के अनुसार सौवीर जनपद शूरसेन के पश्चिम में स्थित था तथा प्राचीन सौवीर, मुल्तान को सम्मिलित कर निचले सिन्धु के पूर्व में स्थित था।

3- सुराष्ट्र या सौराष्ट्र - यह पश्चिम का एक धनधान्य से सम्पन्न जनपद था ﴾3·1·24﴿। यह वर्तमान काठियावाड़ का दक्षिणी क्षेत्र है ﴾अली, 1966,146﴿। कनिंघम ﴾1971,223﴿ के अनुसार इस जनपद के दक्षिण में समुद्र स्थित था। राजधानी

जूनागढ़ थी। जनपद की परिधि 667 मील थी। इसकी पश्चिमी सीमा माही नदी बनाती थी जो खम्भात खाड़ी में गिरती है। प्रसिद्ध प्रभास क्षेत्र इसी जनपद में स्थित था §1·15·49,10·45·37, 10·78·18§, जहाँ की भूमि अत्यन्त उर्वर थी §3·3·25–28, उद्धृत त्रिपाठी एवं सिंह,1984,17§। यह पवित्र तीर्थस्थल के रूप में भी प्रसिद्ध था §10·86·2,11·6·35–37§।

4– <u>आनर्त्त</u> – यह भी पश्चिमी भारत का प्रसिद्ध एवं समृद्ध जनपद था। कृष्ण इसी जनपद के शासक थे §10·67·4§। राजधानी द्वारका थी। अली §1966,146§ के अनुसार काठियावाड़ क्षेत्र दो जनपदों में विभक्त था। इसका उत्तरी क्षेत्र आनर्त्त तथा दक्षिणी क्षेत्र सुराष्ट्र कहलाता था।

5– <u>मरुधन्व</u> – हस्तिनापुर से द्वारका जाने वाले मार्ग में यह जनपद स्थित था §1·10·34–35,10·71·21,10·86·20§। यह थार या राजपूताना का रेगिस्तानी भाग है जो गुजरात क्षेत्र के उत्तर पश्चिम तथा द्वारका के उत्तर में स्थित था। जोधपुर व मारवाड़ भी इसी के अन्तर्गत थे। यहाँ जल का अभाव था तथा सरस्वती नदी इस भूभाग में प्रवाहित होती थी §9·4·22§।

6– <u>अर्बुद</u> §12·1·38§– यह जनपद अरावली श्रेणी के आबू या अर्बुद पर्वत के आसपास स्थित था। यह तीर्थस्थल के रूप में भी प्रसिद्ध था।

7– <u>आभीर</u> – यह जनपद भी हस्तिनापुर से द्वारका जाने वाले मार्ग में सौवीर व आनर्त के मध्य या आसपास स्थित था §1·10·34–35§। यह गोपालक §1·15·20§ एवं लुटेरी जाति थी। नर्मदा के मुहाने के समीप गुजरात का दक्षिण पश्चिमी भाग ही आभीर कहलाता था जिसे यूनानियों ने अबीरिया कहा है §अवस्थी,1982,87, डे,1979,1§।

8– <u>शूर</u> – शूर का उल्लेख आभीर, शूर, अर्बुद क्रम में मिलता है §12·1·38§, जिससे स्पष्ट होता है कि यह आभीर एवं अर्बुद के समीप स्थित था। सम्भवतः सूरत §गुजरात§ के आसापास का क्षेत्र शूर देश कहलाता था।

§डा0§ दक्षिणापथ के जनपद-

1- द्रविड़ - द्रविड़ तमिल प्रदेश §मद्रास§ का ही प्राचीन नाम है। इसी प्रदेश में कावेरी, ताम्रपर्णी, कृतमाला, पयस्विनी, महानदी और प्रतीची नदियाँ बहती हैं §11·5·39-40§। यहाँ भारत के प्रसिद्ध तीर्थस्थल स्थित थे यथा- वेंकट प्रभु §वेंकटाचल§, कामाक्षी, कांची §नगर§, श्रीरंग, दक्षिण मथुरा §मदुरा§, सेतुबन्ध, अगत्स्य आश्रम, कुमारी §अन्तरीप§ आदि §10·79·13-17§। स्पष्टतः इस प्रदेश में पाण्ड्य, केरल, चोल आदि जनपद भी स्थित थे। डे §1979,57§ के अनुसार मद्रास से लेकर कन्या कुमारी तक का भूखण्ड द्रविड़ कहलाता था।

2- पाण्ड्य - इसके अभिधान का हेतु पाण्ड्य थे §8·4·7 तथा मत्स्य पु0·48·5§। तत्कालीन भारत में पाण्ड्य वंशी इन्द्रद्युम्न यहाँ के शासक थे §8·4·7§। मदुरा, रामनद, व तिन्नैवैली जिलों का क्षेत्र ही पाण्ड्य देश था §कान्तावाला,1964, 379§। सामान्यतः उत्तर में कावेरी नदी, पश्चिम में मलयगिरि तथा उसकी उपत्यका व केरल राज्य, पूर्व व दक्षिण में पूर्व सागर और दक्षिण महोदधि इसकी सीमा के रूप में निर्धारित किये जा सकते हैं।

3- केरल §10·79·19,10·82·13§- यह मलय पर्वत की क्रोड में बसा हुआ जनपद था जिसमें त्रावनकोर व कोचीन की रियासतें सम्मिलित थीं।

4- कर्णाटक §5·6·7§- इसकी स्थापना कर्नाटक नामक दैत्य ने की थी जिससे इसका नाम कर्णाटक पड़ा। मैसूर राज्य ही प्राचीन कर्णाटक प्रदेश था।

5- आन्ध्र - आन्ध्र ने अपने नाम पर इस जनपद को बसाया था §9·23·5-6§। यह कलिंग से मिला हुआ उसके दक्षिण में स्थित जनपद था जो गोदावरी एवं कृष्णा नदियों के मध्य स्थित था। इसकी राजधानी धनकटक या अमरावती §वैजवाड़ा§ थी।

6- कलिंग- राजा कलिंग ने पूर्वी समुद्र तट पर इस जनपद को बसाया था §9·23·5-6§ जो महानदी एवं गोदावरी नदियों के मध्य स्थित था।

7- <u>विदर्भ</u> - यह दक्षिणापथ का प्रसिद्ध जनपद था। तत्कालीन भारत में इस जनपद के शासक विदर्भ थे §9·24·1§, जिन्होंने अपनी राजधानी कुण्डिन §10·53·7§ या विदर्भपुर §10·53·6§ बनायी थी। बाद में विदर्भ के पुत्र ने भोजकट को अपनी राजधानी बनाया था §10·54·52§। अली §1966,155§ के अनुसार यह जनपद गोदावरी का बेसिन क्षेत्र था। पैन गंगा इसकी दक्षिणी सीमा बनाती थी। वरदा §पैनगंगा की सहायक वर्धा§ यहाँ की मुख्य नदी थी। सम्भवतः वरदा §वर्धा§ के निकट स्थित होने के कारण ही इसका विदर्भ नाम प्रचलित हुआ होगा। बरार एवं बीदर नामों की व्युत्पत्ति विदर्भ से ही मानी जाती है। सरकार §1971,39§ व माथुर §1969,854-855§ ने इसका प्रत्याभिज्ञान बरार से ही किया है।

यदि वर्तमान बरार को विदर्भ माना जाय तो विदर्भ का क्षेत्र अत्यन्त संकुचित हो जाता है। वस्तुतः विदर्भ को नर्मदा नदी के दक्षिणी भाग से लेकर कृष्णा नदी तक का विस्तृत क्षेत्र विदर्भ मानना उपयुक्त प्रतीत होता है जिसके अन्तर्गत प्राचीन बरार, हैदराबाद व आन्ध्र का अधिक भाग सम्मिलित किया जा सकता है।

8- <u>दक्षिण कोसल</u> - इसमें जबलपुर, रायपुर, बिलासपुर, सम्भलपुर और छत्तीसगढ़ प्रान्त सम्मिलित थे §अवस्थी,1982,284§। इसका सविस्तार वर्णन पूर्व में इसी अध्याय में किया जा चुका हैं §चित्र-7·10§ ।

उपरोक्त के अतिरिक्त सीमान्त प्रदेशीय जनपदों में आभीर §12·1·29, हेरात और कन्दहार का मध्यवर्ती क्षेत्र तथा सिन्धु प्रदेश के सिरसी क्षेत्र और उसके पूर्व में स्थित, सिंह,1972,129§, शक §9·8·20, सिन्धु नदी का डेल्टा- सीथिया, अवस्थी,1982, 103-104§, कंक §9·20·30, कंग-कु क्षेत्र जो सागिडयाना अर्थात् बुखारा व समरकन्द में स्थित था- अवस्थी,1982,104§, खस §9·20·30, पशिचमी तिब्बत- द्विवेदी, 1982,105§, हूण §9·20·30, मेरू के उत्तर स्थित मरूस्थलीय देश-सरकार, 1971,108§, तुरुष्क §12·1·30§, पुल्कस, अन्ध्र §2·4·18§, तालजंघ, हैहय

§9·8·5§, बर्बर §9·8·5, सिन्धु नदी के मुहाने के निकट स्थित बर्बरिकम नामक प्रसिद्ध व्यापारिक नगर का समीपवर्ती क्षेत्र-अवस्थी 1982, 90§, गर्दभी §12·1·29§ आदि, मध्यदेशीय जनपद सृंजय §10·72·13, सरस्वती के दक्षिण पूर्व में दृषद्वती के निचले भाग में स्थित-द्विवेदी, 1985, 298§, दक्षिणापथ के कोंक §5·6·7, कोंकण प्रदेश§, वेंक, कुटक §5·6·7§, आदि तथा अर्ण §10·86·20§, विभ्राजित, सौरभ, बहूदन, आपण, ग्रामण्, बैशस् §4·25·48-54§, विदूर §12·1·35§ आदि जनपदों का उल्लेख मिलता है जिनमें से कुछ जनपदों का प्रत्याभिज्ञान कठिन है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि पुराण काल में प्रादेशिक विभाजन की एक परम्परा रही है। बहद्, मध्यम तथा लघु आकार एवं पदक्रम के प्रदेशों के यथासम्भव सीमांकन द्वारा प्रादेशिक ज्ञान प्राप्त करने तथा प्रशासनिक व्यवस्था का निर्धारण करने में पुराण कालीन भारतीयों की विशेष अभिरुचि थी। उपर्युक्त जनपदों का अध्ययन अध्येता को भूगोल के मुख्य उद्देश्य "स्थानों के अध्ययन" की ओर ले जाता है। स्पष्टतः जनपद ऐसे क्षेत्रीय या प्रादेशिक इकाई होते थे जिनमें भौगोलिक तत्वों की समांगता होती थी तथा जिनकी विशेष अवस्थिति होती थी और जो अपने समीपवर्ती क्षेत्रों से भौतिक अथवा सांस्कृतिक तथ्यों से विभेद रखते थे। इन भौतिक एवं सांस्कृतिक कारकों के फलस्वरूप प्राचीन जनपदों में से अनेक जनपद आज भी भारत के राजनैतिक मानचित्र पर अपना स्वत्व बनाये हुए हैं। अतः आधुनिक भूगोल की प्रादेशिक विधि भारतीय उपमहाद्वीप की धरातलीय विभिन्नताओं का अध्ययन करने हेतु कोई नवीन विधि ज्ञात नहीं होती। स्पष्टतः आधुनिक युग में प्रदेशों के अध्ययन हेतु अपनाये गये उपागम में विशेष अन्तर पाया जाता है। बृहद् भारत के विस्तृत प्रादेशिक भूगोल के अध्ययन हेतु प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में निहित ज्ञान एक महत्वपूर्ण धरोहर है जिसके सम्यक् अध्ययन एवं विश्लेषण की आवश्यकता है।

:: सन्दर्भ ::

1- अली, एस0एम0 §1966§, दि ज्यॉग्रफी ऑफ दि पुराणाज, नई दिल्ली।

2- अग्निहोत्री, पी0डी0 §1963§, पतंजलि कालीन भारत, पटना।

3- अग्रवाल, वी0एस0 §1969§, पाणिनि कालीन भारतवर्ष, वाराणसी।

4- अग्रवाल, वी0एस0 §प्र0सं0§, भारत की मौलिक एकता, प्रयाग।

5- अवस्थी, ए0बी0एल0 §1982§, प्राचीन भारतीय भूगोल, भाग-एक, लखनऊ।

6- अय्यर, वी0पी0, "दि सेवेन दिपाज ऑफ दि पुराणाज", दि क्वार्टर्ली जर्नल ऑफ दि मिथिकल सोसायटी §लन्दन§, वाल्यूम-15, नम्बर-1, 2 व 3, वाल्यूम-16, नम्बर-4, वाल्यूम-17, नम्बर-1 व 2 ।

7- आप्टे, वी0एस0 §1981§, संस्कृत हिन्दी कोश, वाराणसी।

8- उपाध्याय, बल्देव §1978§, पुराण विमर्श, वाराणसी।

9- उपाध्याय, बल्देव §1958§, वैदिक साहित्य और संस्कृति, वाराणसी।

10- उपाध्याय, वी0एस0 §1949§, प्राचीन भारत का इतिहास, पटना।

11- कनिंघम, ए0 §1971§, प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल, इलाहाबाद।

12- कान्तवाला, एस0जी0 §1964§, कल्चरल हिस्ट्री फ्रॉम मत्स्य पुराण, बड़ौदा।

13- काणे, पी0वी0, §1975§, धर्मशास्त्र का इतिहास, तृतीय भाग, लखनऊ।

14- कृष्णामाचर्लू, सी0आर0 §1947§, दि कैडल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री, दि अडयार लाइब्रेरी।

15- गेरिनी, कर्नल §1909§, रिसर्चेज ऑन टॉलेमीज ज्यॉग्रफी ऑफ ईस्टर्न एशिया।

16- चक्रवर्ती, एस0सी0 §1986§, रजिन फार प्लानिंग : सोम इश्यूज, एनल्स, नागी, वाल्यूम-4, नम्बर-2, नई दिल्ली।

17- जायसवाल, ए0पी0 §1983§, "रामायण कालीन कोरिया", भूसंगम, अंक-1, संख्या-1, इलाहाबाद।

18- जैन, एस0एम0 §1986§, भौगोलिक चिन्तन एवं विधितंत्र, आगरा।

19- डे, एन0एल0 §1979§, दि ज्यॉग्रफिकल डिक्शनरी ऑफ ऐन्शियंट एण्ड मीडिवल इण्डिया, नई दिल्ली।

20- त्रिपाठी, एम0पी0 §1969§, डेवलपमेण्ट ऑफ ज्यॉग्रफिक नॉलेज इन ऐन्शियंट इण्डिया, वाराणसी।

21- द्विवेदी, के0एन0 §1969§, कालिदास की कृतियों में भौगोलिक स्थलों का प्रत्याभिज्ञान, कानपुर।

22- द्विवेदी, के0एन0 §1985§, ऋग्वैदिक भूगोल, कानपुर।

23- दुबे, बेचन §1967§, ज्यॉग्रफिकल कन्सेप्ट्स इन ऐन्शियंट इण्डिया, वाराणसी।

24- नौटियाल, एस0एन0 §1984§, "गंगा की सहायक नदियों के स्रोत ताल", नवनीत, वर्ष-33, अंक -8, बम्बई।

25- पाण्डेय, एस0एन0 §1980§, ज्यॉग्रफिकल हॉरिजन ऑफ दि महाभारत, वाराणसी।

26- माथुर, वी0के0 §1969§, ऐतिहासिक स्थानावली, नई दिल्ली।

27- मुकर्जी, आर0के0 §1964§, हिन्दू सिविलाइजेशन, भाग-एक, बम्बई।

28- मैक्डोनल, ए0ए0 एवं कीथ, ए0बी0 §1962§, वैदिक इण्डेक्स, भाग-दो, वाराणसी।

29- लाहा, बी0सी0 §1972§, प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल, लखनऊ।

30- विद्यालंकार, सत्यकेतु §1980§, मध्य एशिया तथा चीन में भारतीय संस्कृति, नई दिल्ली।

31- विल्फोर्ड, एफ0 §1908§, "ऐन एसे ऑन दि सेक्रेड आइल्स इन दि वेस्ट, इत्यादि, एशियाटिक रिसर्चेज, वाल्यूम-7 ।

32- वूलरिज, एस0डब्ल्यू0 एवं ईस्ट, डब्ल्यू0जी0 §1970§, दि स्पिरिट एण्ड पर्पज ऑफ दि ज्यॉग्रफी, लन्दन।

33- व्यासशिष्य, के0एल0 §1986§, 'दैत्यों ने यूरोप बसाया था', कादम्बिनी, वर्ष-26, अंक-5, नई दिल्ली।

34- शर्मा, जे0एल0 §1984§, श्रीमद्भागवत का सांस्कृतिक अध्ययन, जयपुर।

35- शर्मा, जे0एन0 §1977§, "वराहपुराणः एक संक्षिप्त परिचय", कल्याण-वराहपुराणांक, वर्ष-51, संख्या-1, गोरखपुर।

36- शुक्ला, आर0के0 §1984§, रामायणः ए स्टडी इन ऐन्शियण्ट इण्डियन ज्यॉग्रफी, झाँसी।

37- सक्सेना, डी0पी0 §1976§ रीजनल ज्यॉग्रफी ऑफ वैदिक इण्डिया, कानपुर।

38- सक्सेना, डी0पी0 §1977§, "प्राचीन भारत में जनपदों का विकास", उ0भा0भू0प0, अंक-13, संख्या-1 व 2, गोरखपुर।

39- सरकार, डी0सी0 §1971§, स्टडीज इन दि ज्यॉग्रफी ऑफ ऐन्शियंट एण्ड मीडिवल इण्डिया, वाराणसी।

40- सिंह, जे0 §1982§, भौगोलिक चिन्तन के मूलाधार, गोरखपुर।

41-- सिंह, एम0आर0 §1972§, ज्यॉग्रफिकल डेटा इन दि अर्ली पुराणाज : ए क्रिटिकल स्टडी, कलकत्ता।

42- हंस §1985§, "पच्चीस सौ वर्ष पूर्व वंग देश महान राष्ट्र था", नवनीत, वर्ष-34, अंक-10, बम्बई।

43- हैगेट §1965§, लोकेशन एनालिसिस इन ह्यूमैन ज्यॉग्रफी, लन्दन।

43- हार्टशोर्न, आर0 §1968§, पर्सपेक्टिव ऑन दि नेचर ऑफ ज्यॉग्रफी, लन्दन।

उपसंहार

विश्व वांगमय के प्राचीन ग्रंथों में मुकुट मणि रूप भागवतपुराण में प्रकृति के हृदयावर्जक दृश्यों की चारुवर्णना में धार्मिक, दार्शनिक, सामाजिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक, सांस्कृतिक आदि तथा अन्य तत्वों की प्रभविष्णु व्यंजना हुई है। भागवतपुराण में धर्म-दर्शन व प्रकृति का भावपक्ष चिंतन में इतना अधिक समाया रहा कि अन्य सभी वर्णन उस पृष्ठभूमि में लवलीन होते रहे, अर्थात् जो कुछ भी अभिनव खोज, शोध या उपलब्धि प्राप्त हुई उसे धर्म का ही अंग माना गया। इस प्रकार भारतीय मनीषियों के लिये धार्मिक व्यवस्था केवल संकुचित धारणा का अंग न रहकर प्रकृति मूलक बन गयी। इसी कारण भारतीय दर्शन का स्वरूप मात्र अन्तर्मुखी नहीं रहा। उसके सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं व्यवहारिक पक्ष भी समानरूप से महत्वपूर्ण बनते गये। जहाँ प्रकृति दर्शन का स्वरूप उत्कृष्ट रहा हो वहाँ निश्चित रूप से भौगोलिक चिन्तन मुखरित होता दिखाई देगा। इसी कारण भागवतपुराण में तात्कालिक भौगोलिक ज्ञान और उसके विकास की प्रकृति का विस्तृत उल्लेख मिलता है। इसमें भौतिक परिवेष के तत्वों की प्रबलता एवं मानवीय सामंजस्य की क्षमता के मध्य गतिशील सम्बन्ध और विकसित व्यवस्थाओं का स्थान-स्थान पर वर्णन मिलता है। इतना अवश्य है कि भौगोलिक ज्ञान विषयान्तर्गत न होते हुए भी उसे खोजना कठिन नहीं है। भागवतपुराण पाठभेद सम्बन्धी कठिनताओं से रहित है। इसका रचनाकाल ईसा पूर्व 600 से 10वीं शताब्दी तक माना जा सकता है तथा सभी विद्वान इसको दक्षिण भारत की रचना स्वीकारते हैं क्योंकि उसमें दक्षिण भारत का अधिक महत्व वर्णित है।

भागवतपुराण में ब्रह्माण्ड विज्ञान का युक्तिपूर्ण वर्णन मिलता है। इसे नक्षत्र विद्या, धर्म एवं दर्शन का चिन्तन तथा हेतु विद्या से निकट से सम्बन्धित माना गया। ब्रह्माण्ड विज्ञान को चिन्तन का प्रथम विषय मानते हुए सृष्टि रचना, सृष्टि सम्बन्धी चिन्तन, सृष्टि रचना शक्ति, उसके दैहिक, भौतिक एवं अधिभौतिक स्वरूप आदि सभी तथ्यों की तर्क के साथ गूढ़ विवेचना दी गयी है। उस काल में ऋषियों एवं मनीषियों

नेभौतिक शरीर से हटकर अन्तर्मन के माध्यम से अधिभौतिक सूक्ष्म शरीर में प्रवेश कर सृष्टि एवं परमेश्वर की प्रज्ञा को समझने का प्रयास किया। सूक्ष्म शरीर में प्रवेश आज भी वैज्ञानिक जगत में अनहोनी घटना है, परन्तु विज्ञान अब उसके चमत्कार को नकार नहीं सकता। सृष्टि एवं ब्रह्माण्ड के रहस्य को समझने हेतु सम्पूर्ण आध्यात्मिक ज्ञान की एक धारा इसी ओर लक्षित रही। ऐसे ज्ञान को समझते समय ऐसा प्रतीत होता है कि मानों पौराणिक साहित्य का लक्ष्य इन्हीं मूल तत्वों का सांगोपांग अध्ययन करना ही रहा हो। फलतः ब्रह्माण्ड के विषय में पौराणिक ऋषियों ने जो ज्ञान अर्जित किया था उससे अधिक वर्तमान वैज्ञानिक नहीं अर्जित कर पाये। भागवतपुराण में वर्णित ब्रह्माण्डोत्पत्ति सिद्धान्त वर्तमान वैज्ञानिक अन्वेषणों से साम्यता रखती है। उल्लेख्य है विश्व में एक ऊर्जामय या उष्णमय आदि पदार्थ अर्थात् प्रथम आद्य पदार्थ था, कालक्रम से उसमें गति उत्पन्न हुई जिससे वह §पदार्थ§ 24 तत्वों में परिवर्तित हो गया। तदनन्तर गुरुत्वाकर्षण शक्ति से सभी तत्वों के परस्पर संयुक्त होने पर जाज्वल्यमान नीहारिका §हिरण्मय अण्ड§ का निर्माण हुआ, उससे वलय §विराट् पुरुष§ निकला तथा वलय से ग्रहों, उपग्रहों आदि की रचना हुई। शेष भाग हिरण्यगर्भ §सूर्य§ बना। सृष्टि विकाश की तरह सृष्टि विनाश का क्रम भी वैज्ञानिक है।

भारतीय विद्वानों ने प्राचीन भारतीय संस्कृत साहित्य के अध्ययन के आधार पर स्पष्ट किया है कि विश्व में गणित एवं ज्योतिर्नक्षत्र विद्या भारत से ही फैली है। खगोल एवं भूगोल विद्या में ज्योतिष के प्रायः 300 अद्भुत विद्यायें हैं। आकाश भी शून्य नहीं है। वह अपार क्षेत्र है, जिसमें अनन्त सूर्यादि ज्योतिर्मय लोक, नक्षत्र आदि स्थित हैं। इसी आकाश को पौराणिक ऋषियों ने तीन भागों में विभक्त किया है-पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यु लोक। प्रत्यक्षदर्शी होने के कारण ऋषियों को कुछ परोक्ष न था। नक्षत्र विज्ञान की भागवतपुराण की शैली सर्वथा पूर्ण और वैज्ञानिक है। भारतीय नक्षत्र विज्ञान वेद और पुराणों का मुख्य अंग नेत्र माना जाता था क्योंकि वैदिक अनुष्ठानों के लिये काल निर्णय करने के लिये जो नक्षत्रों के बीच विविध स्थितियों में सूर्य का संक्रमण होता था, उसका अवलोकन करके नक्षत्र विद्या का व्यवहारिक ज्ञान ऋषियों ने प्रदान

किया है। तदनन्तर उसी आधार पर आगे नक्षत्रों के मध्य संक्रमण करने वाले सूर्यमण्डल के अन्यान्य ग्रहों की गति और स्थिति तथा उसके द्वारा होने वाले प्रभावों का अध्ययन किया गया। पौराणिक नक्षत्र विज्ञान वेत्ताओं ने क्रान्तिवृत्त को 27 भागोंमेंविभाजित किया। इस प्रकार चन्द्रमा के मार्ग में पड़ने वाले 27 नक्षत्र समूह हो गये जिन्हें चान्द्र नक्षत्र जाना गया तथा क्रान्ति वृत्त का विभाजित 13 अंश 20 कला प्रत्येक नक्षत्र का क्षेत्र रखा गया। सूर्य जिस आकाश मार्ग से नक्षत्र मण्डल में होकर जाता है उसके द्वादश समान भाग करके मेष, वृष प्रभृति राशियों की अवतारणा की गयी। सूर्य की स्थिति एवं गति का ही केवल निरीक्षण नहीं किया गया, प्रत्युत इसके साथ-साथ मंगल,बुध, बृहस्पति, शनि और शुक्र नामक पाँच ग्रहों तथा क्रान्तिवृत्त में इनकी ऋजुवक्र गतियों के साथ अतिचार और मन्दगतियों का भी सूक्ष्म निरीक्षण किया गया। इनके अतिरिक्त चन्द्र तथा तमोग्रह (राहु व केतु) को लेकर कुल नौ ग्रह माने गये। पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने भी नौ ग्रह माने हैं। ग्रह गति के विषय में पुराणकालीन भारतीय और पाश्चात्य गणना में अत्यल्प अन्तर मिलता है।

पौराणिक ऋषियों ने पृथ्वी की आकृति गोल मानी है। पृथ्वी का विस्तार 50 घनफल करोड़ योजन बतलाया गया है जिसे विद्वानों ने 1068 ट्रिलियन (महाशंख) घनफल किमी0 या 256 ट्रिलियन घनफल मील बतलाया है जो वर्तमान वैज्ञानिक आंकड़ों से साम्य रखता है। तत्कालीन भारतीयों को पृथ्वी की गुरूत्वाकर्षण शक्ति, अपने अक्ष पर झुकाव, अक्षभ्रमण व कक्ष भ्रमण आदि गतियों का शुद्ध ज्ञान था। काल के सूक्ष्म विभाग-परमाणु, अणु, त्रसरेणु आदि,मध्यमविभाग-पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष आदि तथा बृहद् विभाग- महायुग, मन्वन्तर, कल्प, परार्द्ध आदि कालगणना को देखकर ज्ञात होता है कि भारतीय पौराणिक मस्तिष्क ने इस विषय में कितना सफल प्रयास किया है। इतना सूक्ष्म (1 सेकण्ड = 37968·75 परमाणु या 32400000 टिकाल) और विशाल (1 विश्वेश्वर युग = 31,104 नील मानवीय वर्ष) काल ज्ञान दूसरे देश के निवासियों को अब तक नहीं हुआ। पौराणिक भारतीयों ने पृथ्वी की जो आयु 1,97,19,61,663 वर्ष आकलित की है वह वर्तमान वैज्ञानिक आँकड़ों (लगभग 2 अरब वर्ष) से पूर्ण साम्य

रखती है। स्पष्टतः भारतीय ज्योतिष विज्ञान पाश्चात्य ज्योतिर्विज्ञान की अपेक्षा कहीं अधिक समृद्ध है। प्राचीन भारतीयों का दृष्टिकोण आध्यात्मिक होने के कारण सर्वत्र, यहाँ तक कि ज्योतिर्लोकों में भी उन्हें धर्म तत्व की चमक दीख पड़ी है, परन्तु पाश्चात्य विज्ञान जड़वादी होने के कारण सर्वत्र जड़वादी बुद्धि को ही द्योतित करता है। चिरकाल से दृष्ट और अनुभूत होने के कारण हमारा दैवी विज्ञान सर्वथा पूर्ण है। आकाश में होने वाली प्रमुख घटनाओं के विषय में हमारी गणना ठीक-ठीक उतरती है। इसके विपरीत पाश्चात्य विज्ञान सर्वथा अपूर्ण है क्योंकि भारतीय ज्योतिर्विज्ञान हमारे धार्मिक जीवन के लिये उपयोगी हैं और पाश्चात्यों का सामाजिक जीवन इससे वंचित रहता है। अतएव इस विज्ञान की महिमा वहाँ इतनी नहीं है जितनी कि हमारे यहाँ है।

प्राचीन भारत में अन्य विज्ञानों की भाँति भौम्याकृति विज्ञान का अध्ययन किया जाता था। प्राचीन संस्कृत साहित्य में उपलब्ध साक्ष्यों के अनुसार पृथ्वी की उत्पत्ति के बाद ही स्थल मंचों एवं सागर द्रोणियों की उत्पत्ति हुई है। इनका वितरण समान नहीं है अपितु स्थलभाग की अपेक्षा जलभाग अधिक है। विविध प्रकार की शैलों में कठोर, मृदा, बालुका, अश्म शर्करा, रज या रेणु, क्षारीय भूमि, प्रवाल तथा विविध रंग की शैलों के उल्लेख भागवतपुराण में उपलब्ध हैं। भ्वाकृतिक स्वरूपों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्वरूप पर्वत हैं जो विवर्तनिक हलचलों के कारण अस्थिर माने जाते थे। पर्वतों के निमज्जन, उन्मज्जन, क्षैतिज व ऊर्ध्वाधर संचलन तथा पर्वत क्षरण क्रिया के स्पष्ट उल्लेख हैं। पर्वत किसी भूप्रदेश के महत्वपूर्ण प्राकृतिक लक्षण हैं अतः पर्वतों के द्वारा भूखण्डों का सीमांकन, अभिधान एवं प्रत्याभिज्ञान किया जाता था फलतः पर्वतों को वर्षगिरि, मर्यादा गिरि, अवष्टम्भ गिरि, केसराचल, कुलगिरि आदि वर्गों में विभाजित किया गया है। द्रोणी, श्रृंग कूट, गुहा, दरी, कन्दरा, पाद, मूल, उत्संग अद्रिपार्श्व, गिरितट, अन्तर्भूमि आदि भ्वाकृतिक स्वरूपों की शब्दावली निःसन्देह तत्कालीन भौगोलिक ज्ञान की अभिव्यक्ति को व्यक्त करती है। अन्तर्जात तथा बहिर्जात बलों का वर्णन यह सिद्ध करता है कि अपरदन व निक्षेपण की क्रियाओं का प्राचीन भारतीयों को सम्यक् ज्ञान था, परन्तु अन्तर्जात बलों के वर्णनों में कहीं-कहीं पौराणिक गल्पों (कथाओं) के मिश्रण से भौगोलिक तथ्य

धूमिल से हो गये हैं अस्तु तार्किक अध्ययन से उन भौगोलिक तथ्यों का सम्यक् निरूपण किया गया है।

पृथ्वी एक आवरण द्वारा आवृत्त है जिसे भुवः कहा गया है। आधुनिक भाषा में इसे वायुमण्डल कहा जाता है। इसकी सीमा का निर्धारण वायु (गैसों) की विद्यमानता के आधार पर किया गया है जो यथार्थ एवं वैज्ञानिक है। पुराणों में वायुमण्डल के सात प्रदेश (वायुमण्डल की सात परतें) बतलाये गये हैं। अनुमानतः क्षाभमण्डल, क्षोभसीमा, समताप मण्डल आदि वायु मण्डलीय परतों एवं वायुमण्डलीय आयाम का ज्ञान प्राप्त करने का पूर्ण प्रयास किया गया था। वायुमण्डलीय ताप का प्रधान स्रोत सूर्य है। सूर्य को ऊष्मा प्रदान करने वाला कहा गया है। ऋत्वानुसार तथा मौसमानुसार उच्च एवं निम्न तापमान का मुख्य कारण सूर्य ही है। इसके अतिरिक्त सूर्य के प्रकाश का विसरण, विकरण, सूर्याभिताप और परावर्तन, सौर्यताप से कुहरे का विचलन, मेघों की उत्पत्ति व वर्गीकरण, मेघ विचलन एवं वाष्पीकरण, विविध पवनों आदि के सन्दर्भ भागवतपुराण में हैं। भागवतपुराण के सन्दर्भों के आधार पर ज्ञात होता है कि तत्कालीन भारत की जलवायु उष्ण मानसूनी प्रकार की थी। तीन प्रधान ऋतुयें तत्कालीन भारत की जलवायु की मौलिक व्याख्या करती हैं। यद्यपि षड् ऋतुओं का विस्तृत विभाजन भी उपलब्ध है तथापि शीत, ग्रीष्म एवं वर्षा इन तीन प्रधान ऋतुओं का प्रभाव भागवतपुराण में वर्णित प्राकृतिक वनस्पति व जीवजन्तुओं में स्पष्ट परिलक्षित होता है।

पृथ्वी का तीन चौथाई भाग जल से आवृत्त है। पृथ्वी के स्थलभागों में स्थित सभी जल स्रोतों का प्रमुख आधार महासागर कहा गया है। महासागरीय जलराशि का प्रादुर्भाव सृष्टि के प्रारम्भ से ही माना गया है। प्राचीन भारत में विविध प्रकार के महासागरों का नामकरण प्रधानतया जल में उपस्थित विविध प्रकार के निक्षेपों एवं पंकों के आधार पर निर्मित रंगानुसार किया गया है। भागवतपुराण काल तक भारतीयों को सात महासागरों (क्षारोद, इक्षुरसोद, सुरोद, घृतोद, क्षीरोद, दधिमण्डोद व शुद्धोद, जिनका प्रत्याभिज्ञान क्रमशः हिन्द महासागर, भूमध्य सागर, पीत सागर एवं जापान सागर, लाल सागर एवं फारस की खाड़ी, उत्तरी सागर - बाल्टिक सागर - इंग्लिश चैनल एवं बिस्के की

खाड़ी, वर्मा की खाड़ी एवं दक्षिणी चीन सागर, ओखोटस्क सागर एवं बेरिंग सागर आदि से क्या गया है§ का ज्ञान हो चुका था। समुद्र विविध जल जीवों तथा विविध सम्पदाओं §रत्नों आदि§ के अक्षय भण्डार कहे गये हैं। सागरतटीय क्षेत्रों में मत्स्य आखेट पूर्ण विकसित था। महासागरीय गतियों में तरंगों एवं ज्वार-भाँटा का उल्लेख मिलता है। ज्वार-भाँटा की उत्पत्ति को सूर्य एवं चन्द्रमा की आकर्षण शक्ति से सम्बन्धित किया गया है जो पूर्णतः वैज्ञानिक है।

प्राचीन भारत की मानसूनी जलवायु ने यहाँ की प्राकृतिक वनस्पति को अत्यन्त प्रभावित किया है। जलवायु तथा भौमिक संरचना को दृष्टि में रखते हुये प्राकृतिक वनस्पति को क्षेत्रीय आधार पर उष्णार्द्र सदाबहार बन, उष्ण कटिबन्धीय मानसूनी पतझड़ वन, अर्द्ध उष्ण कटिबन्धीय शुष्क मरुस्थलीय वनस्पति, पर्वतीय क्षेत्रों की प्राकृतिक वनस्पति तथा समुद्र तटीय क्षेत्रों की प्राकृतिक वनस्पति, इन छः भागों में विभाजित किया गया है। इन वनों में विविध प्रकार के वृक्ष §अश्वत्थ, प्लक्ष , न्यग्रोध, उदम्बुर, तमाल, साल, असन, अर्जुन, प्रियाल, आम्र, वेणु, बिल्व, सुरदारु आदि तथा अन्य वृक्ष§, झाड़ियाँ §अर्क, बदरी आदि§, घासें §नल, कुश, इषीक, दूर्वा, काश, वीरण, दर्भ आदि§, लतायें एवं जलीय प्राकृतिक वनस्पतियां उत्पन्न होती थीं। वनों की उपज से पूर्ण लाभ उठाया जाता था। वनों पर शासकों का आधिपत्य होता था तथा समाज के लिये उनका अत्याधिक आर्थिक महत्व था। गृहों, रथों, शयनासनों, यज्ञ सम्बन्धी सामग्रियों, ईधन, औषधियों, रंगों, खाद्यपदार्थो आदि के लिये वनों का अधिक से अधिक उपयोग किया जाता था। साल, औदम्बुर, वेणु, ताल और सुरदारु या देवदार वृक्ष लकड़ी की दृष्टि से विशेष उपयोगी माने जाते थे। बिल्व, पलाश, देवदार, प्लक्ष, चन्दन, सुपारी, केला, तुलसी, ताम्बूल, कुश आदि वृक्ष वनस्पतियाँ एवं घासें धार्मिक एवं मांगलिक कार्यो की दृष्टि से उपयोगी थीं।

पशु जगत का सर्वाधिक घनिष्ठ सम्बन्ध प्राकृतिक वनस्पति से होता है अर्थात् विशेष प्रकार की प्राकृतिक वनस्पति वाले क्षेत्र में विशेष प्रकार के पशु ही मिलते हैं। फलतः

तत्कालीन भारत में पाये जाने वाले विविध प्रकार के वनों में विविध जीव जन्तु निवास करते थे जिनका स्पष्ट उल्लेख भागवतपुराण में है। गो, वृष, अश्व, उष्ट्र, खर, अज, श्व, महिष आदि पालतू पशुओं, सिंह, व्याघ्र, वराह, सूकर, शरभ, गवय, हरिण, वृक, ऋक्ष आदि वन्य जन्तुओं, मत्स्य, मकर, कूर्म, शंख आदि जलीय जन्तुओं, हंस, सारस, गरूड़, गृध्र, वट, कोकिल, शुक, क्रौन्च, मयूर आदि पक्षी तथा अनेक क्षुद्र जंतुओं, उनकी विशेषताओं, वर्गीकरण एवं उपयोग के सन्दर्भो के आधार पर कहा जा सकता है कि जीव जन्तु विषयक तत्कालीन भारतीयों का ज्ञान अप्रतिम एवं असाधारण था तथा तत्कालीन भारत की जलवायु एवं प्राकृतिक वनस्पति इन जीव जन्तुओं के लिये सर्वथा अनुकूल थी। प्रत्यक्षतः बहुत कम वन्य पशु मानव के लिये लाभदायक थे तथापि वे भी पारिस्थितिक सन्तुलन को बनाये रखने में महत्वपूर्ण योग दान देकर परोक्ष रूप में अत्यन्त लाभकारी थे। तत्कालीन भारतीयों ने कुछ उपयोगी पशुओं के साथ सामंजस्य स्थापित कर लिया था। यह सामंजस्य तीन रूपों में था- {क} पशुओं को अपनी आवश्यकताओं के लिये आखेट करना, {ख} नदियों अथवा समुद्र तटों पर मत्स्य आखेट तथा {ग} उपयोगी पशुओं को पालतू बनाना। पुराणकाल में कृषि क्रिया के साथ पशुपालन का घनिष्ठ संयोजन देश की आर्थिक संरचना का प्रमुख लक्षण था। पशुपालन कृषि कार्य में सहायक, पौष्टिक आहार की उपलब्धता, रोजगारपरक और कृषक की आय का प्रमुख स्रोत था। माँस के लिये अवि और अज, दुग्ध प्राप्ति के लिये गो, कृषि कार्य हेतु वृष, सामान ढोने के लिये वृष, महिष, अश्व, अश्वतर, गज, उष्ट्र आदि, आवागमन के लिये अश्व, गज, उष्ट्र आदि, वस्त्रों के लिये अवि और रेशम के कीड़े, सामरिक दृष्टिकोण से अश्व एवं गज, रक्षा के लिये श्व तथा आखेट एवं मनोरंजन के लिये विविध रंग विरंगे पक्षी एवं मछलियां पाली जाती थीं। पशुपालन में सर्वाधिक महत्व गोपालन का था। शासक स्वयं भी गोपालन, गोसंवर्द्धन एवं नस्ल सुधार में लगे रहते थे। पशुप्रधान ग्राम "घोष" अत्यन्त समृद्ध थे। स्पष्टतः तत्कालीन भारत में जीव जन्तुओं पर आधारित आखेट, मत्स्य उद्योग, दुग्ध उद्योग, माँस उद्योग, चर्मोद्योग, ऊनी वस्त्र उद्योग, रशमी वस्त्र उद्योग एवं हाथी दाँत का उद्योग पूर्णतः विकसित थे।

पौराणिक आर्यो का आर्थिक जीवन अधिक स्थिर, उन्नत एवं व्यापक हो चुका था जिसका प्रमुख आधार "वार्ता" (वित्त शास्त्र) थी। "वार्ता" शब्द का प्रयोग वैश्यों के तीन प्रमुख धन्धों-कृषि, गोचारण एवं व्यापार के लिये किया जाता था। वार्ता विद्या के शास्त्रीय स्तर तक पहुँच गयी थी तथा आर्यो के आर्थिक प्रगति की एक सुनिश्चित दिशा निर्धारित हो चुकी थी। भागवतपुराण में यत्र-तत्र कृषि सम्बन्धी उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारतीय कृषि एक सफल और सन्तुलित आर्थिक क्रिया थी तथा जीविकोपार्जन के प्रमुख आधार के रूप में विकसित थी। कृषकों को जलवायु के विविध तत्वों, उच्चावचीय स्वरूपों, मृदा के विविध रूपों एवं उर्वरा शक्ति का सम्यक् ज्ञान होता था तथा उसी के अनुसार वे कृषि विकास हेतु सतत् प्रयत्नशील रहते थे। कृषि हल तथा बैलों द्वारा सम्पन्न होती थी। कुठार, परशु, क्षुरा, खनित्र, सीर, लांगल, हल आदि कृषि के प्रमुख यंत्र थे। दुर्भिक्ष एवं अनावृष्टि से बचने के लिये सिंचाई के कृत्रिम साधनों का उपयोग किया जाता था। स्पष्टतः आर्य जलसंग्रह के कृत्रिम साधनों से पूर्ण परिचित थे जिसका उपयोग वे कृषि को समृद्ध बनाने में करते थे। कृषि के हानिकारक कीटों, टिड्डियों, चूहों आदि से फसल की रक्षा का पूर्ण ध्यान रखा जाता था। कृष्टपच्य एवं अकृष्टपच्य नामक दो प्रकार की फसलें होती थीं। कृषि न केवल अर्थतंत्र को प्रभावित करती थी अपितु भारतीय संस्कृति एवं धार्मिक संस्कारों में भी इसका महत्वपूर्ण स्थान था। उत्तरी जलोढ़ मैदानी भाग, पश्चिमी भारत का काठियावाड़ प्रदेश तथा नर्मदा बेसिन के जनपद कृषि की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध वर्णित किये गये हैं। कृषि क्षेत्रों के संरक्षण एवं सुस्पष्ट नियोजन की नीतियों पर आधारित कृषि विकास शासन का प्रमुख विषय रहा है। वस्तुतः कृषि विकास का पूर्ण उत्तरदायित्व शासन का होता था। अन्न भण्डारण हेतु राज्य की ओर से अन्न के बड़े-बड़े राजकीय गोदाम बने होते थे जिन्हें "अन्नशाला" या "कोष्ठ" कहते थे। कृषि प्रधान देहात "ग्राम" या "खेट" कहलाते थे तथा बड़े शहर जहाँ कृषि ग्रामों की कृषि सम्पदा जाकर बिकती थी, "नगर", "पत्तन" या "पुर" कहलाते थे। कृषि प्रधान ग्रामों एवं व्यापार प्रधान नगरों की प्रायः सन्निधि सूचित होती है। नगरों की निकटता के फलस्वरूप ग्रामों में कृषि को प्रोत्साहन मिलता रहा

होगा। स्पष्ट है कि पौराणिक काल में कृषि सुसंगठित एवं विकसित अवस्था में थी तथा अर्थतन्त्र का प्रमुख आधार थी।

पौराणिक भारत का गतिशील मानव अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु विविध संचरण साधनों पर आश्रित था। अश्व, गज, उष्ट्र आदि पशुओं को सवारी के निमित्त प्रयोग में लाया जाता था। सामान्य लोग शकटों तथा राजन्य वर्ग वेगगामी रथों का प्रयोग करते थे। रथों का प्रयोग संग्राम में भी होता था। आवागमन की सुविधा हेतु नगर मुख्य सड़कों से सम्बद्ध होता था जिन्हें राजमार्ग या राजपथ कहा जाता था। व्यापारादि के लिये ये राजमार्ग प्रमुख साधन थे क्योंकि नगरों में इनके दोनों ओर आपण लगे होते थे। इसके अतिरिक्त नगरों में महामार्ग, प्रपथ, रथ्या, वीथी, शकटमार्ग, पशुमार्ग एवं पगडण्डियाँ भी होती थीं। सभी प्रमुख राजमार्ग दूरी प्रदर्शन प्रस्तर संकेत, चत्वर, चतुष्पथ, श्रृंगाटक, वेदी आदि से अनुरक्षित होते थे। नगरों में मार्गों के वर्णन से स्पष्ट होता है कि सड़कें आयताकार चौकपट्टी (चत्वर एवं श्रृंगाटक) के रूप में मार्ग नियोजन सिद्धान्तों के आधार पर ही निर्मित किये जाते थे। तत्कालीन सभी प्रमुख नगर राजमार्गों द्वारा परस्पर अन्तर्सम्बन्धित थे। उत्तर से दक्षिण एवं पूर्व से पश्चिम विस्तृत आयाम वाले राजमार्गों का अस्तित्व था तथा सड़क परिवहन जाल विकसित अवस्था में था।

वैदिक व्यापार के लिये पुराणकाल में राजमार्गों का अतिशय महत्व था। अनेक प्रमाणों से स्पष्ट होता है कि ईसा पूर्व आठवीं शती में भारत का मेसापोटामियाँ, पूर्वी एवं पश्चिमी देशों के मध्य सागरीय सम्पर्क था। भागवतपुराण के सन्दर्भों से स्पष्ट होता है कि सागर के माध्यम से भारतीयों का पश्चिम में स्थित यवनों तथा मध्य अमेरिका में स्थित मय लोगों से सम्पर्क था। व्यापारिक उद्देश्य से विस्तृत समुद्र में पार जाने के लिये विशाला नौ, प्लव, पोत, जलयान आदि का प्रयोग किया जाता था तथा कर्णधार नावों के कुशल संचालक होते थे। सागरीय व्यापार के प्रमुख केन्द्र द्वारवती, प्रभास, सौवीर, भृगुकच्छ, शूर्परक, गोकर्ण, कन्यादेवी आदि थे।

वर्तमान की भाँति वायुयातायात भी पौराणिक काल में विकसित था। उपयोग के आधार पर विविध प्रकार के विमान निर्मित किये जाते थे। युद्धक विमान, यात्री विमान से विशालाकार होते थे तथा युद्ध की समस्त सामग्रियों से युक्त एवं अति तीव्रगामी होते थे। वैहायस, सौभ, त्रिपुर आदि युद्धक विमानों की विशेषताओं के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि तत्कालीन विमान निर्माण कला आधुनिक विमान निर्माण कला से कहीं अधिक उन्नत अवस्था में थी। वर्तमान की भाँति विमानों की अन्तर्ग्रहीय उड़ाने भी होती थीं तथा देश के सभी प्रमुख बड़े नगर वायुमार्गों के केन्द्र थे।

पौराणिक काल में व्यापारिक एवं औद्योगिक क्रियायें सुसंगठित निगमों के अन्तर्गत सम्पन्न होती थीं। "सार्थ" एवं "श्रेणी" तत्कालीन भारत के ऐसे ही व्यापारिक एवं औद्योगिक संगठन थे जिनको समाज एवं राजनीति में विशिष्ट स्थान प्राप्त था। यातायात के साधनों के अतिरिक्त संचार साधनों में दूत एवं चर तथा बेतार के तार {आकाशवाणी} का उल्लेख मिलता है। जनपदों के मध्य पारस्परिक राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करने का माध्यम दूत था। शासकों द्वारा सन्धिवार्ता तथा युद्ध की चुनौती व सन्देशों का आदान-प्रदान दूतों के माध्यम से की जाती थी। दूत शासक के खुले प्रतिनिधि होते थे तो चर गुप्त प्रतिनिधि। भागवतपुराण के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि वर्तमान की भाँति तत्कालीन भारत में भी गुप्तचर विभाग था जिसकी सेवायें शासन संचालन की दृष्टि से महत्वपूर्ण थीं।

स्थल की संरचना एवं जलवायु आदि प्राकृतिक दशायें आवासों के स्वरूप को प्रभावित करती हैं। उत्कृष्ट भौगोलिक स्थिति एवं मानव विकास हेतु अनुकूल पारिस्थितिक दशाओं से युक्त भारत अति प्राचीन काल से ही कृषक मानव एवं उसके द्वारा निर्मित ग्राम अधिवासों का प्रधान देश रहा है। अधिवासों को भली-भाँति वर्गीकृत करके बसाया जाता था। भागवतपुराण कालीन अधिवासों को प्रमुख रूप से ग्राम, पुर, घोष, ब्रज, आश्रम, शिविर, आकर, खेट, खर्वट, दुर्ग, पत्तन आदि प्रकारों में विभाजित किया गया है। पुराणकाल में ग्राम सुनियोजित मार्ग विन्यास, नियन्त्रित जलप्रवाह व्यवस्था,

सार्वजनिक सुरक्षा तथा उत्तम आवासीय पर्यावरण के आधार पर बसाये जाते थे। अधिवासों का सामान्य नियोजन "स्वास्तिक" प्रतिरूप पर आधारित था जो कदाचित् चतुर्दिक द्वारों से युक्त होता था। ग्रामीण अधिवासों के साँस्कृतिक स्वरूपों में गृह, भवन, गेह, आलय, निकेत, शाला, सद्मन, उटज, शरण, गोष्ठ, गृहान्तर, विहार, विश्राम, संवेश, प्रांगण, अजिर, महानस, सूतिकागृह, रंग, द्यूतसदन, सभा, सार्थ, मन्दिर, आदि का उल्लेख है, परन्तु ग्रामीण अधिवासों के संरचना की मूल इकाई ग्रामीणों के गृह थे। गृह निर्माण ग्रहों, नक्षत्रों एवं धार्मिक भावना को ध्यान में रखते हुए स्थापत्य वेद {शिल्प विज्ञान} के अनुसार किया जाता था। गृहों की एक सामान्य एवं महत्वपूर्ण विशेषता गृहों के प्रांगण थे जो पारिवारिक जीवन के केन्द्रबिन्दु होते थे। पुराणकाल तक सम्पूर्ण देश में आर्य संस्कृति का विस्तार हो चुका था अतः ग्रामों का वितरण सम्पूर्ण देश में था। पौराणिक संस्कृति को समृद्ध करने में जिन विस्तृत क्षेत्रों एवं विविध भौगोलिक स्थलों के क्रिया शील मानव का महत्वपूर्ण योगदान रहा उनमें ऋषियों के आश्रमों का भी महत्व पूर्ण स्थान है। ये आश्रम नदी, जलाशय आदि के किनारे स्थित होते थे तथा शासक द्वारा संरक्षित होते थे।

यह परिलक्षित होता है कि मानव प्राकृतिक परिस्थितियों के अनुसार अपने क्रियाकलाप करता है परिणामतः स्थलीय लघु रूपों में उसने विविध प्रकार के नगरों-उपनगरों को जन्म दिया। भौगोलिक प्रभावों के वैविध्य के कारण इनको राजनैतिक, आर्थिक {व्यापारिक} तथा सांस्कृतिक दृष्टि से पृथक्-पृथक् महत्व मिला है। द्वारका, मथुरा, हस्तिनापुर, वाराणसी, गिरिव्रज, प्राग्ज्योतिषपुर, कुण्डिनपुर, भोजकट, मिथिला, भृगुकच्छ, अयोध्या, माहिष्मती, दक्षिण मथुरा, कांची, कामकोष्णीपुरी, वैशाली, शावस्तीपुरी, चम्पा, अवन्ती, शोणितपुर, प्रतिष्ठान, कान्यकुब्ज, पद्मावती, पुरंजनपुरी, बर्हिष्मती आदि नगरों का उल्लेख भागवतपुराण में मिलता है। इन नगरों के वर्णनों से ज्ञात होता है कि नगर सुनियोजित ढंग से बसाये जाते थे तथा नगर नियोजक नगर नियोजन में दक्ष थे। नगर नियोजन में प्रतिरूप, परिवहन, सुरक्षा, प्रशासन, व्यापार, उद्योग, आवास, उपवन तथा सांस्कृतिक तत्वों का पूर्ण ध्यान रखा जाता था। तत्कालीन भारत

के अधिकांश नगरों की प्रमुख विशेषता किलेबन्दी थी जो सुरक्षा के दृष्टिकोण से की जाती थी। सभी प्रमुख राजधानी केन्द्र प्राकृतिक एवं कृत्रिम दुर्गों से सुरक्षित थे। मथुरा, द्वारका आदि नगरों के वर्णनों के आधार पर कहा जात सकता है कि उस समय उच्च सांस्कृतिक (नगरीय) जीवन का अभाव नहीं था।

भागवतपुराणकालीन भारत का सांस्कृतिक स्वरूप तत्कालीन सामाजिक आर्थिक दशाओं को प्रदर्शित करता है। तत्कालीन भारत एक ही समय कई सांस्कृतिक स्तरों पर रहने वाली जातियों का देश था। मुख्यतः आर्य और अनार्य जातियाँ भारतवर्ष में निवास करती थीं। आयु सुसंस्कृत मानव थे। अनार्यो का आर्यो के क्रियाकलापों से विरोध था। वे आचार-विचार, धार्मिक संस्कार आदि में आर्यो से भिन्न थे। आर्य समाजवृत्ति के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र, इन चार वर्गों में विभक्त था जिसमें वर्ण परिवर्तन की भी व्यवस्था थी। अनार्य जातियों को दो वर्गों में विभक्त किया गया है- भारतीय आदिम जन जातियाँ तथा सीमान्त प्रदेशीय म्लेच्छ प्रजातियाँ। भारतीय आदिम जन जातियों में शबर, व्याध, निषाद, वानर, पुलिन्द, किरात, कीकट आदि का उल्लेख मिलता है जो मूलतः भारतवर्ष के ही निवासी थे जिनका पर्वतीय भागों एवं वनों से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। वन्य जन्तुओं का शिकार एवं लघु वन उपजों का संग्रहण कर अपनी आजीविका चलाना इनका मुख्य उद्यम था। सीमान्त प्रदेशीय म्लेच्छ प्रजातियों में यवन, किरात, हूण, पुलिन्द, अन्ध्र, कंक, खस, शक, तालजंघ, हैहय, बर्बर, आभीर, गर्दभी, तुरुष्क, पुल्कस आदि मुख्य हैं। पुराणकाल में द्रविड़ प्रदेश आर्य संस्कृति का प्रधान केन्द्र बन चुका था जो पूर्व काल में आर्यावर्त्त को माना जाता था। अतः अनार्य आदिम जातियों का क्षेत्र जो पूर्व काल (रामायण काल) में समस्त दक्षिणी भारत में था, संकुचित होकर दुर्गम वन्य क्षेत्रों एवं पर्वतीय क्षेत्रों में रह गया, परन्तु उत्तरी पश्चिमी भारत का अधिकांश भाग शक्तिशाली अनार्यो (यवन, शक, हूण, बर्बर आदि) के अधिकार में आ गया था। उत्तर के हिमालय पर्वतीय क्षेत्र में आर्यो द्वारा पराजित किरात आदि अनार्य जातियां निवास करती थीं।

किसी भी प्रदेश के भौतिक पर्यावरण का प्रभाव उस क्षेत्र के निवासियों की धार्मिक क्रियाओं में परिलक्षित होता है। धर्म मानव से मानव, काल-काल में एवं स्थान-स्थान में परिवर्तित होता रहा है तथा वर्तमान हिन्दू धर्म सम य-समय पर महत्वपूर्ण संशोधनों के पश्चात् वर्तमान स्वरूप को प्राप्त हुआ है। पर्यावरण ने भागवतीय धर्म को दो प्रकार से नियन्त्रित किया है। प्रथम सभी देवता प्राकृतिक शक्तियों के मूर्तिकरण थे तथा द्वितीय यज्ञ सम्बन्धी सभी पदार्थ प्राकृतिक वातावरण से प्राप्त किये जाते थे। पार्थिव देवी देवताओं में पृथ्वी, अग्नि, नदी, समुद्र, पर्वत, जीव जन्तु, दैवीय एवं अर्द्धदैवीय जातियों में सुर, असुर, पितर, गन्धर्व, अप्सरस्, यक्ष, राक्षस, गुह्यक, नाग, दैत्य, दानव, किन्नर, किम्पुरुष, भूत-प्रेत-पिशाच तथा ऋषि, मुनि, सिद्ध, विद्याधर एवं चारण आदि, अपार्थिव देवी देवताओं में ब्रह्मा, विष्णु, महेश, शक्ति, सूर्य, इन्द्र, वरुण, चन्द्रमा, यम आदि का उल्लेख है। विष्णु के विविध अवतार पौराणिक धर्म की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है। इस अवतारवादी धारणा में जीवन की विकासवादी प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं। उनका क्रमबद्ध विवेचन करने पर एक स्वतन्त्र अवतारवादी क्रम से विकसित मानव सभ्यता के विकास क्रम का पता चलता है।

सांस्कृतिक दर्शन के लिये आचार अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है। आचार की आधारशिला पर ही सामाजिक नियमों का निर्माण होता है। भागवतपुराणकालीन आचारों में अतिथि सत्कार एवं भिक्षादान महत्वपूर्ण थे। ब्रह्ममुहूर्त में शय्या से उठना, शौच, आचमन, दन्तधावन, स्नान, तर्पण, सन्ध्योपासन, जप, होम, दान, अग्निहोत्र, पंच यज्ञ आदि दैनिक संस्कार अनिवार्य आचार माने जाते थे। गृहस्थ के जीवन यापन हेतु अनेक विधि विधानों में पंचयज्ञ (ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ तथा नृयज्ञ) अत्यन्त महत्वपूर्ण था। विशिष्ट संस्कारों में शुद्धीकरण की भावना प्रधान थी किन्तु उनकी उपयोगिता धार्मिक अनुष्ठानों के रूप में अधिक विकसित हुई। जन्म-मरण पर्यन्त प्रमुख धार्मिक संस्कार निषेक, पुंसवन, जात कर्म, औत्थानिक, नामकरण, उपनयन, यज्ञोपवीत, समावर्तन, विवाह तथा अन्त्येष्टि हैं।

वैदिक युग में पूजा अर्चना की विधि यज्ञानुष्ठान थी जो विविध फलों की प्राप्ति के लिये किये जाते थे। इन यज्ञों में पशु हिंसा तथा नर हिंसा भी प्रचलित हो गयी थी, परन्तु भागवत धर्म भक्ति प्रधान था जिसने यज्ञीय हिंसा के दोष का निराकरण किया। विविध उद्देश्यों की पूर्ति हेतु कई प्रकार के यज्ञ सम्पन्न किये जाते थे। स्मार्त यज्ञों में पंचमहायज्ञ, पाकयज्ञ, हविर्यज्ञ, श्रौतयज्ञों में सोमयज्ञ §अग्निष्टोम उक्थ, षोड्शी, वाजपेय, अतिरात्र, आप्तोर्याम§ तथा अन्य यज्ञों में राजसूय, अश्वमेध आदि का उल्लेख है। शासकों द्वारा किये जाने वाले यज्ञों का प्रधान उद्देश्य अपनी प्रजा का हित चिन्तन था। यज्ञ संस्था का उपयोग सामाजिक एकता को पुष्ट करने तथा राजनीतिक एकात्मकता को स्थापित करने के लिये भी किया जाता था। इसके अतिरिक्त अनेक आनुवंशिक लाभ भी होते थे। यज्ञ के विशिष्ट हविर्द्रव्यों की आहुति देने से पर्यावरण पर परिणाम होता था, पर्जन्य वृष्टि होती थी। आधुनिक वैज्ञानिक अन्वेषणों से इस तथ्य की पुष्टि की जा चुकी है कि अग्निहोत्र रखने से आस-पास के रोगाणुओं का विनाश होता है, गोमय से लीपे फर्श पर किरणोत्सर्ग का प्रभाव नहीं पड़ता तथा ऋतु परिवर्तन के समय विशिष्ट वनस्पतियों के हवन से उस काल में निर्मित रोग जन्तुओं का नाश होता है। वर्तमान में जिस प्रकार मेढ़क का विच्छेदन करके शरीर रचना का अध्ययन कराया जाता है उसी प्रकार सम्भवतः प्राचीन भारत में मेध्य पशुओं के वध से शरीर रचना शास्त्र का सम्पूर्ण अध्ययन हो जाता था। भिन्न-भिन्न समिधाओं में प्रयुक्त वनस्पतियों के गहन अध्ययन के परिणाम स्वरूप आयुर्वेद का विकास हुआ। अन्य धार्मिक क्रियाओं में प्रतिमा पूजन, तीर्थ सेवन, व्रत आदि उल्लेखनीय हैं।

प्रदेश भौगोलिक चिन्तन के मूलाधार हैं। विश्व के विभिन्न प्रदेशों एवं स्थानों तथा तत्सम्बन्धित भौगोलिक तथ्यों का निरूपण पौराणिक भूगोल का प्रमुख पक्ष रहा है। आरोही मापनी प्रतिरूपों के अनुसार पृथ्वी तल को प्रदेशों या बृहद् प्रदेशों को उपप्रदेशों में विभाजित करने की प्रणाली पौराणिक काल में भी प्रचलित थी। वर्तमान में परिज्ञात समस्त भूमिखण्ड पुराणकारों को ज्ञात थे। पौराणिक भूगोल की सप्तद्वीप §जम्बू, प्लक्ष, शाल्मली, कुश, क्रौंच, शाक व पुष्कर§ और इनके चतुर्दिक विस्तृत सप्त सागर §क्षार,

इक्षुरस, सुरा, घृत, दधिमण्ड, क्षीर और स्वादु§ की अवधारणा अत्यन्त महत्वपूर्ण है। प्रत्येक द्वीप को जलवायु प्रदेशों §प्रधानतः वर्षा की उपलब्धता§ के आधार पर वर्षों में विभाजित किया गया है। पौराणिक सप्तद्वीप काल्पनिक न होकर यथार्थ हैं क्योंकि कुछ द्वीपों के वर्णन में यथार्थता का चित्रण है। जम्बू द्वीप निर्विवाद रूप से भारत प्रायद्वीप, चीन एवं रूस का मध्यवर्ती तथा पश्चिमी भाग है। इसके अतिरिक्त तत्कालीन भारतीय दक्षिणी पूर्वी एशिया, पूर्वी द्वीप समूह, पूर्वी एशिया, यूरोप, अफ्रीका, उत्तरी अमेरिका, दक्षिणी अमेरिका, अण्टार्कटिका, ग्रीनलैण्ड आदि भूभागों से भी परिचित थे।

भागवतपुराण के अध्ययन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन भारतीयों को अपने देश की वास्तविक आकृति तथा आकार का यथार्थ ज्ञान था। भारतवर्ष नामकरण मनु के वंशज ऋषभ के ज्येष्ठ पुत्र भरत के नाम पर हुआ। भौतिक स्थलाकृति की दृष्टि से उत्तर में हिमवान् पर्वत, नदी घाटियों के समतल मैदानी प्रदेश, दक्षिणी प्रायद्वीपीय पठारी भाग, राजस्थान का मरूस्थलीय भाग तथा समुद्र तटीय भाग मुख्य थे। हिमवान् भारतवर्ष का वर्ष पर्वत था तथा महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्तिमान , ऋक्ष, विन्ध्य तथा पारियात्र भारतवर्ष के सात कुल पर्वत माने जाते थे। प्रादेशिक आधार पर भारत को उदीच्य, प्रतीच्य, प्राच्य, मध्यदेश एवं दक्षिणापथ, इन पाँच प्रदेशों में विभाजित किया गया है। भारत के इन पाँच प्रदेशों का क्रमबद्ध यथा तथ्य भौगोलिक वर्णन भागवतपुराण में प्राप्त है।

पुराण काल में प्रादेशिक भूगोल के अध्ययन की महत्वपूर्ण इकाई जनपद थे। तत्कालीन भारतवर्ष अनेक जनपदों में विभक्त था तथा प्रत्येक जनपद सांस्कृतिक, राजनैतिक, भौगोलिक और भाषिक दृष्टि से एक स्वाभाविक इकाई होता था। कुरू, पांचाल, शाल्व, शूरसेन, मत्स्य, काशी, कोशल आदि मध्य देश के, बाह्लिक, काम्बोज, काश्मीर, कैकय, मद्र, किरात आदि उदीच्य देश के, अंग, वंग, सुह्म, पुण्ड्, विदेह, मगध, प्राग्ज्योतिष् आदि प्राच्य देश के, सिन्धु, सौवीर, सुराष्ट्र, आनर्त, मरूधन्व आदि प्रतीच्य देश के तथा द्रविड़, पाण्ड्य, केरल, कर्णाटक, आन्ध्र, कलिंग, विदर्भ आदि दक्षिणापथ के प्रमुख

जनपथ थे। स्पष्टतः जनपद ऐसे क्षेत्रीय या प्रादेशिक इकाई होते थे, जिनमें भौगोलिक तत्वों की समांगता होती थी तथा जिनकी विशेष अवस्थिति होती थी और जो अपने समीपवर्ती क्षेत्रों से भौतिक अथवा सांस्कृतिक तथ्यों से विभेद रखते थे। इन भौतिक एवं सांस्कृतिक कारकों के फलस्वरूप प्राचीन जनपदों में से अनेक जनपद आज भी भारत के राजनैतिक मानचित्र पर अपना स्वत्व बनाये हुए हैं।

उपर्युक्त विवेचन से इस निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है कि तत्कालीन भारत से सम्बन्धित भौगोलिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक एवं ऐतिहासिक ज्ञान की भागवतपुराण में गम्भीर अभिव्यंजना हुई है। इनमें भौगोलिक ज्ञान तो वैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर आधारित होने के कारण व्यास जी की असाधारण मौलिक उद्भावना ही है। इस उत्कृष्ट भौगोलिक ज्ञान का परवर्ती संस्कृत साहित्य पर भी प्रभाव परिलक्षित होता है। परवर्ती लौकिक संस्कृत साहित्य में प्रकृति चित्रण, युद्ध वर्णन आदि सन्दर्भो में यह भौगोलिक ज्ञान संस्कार रूप में प्रतिबिम्बित हुआ है। इन परवर्ती कवियों में मूर्धन्य कवि-कुल गुरु कालिदास का गम्भीर भौगोलिक ज्ञान पौराणिक भौगोलिक ज्ञान से पूर्ण प्रभावित परिलक्षित होता है। स्पष्टतः भागवतपुराण न केवल पौराणिक साहित्य में अपितु तत्कालीन समस्त शास्त्रीय संस्कृत साहित्य, काव्य साहित्य और विश्व साहित्य, बल्कि समस्त ऐतिहासिक भूगोल के क्षेत्र में अतुलनीय है।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

आधार ग्रंथ -

श्रीमद्भागवतमहापुराण — दो भाग, गीता प्रेस गोरखपुर, अष्टम् संस्करण, सं0- 2044 ।

श्रीमद्भागवत महापुराण — आँग्ल भाषानुवाद, दो भाग, गीता प्रेस गोरखपुर, द्वितीय संस्करण, 1982 ।

श्रीमद्भागवतपुराण — श्रीधरी टीका, दिवाकर छापाखाना, काशी, सं0-1938 ।

श्रीमद्भागवत — सचूर्णिका, सम्पा0-खेमराज श्रीकृष्ण दास, श्री वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बई, सं0-1867

श्रीमद्भागवतपुराण — सम्पा0-कृष्ण शंकर शास्त्री, प्रथम से एकादश स्कन्ध, 10 भाग, आतिथ्येयम्, नडियाद, खेड़ा(गुजरात) तथा श्रीमद्भागवत विद्यापीठ दिव्यगिरि सोला अहमदाबाद, 1965-1973

पाठ्य साहयक ग्रंथ -

अग्निपुराण — सम्पा0-हरिनारायण आप्टे, आनन्दाश्रम, पूना, 1900 ।

अथर्ववेद — वैदिक यन्त्रालय अजमेर, सं0-1957 ।

ऋग्वेद — वैदिक यन्त्रालय अजमेर, सं0-1958 तथा सम्पा0 श्रीराम शर्मा, चार भाग, संस्कृति संस्थान बरेली, प्रथम संस्करण।

काठक संहिता — भारत मुद्रणालय, औंध, सं0-1899 ।

गरुड़पुराण — वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई, सं0-1963 तथा सम्पा0 श्रीराम शर्मा, संस्कृति संस्थान बरेली, 1981 ।

छान्दोग्य उपनिषद् — सम्पा0 श्रीराम शर्मा, संस्कृति संस्थान बरेली, 1963 ।

तैत्तिरीय संहिता — आनन्दाश्रम, पूना, 1902 ।

बृहदारण्यक उपनिषद् — सम्पा0-श्रीराम शर्मा, संस्कृति संस्थान बरेली, 1963 ।

ब्रह्माण्ड पुराण — वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, सं0-1969 ।

ब्रह्म पुराण — आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना, 1895।

महाभारत — पाँच भाग, गीता प्रेस गोरखपुर, सं0-2044।

मत्स्यपुराण — सम्पा0 पंचानन तर्क रत्न, कलकत्ता, 1821 शक वर्ष तथा आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, संख्या-54, पूना, 1907 ।

मार्कण्डेय पुराण — सम्पा0 पंचानन तर्क रत्न, कलकत्ता, 1812 शक वर्ष।

लिंग पुराण — सम्पा0 पंचानन तर्क रत्न, कलकत्ता, 1812 शक वर्ष।

वायु पुराण — सम्पा0 हरिनारायण आप्टे, आनन्दाश्रम, पूना, 1905 ।

वामनपुराण — सम्पा0 गंगासागर राम एवं शर्मा, अच्युत ग्रंथ माला, काशी, प्रथम संस्करण।

वाल्मीकि रामायण — दो भाग, गीता प्रेस गोरखपुर, तृतीय संस्करण, सं0-2033 ।

विष्णु पुराण — गीता प्रेस गोरखपुर, सं0-2041 ।

शतपथ ब्राह्मण — वैदिक यन्त्रालय अजमेर, सं0-1959 ।

शुक्ल यजुर्वेद — सम्पा0-दौलतराम गौड़, वाराणसी, प्रथम संस्करण।

स्कन्दपुराण — सात खण्ड, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, सं0-1905-1966 ।

हरिवंश पुराण — सम्पा० हरिनारायण आप्टे, आनन्दाश्रम, पूना, 1907 ।

आलोचनात्मक विविध सन्दर्भ ग्रंथ -

अली, एस०एम० ﴾1966﴿ — दि ज्यॉग्रफी आफ दी पुराणाज, प्यूपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

अग्रवाल, वी०एस० ﴾1969﴿ — पाणिनि कालीन भारतवर्ष, चौखम्बा विद्या-भवन, वाराणसी।

अग्रवाल वी०एस० ﴾प्र०सं०﴿ — भारत की मौलिक एकता, प्रयाग।

अग्निहोत्री, पी०डी० ﴾1963﴿ — पतंजलि कालीन भारत, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना।

अवस्थी, ए०बी०एल० ﴾1982﴿ — प्राचीन भारतीय भूगोल, भाग-एक, कैलाश प्रकाशन, 76 खुर्शेद बाग, लखनऊ।

उपाध्याय, बल्देव ﴾1978﴿ — पुराण विमर्श, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।

उपाध्याय, बल्देव ﴾1958﴿ — वैदिक साहित्य और संस्कृति, वाराणसी।

उपाध्याय, रामजी ﴾मू०सं०﴿ — प्राचीन भारतीय इतिहास की सांस्कृतिक भूमिका, भाग-प्रथम और द्वितीय, भारतीय संस्कृति संस्थान महामनापुरी, वाराणसी।

उपाध्याय, बी०एस० ﴾1964﴿ — कालिदास का भारत, ज्ञानपीठ, वाराणसी।

कनिंघम, ए० ﴾1971﴿ — प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल, हिन्दी अनुकूलक-जगदीशचन्द्र, आदर्श हिन्दी पुस्तकालय, 492 मालवीय नगर, इलाहाबाद।

करील, एच०जी० एवं करील, पी०इ० ﴾1972﴿ — एक्शप्लौरैशन्स इन सोशल ज्यॉग्रफी, एड्डिसन विस्ले कम्पनी, लन्दन।

काणे, पी०वी० ﴾1975-1984﴿ — धर्मशास्त्र का इतिहास, पाँच खण्ड, हिन्दी अनुकूलक-काश्यप, अर्जुन चौबे, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ।

कान्तवाला, एस0जी0 §1964§ क्ल्चरल हिस्ट्री फ्रॉम मत्स्यपुराण, बड़ौदा।

कृष्ण कुमार §1977§ भारतीय संस्कृति के आधार तत्व, प्रकाश बुक डिपो, बरेली।

कृष्णामाचर्लू, सी0आर0 §1947§ कैडल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री, अडयार लाइब्रेरी।

गर्नियर, जे0 एवं चैबाट, जी0 §1967§ अरबन ज्यॉग्रफी, लांगमैन्स, लन्दन।

घुर्ये, जी0एस0 §1961§ कास्ट, क्लास एण्ड ऑकुपैशन, बम्बई।

चन्द्र, लोकेश §सम्पा0, 1970§ इण्डियाज कान्ट्रिब्यूशन टू वर्ल्ड थॉट एण्ड कल्चर, विवेकानन्द राक मेमोरियल कमेटी, 12, पिल्लइयर कोइल स्ट्रीट, ट्रिप्लिकैन, मद्रास।

चार्ल्स, ए0 एलवुड §सम्पा॰, 1927§ रीसेण्ट डेवलपमेण्ट इन सोशल साइन्सेज, फिलाडेल्फिया, जे0बी0 लिपिन्कॉट।

चाइल्ड, वी0जी0 §1946§ ह्वाट हैपेण्ड इन हिस्ट्री? लन्दन।

जायसवाल, मंजुला §1983§ वाल्मीकि युगीन भारत, महामति प्रकाशन, 59 बहादुरगंज, इलाहाबाद।

जार्डन, टी0जी0 एवं रावेण्ट्री, एल0 §1938§ दि ह्यमैन मोज़ैक, कान्फील्ड प्रेस, लन्दन।

जैन, एस0एम0 §1986§ भौगोलिक चिन्तन एवं विधि तन्त्र, साहित्य भवन, आगरा।

टॉफी, ई0जे0 एवं अन्य §1970§ ज्यॉग्रफीः दि विहैवियोरल एण्ड सोशल साइन्स सर्वे, प्रेण्टिस हाल, न्यूजर्सी।

टेलर, जी0 §1960§ ज्यॉग्रफी इन दि ट्वेन्टियथ सेन्चुरी, लन्दन।

डिकिन्सन, एस0एन0 एवं पिट्स, एफ0आर0 §1963§ इन्ट्रोडक्शन टू ह्यूमैन ज्यॉग्रफी, न्यूयार्क।

त्रिपाठी, एम0पी0 §1969§ डेवलपमेण्ट ऑफ ज्यॉग्रफिक नालेज इन ऐन्शियंट इण्डिया, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी।

दत्त, बी0बी0 §1977§ टाउन प्लानिंग इन ऐन्शियंट इण्डिया, न्यू एशियन पब्लिशर्स, नई सड़क, दिल्ली।

दास, एन0सी0 §1971§ ए नोट ऑन दि ऐन्शियंट ज्यॉग्रफी ऑफ एशिया, भारत भारती, बी 28/15, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी।

दास, ए0सी0 §1971§ ऋग्वैदिक इण्डिया, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी।

दास, ए0सी0 §1979§ ऋग्वैदिक कल्चर, भारतीय पब्लिशिंग हाउस, वाराणसी।

दीक्षित, एस0बी0 §1975§ भारतीय ज्योतिष, हिन्दी अनुकूलक, झारखण्डी, एस0एन0, हिन्दी सीमिति, उत्तर प्रदेश शासन, लखनऊ।

दीक्षित, प्रेम कुमारी §1977§ प्राचीन भारत में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, लखनऊ।

दुबे, बेचन §1967§ ज्यॉग्रफिकल कन्सेप्ट्स इन ऐन्शियंट इण्डिया, नेशनल ज्यॉग्रफिकल सोसायटी ऑफ इण्डिया, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी।

द्विवेदी, के0एन0 §1969§ कालिदास की कृतियों में भौगोलिक स्थलों का प्रत्याभिज्ञान, साहित्य निकेतन, कानपुर।

द्विवेदी, के0एन0 §1985§ ऋग्वैदिक भूगोल, साहित्य निकेतन, कानपुर।

पर्सी ब्राउन §1956§ इण्डियन आर्किटेक्चर, बुद्धिस्ट एण्ड हिन्दू पीरियड, बम्बई।

पाण्डेय, कपिलदेव §1963§ मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।

पाण्डेय, वी0सी0 §1960§ भारतवर्ष का सामाजिक इतिहास, हिन्दुस्तान एकेडेमी उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद।

पार्जिटर, एफ0ई0 §1972§ — ऐन्शियंट इण्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन, मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी।

पाण्डेय, एस0एन0 §1980§ — ज्यॉग्रफिकल हॉरिजन ऑफ दि महाभारत, भारत भारती, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी।

प्रकाश, एस0, चड्ढा, वाई0 एवं अन्य §सम्पा0, 1971-1984§ — भारत की सम्पदा, सात खण्ड, वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसन्धान परिषद्, प्रकाशन एवं सूचना निदेशालय, हिलसाइड रोड, नई दिल्ली।

पिगौट, एस0 §1950§ — प्रि हिस्टोरिक इण्डिया, हारमाउण्ड्स वार्थ, पेंगुइन बुक्स।

प्रसाद, गोरख §1974§ — भारतीय ज्योतिष का इतिहास, हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश शासन, लखनऊ।

प्रसाद, पी0सी0 §1977§ — फारेन ट्रेड एण्ड कॉमर्स इन ऐन्शियंट इण्डिया, अभिनव पब्लिकेशन्स, ई-37,हौज,नई दिल्ली।

प्रसाद, अयोध्या §1973§ — छोटा नागपुर : ज्यॉग्रफी ऑफ रूरल सेट्लमेण्ट्स, रांची यूनिवर्सिटी, रांची।

प्रभु, पी0एन0 §1958§ — हिन्दू सोशल ऑर्गनाइजैशन, बम्बई।

ब्रोक जॉन, ओ0एम0 एवं वेब जॉन, डब्ल्यू0 §1968§ — ए ज्यॉग्रफी ऑफ मैनकाइन्ड, न्यूयार्क।

भार्गव, एम0एल0 §1964§ — दि ज्यॉग्रफी ऑफ ऋग्वैदिक इण्डया, दि अपर इण्डिया पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ।

मजूमदार, डी0एन0 §1958§ — रैसेज एण्ड कल्चर्स ऑफ इण्डिया, बम्बई।

मामोरिया, सी0बी0 एवं न्याती, जे0एल0 §1982§ — भूविज्ञान, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, कृष्णा नगर, दिल्ली।

माथुर, वी0के0 §1969§ — ऐतिहासिक स्थानावली, वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली आयोग, शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली।

मिश्र, के0पी0 §1982§ सांस्कृतिक भूगोल, किताबघर, आचार्य नगर, कानपुर।

मित्रा, ए0 §1961§ रिपोर्ट ऑन हाउस टाइप्स एण्ड विलेज सेट्ल-मेण्ट्स पैटर्न इन इण्डिया, सेन्सस ऑफ इण्डिया, वाल्यूम-।, पार्ट-चार-ए§तीन§।

मिश्र, जे0एस0 §1986§ प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना।

मुकर्जी, आर0के0 §1912§ ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन शिपिंग एण्ड मैरीटाइम एक्टिविटी फ्रॉम अर्लियस्ट टाइम्स, लांगमैन्स ग्रीन एण्ड कम्पनी, लन्दन।

मुकर्जी, आर0के0 §1964§ हिन्दू सिविलाइजैशन, भाग-एक, बम्बई।

मुकर्जी, आर0के0 §1938§ दि चैन्जिंग फैस ऑफ बंगाल, कलकत्ता।

मेहरोत्रा, एम0एन0 §1967§ पृथ्वी की आयु, हिन्दी समिति सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश शासन, लखनऊ।

मेयर, एच0एम0 एवं कॉन, सी0एफ0 §सम्पा0, 1967§ रीडिंग्स इन अरबन ज्यॉग्रफी, सेण्ट्रल बुक डिपोट, इलाहाबाद।

मैक्डोनल, ए0ए0 एवं कीथ, ए0बी0 §1962§ वैदिक इण्डेक्स, भाग-दो, हिन्दी अनुकूलक-राय, आर0के0, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।

मैक्डोनल, ए0ए0 §प्र0सं0§ वैधिक माइथोलॉजी, वाराणसी।

रैपपोर्ट, ए0 §1969§ हाउस फार्म एण्ड कल्चर, प्रेण्टिस हाल, न्यूजर्सी।

राय, एस0एन0 §1968§ पौराणिक धर्म एवं समाज, पंचनद पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद।

रिजले, एच0 §1915§ दि पीपुल ऑफ इण्डिया, ठक्कर एण्ड कम्पनी, कलकत्ता।

रेउ, वी0एन0 (1967) ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी।

लाहा, वी0सी0 (1972) प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल, हिन्दी अनुकूलक-द्विवेदी, आर0के0, उत्तरप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, लखनऊ।

वर्मा, एल0एन0 (1983) अधिवास भूगोल, राजस्थान हिन्दी गंथअकादमी जयपुर।

वाडिया, डी0एन0 मेहर (1966) मिनरल्स ऑफ इण्डिया, नेशनल बुक ट्रस्ट इण्डिया, नई दिल्ली।

विद्यालंकार, एस0के0 (1978) प्राचीन भारत का धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक जीवन, सरस्वती सदन ए-1/32, सफदरगंज, एन्क्लेव, दिल्ली।

विद्यालंकार, एस0के0 (1979) प्राचीन भारतीय इतिहास का वैदिक युग, सरस्वती सदन, मसूरी, सफदरगंज एन्क्लेव, दिल्ली।

विद्यालंकार, एस0के0 (1980) मध्य एशिया तथा चीन में भारतीय संस्कृति, सरस्वती सदन मसूरी, ए-1/32, सफदरगंज एन्क्लेव, नई दिल्ली।

वूलरिज, एस0डब्ल्यू0 एवं ईस्ट, डब्ल्यू0जी0 (1970) दि स्पिरिट एण्ड पर्पज ऑफ ज्यॉग्रफी, हुटचिन्सन एण्ड कम्पनी लिमिटेड, 178-202 ग्रेट पोर्टलैण्ड स्ट्रीट, लन्दन।

वेबर, एम0 एवं अन्य (1964) एक्सप्लौरैशन्स इन टू अरबन स्ट्रक्चर, फिलाडेल्फिया।

वेगनर, पी0एल0 एवं मिक्शेल, एम0डब्ल्यू0 (सम्पा0, 1962) रीडिंग्स इन कल्चरल ज्यॉग्रफी, यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस।

व्यास, एस0एन0 (1987) रामायणकालीन संस्कृति, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, एन-77, कर्नाट सर्कस, नई दिल्ली।

शर्मा, जे0एल0 §1984§ श्रीमद्‌भागवत का सांस्कृतिक अध्ययन, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर।

शर्मा, एच0एल0 §सं0-2020§ भागवत दर्शन, भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़।

शर्मा, आर0 §1971§ ए सोशियो पॉलिटिकल स्टडी ऑफ दि वाल्मीकि रामायण, मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी।

शर्मा, आर0एस0 §1978§ पूर्वकालीन भारतीय समाज और अर्थव्यवस्था पर प्रकाश, मोतीलाल, बनारसी दास, वाराणसी।

शर्मा, रघुनन्दन §सं0-2016§ वैदिक सम्पत्ति, प्रताप सिंह सूरज बल्लभदास, कच्छ केशल, बम्बई।

शर्मा, आर0एल0 §प्र0सं0§ नृतात्विक भूगोल, किताबघर, आचार्य नगर, कानपुर।

शर्मा, आर0एल0 §द्वि0सं0§ प्रजातीय भूगोल, किताबघर, आचार्य नगर, कानपुर।

शुक्ल, आर0के0 §1984§ रामायणः ए स्टडी इन ऐन्शियंट इण्डियन ज्यॉग्रफी §शोध प्रबन्ध§, बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय झाँसी।

शुक्ल, एच0 §1977§ लंका की खोज, रचना प्रकाशन, 45-अ, खुल्दाबाद, इलाहाबाद।

सक्सेना, डी0पी0 §1960§ ऐन्शियंट इण्डियन ज्यॉग्रफी §शोध प्रबन्ध§, आगरा यूनिवर्सिटी आगरा।

सक्सेना, डी0पी0 §1976§ रीजनल ज्यॉग्रफी ऑफ वैदिक इण्डिया, ग्रंथम रामबाग, कानपुर।

सरकार, डी0सी0 §1971§ स्टडीज इन दि ज्यॉग्रफी ऑफ ऐन्शियंट एण्ड मीडिवल इण्डिया, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी।

सिंह, जगदीश §1982§ भौगोलिक चिन्तन के मूलाधार, वसुन्धरा प्रकाशन दाउदपुर, गोरखपुर।

सिंह, आर0एल0 एवं अन्य §सम्पा0, 1976§ ज्यॉग्रफिक डाइमेंशन्स ऑफ रूरल सेट्लमेण्ट्स, एन0जी0एस0आई0, रिसर्च पब्लिकेशन नम्बर-16, बी0एच0यू0, वाराणसी।

सिंह, आर0एल0 एवं सिंह, के0एन0 §सम्पा0, 1975§ रीडिंग्स इन रूरल सेट्लमेण्ट्स ज्यॉग्रफी, एन0जी0एस0आई0, रिसर्च पब्लिकेशन नम्बर-14, बी0एच0यू0, वाराणसी।

सिंह, ओ0पी0 §1979§ नगरीय भूगोल, तारा पब्लिकेशन्स,वाराणसी।

सिंह, उजागिर §1984§ नगरीय भूगोल, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ।

सिंह, एम0आर0 §1972§ ज्यॉग्रफिकल डेटा इन दि अर्ली पुराणाज: ए क्रिटिकल स्टडी, पुन्थी पुस्तक, 34 मोहन बागान लैन, कलकत्ता।

सुथार, सी0बी0 §1968§ ब्रह्माण्ड दर्शन, सरदार पटेल यूनिवर्सिटी, वल्लभ विद्यानगर।

स्मेल्स, जे0ई0 एवं थामस, डब्ल्यू0एल0 §1971§ एशिया-ईस्ट बाई साउथ : ए कल्चरल ज्यॉग्रफी, जान विले एण्ड सन्स, न्यूयार्क।

हार्टशोर्न, आर0 §1984§ भूगोल की प्रकृति §पर्सपेक्टिव ऑन दि नेचर ऑफ ज्यॉग्रफी का हिन्दी अनुवाद§, अनुकूलक-सिंह, एल0आर0, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ।

हाउस्टन, जे0एम0 §1953§ ए सोशल ज्यॉग्रफी ऑफ यूरोप, लन्दन।

हैगेट §1965§ लोकेशन एनाल्सिस इन ह्यूमैन ज्यॉग्रफी, लन्दन।

होम्स, ए0 §1975§ प्रिन्सिपल्स ऑफ फिजिकल ज्यॉलॉजी, थामस नेल्सन एण्ड सन्स लिमिटेड, लन्दन।

कोश ग्रंथ -

आप्टे, वी0एस0 (1981) संस्कृत-हिन्दी कोश, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी।

चन्द्र, गोपाल (1978) बृहद् संस्कृत हिन्दी शब्दकोश, सदानन्द बाजार, वाराणसी।

झा, विश्वनाथ (सम्पा0,1975-76) अमरकोश, तीन काण्ड, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी।

डे, एन0एल0 (1979) दि ज्यॉग्रफिकल डिक्शनरी ऑफ ऐन्शियंट एण्ड मीडिवल इण्डिया, कास्मो पब्लिकेशन्स, 24-बी, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली।

पाण्डेय, राजबली (1978) हिन्दू धर्मकोश, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ।

मोन्कहाउस, एफ0जे0 (1972) ए डिक्शनरी ऑफ ज्यॉग्रफी, एडवर्ड अर्नल्ड, 25 हिलस्ट्रीट, लन्दन।

वाचस्पति, तारानाथ तर्क (सम्पा0, 1970) वाचस्पत्यम्, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी।

विलियम्स, एम0एम0 (1981) ए संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी, मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी।

शर्मा, डी0पी0 एवं झा, तरणीश (1973) संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, रामनारायण लाल बेनी प्रसाद, इलाहाबाद।

पत्र - पत्रिकायें -

उत्तर भारत भूगोल पत्रिका अंक-4, संख्या-2, 1968, दाउदपुर, गोरखपुर — तामस्कर, बी0जी0, उपनिषदों में भौगोलिक ज्ञान।

उत्तर भारत भूगोल पत्रिका, अंक-13, संख्या-1 व 2, 1977, दाउदपुर, गोरखपुर। — सक्सेना, डी0पी0, प्राचीन भारत में जनपदों का विकास।

उत्तर भारतभूगोल पत्रिका, अंक-23, संख्या-1, गोरखपुर	सिंह, श्रीपाल, देवरिया जनपद में अधिवासों का विकास।
एनल्स, नागी, वाल्यूम-4, नम्बर-2, 1986, नई दिल्ली	चक्रवर्ती, एस0सी0, रीजन फार प्लानिंग: सम इश्यूज।
कल्याण-सूर्यांक, वर्ष-53, संख्या-1, 1979, गीता प्रेस गोरखपुर	वीतरागस्वामी नारायणाश्रम, भगवान सूर्य की सर्वव्यपकता।
तत्रैव	जालान, मोतीलाल {सम्पा0}, सूर्य चन्द्र ग्रहण विमर्श।
कल्याण-हिन्दू संस्कृति अंक, वर्ष-24, अंक-1, सं0-2006, गीता प्रेस, गोरखपुर	खेडवाल, डी0एन0, हिन्दू सम्वत्, वर्ष, मास और वार।
तत्रैव	झा, दामोदर, हमारी प्राचीन वैमानिक कला।
कल्याण-संक्षिप्त वराह पुराणांक वर्ष-51, अंक-1, 1977, गीता प्रेस गोरखपुर	शर्मा, जे0एन0, वराहपुराण-एक संक्षिप्त परिचय।
ग्रेट रिवर्स ऑफ इण्डिया, 1982, रामकृष्ण मिशन आश्रम पटना	त्रिपाठी, राजदेव, महानद सिन्धु।
दि पूना ओरियण्टलिस्ट, ए क्वार्टर्ली जर्नल, वाल्यूम-11, नम्बर-3व4, 1946	व्यास, एस0एन0, एग्रीकल्चर इन दि रामायण एज।
दि ज्यॉग्रफिकल जर्नल, दि रॉयल ज्यॉग्रफिकल सोसायटी, लन्दन, वाल्यूम-141, पार्ट-1, 1975	किर्क, विलियम, दि रोल ऑफ इण्डिया इन दि डिफ्यूजन ऑफ अर्ली कल्चर्स।
दि क्वार्टर्ली जर्नल ऑफ दि मिथिकल सोसायटी, लन्दन, वाल्यूम-15, नम्बर-1, 2 व 3, वाल्यूम-16, नम्बर-4, वाल्यूम-17, नम्बर-1 एवं 2	अय्यर, वी0वी0, दि सेवेन दीपाज ऑफ दि पुराणाज।

प्रोसीडिंग्स ऑफ सिम्पोजियम ऑन लैण्ड यूज इन डेवलपिंग कन्ट्रीज, अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी, अलीगढ़, 1975

सक्सेना, डी0पी0, इण्डियन एग्रीकल्चर ड्यूरिंग दि वैदिक पीरियड।

भू संगम, अंक-1, संख्या-1, 1983, दि इलाहाबाद ज्यॉग्रफिकल सोसायटी

जायसवाल, ए0पी0, रामायण कालीन कोरिया।

भूविज्ञान, अंक-1, भाग-2, 1986 नेशनल ज्यॉग्रफिकल सोसायटी ऑफ इण्डिया, वाराणसी।

प्रसाद, नर्वदेश्वर, समय और उसकी विभिन्न इकाइयाँ।

भूविज्ञान, अंक-3, संख्या-1, 1988 नेशनल ज्यॉग्रफिकल सोसायटी ऑफ इण्डिया, वाराणसी

तिवारी, आर0सी0 एवं त्रिपाठी, एस0, सांस्कृतिक भूगोल : परिभाषा, विषय क्षेत्र एवं अध्ययन तत्व।

विज्ञान प्रगति §अणु और अनन्त विशेषांक§ अंक-10-12, पूर्णांकं-363-365, 1983, प्रकाशन एवं सूचना निदेशालय, नई दिल्ली।

शर्मा, ओम प्रकाश §लेखक एवं सम्पा0§, ब्रह्माण्ड का जन्म, प्राचीन भारतीय कालमान, आकाशगंगा, सौरपरिवार पर परिसंवाद, जीवन और मृत्यु, अखिल ब्रह्माण्ड में जीवन, पृथ्वी पर जीव का उद्भव।

विवेकानन्द केन्द्र पत्रिका, वाल्यूम-12, नम्बर-1, 1983, मद्रास

काण्डसुब्रमनियन, वी0आर0, साइन्स इन दि वेदाज।

विकासशील, भूगोल पत्रिका, अंक-1, संख्या-1 व 2, 1982, हरिहरपुर, बस्ती।

शुक्ल, आर0के0, प्राचीन भारत में यातायात के विकसित वैज्ञानिक साधन।

विकासशील भूगोल पत्रिका, अंक-3, संख्या-1 व 2, 1984, बस्ती

त्रिपाठी, आर0एल0 एवं सिंह, सी0, भागवत पुराण काल में भारतीय कृषि व्यवस्था।

विकासशील भूगोल पत्रिका, अंक-1, संख्या-1, 1983, बस्ती

शुक्ल, आर0के0 एवं अग्निहोत्री, एम0सी0, रामायण कालीन भारतीय कृषि का भौगोलिक मूल्यांकन।

विकासशील भूगोल पत्रिका, अंक-3, संख्या-1 व 2, 1984, बस्ती

गोस्वामी, दुर्गाबन, भारत में भील जनजातियों का पारिस्थैतिक अध्ययन।

कादम्बिनी, वर्ष-21, अंक-9, जून-1981, नई दिल्ली। — सिंह, श्रीपाल, सम्पाती गिद्ध नहीं विमान था।

कादम्बिनी, वर्ष-25, अंक-6, जनवरी-1985, नई दिल्ली। — रॉव, एस0आर0, कृष्ण की द्वारका कहाँ थी?

कादम्बिनी, वर्ष-25, अंक-7, फरवरी-1985, नई दिल्ली — रॉव, एस0आर0, कृष्ण की द्वारका कहाँ थी? (द्वारका की खोज : 2)।

कादम्बिनी, वर्ष-26, अंक-5, मार्च-1986, नई दिल्ली। — व्यास शिष्य, के0एल0, दैत्यों ने यूरोप बसाया था।

कादम्बिनी, वर्ष-27, अंक-3, जनवरी-1987, नई दिल्ली — शर्मा, वाई0डी0, एक वर्ष में कितने वर्ष।

कादम्बिनी, वर्ष-27, अंक-4, फरवरी-1987, नई दिल्ली — पाठक, एन0एल0, प्राचीन विश्व के चौदह अनुसन्धान।

दि इल्यूस्ट्रेटेड वीकली ऑफ इण्डिया, वाल्यूम-94, नम्बर-3 — शास्त्री, के0एन0, विलेज इन ऐन्शियण्ट इण्डिया।

दैनिक जागरण, 18 फरवरी, 1987, कानपुर। — अन्य ग्रहों में प्राणियों की उत्पत्ति।

दैनिक जागरण, 22 मई, 1988, कानपुर — अब ब्रह्माण्ड में मानव अकेला नहीं रहेगा।

धर्मयुग, 27 जून, 1982, बम्बई — राय, शोभनाथ, चन्दन विष व्यापत नहीं लिपटे रहत भुजंग।

नवनीत, वर्ष-33, अंक-8, अगस्त-1984, बम्बई — नौटियाल, शिवानन्द, गंगा की सहायक नदियों के स्रोत ताल।

नवनीत, वर्ष-34, अंक-10, अक्टूबर-1985, बम्बई — हंस, पचीस सौ वर्ष पूर्व वंग देश महान राष्ट्र था।